गङ्गानाथझा-ग्रन्थमालायाः

पञ्चमं पुष्पम्

आचार्यवसुबन्धुप्रणीतं

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिप्रकरणद्वयम्

गूढार्थदीपनीव्याख्यासहितम्



सम्पादकव्याख्याकारानुवादकौ

थुबतनछोगडुपशास्त्री

प० रामशङ्करत्रिपाठी

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
Vol. V

General Editor
DR. BHĀGĪRATHA PRASĀDA TRIPĀṬHĪ 'VĀGĪŚA ŚĀSTRĪ'
Director, Research Institute,
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.



VIJÑAPTIMĀTRATĀSIDDHIḤ

(PRAKARAṆADVAYAM)
OF
ĀCĀRYA VASUBANDHU

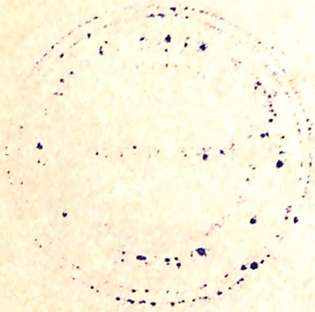
VIṂŚATIKĀ
With an Auto-Commentary
AND
TRIṂŚIKĀ
With the Commentary (Bhāṣya) of Sthiramati
Edited with
The Gūḍhārthadīpanī Commentary
and
Hindi Translation
by

Pt. THUBTAN CHOGDUB, ŚĀSTRĪ
AND
Pt. RĀMAŚAṄKARA TRIPĀṬHĪ,
Pāli-Bauddhadarśanācārya,
Reader, Department of Buddhist Philosophy,
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

VARANASI
1972

Published by —
Director, Research Institute
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi.

First Edition : 500 Copies



Printed by —
Sudarsan Mudraka
Uttar Beniya, Varanasi.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
(९)

प्रधानसम्पादकः
डॉ० भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीशः शास्त्री'
अनुसन्धानसंस्थानसञ्चालकः
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये

आचार्यवसुबन्धुप्रणीतम्

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-प्रकरणद्वयम्

तत्र

विंशतिका

स्वोपज्ञ-वृत्तियुता

त्रिंशिका

स्थिरमतिकृत-भाष्यसहिता

ते च

गूढार्थदीपनीव्याख्याऽनुवादसहिते

सम्पादक-व्याख्याकारानुवादकौ
थुबतनछोगडुब्शास्त्री
प० रामशङ्करत्रिपाठी, पालि-बौद्धदर्शनाचार्यः
प्रवाचकः, बौद्धदर्शनस्य
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी

वाराणस्याम्
२०२८ तमे वैक्रमाब्दे १८९३ तमे शकाब्दे १९७२ तमे ख्रिस्ताब्दे

प्राप्तिस्थानम्—
प्रकाशनविभागः
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी-२

प्रथमं संस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् ३९)२५ सपादैकोनचत्वारिंशद् रूप्यकाणि



मुद्रकः
सुदर्शनमुद्रकः
उत्तरबेनिया, वाराणसी—२

वक्तव्य

आस्तिक दर्शनों के सदृश बौद्धदर्शन में ईश्वर और आत्मा की सत्ता स्वीकृत नहीं की जाती। भारतवर्ष के लिए यह कोई नवीन बात नहीं थी। उसके पूर्व भी सांख्ययोग-दर्शन में ईश्वर की सत्ता को अनावश्यक माना गया। यद्यपि इस न्यूनता को समझ पातञ्जलयोग-दर्शन के समाधिपाद के 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' सूत्र में ईश्वर की सत्ता स्वीकृत की गई, तथापि पूर्वबन्धकोटिभान से विहीन योगियों में, जैन तीर्थंकरों में, तथागतोंमें इस प्रकार विपाकाशय की अपरामृष्टता मानी ही गयी थी। अतः भगवान् पतञ्जलि को 'पुरुषविशेष' विशेषण लगाना पड़ा।

भारतवर्ष में चिरकाल से ऋषिसंप्रदाय तथा मुनिसंप्रदाय के अनुयायी विद्यमान रहे हैं। ऋषिसंप्रदायानुगतों ने वेद को सर्वोपरि माना और यज्ञादि अनुष्ठानों में प्रवृत्त हुए। मुनिसंप्रदायानुगतों ने योगानुष्ठान को शीर्षण्य माना और वे चित्तवृत्तिनिरोधात्मक समाधि सिद्धि के लिए प्रवृत्त हुए। वे ईश्वर के विना ही मोक्षप्राप्ति करते हैं। बौद्धदर्शन इसी मुनिसंप्रदायकोटि में गणनीय होता है।

बौद्धदर्शनकी मुख्यतः चार शाखाएँ प्रतिष्ठित हैं—१. वैभाषिक, २. सौत्रान्तिक, ३. योगाचार अथवा विज्ञानवाद तथा ४. माध्यमिक अथवा शून्यवाद। तृतीय योगाचार अथवा विज्ञानवाद के दो भेद हैं—१. युक्त्यनुयायी और २. आगमानुयायी · प्रकृत ग्रन्थ आगमानुयायी विज्ञानवाद (योगाचार) का निरूपक है।

प्राचीन बौद्धदर्शन में छः विज्ञान माने जाते थे—चक्षुर्विज्ञानादि पञ्च विज्ञानकाय और इन्द्रियार्थ तथा अतीतादि धर्मों का ग्राहक षष्ठ मनोविज्ञान।

आगमानुयायी विज्ञानवाद में एक सातवाँ विज्ञान 'मनस्' तथा आठवाँ 'आलय' अधिक स्वीकृत किये गये। मनस् मनोविज्ञान से भिन्न अन्तरिन्द्रिय अन्तःकरण है। इसे प्रायः क्लिष्टमनस् कहा जाता है।

आलयविज्ञान को विपाकविज्ञान, मूलविज्ञान, आदानविज्ञान तथा विमलविज्ञान आदि भी कहा जाता है। पातञ्जल योगशास्त्र में क्लेशमूल कर्माशय के नष्ट न होने पर विपाक = कर्मफल के रूप में जाति, आयु और भोगों में गिरना पड़ता है। बौद्धदर्शन में भी आलय के अभाव में विपाकचित्त का अभाव होता है। तथागत के कोई अव्याकृत, विपाक धर्म नहीं होते। अतः वे गतियोनि में संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि उनके प्रपञ्चबीज निरुद्ध हो चुके रहते है। धर्मों के बीजों को धारण करनेवाले आलयविज्ञान के अभाव में हेतुफलभाव असिद्ध हो जाते हैं। आलयविज्ञान के अभाव में धर्म बीजवहन करने में स्वतः समर्थ नहीं होते। वस्तुतः पुनर्जन्मवादी बौद्धदर्शन में आलयविज्ञान की परमावश्यकता है। उसके बिना सत्त्व गतियोनि में संसरण नहीं कर सकते।

महायानाभिधर्मसूत्र में आलयविज्ञान को सूक्ष्मस्वभाव कहा गया है। इसकी अभिव्यक्ति इसकी क्रिया द्वारा शक्य है। आधुनिक मनोविज्ञान में ज्ञात (चेतन) अज्ञात (अचेतन) तथा ईषज्ज्ञात (अर्धचेतन) चित्त या मन माने जाते हैं। अज्ञातमन सूक्ष्मस्वभाव होता है। इसके संस्कार विद्यमान रहते हुए भी स्पष्टतः ज्ञात नहीं हो पाते। बौद्धदर्शन में आलयविज्ञान विज्ञप्ति-क्रिया तथा आलम्बन में असंविदित रहता है। इसकी सत्ता मरणोत्तर एवं प्रतिसंधि के पूर्व रहती है। यह अस्वप्निका निद्रा में ही प्रकट होता है।

यह आलयविज्ञान सर्वचित्त और जीवन का आधार है। उपनिषदादि तथा आस्तिक दर्शनों के अनुसार आत्मा या पुरुष नित्य और स्थिर द्रव्य है। विज्ञानवादियों के अनुसार यह आश्रय अनन्तकाल तक उत्पन्न होनेवाले अनादि धर्मों का समुदाय है। उन्होंने इसे जलौघ के समान माना है, औपनिषदों के सदृश अचलपर्वतवत् नहीं। यह आश्रय स्वयं धर्म है तथा पूर्वधर्मों की वासनाओं से बना है। अतः इसके कारण संसार प्रवृत्तियुक्त होता है। बौद्धदर्शन के आगमानुयायी विज्ञानवाद में आलयविज्ञान की वही प्रतिष्ठा है जो वेदान्तदर्शन में लिङ्गशरीर की। इसे अपञ्चीकृत सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। आलय भी राग का आलम्बन है। इसमें सत्त्वों का तब तक आसंग रहता है, जब तक वज्रोपम समाधि द्वारा आलय का विच्छेद नहीं हो जाता। प्रकृत ग्रन्थ की 'त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः' में यही विषय उपनिबद्ध है। इसे और स्पष्ट करने के लिये आचार्य सुमतिकीर्ति (चोंखापा) ने आलयविज्ञान क्लिष्टमनोविज्ञान-कारिकाओं की रचना की है।

यद्यपि पुराणों में भगवान् बुद्ध को अवतार मान लिया गया है, तथापि बौद्धधर्म एवं बौद्ध दर्शन की प्रतिष्ठा अपने घर में नहीं हो सकी। तिब्बत और चीन में इसका गहन अध्ययन-मनन हुआ। उसी के बल पर आज हम बौद्धदर्शन के ग्रन्थों का तत्त्व समझ सकने की स्थिति में हैं। संस्कृतभाषा में निबद्ध बौद्ध दर्शन के अनेक मूलग्रन्थ लुप्त हो गये। किन्तु तिब्बत में उनके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा सुरक्षित रहने के कारण तिब्बती अनुवाद रूप में वे आज भी हमें उपलब्ध हैं। आगमानुयायी योगाचार दर्शनशाखा के सिद्धान्तों के प्रतिपादक आर्य मैत्रेयनाथ तथा आर्य असंग के अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत भाषा में अनुपलब्ध हैं। तिब्बती भाषा में प्रायः सभी का अनुवाद उपलब्ध हो जाता है। तिब्बती ग्रन्थभाषा व्यावहारिक भाषा से भिन्न है। तिब्बत में संस्कृत भाषा के ग्रन्थों को तिब्बती ग्रन्थ-भाषा में अनूदित करके ही अध्ययन-अध्यापन की परम्परा रही। फलतः मूल ग्रन्थ का लुप्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जायगा। हर्ष का विषय है कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में तिब्बती विद्वानों को संस्कृत शिक्षा देने की अनितरसाधारण व्यवस्था की गयी है। संस्कृतज्ञ तिब्बती विद्वान् तिब्बती ग्रन्थभाषा के रूप में उपलब्ध दार्शनिक विषयों को थोड़े ही प्रयत्न से अपने मूल रूप संस्कृतभाषा में परिवर्तित कर सकते हैं। प्रकृत ग्रन्थ के परिशिष्ट में इस प्रकार का एक निदर्शन उपस्थापित किया गया है। आचार्य चोंखापा (सुमतिकीर्ति) ने आलयविज्ञानक्लिष्टमनोविज्ञानकारिकाः की रचना तिब्बती ग्रन्थभाषा के पद्यों में की थी। उनका भाष्य भी तिब्बती भाषा में लिखा गया था। मूलपद्यों को संस्कृतपद्यों के रूप में रूपान्तरित करने का सफल प्रयास किया गया है। इसी प्रकार अभिसमयालङ्कारकारिका पर आचार्य हरिभद्रकृत स्फुटार्था टीका का संस्कृत मूल कहीं भी उपलब्ध नहीं है। तिब्बती भाषा में उसका अनुवादमात्र प्राप्त है। उसी अनुवाद के आधार पर उक्त ग्रन्थ को भी अपने संस्कृत मूलरूप में सुलभ कराया जा सकेगा। आचार्य नग्नजित् का चित्रमूर्तिविषयक (चित्रलक्षणम्) ग्रन्थ भी अपने मूलरूप में अप्राप्त है। तिब्बती अनुवाद के आधार पर उसे भी अपने संस्कृत मूलरूप में सुलभ कराने का प्रयत्न अपेक्षित है।

विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में बीस और त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में तीस कारिकाओं में विषय उपनिबद्ध किया गया है। आचार्य वसुबन्धु स्वल्पाक्षरों में विषयप्रतिपादन के लिये सिद्धहस्त हैं। परम्परा के विना उनकी व्याख्या करना शक्य नहीं है। यद्यपि विंशतिका की हिन्दी व्याख्या आचार्य विनीतदेवकृत संस्कृत टीका के तिब्बती अनुवाद का आधार लेकर की गई है; इसी तरह त्रिंशिका में 'स्थिरमतिभाष्य' को भी हिन्दी व्याख्यासहित स्थान दिया गया है, तथापि इस व्याख्या को सुबोध और विशद बनाने के लिए व्याख्याकार ने

पचासों ग्रन्थों का सहारा लिया है। केवल पचास कारिकाओं की हिन्दी व्याख्या लगभग साढ़े तीन सौ से अधिक पृष्ठों में समाप्त हुई है। स्थान-स्थान पर अनुसन्धानात्मक टिप्पणियाँ देकर उसे और भी उपादेय बना दिया गया है। फलतः इस ग्रंथ की हिन्दी व्याख्या अपने में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गयी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि बौद्धदर्शन पारावार के तलस्पर्शी विद्वान् श्री रामशंकर त्रिपाठी एवं श्री थुबतन छोगडुप शास्त्री की इस व्याख्या से जिज्ञासुजन तथा अनुसन्धाता अवश्य लाभान्वित होंगे।

कोजागरी
२०२८
वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय

भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
अनुसन्धानसंस्थानसंचालक

भूमिका

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित होने पर भी बौद्धदर्शन कोई एक दर्शन नहीं; अपितु दर्शनों का समूह है। कुछ बातों में विचारसाम्य होने पर भी परस्पर अत्यन्त मतभेद हैं। शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद अधिक हैं। अनेक शाखोपशाखाओं के होने पर भी दार्शनिक मान्यताओं के साम्य की दृष्टि से बौद्ध विचारों का चार विभागों में वर्गीकरण किया गया है। यथा—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद , ।

इन समस्त विचारों के मूल में भगवान् बुद्ध के वे वचन हैं, जिनका उपदेश उन्होंने विभिन्न धातु, अध्याशय और अधिमुक्ति वाले विनेयजनों के कल्याणार्थ विभिन्न स्थानों पर धर्मचक्रों का प्रवर्तन करके किया है। महायानी परम्परा के अनुसार भगवान् ने तीन धर्मचक्रों का प्रवर्तन किया है। पहला वाराणसी के मृगदाव (सारनाथ) में, दूसरा गृध्रकूट में तथा तीसरा वैशाली में। इन त्रिविध धर्मचक्रों के अनुषङ्ग में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये, उनका संग्रह किया गया और उन्हीं से आगे चलकर समस्त बौद्धदर्शन का विकास हुआ।

त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन

भगवान् बुद्ध प्रज्ञा और करुणा की मूर्ति थे। अर्थात् प्रज्ञा और करुणा उनमें विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच कर समरस होकर स्थित थे। इतना ही नहीं, वे अत्यन्त उपायकुशल भी थे। उपायकौशल्य बुद्ध का एक गुण है। अर्थात् वे विनेय जनों को सन्मार्ग पर आरूढ करने में अत्यन्त प्रवीण थे। वे यह भलीभाँति जानते थे कि कौन पुरुष किस उपाय द्वारा सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। फलतः वे लोगों के विचार, स्वभाव, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखकर उपदेश किया करते थे। जैसे शिव, विष्णु आदि वरदान देकर या ऋद्धिबल से भक्त जनों का

उद्धार करते हैं, वैसा भगवान् बुद्ध नहीं किया करते; अपितु वे उपदेश द्वारा ही विनेय जनों को संसार से मुक्त करना चाहते हैं[1]। कहा भी गया है कि बुद्ध जैसे पानी से मल का प्रक्षालन किया जाता है, वैसे लोगों के पापों का प्रक्षालन नहीं करते। जैसे शरीर में प्रविष्ट कण्टक को हाथ से पकड़ कर खींच लिया जाता है, वैसे जगत् के दुःखों का अपकर्षण भी नहीं करते। न तो बुद्ध का ज्ञान अन्य लोगों में संक्रान्त ही होता है। अर्थात् वे अपना ज्ञान दूसरों लोगों में संक्रान्त नहीं करते (जैसे विष्णु ने ध्रुव में ज्ञान प्रविष्ट कर दिया था); अपितु वे जिसका उद्धार करना चाहते हैं, उसे धर्मों (वस्तुओं) की यथार्थता का उपदेश करते हैं।[2]

भगवान् बुद्ध ने भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में विनेय जनों को अनन्त उपदेश दिये थे। सबके विषय, प्रयोजन और पात्र भिन्न-भिन्न थे। ऐसा होने पर भी समस्त उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य एक ही था और वह था विनेय

---

१. द्र०—संसारो हि जगदासङ्गस्थानत्वाद् दुरुत्तरत्वाच्च पङ्कभूतः, तत्रावमग्नं जगदत्राणमनुकम्पमानो भगवान् सद्धर्मदेशनाहस्तप्रदानैर्यथाभव्यमुद्धृतवान्...यथार्थमविपरीतं शास्तीति शास्ता...यथाभूतशासनाच्छास्ता भवन्नसौ संसारपङ्काज्जगदुज्जहार, न त्वृद्धिवरप्रदानप्रभावेणेति। —अभि० को० भाष्य, पृ० ८—९।

सद्धर्मदेशनाहस्तप्रदानैः—सद्धर्मदेशनैव हस्ताः, तेषां प्रदानानि...तैः। यथाभव्यमुद्धृतवान्... यो जनो भव्योऽभ्युद्धर्तुम्, तमेवाभ्युद्धृतवानिति। अतो यथाभव्यमिति व्याचष्टे।...न त्वृद्धिवरप्रदानप्रभावेणेति। प्रभावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते—ऋद्धिप्रभावेण, वरप्रदानप्रभावेणेति। ऋद्धिप्रभावस्तद्यथा—विष्णोर्विश्वरूपसन्दर्शनम्। वरप्रदानप्रभावस्तद्यथा—महेश्वरो वरं प्रयच्छतीति प्रवादः। अथवा त्रिपदो द्वन्द्वः। ऋद्धिश्च वरप्रदानं च प्रभावश्चेति। प्रभावः शक्तिविशेषः। ननु च बुद्धा अपि कदाचिद् ऋद्धिप्रातिहार्यं विनेयानामुपदर्शयन्ति ? अस्त्येतदेवम्, अपि त्वावर्जनमात्रं तु तेषाम्। अनुशासनीप्रातिहार्येण तु रागादिप्रतिपक्षभावनाक्रमेण संसारोत्तरणं भवति। स्फुटार्था; पृ० ८, १०।

तु०—तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना॥
खुद्दकनिकाय, प्र० भा० (धम्मपद), पृ० ४२।

२. न क्षालयन्ति मुनयो जलेन पापम्,
नैवापकर्षन्ति करेण जगद्दुखम्।
नैव च संक्रमते ह्यन्ये स्वाधिगमम्;
सद्धर्मतादेशनया विमोचयन्ति॥
बौद्धधर्म का परिचय, पृ० २७।

जनों को मुक्ति की ओर ले जाना। मोक्ष या निर्वाण ही उनके समस्त उपदेशों का एकमात्र रस है।

बुद्ध के सभी उपदेश त्रिविध धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं कि नहीं—यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसके बारे में प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय एवं भोटदेशीय विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ शास्त्रज्ञों की धारणा है कि उनके समस्त उपदेशों का समावेश त्रिविध धर्मचक्र में होना चाहिए। क्योंकि उनके समस्त उपदेशों का एकमात्र उद्देश्य मुक्ति है और मुक्ति की प्राप्ति ज्ञान से ही सम्भव है। नैरात्म्यज्ञान के विना मुक्ति सर्वथा असम्भव है। फलतः भगवान् बुद्ध ने जो भी उपदेश दिया है, सबका साक्षात् या परम्परया नैरात्म्यज्ञान से सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में भगवान् ने या तो स्वभावसत्ता के आधार पर उपदेश दिया है या निःस्वभावता के आधार पर। यह भी हो सकता है कि सस्वभावता और निःस्वभावता का क्षेत्रविभाजन करके उपदेश दिया हो। चौथा प्रकार सम्भव नहीं है, अतः उनके जो उपदेश स्वभावसत्ता या स्वलक्षणसत्ता पर आधृत हैं, वे प्रथम धर्मचक्र में समाविष्ट होते हैं,। जो उपदेश निःस्वभावता या निःस्वलक्षणसत्ता पर आधृत हैं, वे द्वितीय धर्मचक्र में समाविष्ट होते हैं। जो उपदेश सस्वभावता एवं निःस्वभावता का क्षेत्रविभाजन करके प्रवर्तित हैं, अर्थात् जो उपदेश यह प्रदर्शित करते हैं कि अमुक धर्म सस्वभाव हैं और अमुक धर्म निःस्वभाव हैं तथा जो स्वभावता एवं निःस्वभावता की परिभाषा एवं स्वरूप का भी विवेचन करते हैं, वे उपदेश अन्तिम या तृतीय धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं।

काल की दृष्टि से भी उनके समस्त उपदेशों का त्रिविध धर्मचक्र में समावेश किया जा सकता है, यथा—प्रथम काल में उपदिष्ट सूत्र प्रथम धर्मचक्र में, मध्य में उपदिष्ट सूत्र द्वितीय धर्मचक्र में तथा अन्तिम या तृतीय काल में उपदिष्ट सूत्र तृतीय धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं।

अनेक आधुनिक भोटदेशीय विद्वान् उपर्युक्त मत का समर्थन नहीं करते। उनका कहना है कि त्रिविध धर्मचक्र का स्वरूप वैसा ही होना चाहिये, जैसा आर्यसन्धिनिर्मोचन में प्रतिपादित है। आर्यसन्धिनिर्मोचन में स्पष्टतया उल्लिखित है कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट समस्त सूत्र त्रिविध धर्मचक्रों में समाविष्ट नहीं किये जा सकते। जो सूत्र धर्मों की सस्वभावता के प्रतिपादक हैं, उनका संग्रह प्रथम धर्म-

चक्र में होता है। अर्थात् प्रथम धर्मचक्र समस्त धर्मों की सस्वभावता का प्रतिपादन करता है तथा द्वितीय धर्मचक्र समस्त धर्मों को निःस्वभाव प्रदर्शित करता है। अर्थात् निःस्वभावता-प्रतिपादक सूत्र द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं। तृतीय धर्मचक्र न तो समस्त धर्मों को सस्वभाव दिखलाता है और न समस्त धर्मों को निःस्वभाव ही दिखलाता है। वह तो धर्मों का विभाजन करके स्पष्टरूप से यह निर्देश करता है कि अमुक धर्म सस्वभाव हैं और अमुक धर्म निःस्वभाव हैं। फलतः इन त्रिविध धर्मचक्रों में बुद्ध के समस्त उपदेशों का समावेश नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसे अनेक सूत्र अवशिष्ट रह जाते हैं, जो न तो धर्मों की सस्वभावता का और न निःस्वभावता का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसे सूत्रों का अन्तर्भाव त्रिविध धर्मचक्र में से किसी में भी नहीं हो सकता। जैसे–"भिक्षुओ, ठीक से चीवर पहिनना चाहिए, विकाल भोजन से विरत रहना चाहिए, प्राणातिपात से विरत रहना चाहिये, अदत्तादान (चोरी) नहीं करना चाहिए, मिथ्यावचन नहीं बोलना चाहिये"—इत्यादि सूत्र इस कोटि में आते हैं। ये सूत्र नेयार्थ हैं या नीतार्थ? उनकी इस तरह की परीक्षा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि ये सामान्य नैतिक नियमों का प्रदर्शन-मात्र करते हैं। इनके बारे में किसी विद्वान् को उक्त प्रकार का सन्देह भी नहीं होता।

समस्त सूत्र त्रिविध धर्मचक्र में संगृहीत होते हैं कि नहीं? इसके बारे में आचार्य चोंखापा जी ने भी कहीं स्पष्टतया उल्लेख नहीं किया है। फिर भी उन्होंने इतना स्पष्ट कहा है कि आर्यसन्धिनिर्मोचन में वर्णित त्रिविध धर्मचक्र में से प्रथम और द्वितीय धर्मचक्र विज्ञानवाद के मत में नेयार्थ सूत्र हैं तथा तृतीय धर्मचक्र ही नीतार्थ सूत्र है। तृतीय धर्मचक्र प्रथम और द्वितीय धर्मचक्रों के अभिप्राय एवं प्रयोजन का सुस्पष्ट प्रदर्शन करता है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने यदा कदा "भिक्षुओ, ठीक से चीवर पहनना चाहिये"—इत्यादि जो बहुत से उपदेश किये हैं, उनका इन त्रिविध धर्मचक्रों में समावेश नहीं किया जा सकता। अर्थात् ऐसे सूत्र त्रिविध धर्मचक्र में संगृहीत नहीं हैं। इस विषय में हम आचार्य चोंखापा जी के मत का अनुसरण करते हैं।

आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र विज्ञानवादियों का मूल सूत्र है। इसी के आधार पर विज्ञानवादी दर्शन प्रतिष्ठित हुआ है। इस सूत्र में उल्लिखित त्रिविध धर्मचक्रों में से अन्तिम (तृतीय) धर्मचक्र ही विज्ञानवाद के अनुसार नीतार्थ सूत्र है। सारांश यह है कि आर्यसन्धिनिर्मोचन ही तृतीय धर्मचक्र है।

प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन

काल की दृष्टि से यह प्रथम है। स्थान वाराणसी का ऋषिपत्तन मृगदाव है। इसके विनेय जन (पात्र) श्रावकवर्गीय वे लोग हैं, जो स्वलक्षण एवं बाह्यसत्ता पर आधृत चतुर्विध आर्यसत्य के उपदेश के भव्य (योग्य) हैं। स्वलक्षणसत्ता एवं बाह्यसत्ता के आधार पर चार आर्यसत्य की स्थापना इस (प्रथम धर्मचक्र) की विषयवस्तु है। श्रावकवर्गीय लोगों की दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है; किन्तु द्विविध (योगाचार एवं माध्यमिक) महायानसिद्धान्तवादियों की दृष्टि से यह नेयार्थ देशना है।

द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन

काल की दृष्टि से यह मध्यम है। अर्थात् भगवान् बुद्ध ने इसे मध्यम काल में प्रवर्तित किया था। स्थान गृध्रकूट पर्वत प्रमुख है। इसके विनेय जन महायानी लोग हैं। शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसके विषयवस्तु हैं। इस देशना द्वारा समस्त धर्म निःस्वभाव दिखलाये गये हैं, अतः विज्ञानवादी इसे नेयार्थ मानते हैं। आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शान्तरक्षित आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का इसकी नेयार्थनीतार्थता के बारे में प्रासङ्गिक माध्यमिकों से कुछ मतभेद है। इनके अनुसार आर्यशतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र नीतार्थसूत्र हैं; क्योंकि इनमें समस्त धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता स्पष्टतया निर्दिष्ट है। भगवती प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र आदि यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जाते; क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गयी है, उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को मान्य नहीं है। यद्यपि इन सूत्रों का अभिप्राय परमार्थतः निःस्वभावता ही है, तथापि उनमें 'परमार्थतः' यह विशेषण अधिक स्पष्ट नहीं है, जो कि उनके अनुसार नीतार्थ सूत्र होने के लिये परमावश्यक है। कहने का आशय यह है कि आर्यशतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि नीतार्थ सूत्र हैं तथा भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि नेयार्थ सूत्र हैं।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र नीतार्थ देशना है। उनके मत में जिस सूत्र का मुख्य विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है। जिसका मुख्य विषय संवृतिसत्य है, वह सूत्र नेयार्थ है। अतः इनके मत में भगवतीप्रज्ञापारमिता हृदय आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन

काल की दृष्टि से यह अन्तिम है। स्थान वैशाली आदि प्रमुख हैं। श्रावक एवं महायानी दोनों इसके विनेयजन हैं। शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसके विषयवस्तु हैं। विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है। इसी के आधार पर विज्ञानवाद स्थित है। अर्थात् विज्ञानवाद की यही मूलभित्ति है। यद्यपि द्वितीय एवं तृतीय दोनों धर्मचक्रों में शून्यता प्रतिपादित की गई है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव दिखलाया गया है। उसमें यह भेद नहीं किया गया है कि अमुक धर्म निःस्वभाव हैं और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं; अपितु सस्वभाव हैं। विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते, अपितु पदार्थों में से कुछ निःस्वभाव हैं और कुछ सस्वभाव। अतः वे द्वितीय धर्मचक्र को नीतार्थ नहीं मानते। उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की सस्वभावता एवं निःस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जाते हैं। जिन सूत्रों में उपर्युक्त प्रकार का विभाजन स्पष्ट नहीं है, चाहे उनका मूल अभिप्राय विज्ञानवाद ही क्यों न हो, विज्ञानवादी उन्हें नीतार्थ नहीं, अपितु नेयार्थ ही मानते हैं।

आचार्य भावविवेक, शान्तरक्षित आदि इसे (तृतीय धर्मचक्र को) नीतार्थ देशना मानते हैं; क्योंकि इसके द्वारा भगवतीप्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्रों (जो सूत्र द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत हैं और नेयार्थ हैं) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है। ऊपर कहा गया है कि स्वातन्त्रिक माध्यमिक द्वितीय धर्मचक्र में संगृहीत सूत्रों में से कुछ को नीतार्थ मानते हैं और कुछ को नेयार्थ। भगवतीप्रज्ञापारमिता-हृदय आदि सूत्र नेयार्थ हैं, क्यों कि उनमें 'परमार्थतः' यह विशेषण न लगाकर सामान्यतः निःस्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ (तृतीय धर्मचक्र में) उस विशेषण को स्पष्टरूप से लगाकर उसका अभिप्राय प्रकट किया गया है, अतः उनके मत में यह नीतार्थ देशना है।

प्रश्न है विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों मतों में तृतीय धर्मचक्र समानरूप से नीतार्थ कैसे माना जा सकता है, जबकि दोनों के सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ?

दोनों इसे नीतार्थ तो अवश्य मानते हैं। परन्तु स्वातन्त्रिक माध्यमिक यह नहीं कहते कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय विज्ञानवादियों ने जैसा समझा है,

वैसा ही है। उनका कहना है कि विज्ञानवादियों ने उसका अभिप्राय गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालोक में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हम भी यथावसर कुछ कहेंगे।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक इसे (तृतीय धर्मचक्र को) सर्वथा नेयार्थ देशना मानते हैं। उनका कहना है कि तृतीय धर्मचक्र का अभिप्राय ठीक वैसा ही है, जैसा विज्ञानवादी मानते हैं। क्योंकि विज्ञानवादियों के सिद्धान्त युक्तिहीन एवं दोषदुष्ट हैं, अतः तृतीय धर्मचक्र नेयार्थ देशना है। उनके मतानुसार तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध ने ऐसे विनेयजनों पर अनुग्रह करने के लिये किया है, जो तत्काल शून्यता जैसे गम्भीर विषय की देशना के पात्र नहीं हैं। अतः तत्काल विज्ञानवाद की देशना देकर पीछे कुशलता से गम्भीर विषय (सर्वधर्मनिःस्वभावता) की ओर ले जाने के लिये उन्होंने तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार के स्वभाष्य में इस विषय का सुस्पष्ट विवेचन किया है।

विज्ञानवाद का प्रारम्भ

विज्ञानवाद का वाङ्मय अत्यन्त विस्तृत एवं गम्भीर है। उक्त त्रिविध धर्मचक्रों में से तृतीय धर्मचक्र ही इसका आधार है। आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र ही प्रधानतः तृतीय धर्मचक्र है। वैसे लङ्कावतारसूत्र एवं अभिधर्मसूत्र भी इसके मूल आगम हैं। आर्य असङ्ग इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र के आधार पर ही इस दर्शन की रूपरेखा एवं सिद्धान्त स्थापित किये हैं। सभी विज्ञानवादी आचार्य उन्हीं का अनुसरण करते हैं।

आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र में दस परिच्छेद हैं। उनमें से सातवाँ परिच्छेद 'परमार्थसमुद्गत परिपृच्छा' है। इसे ही विज्ञानवादी अपने दर्शन का मूलाधार मानते हैं। परमार्थसमुद्गत ने भगवान् बुद्ध से पूछा – भगवन्, आपने अनेक बार पञ्चस्कन्ध से लेकर ३७ बोधिपक्षीय धर्मों तक सबकी स्वलक्षणसत्ता कही है। पाँच स्कन्धों एवं द्वादश आयतनों की स्वलक्षणतः उत्पत्ति एवं स्वलक्षणतः विनाश कहा है। उन्हें आपने स्वलक्षणतः हेय एवं स्वलक्षणतः ज्ञेय भी कहा है। इसी प्रकार आपने दुःखसत्य को स्वलक्षणतः परिज्ञेय, समुदयसत्य को स्वलक्षणतः हेय, निरोधसत्य को स्वलक्षणतः साक्षात्करणीय एवं मार्गसत्य को स्वलक्षणतः भावनीय कहा है। पुनश्च आपने अनेक बार समस्त धर्मों को निःस्वभाव, समस्त धर्मों को

अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध भी कहा है। अपि च—आपने अनेकधा समस्त धर्मों को आदितः शान्त एवं स्वभावतः परिनिर्वृत्त कहा है। ऐसी स्थिति में भगवन्, आपने किस अभिप्राय से अर्थात् किस बात को मन में रखकर ऐसा कहा है। समस्त धर्मों को निःस्वभाव और कहीं पर उन्हें सस्वभाव कहने में आपका क्या अभिप्राय है। भगवन्, आपके वचनों में विरोध की तो सम्भावना ही नहीं है। फिर इस प्रकार कहने के पीछे आपका असली मन्तव्य क्या है ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर भगवान् ने आर्यसन्धिनिर्मोचन में ही दो प्रकार से दिया है। प्रथम समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहने का अभिप्राय और द्वितीय उन्हें अनुत्पन्न, अनिरुद्ध आदि कहने का अभिप्राय।

(क) निःस्वभावता का अभिप्राय

भगवान् ने कहा—हे बोधिसत्त्व, परमार्थसमुद्गत ! लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता एवं परमार्थनिःस्वभावता—इन तीन निःस्वभावताओं के अभिप्राय से मैंने समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है।

आर्य असंग ने अपने महायानसंग्रह में कहा है कि द्वितीय धर्मचक्र (प्रज्ञापारमितासूत्र) की देशना के अवसर पर भगवान् बुद्ध ने जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा था, उसका अभिप्राय इस (आर्यसन्धिनिर्मोचन) सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है। आचार्य वसुबन्धु ने भी त्रिंशिका में कहा है—

त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥[1]

प्रज्ञापारमितासूत्रों में पञ्चस्कन्धों से लेकर सर्वज्ञ तक के समस्त सांसारिक एवं वैयवदानिक धर्मों को निःस्वभाव कहा गया है। विज्ञानवादी इन सूत्रों के शाब्दिक अर्थ को स्वीकार नहीं करते। वे इन्हें नेयार्थ सूत्र मानते हैं। नेयार्थ सूत्रों का शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त अन्य आभिप्रायिक (वास्तविक) अर्थ हुआ करता है। उपर्युक्त आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र द्वारा प्रज्ञापारमितासूत्रों का वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया गया है। लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता एवं परमार्थनिःस्वभावता इन तीन निःस्वभावताओं को ध्यान में रखकर भगवान् ने प्रज्ञापारमितासूत्रों में समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है। इन तीनों में सभी धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं।

---

१. द्र०—त्रि० का० २३ पृ० ३२७।

आर्यसन्धिनिर्मोचन में आगे तीनों नि:स्वभावताओं की सविस्तर व्याख्या की गई है, जिसका सारांश नीचे दिया जा रहा है—

संसार तथा निर्वाण में जो कुछ भी है, अर्थात् लौकिक एवं लोकोत्तर जो भी धर्म हैं, समस्त तीन लक्षणों में संगृहीत हो जाते हैं। परिकल्पितलक्षण, परतन्त्रलक्षण एवं परिनिष्पन्नलक्षण ये ही तीन लक्षण हैं। परिकल्पितलक्षण लक्षणनि:स्वभाव है; क्योंकि वह केवल नाम एवं संकेत द्वारा स्थापित है। न कि अपने लक्षण अर्थात् स्वलक्षण से स्थित है। अतः परिकल्पितलक्षण लक्षणनि:स्वभाव होता है।

विज्ञानवाद के अनुसार परिकल्पितलक्षण विशेष्य है और लक्षणनि:स्वभावता उसका विशेषण है। आकाश, बाह्यार्थ आदि परिकल्पितलक्षण के उदाहरण हैं। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि वह कौन लक्षणस्वभाव या स्वलक्षण है, जो आकाश आदि परिकल्पितलक्षणों में नहीं है? स्वलक्षणतः अस्तित्व ही यहाँ लक्षणस्वभाव या स्वलक्षण है, जो परिकल्पितलक्षणों में नहीं है। स्वलक्षणतः अस्तित्व का तात्पर्य यहाँ नाम और संकेतों द्वारा स्थापित न होने से है। नाम और संकेतों द्वारा स्थापित होने पर स्वलक्षणतः अस्तित्व न होने पर भी अनस्तित्व अनिवार्य नहीं है। आकाश आदि नाम और संकेत द्वारा स्थापित भी हैं और उनका अस्तित्व भी है। बाह्यार्थ, पुद्गलात्मा एवं खपुष्प आदि नाम और संकेतों द्वारा स्थापित भी हैं और उनका अस्तित्व भी नहीं है। अर्थात् वे सर्वथा अलीक हैं। यहाँ नाम और संकेतों से स्थापना की सीमा या परिभाषा प्रासङ्गिक माध्यमिकों से पूर्णतः भिन्न है। अतः स्वलक्षणसत्ता का अर्थ भी उनके मत से एकदम भिन्न है। स्वलक्षणतः अस्तित्व या स्वभावतः अस्तित्व की चर्चा विज्ञानवाद एवं माध्यमिक दोनों शास्त्रों में सहस्रधा वर्णित है; किन्तु केवल शब्दों में साम्य है, अर्थ में नितान्त भेद है। इसे विना समझे इन दर्शनों का मर्म भली भाँति समझा नहीं जा सकता।

परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनि:स्वभाव होता है। क्योंकि वह अन्य हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। अर्थात् वह अन्य कारणों के विना अपने-आप (स्वतः) उत्पन्न नहीं होता। घट, पट, स्तम्भ आदि वस्तुयें परतन्त्रलक्षण हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्न वस्तुयें परतन्त्रलक्षण होती हैं। घट, पट आदि वस्तुयें प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, अतः वे परतन्त्रलक्षण होती हैं। हेतु-प्रत्ययों की विना अपेक्षा किये वे स्वतः उत्पन्न नहीं

होतीं, अतः उत्पत्तिनिःस्वभाव कहलाती हैं। उत्पत्तिनिःस्वभाव का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जिसकी उत्पत्ति ही न हो। विज्ञानवादी घट, पट आदि की स्वतः उत्पत्ति नहीं मानते, किन्तु स्वलक्षणतः उत्पत्ति मानते हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिक धर्मों की स्वलक्षणतः उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते।

आर्यसन्धिनिर्मोचन में परमार्थनिःस्वभाव की स्थापना दो दृष्टियों से की गई है। एक के अनुसार परतन्त्रलक्षण परमार्थनिःस्वभाव स्थापित किया गया है। ऊपर कहा गया है कि घट, पट आदि परतन्त्रलक्षण प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से उत्पत्तिनिःस्वभाव हैं। जो उत्पत्तिनिःस्वभाव होते हैं, वे ही परमार्थनिःस्वभाव भी होते हैं; क्योंकि वे आर्य के समाहित ज्ञान के आलम्बन नहीं होते। 'परमार्थ'-शब्द में परम का तात्पर्य विशुद्धिमार्ग या आर्यों के समाहित ज्ञान से है। उस 'परम' का जो आलम्बन होता है, वह परमार्थ कहलाता है। इसके अनुसार परमार्थ वही है, जो परमार्थसत्य है, परिनिष्पन्नलक्षण है, तथता या शून्यता है या जिसके आलम्बन से ज्ञेयावरण का प्रहाण होता है। परतन्त्रलक्षण धर्मों का आलम्बन कर भावना करने से ज्ञेयावरण का प्रहाण नहीं होता। फलतः विशुद्धिमार्ग का आलम्बन न होने से परतन्त्रलक्षण परमार्थस्वभाव नहीं होता। इस तरह परमार्थत्वेन निःस्वभाव होने के कारण परतन्त्रलक्षण परमार्थ-निःस्वभाव है।

यहाँ एक सन्देह हो सकता है कि विशुद्धिमार्ग का आलम्बन न होने से यदि परतन्त्रलक्षण परमार्थनिःस्वभाव होता है तो परिकल्पितलक्षण भी विशुद्धिमार्ग का आलम्बन न होने से परमार्थनिःस्वभाव क्यों नहीं है ?

भोटदेशीय आचार्य चोंखापा (सुमतिकीर्ति) ने इस सन्देह का निराकरण इस प्रकार किया है। उनका कहना है कि परतन्त्रलक्षण के बारे में लोगों को इस प्रकार का सन्देह होनेकी गुञ्जाइश है कि वह विशुद्धिमार्ग का आलम्बन है कि नहीं ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये उसे परमार्थनिःस्वभाव कहना जरूरी था कि वह विशुद्धिमार्ग का आलम्बन नहीं है। परिकल्पितलक्षण के बारे में इस प्रकार के सन्देह की गुञ्जाइश ही नहीं है, अतः शास्त्रों से उसे परमार्थनिःस्वभाव नहीं कहा गया। आशय यह है कि परतन्त्रलक्षण में जो परिकल्पितलक्षण से शून्यता है, वह परमार्थ है, उसको आलम्बन कर भावना करने से ज्ञेयावरण का क्षय होता है। उदाहरणार्थ घट, पट आदि धर्म परतन्त्रलक्षण हैं। उनमें आरोपित बाह्यसत्ता

परिकल्पितलक्षण है। घट, पट आदि में उस बाह्यार्थता से रहितता परमार्थ है, जो विशुद्धिमार्ग का आलम्बन है। ऐसी स्थिति में घट, पट आदि धर्मी होते हैं और बाह्यार्थत्व से शून्यता धर्म होती है। यहीं यह सन्देह होता है कि जब विशुद्धिमार्ग (आर्यों का समाहित ज्ञान) धर्म (बाह्यार्थशून्यता) का आलम्बन करता है, तो उसे धर्मी (घट-पट आदि) का भी आलम्बन करना चाहिये। फलतः परतन्त्रलक्षण को भी विशुद्धिमार्ग का आलम्बन होना चाहिये ? इस प्रकार का सन्देह केवल परतन्त्रलक्षण के बारे में ही सम्भव है, परिकल्पितलक्षण के बारे में ऐसा सन्देह नहीं उठता। फलतः परतन्त्रलक्षण में ही परमार्थनिःस्वभावता की व्यवस्था की गई है, परिकल्पितलक्षण में नहीं। इस तरह परतन्त्रलक्षण को परमार्थनिःस्वभाव कहना केवल उसके विशुद्धिमार्ग के आलम्बन न होने के कारण ही नहीं है, अपितु उक्त प्रकार के सन्देह की निवृत्ति के लिये भी है।

एक दूसरी दृष्टि के अनुसार परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थनिःस्वभाव स्थापित किया गया है। परिनिष्पन्नलक्षण 'परमार्थ' है; क्योंकि वह विशुद्धिमार्ग (आर्यों के समाहित ज्ञान) का आलम्बन है और उसका आलम्बन कर भावना करने से ज्ञेयावरण का प्रहाण होता है। वह (परिनिष्पन्नलक्षण) निःस्वभाव भी है; क्योंकि स्वरूपतः वह धर्मात्मता (धर्मस्वभाव) से शून्यता है। अर्थात् धर्मनैरात्म्य है। इस तरह जो परमार्थ भी है और निःस्वभाव भी है (परमार्थश्चासौ निःस्व-भावश्चेति), वह परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थनिःस्वभाव व्यवस्थापित होता है। घट, पट आदि परतन्त्रलक्षणों में जो बाह्यार्थत्व से शून्यता है, वही परिनिष्पन्नलक्षण है। वही धर्मनैरात्म्य एवं परमार्थसत्य भी है। वही धर्मात्मभाव से निःस्वभाव है। ऊपर परतन्त्रलक्षण को जो परमार्थनिःस्वभाव कहा गया है, वह परमार्थस्वभाव का न होने से (परमार्थतः निःस्वभावत्वात्) वैसा कहा गया है। फलतः परतन्त्रलक्षण परमार्थसत्य नहीं, अपितु संवृतिसत्य है। इस तरह परमार्थनिःस्वभाव के द्विविध विग्रह करके एक के अनुसार परतन्त्रलक्षण को परमार्थनिःस्वभाव कहा गया है और दूसरे के अनुसार परिनिष्पन्नलक्षण को परमार्थनिःस्वभाव व्यवस्थापित किया गया है।

आर्यसन्धिनिर्मोचन में उक्त त्रिविध लक्षणों में परिकल्पितलक्षण (लक्षण-निःस्वभाव) की उपमा खपुष्प से, परतन्त्रलक्षण (उत्पत्तिनिःस्वभाव) की उपमा माया से तथा परिनिष्पन्नलक्षण (परमार्थनिःस्वभाव) की उपमा आकाश से दी

गई है। परिकल्पितलक्षण खपुष्पवत् इसलिये कहा गया है, क्योंकि खपुष्प जैसे नितराम् कल्पित है, परिकल्पितलक्षण भी उसी तरह नितान्त कल्पित है। दोनों के कल्पित होने में यद्यपि बिलकुल समानता है, तथापि अस्तित्व के बारे में थोड़ा फर्क है। परिकल्पित लक्षणों में कुछ तो खपुष्प की भांति एकदम अलीक हैं, इनका किसी भी तरह का अस्तित्व नहीं होता, जैसे बाह्यार्थसत्ता आदि। कुछ परिकल्पित-लक्षणों का अस्तित्व होता है, जैसे आकाश आदि। ये एकदम अलीक नहीं हैं। अतः आकाश आदि से रहितता परिनिष्पन्नलक्षण नहीं है, अपितु बाह्यार्थसत्ता (परिकल्पितलक्षण) से रहितता (शून्यता या अभाव) परिनिष्पन्नलक्षण होता है।

परतन्त्रलक्षण को मायावत् इसलिये कहा गया है, क्योंकि जैसे माया हेतु-प्रत्ययों के अधीन होती है, वैसे ही परतन्त्रलक्षण भी हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। कंकड़, पत्थर, तृण, काष्ठ, वस्त्र आदि द्रव्य, मन्त्र एवं औषधि आदि की वजह से अविद्यमान भी अश्व, हस्ती आदि चलते-फिरते दिखाई देने लगते हैं। उस समय वहाँ यद्यपि वस्तुतः अश्व, हस्ती आदि नहीं होते; तथापि दर्शक लोगों को दिखाई देते हैं। ठीक उसी प्रकार घट, पट आदि परतन्त्रलक्षण धर्म भी धर्मात्मदृष्टि की वजह से बाह्यार्थ के रूप में दिखलाई पड़ते हैं, जबकि वहाँ बाह्यार्थ बिलकुल नहीं होते। अतः परतन्त्रलक्षण माया के समान कहा गया है। यद्यपि विज्ञानवादी एवं माध्यमिक दोनों माया की उपमा देते हैं; किन्तु जिस समानता से वे माया को उपमा के रूप में प्रस्तुत करते हैं या जिस दृष्टि से माया की उपमा देते हैं, उस दृष्टिकोण में अत्यधिक फर्क है। अतः जहाँ माया से तुलना की जाती है, वहाँ यह विचार करना सर्वथा उचित है कि किस दृष्टि से माया से तुलना की गई है या कितने अंश तक माया से तुलना की जा सकती है।

परिनिष्पन्नलक्षण आकाशवत् कहा गया है। आकाश प्रतिघत्व (बाधकत्व) का अभावमात्र है और सर्वत्र व्यापक होता है। आकाश की भाँति परिनिष्पन्न-लक्षण भी धर्मात्मता का अभावमात्र होता है अर्थात् बाह्यार्थत्व से शून्यतामात्र होता है और सभी धर्मों में व्यापकरूप से रहता है।

(ख) अनुत्पाद, अनिरोध आदि का अभिप्राय

प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों में भगवान् ने समस्त धर्मों को जो अनुत्पन्न, अनिरुद्ध आदि कहा है, उसका अभिप्राय भी आर्यसन्धिनिर्मोचन में अतिस्पष्टतया

वर्णित है। त्रिविध लक्षणों में से प्रथम परिकल्पितलक्षण एवं तृतीय परिनिष्पन्न-लक्षण को ध्यान में रखकर भगवान् ने अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, आदिशान्त एवं स्वभावतः परिनिर्वृत्त आदि कहा है। ऐसा इसलिये कहा गया है कि जो लक्षणनिःस्वभाव होता है, वह अवश्य अनुत्पन्न होता है और जो अनुत्पन्न होता है, वह अवश्य अनिरुद्ध भी होता है। जो अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध होता है, वह अवश्य आदिशान्त होता है और इसलिये स्वभावतः सम्यक् रूप से परिनिर्वृत्त (परिनिर्वाणगत) भी होता है। यहाँ स्वभावतः परिनिर्वृत्त का अभिप्राय क्लिष्ट धर्म न होने से है। अर्थात् जो लक्षणनिःस्वभाव होता है, वह क्लिष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उससे न तो क्लेश की उत्पत्ति हो सकती है और न वह क्लेशों से दूषित ही हो सकता है।

आर्यसन्धिनिर्मोचन के इस निरूपण से यह निष्कर्ष निकलता है कि घट, पट आदि परतन्त्रलक्षण सस्वलक्षण हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति होती है। ऊपर कहा गया है कि परिकल्पितलक्षण अनुत्पन्न होने से लक्षणनिःस्वभाव है। आशय यह कि जो लक्षणनिःस्वभाव है, वह अनुत्पन्न है और जो उत्पन्न है, वह लक्षणनिःस्वभाव नहीं, अपितु सस्वलक्षण है। इसीलिये विज्ञानवादी परिकल्पित-लक्षण को लक्षणनिःस्वभाव एवं परतन्त्रलक्षण को स्वलक्षणतः सत् मानते हैं।

तृतीय परिनिष्पन्नलक्षण को ध्यान में रखकर भगवान् ने अनुत्पाद, अनिरोध आदि की देशना इसलिये की है, क्योंकि परिनिष्पन्नलक्षण नित्य धर्म है और क्योंकि वह धर्मों की धर्मता, तथता एवं शून्यता है। उसमें कभी भी किसी तरह का परिवर्तन नहीं होता और इसीलिये वह असंस्कृत धर्म होता है। जो असंस्कृत होता है, वह अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध अवश्य होता है। वह क्लेशों से दूषित न होने के कारण आदिशान्त एवं संपरिनिर्वाणगत भी हीता है।

विज्ञानवाद के प्रामाणिक आगम अनेक हैं, किन्तु उनमें आर्यसन्धिनिर्मोचन का स्थान प्रमुख है। वैसे लङ्कावतार का महत्त्व भी कम नहीं है। आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान का विशद प्रतिपादन उसमें उपलब्ध होता है। ये ही सब सूत्र तृतीय धर्मचक्र हैं। इनके द्वारा ही द्वितीय धर्मचक्र (प्रज्ञापारमितादि सूत्रों) का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है और ये ही एकमात्र नीतार्थ सूत्र हैं—इस प्रकार माननेवाला सिद्धान्त विज्ञानवाद के नाम से लोक में विख्यात हुआ है। सभी

बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रायः वस्तु (दर्शन), मार्ग एवं फल की व्यवस्था अपने-अपने दृष्टिकोण से की जाती है। विज्ञानवादी दृष्टिकोण से यहाँ इन तीनों का निरूपण किया जा रहा है।

वस्तु-मार्ग-फल व्यवस्था

(क) वस्तु—वस्तु का तात्पर्य मार्ग के आधार अर्थात् सत्यद्वय से है। मार्गों का आलम्बन ही मार्गों का आधार होता है। सत्यद्वय दो सत्य हैं, यथा—संवृतिसत्य एवं परमार्थसत्य। ये दो सत्य ही महायानदर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य होते हैं। घट, पट आदि अनित्य पदार्थ एवं आकाश आदि नित्य पदार्थ सब संवृतिसत्य हैं। ये सब धर्म बाह्यार्थ से शून्य होते हैं। अर्थात् प्रत्येक धर्म में बाह्यार्थ से शून्यता रहती है। यह बाह्यार्थशून्यता ही परमार्थसत्य है।

पूर्वोक्त त्रिविध लक्षणों की व्याख्या करके विज्ञानवादी अपने सिद्धान्तों की स्थापना किया करते हैं। अर्थात् समस्त धर्मों को त्रिविध लक्षणों में विभक्त करके सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं। प्रथम परिकल्पितलक्षण, द्वितीय परतन्त्रलक्षण एवं तृतीय परिनिष्पन्नलक्षण। परिकल्पितलक्षण वह है, जो नितान्त कल्पित होता है और जिसकी वस्तुसत्ता नहीं होती। यह भी दो प्रकार का होता है। एक परिकल्पितलक्षण वे धर्म हैं, जिनका अस्तित्व सर्वथा नहीं होता। अर्थात् जो एकदम अलीक होते हैं, यथा—शशशृङ्ग, खपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि। बाह्यार्थसत्ता भी उसी तरह का परिकल्पितलक्षण है। यही (बाह्यार्थसत्ता ही) इस विज्ञानवादी दर्शन का मुख्य प्रतिषेध्य होता है। फलतः इस दर्शनशास्त्र में मुख्य विचार इसी परिकल्पितलक्षण पर किया जाता है।

दूसरे प्रकार के परिकल्पितलक्षण धर्म वे होते हैं, जो कल्पित तो अवश्य होते हैं, किन्तु एकदम अलीक नहीं होते। उनका कथंचित् अस्तित्व माना जाता है, जैसे--आकाश आदि। आकाश की वस्तुसत्ता नहीं है, किन्तु वह शशशृङ्ग की तरह सर्वथा अलीक भी नहीं है। क्योंकि वह प्रमेय अर्थात् प्रमाण का विषय होता है।

परतन्त्रलक्षण वे धर्म होते हैं, जिनका हेतु-प्रत्ययों के अधीन उत्पाद होता है, जैसे – घट, पट, वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य चन्द्र, नक्षत्र आदि। परतन्त्रलक्षण भी दो प्रकार के होते हैं, यथा—१. अशुद्ध परतन्त्र एवं २. शुद्ध परतन्त्र। सांसारिक वस्तु अशुद्ध परतन्त्र होते हैं। इस संसार में जीव, जन्तु, नदी, पर्वत आदि जो भी

वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं, वे सब अशुद्ध परतन्त्र हैं। दूसरे प्रकार के परतन्त्र वे धर्म होते हैं, जो हेतु-प्रत्ययों से तो अवश्य उत्पन्न होते हैं, किन्तु कर्म-क्लेशवश उनका उत्पाद नहीं होता। जैसे—बुद्ध का शरीर, उनकी वाणी, उनका ज्ञान आदि। आशय यह कि जितने भी अनास्रव धर्म होते हैं, वे सब शुद्ध परतन्त्र कहलाते हैं।

परिनिष्पन्नलक्षण धर्मों की यथार्थस्थिति अर्थात् धर्मता है। यह 'परम' अर्थात् आर्यों के समाहित ज्ञान का विषय होता है। बाह्यार्थ से रहितता अर्थात् बाह्यार्थशून्यता ही परिनिष्पन्नलक्षण है। धर्मनैरात्म्य इसका पर्यायवाची है।

प्रश्न है पुद्गलनैरात्म्य परिनिष्पन्नलक्षण है या नहीं ? इस विषय में तिब्बती विद्वानों में परस्पर मतभेद हैं। कुछ उसे परिनिष्पन्नलक्षण मानते हैं और कुछ नहीं। भारतीय आचार्यों द्वारा प्रणीतशास्त्रों में इस विषय में स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र का अवलोकन करने से ऐसा आभासित होता है कि केवल धर्मनैरात्म्य ही परिनिष्पन्नलक्षण है। परमार्थ-निःस्वभाव के स्वरूप का निरूपण करते हुये आर्यसन्धिनिर्मोचन में भगवान् ने कहा है कि सभी धर्मों की जो धर्मनिरात्मता है, वही परमार्थनिःस्वभाव है। आचार्य चोंखापा ने भी धर्मनैरात्म्य को ही परिनिष्पन्नलक्षण कहा है। यदि पुद्गलनैरात्म्य परिनिष्पन्नलक्षण नहीं है तो उसे परिकल्पितलक्षण के अन्तर्गत संगृहीत होना चाहिये। क्योंकि त्रिविध लक्षणों से बाहर कोई धर्म होता नहीं। अभावपदार्थ होने के कारण वह हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हो नहीं सकता। फलतः परतन्त्रलक्षण में उसका संग्रह असम्भव है।

माध्यमिकों की तरह विज्ञानवाद में भी परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थसत्य एवं नित्य धर्म होता है। सभी धर्मों का अपना-अपना पृथक् परिनिष्पन्नलक्षण होता है। ऐसा नहीं होता कि एक निरवयव परमार्थ तत्त्व सभी धर्मों में व्याप्त हो।

समस्त धर्म तीन लक्षणों में या दो सत्यों में संगृहीत हो जाते हैं। तीन लक्षण एवं दो सत्य पदार्थों के विभाजन के प्रकार हैं। परिकल्पित एवं परतन्त्र-लक्षण संवृतिसत्य तथा परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थसत्य होता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि संवृतिसत्य परिकल्पित एवं परतन्त्र लक्षणों में गृहीत होता है तथा परमार्थसत्य परिनिष्पन्नलक्षण का ही पर्यायवाची है। पंचस्कन्ध, षडायतन

आदि धर्मों के विभाजन के प्रकार सभी महायानियों को मान्य हैं। कहीं-कहीं कुछ विशेषता भी होती है।

(ख) मार्ग—विज्ञानवाद के अनुसार तीन मार्ग होते हैं, यथा—श्रावक मार्ग, प्रत्येकबुद्ध मार्ग एवं सम्यक् संबुद्ध मार्ग। अन्तिम को ही महायान भी कहते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के भी पाँच मार्ग होते हैं, यथा—सम्भारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग एवं अशैक्षमार्ग। इस तरह कुल १५ मार्ग होते हैं। कोई भी एक व्यक्ति इन सभी मार्गों को प्राप्त नहीं करता। जो व्यक्ति श्रावकगोत्रीय होता है, वह श्रावक सम्भारमार्ग से लेकर श्रावक अशैक्षमार्ग तक प्राप्त करता है। जो प्रत्येकबुद्धगोत्रीय होता है, वह प्रत्येकबुद्ध सम्भारमार्ग से लेकर प्रत्येकबुद्ध अशैक्ष मार्ग तक गमन करता है। इसी तरह जो व्यक्ति महायानगोत्रीय होता है, वह महायान सम्भारमार्ग से लेकर महायान अशैक्षमार्ग तक प्राप्त करता है।

विज्ञानवाद में श्रावक और प्रत्येकबुद्ध माने जाते हैं, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि विज्ञानवादी साधक श्रावक या प्रत्येकबुद्ध होते हैं। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि विज्ञानवादी श्रावक और प्रत्येकबुद्ध का अस्तित्व मानते हैं और इसीलिए उनके मार्ग को भी स्वीकार करते हैं। कहने का आशय यह है कि ऐसे पुद्गल होते हैं, जो श्रावक (अर्हत्) या प्रत्येकबुद्ध होना चाहते हैं। ये श्रावकमार्ग या प्रत्येकबुद्धमार्ग पर आरूढ़ होकर पुद्गलनैरात्म्य का ज्ञान करके श्रावक या प्रत्येकबुद्ध अशैक्षमार्ग तक पहुँच जाते हैं और वहाँ पहुँचकर उनका गन्तव्य समाप्त हो जाता है। वे धर्मनैरात्म्य, परमार्थसत्य या बाह्यार्थशून्यता से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं।

(ग) फल—श्रावक एवं प्रत्येकबुद्धगोत्रीय साधकों का अन्तिम गन्तव्य पद क्रमश: श्रावक अर्हत्पद एवं प्रत्येकबुद्ध अर्हत्पद है। उनका भावनामार्ग परिनिष्पन्न हो जाने पर अशैक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। अशैक्षमार्ग अर्हत्-अवस्था या प्रत्येकबुद्ध अवस्था में प्राप्त होता है। अशैक्षमार्ग वस्तुत: मार्ग न होकर फल होता है; किन्तु फल का साक्षात्कारण होने से उपचार से उसे मार्ग की संज्ञा दी गई है। अर्हत् एक व्यक्ति है, जिसे निर्वाण प्राप्त हो चुका रहता है। श्रावक एवं प्रत्येकबुद्धों का निर्वाण दो प्रकार का होता है, यथा—सोपधिशेषनिर्वाण एवं निरुपधिशेषनिर्वाण। श्रावकगोत्रीय या प्रत्येकबुद्धगोत्रीय पुद्गल (व्यक्ति) जिस जन्म (भव) में निर्वाण

प्राप्त करते हैं अर्थात् अर्हत्पद प्राप्त करते हैं, उस जीवन में वे सोपधिशेष अर्हत् ही होते हैं और उनका वह निर्वाण सोपधिशेषनिर्वाण कहलाता है। उपधि का अर्थ पाँच उपादानस्कन्धों से है। निर्वाण प्राप्त हो जाने पर भी अर्थात् सभी क्लेशों का प्रहाण कर देने पर भी उनके पूर्वजन्मकृत कर्म और क्लेशों द्वारा प्रक्षिप्त पाँच उपादानस्कन्ध या देह अवशिष्ट रह जाते हैं, इसलिये ऐसे पुद्गल सोपधिशेष अर्हत् कहलाते हैं और उनके द्वारा प्राप्त निर्वाण सोपधिशेषनिर्वाण कहलाता है।

सोपधिशेषनिर्वाण प्राप्त व्यक्ति की जब च्युति (मृत्यु) हो जाती है, तब निरुपधिशेष अर्हत् की अवस्था आती है और उसका निर्वाण भी निरुपधिशेष निर्वाण कहलाता है; क्योंकि पूर्वकृत कर्म एवं क्लेशों द्वारा प्रक्षिप्त उसकी पञ्चस्कन्ध-सन्तति (देह) समाप्त हो जाती है और आगे उसका पुनर्भव भी नही होता। कोई श्रावक या प्रत्येकबुद्ध अपने सोपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में कभी-कभी महायान में भी प्रविष्ट हो जाता है और बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है; किन्तु विज्ञानवाद के अनुसार निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त हो जाने पर ऐसा सम्भव नही है। निरुपधि-शेषनिर्वाण की अवस्था में व्यक्तित्व (जीवनधारा) विद्यमान रहता है कि नहीं? इसके बारे में आगे संक्षेपतः लिखा जायगा।

महायानमार्ग की समाप्ति पर बुद्धत्वपद प्राप्त हुआ करता है। यही उस मार्ग का फल है। एक व्यक्ति जो महायान में प्रविष्ट है और अत्यन्त वीर्यशाली (मेहनत-शील) है, उसे बुद्धत्व प्राप्त करने में तीन असंख्येय कल्प लगते हैं। अर्थात् महायान सम्भारमार्ग से लेकर दशम भूमि की वज्रोपमसमाधि तक तीन असंख्येय कल्प लग जाते हैं। जो अधिक वीर्यवान् नहीं है, उसे इससे भी ज्यादा समय लग जाता है। जिस जन्म में बुद्धत्व प्राप्त होता है, उस जन्म के उस व्यक्ति को चरमभविक बोधि-सत्त्व कहते हैं। वह उस जन्म में कामधातु या अरूपधातु में उत्पन्न नहीं होता। वह केवल रूपधातु के अकनिष्ठ देवलोक में ही उत्पन्न होता है। वहाँ उत्पन्न होकर उसी भव में वह बुद्ध हो जाता है। लङ्कावतारसूत्र में भी कहा गया है—

कामधातौ तथाऽऽरूप्ये न वै बुद्धो विबुध्यते।
रूपधात्वकनिष्ठेषु वीतरागेषु बुध्यते[1]॥

---

१. द्र०—लङ्कावतारसूत्र, पृ० ३६१

अकनिष्ठ भूमि के उस चरमभविक बोधिसत्त्व को जब उसी जीवन में बुद्धत्व या सर्वज्ञज्ञान प्राप्त हो जाता है, तो उसे 'सम्भोगकाय' कहते हैं। वह यावत्संसार वहीं स्थित रहता है। चरमभविक बोधिसत्त्व जब सम्भोगकाय के रूप में परिणत हो जाता है, तब अनन्त जीवों का कल्याण करने के लिये उसके अनेकों लोकों में अनेक अवतार होते हैं, जिन्हें 'निर्माणकाय' कहते हैं। सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय की चित्तसन्तति या चित्तधारा एक ही होती है, केवल शरीर दो होते हैं। सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय में जो सर्वज्ञज्ञान होता है, उसे 'ज्ञानधर्मकाय' कहते हैं। ज्ञानधर्मकाय जो परम विशुद्ध ज्ञान होता है और जिसमें किसी तरह के मल (दोष) या दौष्ठुल्य नहीं होते, उसमें समस्त क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरणों से रहितता (शून्यता) रहती है। उस आवरणों से रहितता को 'स्वभावधर्मकाय' कहते हैं। इस प्रकार विज्ञानवाद में चतुर्विध बुद्धकाय माने जाते हैं, यथा— स्वभावधर्मकाय, ज्ञानधर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय।

बौद्ध दर्शनों में विज्ञानवाद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल में और अर्वाचीन कालमें भी वह एक उन्नत दर्शन माना जाता है। आर्य असंग इसके प्रवर्तक माने जाते जाते हैं, जिन्होंने सभी अङ्गों पर विस्तारपूर्वक अनेक गम्भीर शास्त्रों की रचना की है और उन्हीं से इस दर्शन का बहुमुखी विकास हुआ है। जितना उन्होंने लिखा है, उतना शायद ही किसी अन्य बौद्ध आचार्य ने लिखा हो। उनके साहित्य में दर्शन, मार्ग, फल, लौकिक एवं लोकोत्तर सभी विषयों का पुष्कल वर्णन उपलब्ध होता है। इसलिये सभी परवर्ती महायानी आचार्यों ने उनका अनुसरण किया है। माध्यमिक आचार्यों ने अपनी दृष्टि से केवल शून्यता की विशेष व्याख्या की है, अन्य विषयों में ज्यादा कुछ नहीं लिखा; क्योंकि अधिक लिखना अनावश्यक समझा गया।

विज्ञानवादी आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना बड़ी कुशलता से अकाट्य युक्तियों द्वारा की है। मूल आलयविज्ञान, स्वसंवेदन, बाह्यार्थशून्यता और उनके आधार पर संसार की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ये ही सब उनके वे गम्भीर सिद्धान्त हैं; जिनके सयुक्ति प्रतिपादन में उन्होंने बड़े बुद्धिकौशल का परिचय दिया है। उनका खण्डन कर पाना अन्य दार्शनिकों के लिये अत्यन्त दुःसाध्य कार्य रहा है। हमारे विचार से माध्यमिकों में भी केवल प्रासङ्गिक ही उनका सटीक खण्डन कर पाने

में समर्थ हो सके हैं। उसका कारण यह है कि उन्होंने उस आधारशिला को ही तोड़ दिया, जिस पर विज्ञानवाद आधृत था। ज्ञातव्य है माध्यमिक निःस्वभाववादी हैं। वे समस्त धर्मों को निःस्वभाव (निःसत्ताक या शून्य) मानते हैं। अर्थात् यह मानते हैं कि वस्तुओं की अपनी ओर से कुछ भी सत्ता नहीं होती। जबकि विज्ञानवाद विज्ञान की स्वभावसत्ता पर आधृत है। आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ आदि सौत्रान्तिक-माध्यमिक पण्डितों ने अपने शास्त्रों में यद्यपि विज्ञानवाद का भूरिशः खण्डन किया है, तथापि उनके तर्क विज्ञानवाद को कितने अंश तक क्षति पहुँचा सके हैं, हम यह नहीं कह सकते। आचार्य शान्तरक्षित, कमलशील आदि स्वातन्त्रिक-माध्यमिक तो माध्यमिक होते हुये भी विज्ञानवाद स्वीकार करते हैं। यद्यपि वे आलयविज्ञान नहीं मानते, तथापि विज्ञप्तिमात्रता का पूरा समर्थन करते हैं। इसीलिये वे पुराने स्वातन्त्रिक माध्यमिकों से पृथक् योगाचार-माध्यमिक कहे जाते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने भी यद्यपि सभी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन किया है; तथापि विज्ञानवादियों के खण्डन में उन्होंने जितना प्रयास किया है और गम्भीर शास्त्रों की रचना की है, उतना प्रयास अन्य के खण्डन में नहीं किया है। विज्ञानवादियों की ही प्रमाणपटुता से अधिकतर त्रस्त रहे हैं और उनका खण्डन करते समय भी साशङ्क एवं सावधान रहे हैं। इसी से ज्ञात होता है कि भारतीय दर्शनपरम्परा में विज्ञानवाद का कितना महत्त्व है और उनका अन्य विचारों पर कितना प्रभाव पड़ा है। हमारा अपना ख्याल है कि भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी एवं असंदिग्ध ज्ञान के लिये विज्ञानवाद का सम्यग्ज्ञान परमावश्यक है। विशेषतः प्रासङ्गिक माध्यमिक दर्शन (जो बुद्धत्व प्राप्ति का एकायन है और भारतीय दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ दर्शन है) के गूढ तत्त्वों के स्पष्ट अवबोध के लिये तो इसका गम्भीर अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है।

विज्ञानवाद के प्रकार

ऊपर कहा गया है कि आर्य असंग ही विज्ञानवाद के प्रवर्तक हैं और बाद के आचार्यों ने अधिकतर उन्हीं का अनुसरण किया है। प्रारम्भ में वह एक ही प्रकार का था और अभी उसकी शाखा-प्रशाखायें नहीं हुई थीं। असंग के दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं विज्ञप्तिमात्रता हैं। उनका

कहना है कि आलयविज्ञान मानने पर ही संसार की प्रवृत्ति और उससे निवृत्ति सम्भव है। वसुबन्धु आदि आचार्यों ने उन्हीं के मतों का समर्थन करते हुये अनेक ग्रन्थों की रचना की। आचार्य दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति आदि आलयविज्ञान नहीं मानते। आलयविज्ञान न मानने से क्लिष्ट मनोविज्ञान को भी मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान आलयविज्ञान का ही आत्मत्वेन उपादान (ग्रहण) करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी-अपनी मान्यताओं के आधार पर विज्ञानवादी दो भागों में विभक्त हो गये। प्रथम मत आलयविज्ञान का समर्थक है, आर्य असंग, वसुबन्धु आदि इस पक्ष के हैं। दूसरा मत आलयविज्ञान नहीं मानता, आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि इस पक्ष को माननेवाले हैं। प्रथम मत के आचार्यों को आगमानुयायी विज्ञानवादी एवं द्वितीय मत के आचार्यों को युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी कहते हैं। क्योंकि प्रथम मत के आचार्यों ने आर्यसन्धिनिर्मोचन एवं लङ्कावतार आदि सूत्रों में जैसा आलयविज्ञान का वर्णन किया गया है, उसे उसी प्रकार स्वीकार कर लिया। यद्यपि उन्होंने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये प्रचुर युक्तियों का प्रदर्शन किया है, तथापि उन्होंने आगम (बुद्धवचन) का सर्वथा अनुसरण किया है। इसलिये उन्हें आगमानुयायी विज्ञानवादी कहा गया। आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि विज्ञानवादियों ने यद्यपि आगमों का विरोध नहीं किया, तथापि अपने सिद्धान्तों की स्थापना में मुख्यत: तर्क एवं युक्तियों का सहारा लिया है तथा आगमों के अभिप्राय का प्रकारान्तर से निरूपण किया है। इसलिये इन्हें युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी कहते हैं। दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करने के लिये उनके खास-खास मुद्दों का संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

आगमानुयायी विज्ञानवादी

आलयविज्ञान के प्रतिपादक सूत्रों का यथाशब्द अर्थ स्वीकार करनेवाले विज्ञानवादी 'आगमानुयायी' कहलाते हैं। आर्यसन्धिनिर्मोचन के विशालमतिपरिपृच्छा नामक पञ्चम परिच्छेद में आलयविज्ञान का निरूपण करते हुये भगवान् ने कहा है—

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बालान एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयु: ॥[१]

आलयविज्ञान ही आदानविज्ञान है; क्योंकि वही पांच उपादान स्कन्धों का ग्रहण करता है। वह आदानविज्ञान गम्भीर है; क्योंकि वह पृथग्जनों का गोचर नहीं है। वह सूक्ष्म है; क्योंकि आर्य श्रावक एवं आर्य प्रत्येकबुद्ध का वह विषय नहीं है। समस्त धर्मों के बीजों (वासनाओं) का वही आश्रय है, इसलिये वह 'सर्वबीजक' कहलाता है। जिस प्रकार महान् उदकसमूह अपने ऊपर आधृत तृण, काष्ठ, गोमय आदि का आश्रय होता है और उन्हें ले जाते हुये निरन्तर बहते रहता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी समस्त बीजों को अपने में रखकर यावत्संसार निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मैंने इसे (आलयविज्ञान को) बाल-पृथग्जनों के सम्मुख प्रकाशित नहीं किया है; क्योंकि वे उसे आत्मा समझकर मोहित (भ्रान्त) हो सकते हैं, जो अनुचित है। अत: मण्डल में स्थित ऐसे श्रेष्ठ विनेयजनों के सम्मुख ही मैंने उसका उपदेश किया है, जो आलयविज्ञान के स्वरूप को यथार्थत: समझ सकने में सक्षम हैं, साथ ही जिनके बारे में आत्मदृष्टि में पतित होने की आशंका भी नहीं है। आलयविज्ञान के बारे में अभिधर्मसूत्र में भी उक्त है—

अनादिकालिको धातु: सर्वधर्मसमाश्रय:।
तस्मिन् सति गति: सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा ॥[२]

एक अनादिकालिक धातु है, जो समस्त धर्मों का आश्रय होती है। उसके होने पर ही सम्पूर्ण गतियाँ (विभिन्न योनियों में उत्पाद) एवं निर्वाणप्राप्ति सम्भव है। विज्ञानवादियों का कथन है कि ऐसी धातु आलयविज्ञान ही हो सकती है; क्योंकि वही अनादिकाल से प्रवृत्त है और समस्त सांक्लेशिक एवं वैयवदानिक धर्मों के बीजों का आश्रय है। उसके होने पर ही संसार की प्रवृत्ति एवं संसार से निवृत्ति की व्यवस्था भलीभाँति हो पाती है। यदि इस प्रकार की किसी धातु का अस्तित्व न होगा, तो जीवों के समस्त कुशलाकुशल कर्म निष्फल

---

१. आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र, तिब्बती कंजूर, पु० सं० ५० पृ० सं० १३ (स्दे द्गे संस्करण)।
२. अभिधर्मसूत्र, त्रि०, पृ० २८२।

होने लगेंगे। फलतः संसार एवं निर्वाण कुछ भी सिद्ध न हो सकेंगे। लङ्कावतारसूत्र में भी आलयविज्ञान एवं उसके साथ रहनेवाले अन्य सात विज्ञानों का वर्णन उपलब्ध होता है। इस प्रकार वहाँ विज्ञानवादियों के सम्मत आठ विज्ञानों का उल्लेख मिलता है। लंकावतार सूत्र में कहा गया है—

गर्भस्तथागतानां हि विज्ञानैः सप्तभिर्युतः[1]।

तथागतगर्भ सात विज्ञानों के साथ रहता है। आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मतानुसार आलयविज्ञान ही तथागतगर्भ है। क्योंकि आलयविज्ञान में एक प्रकार का अनास्रवबीज स्थित होता है। जिनके विकसित होने पर तथागतत्व की प्राप्ति होती है। तथागत का बीज जिस पर आश्रित होता है, वह 'तथातगर्भ' है। इस परिभाषा के अनुसार आलयविज्ञान ही तथागतगर्भ हो सकता है। यह (आलयविज्ञान) सात विज्ञानों के साथ भी रहता है। यथा--क्लिष्ट मनोविज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान। इस तरह आगमानुयायी विज्ञानवादी अष्टविज्ञानवादी होते हैं। आर्य असंग की योगाचार भूमि की पूर्वटीका (पूर्वभाग की टीका) में १७ आगमों का उद्धरण करके आलयविज्ञान की सिद्धि की गई है। किन्तु उनमें सबसे महत्वपूर्ण आगम उपर्युक्त सूत्र ही समझे जाते हैं। आर्य असंग के बाद उनके छोटे भाई आचार्य वसुबन्धु और उनके शिष्यों आचार्य स्थिरमति आदि ने इन विषयों का गम्भीर विवेचन किया है। तदन्तर इनके अनुयायी विज्ञानवादी आचार्यों ने पुष्कल साहित्य का निर्माण किया और विज्ञानवाद की सुस्पष्ट व्याख्या की है।

---

१. लङ्कावतारसूत्र, पृ० २२३

अपि च—

तरङ्गा ह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते॥
न चान्येन च नानन्येन तरङ्गा ह्युदधेर्मता।
विज्ञानानि तथा सप्त चित्तेन सह संयुता॥
उदधेः परिणामोऽसौ तरङ्गाणां विचित्रता।
आलयं हि तथा चित्रं विज्ञानाख्यं प्रवर्तते॥—

लङ्कावतारसूत्र, पृ० ४६।

अष्टविध विज्ञान-- ऊपर कहा गया है कि आगमानुयायी विज्ञानवाद में आठ विज्ञान माने जाते हैं, यथा--आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, एवं मनोविज्ञान। बौद्धों में विज्ञानसंख्या के बारे में दो ही प्रकार है। कुछ लोग ६ विज्ञान मानते हैं और कुछ आठ। ६ से कम या आठ से ज्यादा विज्ञान माननेवाला कोई बौद्ध दार्शनिक नहीं है। जो आलयविज्ञान मानते हैं, उन्हें क्लिष्ट मनोविज्ञान भी अवश्य मानना पड़ता है। जो आलयविज्ञान नहीं मानते, वे क्लिष्ट मनोविज्ञान भी नहीं मानते और मानना आवश्यक भी नहीं है। ऐसे लोग षड्विज्ञान ही मानते हैं।

आलयविज्ञान

आर्य असंग ने अपनी योगाचार-भूमि आदि में आलयविज्ञान का सुविस्तृत प्रतिपादन किया है। आचार्य वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थों में और भी स्पष्ट एवं सरल ढंग से उसकी स्थापना की है। आलयविज्ञान को ठीक से समझने के लिये तत्सम्बन्धी चार बातों का ज्ञान अत्यावश्यक है, यथा—आलय विज्ञान का आलम्बन, आकार, स्वरूप एवं तत्सम्प्रयुक्त चैतसिक।

(क) आलम्बन—आलयविज्ञान के आलम्बनों का वर्गीकरण तीन भागों में किया जा सकता है। अर्थात् आलयविज्ञान के आलम्बनों के तीन प्रकार हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य ये पांच प्रकार के विषय प्रथम प्रकार है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय ये पांच इन्द्रियाँ द्वितीय प्रकार है। आलयविज्ञान में में स्थित वासनायें उसके आलम्बनों का तृतीय प्रकार है।

(ख) आकार—उपर्युक्त सर्वविध आलम्बन यद्यपि आलयविज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, तथापि वह उनका निश्चय नहीं कर पाता और न तो उसकी वजह से पश्चात्कालिक निश्चय आनीत ही होता है। प्रतिभासित आलम्बनों का भी निश्चय वह इसलिये नहीं कर पाता, क्योंकि आलम्बनों में उसकी अतिसूक्ष्म प्रवृत्ति होती है। फलतः आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है।

(ग) स्वरूप या स्वभाव—वासनाओं का आधार होने के कारण तथा कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चित्तों के साथ प्रवृत्त होने के कारण आलय-

विज्ञान अनिवृताव्याकृत स्वभाव का होता है। जो कुशल और अकुशल दोनों नहीं होता, उसे अव्याकृत कहते हैं। यदि आलयविज्ञान कुशल होगा तो अकुशल चित्तों की वासना उस पर स्थापित नहीं हो सकेगी। यदि वह अकुशल होता तो कुशल चित्तों की वासना उस पर स्थापित नहीं हो सकेगी। कुशल या अकुशल चित्त वासनाओं का आधार कथमपि नहीं हो सकता। फलतः कोई अव्याकृत चित्त ही उनका आधार हो सकता है। क्लिष्ट चित्त भी वासनाओं का आधार नहीं हो सकता। उनका आधार होने के लिये चित्त को अवश्य अनिवृत ही होना चाहिये। अतः आलयविज्ञान अनिवृताव्याकृत होता है। वह अव्याकृत इसलिये भी होता है; क्योंकि वह कुशल एव अकुशल दोनों प्रकार के चित्तों के साथ एक ही काल में प्रवृत्त होता है। यदि वह एकान्त कुशल होगा तो अकुशल चित्तों के साथ उसकी एककालिक प्रवृत्ति न हो सकेगी। इसी तरह यदि वह अकुशल होगा, तो कुशल चित्तों के साथ वह एक ही समय में प्रवृत्त न हो सकेगा। फलतः उसका अनिवृत एवं अव्याकृत होना जरूरी है।

(घ) सम्प्रयुक्त चैतसिक—विज्ञानवाद के अनुसार चैतसिकों की सम्पूर्ण संख्या यद्यपि ५१ है, तथापि आलयविज्ञान के साथ उनमें से केवल पाँच सर्वत्रग चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं और वे उसके साथ सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं। स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना ये ही पाँच सर्वत्रग चैतसिक हैं। सभी भूमि, गति एवं योनि में ये उसके साथ रहते हैं, इसलिये सर्वत्रग कहलाते हैं। आलयविज्ञान अव्याकृत है, अतः ११ कुशल चैतसिक उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। वह अनिवृत है, अतः ६ क्लेश एवं २० उपक्लेश भी उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि आलयविज्ञान अपने आलम्बनों का स्पष्टतया परिच्छेद नहीं कर पाता, अतः स्पष्टतया परिच्छेद करनेवाले छन्द आदि पाँच विनियत चैतसिक भी उसके साथ नहीं रह सकते। निश्चित स्वभाव न होने के कारण कौकृत्य, मिद्ध आदि चार अनियत या अन्यथाप्रवृत्त चैतसिक भी उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते। पारिशेष्यात् पाँच सर्वत्रग चैतसिक ही उसके साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। आलयविज्ञान के साथ जो वेदना होती है, वह भी एकान्तरूप से उपेक्षा ही होती है। सुख और दुःख वेदनाओं के साथ उसका सम्प्रयोग नहीं होता। आचार्य वसुबन्धु ने आलयविज्ञान की विशेषताओं का वर्णन त्रिंशिका में निम्न प्रकार से किया है—

तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम् ।
असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत् ॥
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् ।
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत् ॥[1]

ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान सर्वबीजक है। अर्थात् उसमें समस्त धर्मों के बीज या वासनायें स्थित होती हैं। जीवों के मन में जो विचार या कल्पनायें उत्पन्न होती हैं, वे तो तत्काल नष्ट हो जाती हैं; किन्तु उनकी वासनायें रह जाती हैं। उन वासनाओं के परिपक्व होने पर कालान्तर में पुनः उसी प्रकार के विचार या कल्पनायें प्रादुर्भूत होती हैं। इसी तरह जीवों में चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियज ज्ञान भी प्रतिक्षण उत्पन्न होकर निरुद्ध होते रहते हैं। वे सब भी अपने पीछे वासनायें छोड़ जाते हैं, जिनकी वज़ह से कालान्तर में चक्षु, रूप एवं चक्षुर्विज्ञान आदि प्रतिभासित होते हैं। वासना की स्थापना करनेवाला चित्त चाहे कुशल हो या अकुशल, उसके द्वारा स्थापित वासना निश्चितरूप से अव्याकृत ही होती है। वासना को बीज-आलय एवं आलयविज्ञान को आश्रय-आलय भी कहते हैं। आलयविज्ञान एवं उसमें स्थित वासना के स्वरूप एवं उसके सम्बन्ध में अन्य ज्ञातव्य बातों के परिज्ञान के लिये हमने ग्रन्थ के अन्त में एक परिशिष्ट को उपनिबद्ध किया है। विस्तृत जानकारी उससे कर लेना चाहिये। इसलिये हम अधिक लिखना यहाँ अनावश्यक समझते हैं।

आलयविज्ञान नित्य नहीं, अनित्य धर्म है। वह संस्कृत एवं असंस्कृत धर्मों में से संस्कृत धर्म है। वस्तु और अवस्तु में से वस्तु है। भव और अभव में से भव पदार्थ है। सत् और असत् में से सत् है। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में से स्वलक्षण है। जड, बुद्धि एवं संस्कार तीनों में से बुद्धि है। सविकल्पक ज्ञान और निर्विकल्पक ज्ञान इन दोनों में से निर्विकल्पक ज्ञान है। चित्त और चैतसिक में से चित्त है। त्रिविध लक्षणों में परतन्त्रलक्षण है तथा संवृतिसत्य और परमार्थसत्य इन दो सत्यों में से संवृतिसत्य है।

---

१. द्र०—त्रिंशिका कारिका २,३,४, पृ० १३६, १४३, १४६, १५७।

क्लिष्ट मनोविज्ञान

आलयविज्ञान को ठीक से समझने के लिये जैसे उपर्युक्त चार बातों का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान के सम्यग् परिज्ञान के लिये भी उन्हीं चार बातों का ज्ञान अपेक्षित है। यथा—आलम्बन, आकार, स्वरूप या स्वभाव एवं सम्प्रयुक्त चैतसिक।

(क) आलम्बन—क्लिष्ट मनोविज्ञान एक अन्तर्मुखी विज्ञान है। अतः यह बाह्य धर्मों का आलम्बन नहीं करता। आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन होता है। किन्तु आलयविज्ञान में स्थित वासनायें इसका आलम्बन नहीं होती।

(ख) आकार—आलयविज्ञान का आलम्बन करके उसका आत्मा के रूप में ग्रहण करना क्लिष्ट मनोविज्ञान का आकार है। अतः यह एक अहङ्कार-विज्ञान है। क्लिष्ट मनोविज्ञान को यद्यपि आलयविज्ञान प्रतिभासित नहीं होता; तथापि उस (आलयविज्ञान) की वजह से उसे आत्मप्रतीति होती है। अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान एक मिथ्याज्ञान है।

(ग) स्वरूप या स्वभाव—क्लिष्ट मनोविज्ञान विवृताव्याकृत स्वभाव का है। क्लेशों से दूषित (क्लिष्ट) होने के कारण वह 'निवृत' है तथा कुशल एवं अकुशल चित्तों के साथ युगपत् (एक काल में) प्रवृत्त होने के कारण अव्याकृत भी।

(घ) सम्प्रयुक्त चैतसिक—क्लिष्ट मनोविज्ञान एक विज्ञान या चित्त है, अतः उसके साथ स्पर्श, मनस्कार आदि पाँच सर्वत्रग चैतसिक तो सम्प्रयुक्त होते ही हैं, इनसे अतिरिक्त राग, अविद्या, अस्मिमान एवं आत्मदृष्टि ये चार क्लेश चैतसिक भी उसके साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। आचार्य वसबन्धु ने अपनी त्रिंशिका में कहा है—

क्लेशैश्चतुर्भिःसहितं निवृताव्याकृतैः सदा।
आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः ॥[1]

---

१. द्र०—त्रिंशिका कारिका ६, पृ० १७०-१७२।

आर्य असंग ने भी कहा है—

अविद्यया चात्मदृष्ट्या चास्मिमानेन तृष्णया।
एभिश्चतुर्भिः संक्लिष्टं मननालक्षणं मनः॥
विपर्यासनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सदैव यत्।
कुशलाव्याकृते चित्ते सदाहङ्कारकारणम्॥[1]

हमने अभी कहा है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ पाँच सर्वत्रग और चार क्लेश इस तरह नौ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। वैसे क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ विक्षेप, प्रमाद, औद्धत्य, आश्रद्धय, कौसीद्य एवं स्त्यान ये ६ उपक्लेश चैतसिक भी सम्प्रयुक्त होते हैं, तथापि ये उपर्युक्त चार क्लेश चैतसिकों से द्रव्यतः भिन्न नहीं है, अपितु उनके अवयवों (अंश) में ही प्रज्ञप्त हैं, अतः इनकी उनसे पृथक् गणना नहीं की गई है। जैसे—विक्षेप चैतसिक अस्मिमान के अंश में प्रज्ञप्त है। प्रमाद चैतसिक राग और मोह (अविद्या) के अंश में प्रज्ञप्त है। औद्धत्य चैतसिक राग के तथा आश्रद्धय, कौसीद्य एवं स्त्यान मोह के अंश में प्रज्ञप्त हैं। इस तरह क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार में केवल नौ चैतसिकों की ही गणना आचार्यों ने की है।

आलयविज्ञान की निवृत्ति

आगमानुयायी विज्ञानवादी आलयविज्ञान को अनादि मानते हैं; क्योंकि उसकी धारा कबसे चली आ रही है, इसका निश्चय नहीं है। साथ ही उसे सान्त भी मानते हैं; क्योंकि उसकी निवृत्ति हो जाया करती है। श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध पुद्गल की अर्हत्-अवस्था में आलयविज्ञान निवृत्त हो जाता है। अष्टमभूमिप्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्त्व की अवस्था में भी आलयविज्ञान निरुद्ध हो जाता है। इन अवस्थाओं को छोड़कर आलयविज्ञान निरन्तर अविच्छिन्नरूप से प्रवृत्त होता रहता है।[2] लङ्कावतार आदि सूत्रों में आलयविज्ञान स्थिरविज्ञान कहा गया है। कहीं-कहीं उसे नित्य भी कहा गया है। किन्तु पूर्वापर का सम्यक् पर्यालोचन करने से उन (सूत्रों) के अभिप्राय का स्पष्ट परिज्ञान हो

---

१. द्र०—त्रिंशिका, पृ० १७३।

२. द्र०—तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे—त्रि० का० ५ पृ० १६३।

जाता है कि वह नित्य या शाश्वत नहीं है। उसे ऐसा इसलिये कहा गया है कि उसकी धारा अर्थात् उसका क्षणिक प्रवाह अविच्छिन्नरूप से अर्हत्प्राप्तिपर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। इस बीच एक क्षण के लिये भी उसका प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता। चक्षुर्विज्ञान आदि की भाँति वह अचिरस्थायी नहीं है। इसलिये किसी वस्तु के क्षणिक होने और निरुद्ध या निवृत्त होने में बड़ा फर्क है।

आगमानुयायी विज्ञानवादियों के शास्त्रों में आलयविज्ञान को विपाकविज्ञान भी कहा गया है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। जो आलयविज्ञान होता है, वह विपाकविज्ञान भी अवश्य होता हैं; किन्तु जो विपाक विज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान भी होना आवश्यक नहीं है। जैसे—अर्हत्त्व-प्राप्त श्रावक या प्रत्येकबुद्ध, जिसके पञ्चस्कन्ध (शरीर) अभी विद्यमान हैं। अर्थात् जो सोपधिशेष अर्हत् हैं, उनकी सन्तान में आलयविज्ञान नहीं होता, फिर भी विपाकविज्ञान विद्यमान रहता है, जो (विपाकविज्ञान) उस आलयविज्ञान की ही अगली धारा होता है, जो अनादिकाल से उसकी सन्तान में प्रवृत्त होता चला आया है। निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में विपाकविज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। इसी तरह अष्टमभूमिप्राप्त बोधिसत्त्व की अवस्था में और उसके बाद की अवस्थाओं में आलयविज्ञान नहीं रहता, किन्तु विपाकविज्ञान वज्रोपमसमाधिपर्यन्त विद्यमान रहता है। इस विषय में आचार्य चोंखापा ने प्रचुर प्रकाश डाला है, जिसका हमने परिशिष्ट में निर्वचन किया है।

क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति

क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति दो प्रकार की होती है, यथा—१. अस्थायी निवृत्ति तथा २. स्थायी निवृत्ति। निरोधसमापत्ति की अवस्था में तथा अष्टमभूमि से नीचे के आर्य बोधिसत्त्व के समाहित ज्ञान की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की अस्थायी निवृत्ति होती है। अर्थात् निरोधसमापत्ति और समाहित अवस्था से उत्थित होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान पुनः प्रवृत्त होने लगता है।

श्रावक-अर्हत् एवं प्रत्येकबुद्ध-अर्हत् की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की स्थायी निवृत्ति हो जाया करती है। इसी तरह अष्टम भूमि से आगे की बोधिसत्त्व भूमियों में भी क्लिष्ट मनोविज्ञान स्थायीरूप से निवृत्त हो जाया करता है। अर्थात् किसी भी तरह पुनः प्रवृत्त नहीं होता। श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध जब अर्हत्त्व प्राप्त

कर लेते हैं तो वे सोपधिशेष अर्हत् होते हैं। इस अवस्था में कोई कोई पुद्गल महायान में प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में वे बोधिसत्त्व होते हुए भी अर्हत् तो होते ही हैं। उन्हें क्रमशः आगे-आगे की बोधिसत्त्वभूमियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसे बोधिसत्त्व पुद्गलों में क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वथा प्रवृत्त नहीं होता। बुद्धावस्था में तो क्लिष्ट मनोविज्ञान की प्रवृत्ति का प्रश्न ही नहीं है।[1]

आर्य असंग एवं वसुबन्धु के साहित्य का ठीक से अध्ययन करने से आलयविज्ञान के सिद्धान्त का स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है। साथ ही लंकावतार आदि सूत्रों का अभिप्राय कैसे ग्रहण करना चाहिये, इसका भी अवबोध हो जाता है। अन्यथा यह भ्रम हो सकता है कि आलयविज्ञान एक नित्य धर्म है या परमार्थ सत्य है—इत्यादि। इसलिये आवश्यक है कि विज्ञानवादी आचार्यों के प्रामाणिक शास्त्रों का पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर तटस्थ बुद्धि से सूक्ष्म अध्ययन किया जाय।

गोत्रव्यवस्था

महायान मतानुसार समस्त जीव एक न एक दिन अवश्य निर्वाण प्राप्त करेंगे; क्योंकि सभी जीवों में उसका गोत्र विद्यमान होता है। उसी की वजह से श्रावक या प्रत्येकबुद्ध मार्ग से चलने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है तथा महायान-मार्ग से चलने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। फलतः गोत्र भी त्रिविध होता है, यथा—श्रावकगोत्र, प्रत्येकबुद्धगोत्र और बोधिसत्त्वगोत्र। गोत्रव्यवस्था ही महायान की वह विशेषता है, जो उसे अन्य दर्शनों से पृथक् करती है। अतः उसके बारे में यहाँ संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

द्विविध गोत्र

गोत्र द्विविध है, यथा—प्रकृतिस्थगोत्र एवं परिपुष्टगोत्र। ऊपर जो त्रिविध गोत्र कहे गये हैं, उससे इसका कोई विरोध नहीं है; क्योंकि उनमें से प्रत्येक गोत्र द्विविध है। इन द्विविध गोत्र में से प्रकृतिस्थगोत्र के बारे में महायानदर्शनों में परस्पर अत्यन्त मतभेद हैं। ज्ञात है कि महायानदर्शन दो है, यथा—माध्यमिक एवं विज्ञानवाद (योगाचार)। माध्यमिक भी द्विविध हैं, स्वातन्त्रिक एवं प्रासंगिक।

---

१. ... ...अर्हतो न तत्।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च॥ —त्रि० का० ७ पृ० १७३

दोनों माध्यमिक मतों में जीवों के समल चित्त की शून्यता 'प्रकृतिस्थगोत्र' मानी जाती है। माध्यमिक समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं। अतः जीवों का चित्त भी निःस्वभाव होता है। चित्त की वह निःस्वभावता ही प्रकृतिस्थगोत्र है। इसी (गोत्र की) वजह से चित्त क्रमशः निर्मल होकर निर्वाण का लाभ करता है। माध्यमिकों के अनुसार प्रकृतिस्थगोत्र ही तथागतगर्भ है। अतः उनके मत में तथागतगर्भ एवं प्रकृतिस्थगोत्र दोनों असंस्कृत धर्म हैं।

ऊपर कहा गया है कि विज्ञानवादी भी द्विविध हैं, यथा—आगमानुयायी एवं युक्त्यनुयायी। दोनों प्रकार के विज्ञानवाद में प्रकृतिस्थगोत्र संस्कृत धर्म माना जाता है। अर्थात् वह अनित्य एवं वस्तु है। आलयविज्ञान को मानने एवं न मानने की वजह से उस (गोत्र) के स्वरूप में कुछ फर्क पड़ जाना स्वाभाविक है। पहले कहा गया है कि आलयविज्ञान में अनेकविध वासनायें या धर्मबीज स्थित होते हैं। उन बीजों में ऐसे भी बीज होते हैं, जिनके परिपाक से अनास्रवज्ञान या विशुद्धज्ञान का जन्म होता है। ये अनादि होते हैं; क्योंकि ये किसी चित्त द्वारा प्रक्षिप्त या स्थापित नहीं होते। सामान्यतः सभी वासनायें या बीज किसी न किसी चित्त द्वारा प्रक्षिप्त होते हैं, अनास्रवबीज वैसे नहीं हैं। अर्थात् इनका कोई प्रक्षेपक नहीं होता। वे प्रकृतितः आलयविज्ञान में स्थित होते है, अतः प्रकृतिस्थगोत्र कहलाते हैं। कहा गया है कि महायानमतानुसार सभी जीव किसी न किसी दिन अवश्य निर्वाण लाभ करेंगे। यह तभी सम्भव है, जब कि कोई बीज पहले से विद्यमान हो। कहने का अभिप्राय यह है कि सांसारिक एवं नैर्वाणिक सभी धर्मों के बीज पहले से ही अवश्य विद्यमान होते हैं। लोकोत्तर ज्ञान के बीज भी सभी जीवों में विद्यमान होते हैं। वे बीज चक्षुर्विज्ञान आदि किसी अस्थिर विज्ञान में या शरीर में स्थित नहीं हो सकते। फलतः समस्त बीज या वासनायें आलयविज्ञान में ही स्थित होती हैं। श्रवण, चिन्तन एवं भावना आदि के कारण वे वासनायें परिपुष्ट होती हैं। जब तक वे बीज परिपुष्ट नहीं होते 'प्रकृतिस्थगोत्र' कहलाते हैं। यह गोत्र ही वह वस्तु है, जो बुद्ध आदि कल्याणमित्रों के सद्धर्मोपदेश के श्रवण आदि का हेतु होता है। इसी के कारण बड़े से बड़े पापी भी मुक्तिमार्गविषयक उपदेशों या प्रवचनों के पात्र बन जाया करते हैं।

आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में उपर्युक्त प्रकृतिस्थगोत्र की एक विशिष्ट अवस्था 'परिपुष्टगोत्र' कहलाती है। ऊपर कहा गया है कि अपरिपुष्ट

अनास्रवबीज प्रकृतिस्थगोत्र कहलाते हैं। श्रवण, चिन्तन, भावना आदि कारणों से परिपुष्ट अनास्रवबीज ही 'परिपुष्टगोत्र' कहलाने लगते हैं। परिपुष्टगोत्र हो जाने पर प्रकृतिस्थगोत्र एवं परिपुष्टगोत्र दोनों होते हैं। अनास्रवबीज को माध्यमिक भी परिपुष्टगोत्र मानते हैं और उसे संस्कृत धर्म भी मानते हैं; किन्तु वे उसे आलयविज्ञान पर स्थित नहीं मानते, अपितु मनोविज्ञान में स्थित मानते हैं।

सारांश यह है कि गोत्र दो प्रकार का होता है, यथा—प्रकृतिस्थगोत्र एवं परिपुष्टगोत्र। आलयविज्ञान में स्थित अनास्रवबीज ही प्रकृतिस्थगोत्र है, जो अनादिकाल से उसमें प्रकृतितः विद्यमान है। सभी जीवों में यह सामान्यरूप से स्थित होता है। श्रवण, चिन्तन एवं भावना आदि की वजह से जब वह परिपुष्ट हो जाता है, तो वही परिपुष्टगोत्र कहलाता है। प्रकृतिस्थगोत्र तीन प्रकार का होता है, जैसे—श्रावक प्रकृतिस्थगोत्र, प्रत्येकबुद्ध प्रकृतिस्थगोत्र एवं बोधिसत्त्व प्रकृतिस्थगोत्र। उसी प्रकार परिपुष्टगोत्र भी त्रिविध होता है।

महायानसंग्रह में गोत्र के विषय में पर्याप्त विवेचन किया गया है। वहाँ उल्लिखित है कि आलयविज्ञान में स्थित अनास्रवबीज (प्रकृतिस्थगोत्र) आलय-विज्ञानस्वरूप नहीं हैं। क्योंकि वे आलयविज्ञान के प्रतिपक्ष अनास्रवज्ञान के हेतु हैं। साथ ही, यदि वे अभिन्न नहीं है, तो घट से पट की भाँति आलयविज्ञान से एकदम भिन्न भी नहीं हैं। क्योंकि जब तक आलयविज्ञान की निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक वे आलयविज्ञान के साथ एकाकार होकर स्थित रहते हैं। ऐसा होने पर भी श्रवण, चिन्तन, भावना आदि के बल से अनास्रवबीज पुष्ट होकर शक्तिशाली हो जाते हैं और उसी अनुपात में आलयविज्ञान क्षीण होते हुये निवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार दूध में पानी मिला देने पर वे दोनों एकाकार, अभिन्न और एक वस्तु की भाँति प्रतीत होते हैं, तथापि वे वस्तुतः अभिन्न नहीं होते। अन्यथा हंस के द्वारा उनका पृथक्करण सम्भव नहीं होता। ज्ञात है कि हँस उनमें से दूध का ग्रहण कर लेता है और जल को छोड़ देता है। ऐसा तभी सम्भव है, जब वे पृथक्स्थित हों। फिर भी वे अवस्थाविशेष में अभिन्न प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार आलयविज्ञान एवं अनास्रवबीज सांसारिक अवस्था में अभिन्न एवं एकाकार प्रतीत होते हैं, तथापि वे पूर्णतः एकात्म नहीं है। अन्यथा मुक्ति असम्भव हो जाती और उसकी प्राप्ति के लिये किये जानेवाले श्रवण, चिन्तन आदि कर्म निष्फल हो जाते। ऐसा तभी सम्भव है, जब वे पृथक्स्थित हों। फलतः अनास्रवबीज

श्रवण, चिन्तन, भावना आदि द्वारा ऊपर-ऊपर परिपुष्ट होते रहते हैं और आलयांश नीचे-नीचे क्षीण होता जाता है। अन्त में अनास्रवबीज पूर्णत: विकसित होकर धर्मकाय के समस्त गुणों से युक्त हो जाता है और आलयविज्ञान क्षीण होकर पूर्णत: निवृत्त हो जाता है। इसे ही आश्रयपरावृत्ति कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि विज्ञानवादी गोत्र को संस्कृत धर्म मानते हैं। वे माध्यमिकों की भाँति शून्यता के आधार पर प्रकृतिस्थगोत्र की स्थापना नहीं करते। बल्कि जब माध्यमिक चित्त की नि:स्वभावता को प्रकृतिस्थगोत्र मानते हैं, तो आक्षेप देते हैं कि "जीवों के चित्त की नि:स्वभावता यदि प्रकृतिस्थगोत्र है तो श्रावक प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व इन तीन गोत्रों की पृथक् व्यवस्था न हो सकेगी; क्योंकि समलचित्तों की शून्यता में कोई भेद नहीं है। जैसे कि अभिसमयालंकार में उक्त है—

धर्मधातोरसम्भेदाद् गोत्रभेदो न युज्यते[1]।

इसके उत्तर में माध्यमिक कहते हैं कि यद्यपि हम समलचित्त में स्थित धर्मधातु या शून्यता को प्रकृतिस्थगोत्र मानते हैं; तथापि हमारे मत में श्रावकगोत्र, प्रत्येक-बुद्ध गोत्र एवं बोधिसत्त्वगोत्र की पृथक् व्यवस्था भलीभाँति हो जाती है। यह ठीक है कि शून्यता या धर्मधातु में कोई भेद नहीं है; तथापि उस धर्म धातु का आलम्बन करनेवाले मार्गों में भेद होता है। अत: उनके भेद से आधारभूत गोत्र में भी भेदसिद्ध हो जाता है। ज्ञातव्य है कि समलचित्त की शून्यता मार्ग का आधार होती है और उसका आलम्बन करनेवाले मार्ग आधेय होते हैं। आधेय मार्गों के त्रिविध होने से आधारभूत प्रकृतिस्थगोत्र भी त्रिविध हो सकता है। इसीलिये अभिसमयालङ्कार में कहा गया है—

आधेयधर्मभेदात्तु तद्भेद: परिगीयते[2]।

प्रकृतिस्थगोत्र के बारे में विज्ञानवादी एवं माध्यमिकों के मत परस्पर भिन्न-भिन्न है। अभिसमयालङ्कार और उसकी टीका, वृत्ति आदि में आचार्यों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में स्पष्ट तर्क-वितर्क प्रस्तुत किये हैं, जो ज्ञातव्य हैं और महत्त्वपूर्ण भी हैं। हमने यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र प्रस्तुत किया है।

१. द्र०—अभिसमयालङ्कार कारिका १: ४० पृ० ३०७।
२. द्र०—अभिसमयालङ्कार कारिका १: ४० पृ० ३०७।

माध्यमिकों के मतानुसार जीवों के समलचित्त की शून्यता या धर्मधातु प्रकृतिस्थगोत्र है। वही आगे चल कर फल-अवस्था में स्वभावधर्मकाय हो जाता है तथा परिपुष्टगोत्र श्रवण, चिन्तन, भावना आदि द्वारा विकसित होकर फल-अवस्था में रूपकाय के रूप में परिणत हो जाता है। विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रकृतिस्थ-गोत्र विकसित होकर परिपुष्टगोत्र हो जाता है और आगे चलकर फल-अवस्था में वही धर्मकाय एवं रूपकाय में परिणत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि माध्यमिक मत में धर्मकाय असंस्कृत होता है, अतः प्रकृतिस्थगोत्र भी असंस्कृत होता है। रूपकाय संस्कृत होता है, इसलिये उसका हेतु परिपुष्टगोत्र भी संस्कृत माना जाता है। सांसारिक अवस्था में जीवों का चित्त समल होता है और उस चित्त की निःस्वभावता प्रकृतिस्थगोत्र होती है। साधना द्वारा चित्त जब निर्मल हो जाता है, तब उस चित्त में स्थित शून्यता (निःस्वभावता) धर्मकाय हो जाती है। जीवावस्था के आध्यात्मिक आयतनों में स्थित अनास्रवबीज परिपुष्टगोत्र होते हैं। साधना द्वारा विकसित होकर फलावस्था में वे रूपकाय हो जाते हैं। विज्ञानवादियों के मतानुसार धर्मकाय असंस्कृत होने पर भी उसका हेतु असंस्कृत न होकर संस्कृत ही होता है।

त्रिविध यान

बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—त्रियानवादी एवं एकयानवादी। श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान एवं बोधिसत्त्वयान इन तीनों को जो अन्तिम मार्ग मानने हैं, वे त्रियानवादी कहलाते हैं। जो केवल बोधि-सत्त्वयान (महायान) को ही एकमात्र अन्तिम मार्ग स्वीकार करते हैं, वे एकयान-वादी कहलाते हैं। कहने का आशय यह है कि त्रियानवादियों की यह मान्यता है कि श्रावक निरुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर अन्य यान में प्रवेश नहीं कर सकता। वही उसका अन्तिम गन्तव्य या फल है। इससे उत्कृष्ट फल उसे प्राप्त न होगा। प्रत्येकबुद्ध भी जब निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त कर लेता है तो अन्य यान में प्रविष्ट नहीं हो सकता। यही उसका अन्तिम प्राप्य फल है। बोधिसत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त कर लेता है, तो उसके अन्य यान में प्रविष्ट होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इनके अनुसार श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध भी महायान में प्रविष्ट हो सकते हैं; किन्तु सोपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में या उससे पूर्व ही ऐसा सम्भव है। उसके बाद ऐसा नहीं हो सकता।

एकयानवादियों के अनुसार श्रावक हो, प्रत्येकबुद्ध हो या कोई अन्य हो सबके लिये अन्त में महायान में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध दोनों निरुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर भी महायान में प्रवेश करते हैं और अन्त में बुद्धत्व का लाभ करते हैं। सबका अन्तिम प्राप्य फल एकमात्र बुद्धत्व ही है। प्रासङ्गिक एवं स्वातन्त्रिक दोनों माध्यमिक एकयानवादी हैं। दो प्रकार के विज्ञानवादियों में से युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी भी एकयानवादी हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादी त्रियानवादी हैं।

ऊपर कहा गया है कि गोत्र तीन होते हैं, यथा-श्रावकगोत्र, प्रत्येकबुद्धगोत्र एवं बोधिसत्त्वगोत्र। गोत्र आलयविज्ञान में स्थित होता है। आलयविज्ञान में स्थित अनास्रवबीज ही गोत्र हैं। वे (अनास्रवबीज) तीन प्रकार के होते हैं, जिनके सामर्थ्य से सत्त्वों के अपने-अपने गन्तव्य सुनिश्चित होते हैं। किन्हीं जीवों के आलय-विज्ञान में ऐसा अनास्रवबीज विद्यमान होता है कि जो उन्हें श्रावकमार्ग या प्रत्येकबुद्धमार्ग से सोपधिशेषनिर्वाण तक ले जाता है और वहीं से किसी बुद्ध या बोधिसत्त्व आदि महायानोपदेशक के सम्पर्क से महायान में प्रवेश कर देता है। निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त हो जाने पर फिर महायान में प्रवेश नहीं होता। इस विषय में आर्य असंग ने अपने 'निर्णयसंग्रह' में स्पष्ट प्रतिपादन किया है। आगमानुयायी विज्ञानवादी यह भी मानते हैं कि श्रावक, प्रत्येकबुद्ध एवं बोधिसत्त्व के नियत गोत्र होते ही हैं। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि कुछ पुद्गल अनियतगोत्र भी होते हैं। अर्थात् जिनका तीनों यानों में से किसी में अभी निश्चित गोत्र नहीं है। ऐसे लोग आगे चलकर कारणसम्पत्ति के अनुसार किसी भी यान में प्रविष्ट हो सकते हैं। इस मत के अनुसार कुछ सत्त्व ऐसे भी होते हैं, जिनका कोई गोत्र होता ही नहीं ऐसे जीव 'उच्छिन्नगोत्र' कहलाते हैं। ये कभी भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते।

निर्वाणव्यवस्था

निर्वाण के विषय में बौद्ध सिद्धान्तवादियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। वैभाषिक यह मानते हैं कि निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में समस्त संस्कृत धर्म निरुद्ध हो जाते हैं, केवल एक प्रतिसंख्यानिरोध अवशिष्ट रहता है, जो असंस्कृत धर्म होते हुये भी द्रव्यसत् होता है। इनके मत में द्रव्य होने और असंस्कृत होने में विरोध नहीं है।

सौत्रान्तिक भी दो तरह के होते हैं। एक को हम प्राचीन या आगमानुयायी सौत्रान्तिक कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के सौत्रान्तिक अर्वाचीन या युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक कहलाते हैं। प्राचीन सौत्रान्तिकों के मत में निरुपधिशेषनिर्वाण अभाव-मात्र है। अर्थात् वह प्रसज्यप्रतिषेधमात्र है। वह द्रव्यसत् नहीं हैं; क्योंकि वह एक असंस्कृत धर्म है और इनके मतानुसार असंस्कृत का द्रव्यसत् होना सर्वथा विरुद्ध एवं असम्भव है।

बाद के सौत्रान्तिक, जिन्हें ऊपर अर्वाचीन या युक्त्ययायी सौत्रान्तिक कहा गया है, युक्त्यनुयायी विज्ञानवादियों के प्रभाव में आकर चित्तसन्तति को अनादि एवं अनन्त मानने लगे, जैसे युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी मानते हैं। इनके मतानुसार निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में यद्यपि क्लेशों से दूषित सास्रव पंचस्कन्ध नहीं रहते; तथापि अनास्रव पञ्चस्कन्ध या व्यक्तित्व अवशिष्ट रह जाता है। अर्थात् चित्तसन्तति का उच्छेद नहीं होता। इन सभी दार्शनिकों के मत में पहले सोपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है, तदन्तर निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था आती है।

आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में जड (रूप)-सन्तति एवं चित्तसन्तति की प्रवृत्ति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। निरुपधिशेषनिर्वाण एक ऐसा तत्त्व है, जो सुखा वेदना से रहित होने पर भी एक ऐसे सुख से युक्त है, जो सभी प्रकार के दुःखों से स्थायीरूप से विमुक्त है। इनके मत में निर्वाण प्रसज्यप्रतिषेधरूप (अभावमात्र) नहीं है और द्रव्यसत् भी नहीं है। वह एक नित्य एवं अपरिवर्तनशील धर्म है। इसीलिये इनके सिद्धान्तानुसार जो श्रावक या प्रत्येकबुद्ध महायान में प्रवेश करते हैं, वे निरुपधिशेषनिर्वाण की प्राप्ति से पूर्व ही महायान में प्रवेश कर लेते हैं। अन्यथा निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त हो जाने पर तो महायान में प्रवेश सर्वथा असम्भव हो जायगा। इसी कारण इनके मत में तीन यानों का सिद्धान्त (त्रियानवाद) ठीक-ठीक बन पाता है।

सभी के मत में सोपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में पुद्गल का देह या सास्रव पञ्चस्कन्ध विद्यमान होते हैं, जो पूर्व कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त होते हैं। उस समय व्यक्ति सोपधिशेष-अर्हत् कहलाता है और उसका निर्वाण सोपधिशेषनिर्वाण कहलाता है। उस समय चित्तधारा चलती है कि नहीं—इस बारे में किसी को सन्देह नहीं

है। सोपधिशेषनिर्वाण एवं निरुपधिशेषनिर्वाण दोनों के स्वरूप में कोई फर्क नहीं है। केवल पूर्वकर्मों द्वारा प्रक्षिप्त देह (सास्रव पञ्चस्कन्ध) के अवशिष्ट रहने और न रहने में विशेष है।

महायाननिर्वाण की अवस्था बुद्धत्व की अवस्था है। इस अवस्था में यद्यपि सास्रव पञ्चस्कन्ध अर्थात् सास्रव शरीर एवं चित्तसन्तति विद्यमान नहीं होते; तथापि अनास्रव पञ्चस्कन्ध विद्यमान होते हैं, जो समस्त जीवों का कल्याण सिद्ध करते हैं।

युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी

युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद के प्रवर्तक आचार्य दिङ्नाग एवं धर्मकीर्ति आदि हैं। इन आचार्यों की अनेक रचनायें उपलब्ध हैं, जिनमें विज्ञानवादी सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक युक्तियुक्त निरूपण किया गया है। जिसके फलस्वरूप विज्ञानवाद में एक नयी विचारधारा का समावेश हुआ।

छह विज्ञानों का सिद्धान्त

आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के शास्त्रों में आलयविज्ञान का वर्णन बिलकुल उपलब्ध नहीं होता। वैसे पारम्परिक विज्ञानवादी होने के नाते उन्हें उसका वर्णन करना चाहिये था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये आचार्य आलयविज्ञान के समर्थक नहीं हैं। इनके शास्त्रों में प्रत्येक ज्ञान का लक्षण, स्वरूप आदि का सुविशद विवेचन उपलब्ध होता है, किन्तु कहीं भी आलयविज्ञान का उल्लेख नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि ये आलयविज्ञान नहीं मानते। आलयविज्ञान न मानने से ये क्लिष्ट मनोविज्ञान भी नहीं मानते; क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान का मानना आलयविज्ञान मानने पर निर्भर करता है। फलतः ये अष्टविज्ञानवादी न होकर षड्विज्ञानवादी थे, यह निश्चित होता है। तिब्बती विद्वत्समाज में ये युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि आगमानुयायी विज्ञानवादियों ने जिन सूत्रों या आगमों को यथाशब्द (नीतार्थ) स्वीकार करके आलयविज्ञान की सिद्धि के लिये प्रमाण के रूप में उद्धृत किया था, उन्हें इन्होंने (दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों ने) नेयार्थसूत्र माना है। इतना ही नहीं, आचार्य दिङ्नाग आदि ने सर्वदा और सर्वथा युक्ति पर ही बल दिया है, आगमों पर नहीं। इसीलिये ये लोग युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी कहलाते हैं।

इनके मत में भी वासनायें होती हैं, किन्तु वे आलयविज्ञान पर नहीं, अपितु मनोविज्ञान पर आधृत होती हैं। क्योंकि आलयविज्ञान को तो ये लोग मानते नहीं हैं और चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञानों पर सभी वासनायें रह नहीं सकतीं। फलतः वासनाओं का आधार इनके मत में मनोविज्ञान ही है। मनोविज्ञान ही पूर्व-अपर जन्मों का भी आधार है। अर्थात् मनोविज्ञान ही च्युतिकृत्य एवं प्रतिसन्धिकृत्य भी करता है। सारांश यह है कि ये आचार्य छह विज्ञान ही मानते हैं और संसार की प्रवृत्ति और उससे निवृत्ति आदि समस्त व्यवस्था इन्हीं के आधार पर करते हैं। छह विज्ञान ये है--चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान घ्राणविज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान।

गोत्रव्यवस्था

ऊपर कहा गया है कि ये लोग आलयविज्ञान नहीं मानते। अतः आलय-विज्ञान में स्थित अनास्रवबीज को ये गोत्र भी नहीं मानते। इनके मतानुसार छह आध्यात्मिक आयतनों पर स्थित अनास्रवज्ञानबीज ही गोत्र होते हैं। छह आध्यात्मिक आयतनों में अनादिकाल से प्रकृतितः स्थित अनास्रवज्ञानबीज प्रकृतिस्थगोत्र हैं तथा श्रवण, चिन्तन, भावना आदि के द्वारा जब वे परिपुष्ट होने लगते हैं, तो वे परिपुष्टगोत्र हो जाते हैं। चक्षुर्विज्ञानायतन, श्रोत्रविज्ञानायतन, घ्राणविज्ञानायतन, जिह्वाविज्ञानायतन, कायविज्ञानायतन एवं मनोविज्ञानायतन—ये ही छह आध्यात्मिक आयतन हैं।

एकयानवाद

संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो किसी न किसी दिन बुद्धत्व प्राप्त न कर लेगा। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध भी, जिन्होंने निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त कर लिया है, यह सम्भव है कि अनेक कल्पों तक निर्वाणधातु में लीन रहे, फिर भी उनका एक न एक दिन महायान में प्रवेश होगा और वे अवश्य बुद्धत्व प्राप्त करेंगे। आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में जीवों का चित्तसन्तति को अनादि एवं अनन्त सिद्ध किया है[1]। इससे सिद्ध होता है कि निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में भी

---

१. द्र०— प्रतिक्षणमपूर्वस्य पूर्वः पूर्वः क्षणो भवेत्।
तस्य हेतुरतो हेतुर्दृष्ट एवास्तु सर्वदा॥
चित्तान्तरस्य सन्धाने को विरोधोऽन्त्यचेतसः।
तद्वदप्यर्हतश्चित्तमसन्धानं कुतो मतम्॥—
प्रमाणवार्तिक (प्रमाणपरिच्छेद) १ : ४६–४७ पृ० २४।

चित्तसन्तति विद्यमान होती है। जब चित्तसन्तति का उच्छेद नहीं होता, तो कोई कारण नहीं कि बुद्धत्व प्राप्त न किया जा सके। दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में आलयविज्ञान का मानना और न मानना ही सबसे बड़ा अन्तर है। विज्ञानवाद की स्थापना या विज्ञप्तिमात्रता के पक्ष में यद्यपि युक्तियों में भी भेद हैं; किन्तु यह शैलीगत भेद है, मान्यताओं में नहीं। कालक्रम के अनुसार शैलीगत भेद हो जाना स्वाभाविक है।

द्विविध विज्ञानवादियों के सामान्य सिद्धान्त

त्रिविध लक्षण

दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों के मत में समस्त धर्म तीन लक्षणों में संगृहीत किये जाते हैं। परिकल्पितलक्षण, परतन्त्रलक्षण एवं परिनिष्पन्नलक्षण ये ही तीन लक्षण हैं। इनके बारे में पहले पर्याप्त कहा जा चुका है, अतः पुनःकथन निष्प्रयोजन है। संक्षेपतः घट, पट, वृक्ष आदि जितनी वस्तुयें हमें दिखलाई पड़ती हैं, वे सब परतन्त्रणलक्षण हैं। किन्तु वे हमें बाह्यरूपेण दिखलाई पड़ती हैं, उनका बाह्यरूपेण दिखलाई पड़ना, परिकल्पितलक्षण है। जैसे वे दिखलाई पड़ती हैं, उसका अभाव परिनिष्पन्नलक्षण है। थोड़े शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जो दिखलाई पड़ता है, वह परतन्त्रलक्षण है। अर्थात् घट, पट आदि दिखलाई पड़ते हैं, अतः वे परतन्त्रलक्षण हैं। जैसे दिखलाई पड़ते हैं, वह परिकल्पितलक्षण है। अर्थात् वे पदार्थ बाह्यरूपेण सत् दिखलाई पड़ते हैं, अतः बाह्यार्थत्वेन सत् दिखलाई पड़ना परिकल्पितलक्षण है। जैसे दिखलाई पड़ते हैं, उसका अभाव परिनिष्पन्न-लक्षण है। अर्थात् वाह्यार्थत्वेन सत् दिखलाई पड़ने का अभाव अर्थात् बाह्यार्थसत्ता का अभाव परिनिष्पन्नलक्षण है। आचार्य वसुबन्धु ने अपने 'त्रिस्वभावनिर्देश' में इन बातों को इस प्रकार गुम्फित किया है—

यत्ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः।
प्रत्ययाधीनवृत्तित्वात् कल्पनामात्रभावतः॥
तस्य ख्यातुर्यथाख्यानं या सदाऽविद्यमानता।
ज्ञेयः स परिनिष्पन्नस्वभावोऽनन्यथात्वतः॥[1]

---

१. द्र०—त्रिस्वभावनिर्देश २-३ कारिका, पृ० १।

मायाकार (माया दिखलानेवाले) द्वारा काष्ठ, प्रस्तर (पत्थर) आदि पर मन्त्र एवं औषधिद्रव्य आदि का प्रयोग करके दर्शकों (माया देखनेवालों) की दृष्टि भ्रान्त कर दी जाती है। फलतः वे काष्ठ, प्रस्तर आदि दर्शकों को हस्ती, अश्व आदि के रूप में दिखलाई पड़ने लगते हैं। जबकि वस्तुतः हस्ती, अश्व आदि वहाँ विद्यमान नहीं होते। इस दृष्टान्त के तीन अंश हैं, जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। पहला अंश है, काष्ठ, प्रस्तर आदि। दूसरा है, हस्ती, अश्व आदि का अभिनिवेश। तीसरा है, वस्तुतः (सचमुच के) हस्ती, अश्व आदि का अभाव। इनमें से पहले अंश का अस्तित्व है। अर्थात् काष्ठ, प्रस्तर आदि मिथ्या नहीं है। तभी तो उन पर मन्त्र, औषधि आदि का प्रयोग करना सम्भव हो पाता है। दूसरे अंश का वस्तुतः अस्तित्व नहीं है। अर्थात् हस्ती, अश्व आदि का अभिनिवेश (ग्रहण) नितान्त भ्रान्तिमूलक है, जो भ्रान्ति मन्त्र, औषधि आदि द्वारा उत्पन्न कर दी गई है। तीसरा अंश वस्तु की यथार्थं स्थिति है। अर्थात् काष्ठ, प्रस्तर आदि में वस्तुतः हस्ती, अश्व आदि का अभाव वस्तुस्थिति है। क्योंकि हस्ती, अश्व आदि वहाँ न पहले कभी थे, न हैं और न होंगे। वे तो दृष्टिदोष के कारण न होने पर भी दिखलाईमात्र पड़ते हैं। इस दृष्टान्त का विनियोग तीनों लक्षणों के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिये भलीभाँति किया जा सकता है। घट, पट, वृक्ष आदि पदार्थ जब सामान्य पृथग्जनों को दिखलाई पड़ते हैं तो वे उन्हें वासनाओं के प्रभाव की वज़ह से बाह्यार्थ के रूप में ही दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ भी ऊपर के दृष्टान्त की तरह तीन अंश विद्यमान हैं। इनमें पहला अंश है हमारी बुद्धि के ग्राह्य घट, पट आदि। दूसरा अंश है उनका बाह्यार्थत्वेन अभिनिवेश (ग्रहण)। तीसरा अंश है बाह्यार्थत्व का अभाव। इनमें से पहले अंश का अस्तित्व होता है। अर्थात् हमारी बुद्धि के ग्राह्य घट, पट आदि सर्वथा मिथ्या नहीं हैं। अन्यथा उनमें बाह्यार्थत्व का अभिनिवेश करना सम्भव न होता। आरोप के लिये सदधिष्ठान आवश्यक है। दूसरे अंश का वस्तुतः अस्तित्व बिलकुल नहीं है। अर्थात् घट, पट आदि में बाह्यार्थाभिनिवेश नितान्त भ्रान्तिमूलक है, जो भ्रान्ति बाह्यार्थाभिनिवेशवासना द्वारा उत्पन्न कर दी गई है। तीसरा अंश वस्तु की यथार्थ स्थिति है। अर्थात् घट, पट आदि में बाह्यार्थाभाव उनकी वस्तुस्थिति है। क्योंकि बाह्यार्थता न पहले कभी उनमें थी, न अब है और न कभी होगी। वह तो नहीं होने पर भी वासना के कारण उनमें गृहीतमात्र हो रही है। ज्ञातव्य है कि

यहाँ पहला अंश परतन्त्रलक्षण है, दूसरा परिकल्पित एवं तीसरा परिनिष्पन्नलक्षण है। फलतः विज्ञानवाद के प्रसङ्ग में यह कहना कि घट, पट आदि समस्त पदार्थ असत् हैं और विज्ञानमात्र ही सत् है, सर्वथा गलत है। अपितु घट, पट आदि समस्त धर्म होते हैं, केवल बाह्यार्थत्व ही असत् है। अर्थात् ज्ञाननिरपेक्ष बाह्यतः सत् घट, पट आदि नहीं हैं। उपर्युक्त माया के दृष्टान्त में काष्ठ, प्रस्तर आदि की भाँति घट, पट आदि परतन्त्र हैं, जो सत् हैं। काष्ठ, प्रस्तर आदि में मन्त्र, औषधि की वज़ह से जैसे असद्भूत भी हस्ती, अश्व आदि दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही वासना की वज़ह से घट, पट आदि बाह्यार्थ के रूप में गृहीत होते हैं। अतः हस्ती-आदि के अभिनिवेश की भाँति बाह्यार्थाभिनिवेश भी नितान्त परिकल्पित है। काष्ठ, प्रस्तर आदि में जैसे सद्भूत हस्ती, अश्व आदि का अभाव सत्य है, उसी तरह घट, पट आदि में बाह्यार्थाभाव परमार्थसत्य है और यही परिनिष्पन्नलक्षण है। इस तथ्य को आचार्य वसुबन्धु ने निम्न पंक्तियों में उपनिबद्ध किया है—

मायाकृतं मन्त्रवशात् ख्याति हस्त्यात्मना यथा।
आकारमात्रं तत्रास्ति हस्ती नास्ति तु सर्वथा॥
स्वभावः कल्पितो हस्ती परतन्त्रस्तदाकृतिः।
यस्तत्र हस्त्यभावोऽसौ परिनिष्पन्न इष्यते॥[1]

परतन्त्रलक्षण का अस्तित्व सर्वथा हेतु-प्रत्ययों पर निर्भर करता है। हेतु-प्रत्ययों के विना उसका स्वतः उत्पाद नहीं होता, इसलिये परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव है। परिकल्पितलक्षण नाम एवं संकेतों द्वारा आरोपितमात्र है। स्वलक्षणतः उसका अस्तित्व बिलकुल नहीं होता, अतः परिकल्पितलक्षण लक्षणनिःस्वभाव है। परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थ या तत्त्व है, किन्तु वह धर्मात्मता (बाह्यार्थता) से रहितता मात्र (शून्यतामात्र) है, अतः परमार्थ निःस्वभाव है। इस तरह प्रत्येक लक्षण में किसी न किसी तरह की निःस्वभावता रहती है और तीन लक्षणों से बाहर कोई धर्म नहीं होता, इसीलिये भगवान् बुद्ध ने प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों में समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है। निःस्वभावता के बारे में विज्ञानवादी आचार्यों का यही अभिप्राय है।

---

१. द्र—त्रिस्वभावनिर्देश, २७–२८ कारिका, पृ० ५–६।

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि वस्तुओं में परस्पर भेद होता है। घट पट से भिन्न है और पट घट से भिन्न है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न है। वस्तुओं का यह भेद उस ज्ञान पर आधृत है, जिसमें ग्राह्य-ग्राहकद्वय का आभास होता है। ग्राह्य-ग्राहक के द्वैत का यह आभास भी ज्ञान में इसलिये होता है, क्योंकि ज्ञान वासनाओं से दूषित है। वासनाओं से दूषित होने के कारण ज्ञान उपप्लुत या मिथ्या है। फलतः उसके द्वारा स्थापित सारी भेदव्यवस्था भी मिथ्या है। ज्ञान में अवभासित ग्राह्यग्राहकाकार से अतिरिक्त बाह्यलक्षण या बाह्यसत्ता नहीं है। ग्राह्यग्राहकाकार भी जैसे अवभासित होता है, वैसा नहीं है। इसीलिये भगवान् ने समस्त धर्मों की निःस्वभावता का उपदेश दिया है। जैसा कि प्रमाणवार्तिक में उक्त है—

तद्भेदाश्रयिणी चेयं भावानां भेदसंस्थितिः।
तदुपप्लवभावे च तेषां भेदोऽपि सम्भवः॥
न ग्राह्यग्राहकाकारबाह्यमस्ति च लक्षणम्।
अतो लक्षणशून्यत्वान्निःस्वभावाः प्रकाशिताः[1]॥

इस तरह हम देखते हैं कि द्वितीय धर्मचक्र के प्रसङ्ग में उपदिष्ट प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों को नेयार्थ मानकर उनके अभिप्राय को विज्ञप्तिमात्रता के पक्ष में ले जाने में दोनों प्रकार के विज्ञानवादी आचार्यों का पूर्णतः ऐक्यमत्य है।

स्वसंवेदन

दोनों प्रकार के विज्ञानवादी स्वसंवेदन मानते हैं। इसलिये उनके मत में प्रत्यक्ष चतुर्विध होता है, यथा-इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष एवं योगिप्रत्यक्ष। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष मानना विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना में अत्यन्त सहायक होता है। विज्ञानवादी बाह्यार्थ का निरास करने के लिये सहोपलम्भनियम का हेतु के रूप में प्रयोग करते हैं, यथा--नीलनीलज्ञचक्षुर्विज्ञाने, द्रव्यतोऽभिन्ने, सहोपलम्भनियमात्, नील-पीतवत्। अर्थात् नील और नील को जाननेवाला चक्षुर्विज्ञान ये दोनों द्रव्यतः अभिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों का युगपद् उपलम्भ

---

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक (प्रत्यक्षपरिच्छेद) २१४–२१५ का०, पृ० १६४–१६५।

होता है।[१] अर्थात् ये दोनों सर्वदा एकसाथ एक ही प्रत्यक्ष के आलम्बन होते हैं। नील और पीत के समान। नील और पीत यहाँ विपक्षगत दृष्टान्त हैं। ज्ञातव्य है कि नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान नील का आलम्बन करता है तथा स्वसंवेदन नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान का आलम्बन करता है। स्वसंवेदन को छोड़कर नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान का आलम्बन करने में अन्य कोई ज्ञान समर्थ नहीं है। पश्चात् काल में नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान का स्मरण होता है। स्मरण के लिये यह आवश्यक है कि पहले अनुभव हुआ हो। इस प्रकार नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुभव करनेवाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष का अस्तित्व सिद्ध होता है। फलतः कोई भी ज्ञान चाहे सविकल्प हो चाहे निर्विकल्प जब अपने विषय में प्रवृत्त होता है तो साथ में स्वसंवेदन भी प्रवृत्त होता है, जो उस ज्ञान को विषय बनाता है। वह स्वसंवेदन उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं होता, जो (ज्ञान) बाह्य विषय में प्रवृत्त है। इसे दीपक के दृष्टान्त से आसानी से समझा जा सकता है। जैसे दीपक अंधकार में स्थित अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे वह अपने-आप को भी प्रकाशित करता है। अर्थात् अपने को प्रकाशित करने के लिये दीपक को अन्य दीपक या प्रकाशक की अपेक्षा नहीं होती। कहने का आशय यह है कि दीपक के दो अंश हैं। एक रूप आदि को प्रकाशित करने वाला तथा दूसरा स्वयं को प्रकाशित करनेवाला। उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान आदि ज्ञानों के भी दो अंश होते हैं। एक अंश नील आदि को प्रकाशित करता है तथा दूसरा स्वयं को प्रकाशित करता है यही दूसरा अंश स्वसंवेदन कहलाता है।[२] फलतः चक्षुर्विज्ञान आदि स्वसंवेदन नहीं हैं और न स्वसंवेदन चक्षुर्विज्ञान आदि हैं। फिर भी वे दोनों घट से पट की भाँति भिन्न भी नहीं हैं। इन दोनों में परस्पर

---

१. तु०— यत्संवेदनमेव स्याद् यस्य संवेदनं ध्रुवम्।
तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततो वा न विभिद्यते॥
यथा नीलधियः स्वात्मा द्वितीयो वा यथोडुपः।
नीलधीवेदनं चेदं नीलाकारस्य वेदनम्॥—

तत्त्व०, द्वितीयभाग (बहिरर्थपरीक्षा), २०२९–३० का०, पृ० ६९१ एवं इनकी पंजिका।

२. तु०— विज्ञानं जडरूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते।
इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजडरूपता॥
—तत्त्व०, द्वि० भा० (बहिरर्थ परीक्षा) का० १९९९ पृ० ६८२।

कर्मकर्तृ भाव नहीं है, अपितु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव है।[1] इस प्रकार विज्ञानवाद की दृष्टि से स्वसंवेदन का बड़ा महत्त्व है, साथ ही यह कठिन स्थल भी है। इस तरह हम देखते हैं कि आलयविज्ञान को छोड़कर बाकी अन्य सिद्धान्तों में दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में पर्याप्त ऐकमत्य है।

विज्ञानवादियों के अन्य विभाजन

आलयविज्ञान को मानने और न मानने के आधार पर ऊपर विज्ञानवादियों के दो प्रकार निरूपित किये गये हैं, उसी प्रकार इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर भी उनका द्विविध विभाजन उपलब्ध होता है, यथा—सत्याकारवादी (साकार-वादी) और मिथ्याकारवादी (निराकारवादी)।

सत्याकारवादी—चक्षुर्विज्ञान आदि में जिस समय नील आदि प्रतिभासित होते हैं, उस समय वे नील आदि बाह्यार्थ के रूप में भी प्रतिभासित होते हैं। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान में नील और नील की बाह्यार्थता दोनों प्रतिभासित होते हैं। इस विषय में सत्याकारवादी और मिथ्याकारवादी दोनों एकमत हैं। तथापि चक्षुर्विज्ञान में जो नीलाकार प्रतिभासित होता है, उसकी सत्यता के विषय में दोनों में पर्याप्त मतभेद है।

सत्याकारवादी विज्ञानवादियों का कहना है कि चक्षुर्विज्ञान में जो नीलाकार प्रतिभासित होता है, वह नीलाकार सत्य है अर्थात् वस्तु है। किन्तु उसमें जो बाह्यार्थता प्रतिभासित होती है, वह बाह्यार्थाभास मिथ्या है। ऊपर कहा गया है कि चक्षुर्विज्ञान में नील और बाह्यार्थ दोनों का प्रतिभास होता है। उनमें से नीलाकार सत्य है, वस्तु है; किन्तु बाह्यार्थाकार मिथ्या है। इस सिद्धान्त का आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में स्पष्ट रूप से निरूपण किया है—

यद् यथा भासते ज्ञानं तत्तथैवानुभूयते[2]।

---

१. तु०—कल्पितः कर्मकर्त्रादिः परमार्थो न विद्यते।
आत्मानमात्मनैवात्मा निहन्तीति निरूप्यते॥—
प्रमाणवार्तिकालङ्कार, पृ० ३६९।

२. द्र०—प्रमाणवार्तिक, (प्रत्यक्षपरिच्छेद) २२१ का०, पृ० १६७।

अपि च—

हेतुभावाद् ऋते नान्या ग्राह्यता नाम काचन।
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते[1]॥

अर्थात् हेतुभाव से अतिरिक्त ग्राह्य नाम की कोई वस्तु नहीं होती, इसलिये नील आदि आकारवाली बुद्धियों का ग्राह्य वह हेतुभाव ही होता है। नील हेतुभाव है और वही नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान का ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अन्य कोई ग्राह्य नहीं है। इसलिये नील ही नीलाकार चक्षुर्विज्ञान का ग्राह्य है। आशय यह है कि नीलज्ञ चक्षुर्विज्ञान में जो नीलाकार है, वह उसका ग्राह्य है और उसका जो हेतुभावभूत नील है, वही नीलाकार है। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान का आलम्बनभूत नील, नीलाकार और उसका ग्राह्य ये सब एक ही वस्तु है। इस तरह चक्षुर्विज्ञान आदि में जो नीलाकार आदि हैं, उन्हें वस्तु सिद्ध किया जाता है।

आर्य असंग के युग में शायद सत्याकारवादी एवं मिथ्याकारवादी विज्ञानवादियों का स्पष्ट विभाजन नहीं हुआ था। मालूम होता है कि कालान्तर में इस तरह का विवाद प्रारम्भ हुआ। आचार्य धर्मकीर्ति के समय ये सिद्धान्त अत्यधिक विकसित अवस्था में थे। आचार्य धर्मकीर्ति स्वयं सत्याकारवादी थे या मिथ्याकारवादी इस विषय में विद्वत्समाज में अत्यधिक मतभेद है। आचार्य चोंखापा उन्हें सत्याकारवादी विज्ञानवादी मानते हैं। आचार्य खस् डुबजे ने भी प्रमाणवार्तिक की बृहट्टीका में कहा है कि सत्याकारवाद का सिद्धान्त मिथ्याकारवाद के सिद्धान्त से अधिक गम्भीर एवं दृढ़ है। किन्तु आचार्य ग्यल् छबजे ने इसके विपरीत प्रतिपादन किया है। वे आचार्य धर्मकीर्ति को मिथ्याकारवादी निरूपित करते हैं। इस तरह भोटदेश के विद्वानों के विचार इस विषय में भिन्न-भिन्न परिलक्षित होते हैं। विद्वानों के द्वारा यह विषय विचारणीय है।

सत्याकारवादी विज्ञानवादी भी तीन प्रकार के होते हैं, यथा - (क) ग्राह्यग्राहकसमसंख्याक, (ख) अर्धाण्डाकारवादी तथा (ग) नाना-अद्वैतवादी। इनके मतों का यहाँ संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, (प्रत्यक्षपरिच्छेद), २२४ का०, पृ० १६८।

(क) ग्राह्यग्राहकसमसंख्याक—जब चक्षुर्विज्ञान अनेक वर्णों से चित्रित किसी वस्तु को देखता है, तो जैसे उसमें नील, पीत, रक्त आदि अनेक वर्ण होते हैं; उसी प्रकार उतनी ही संख्या में चक्षुर्ज ज्ञान भी उत्पन्न होते हैं। जैसे चित्रित वस्तु में स्थित नील, पीत आदि अनेक वर्ण द्रव्यतः परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं एवं एक चित्रावयवी के अवयव होने पर भी परस्पर पृथक्स्थित होते हैं, ठीक यही स्थिति उन विविध वर्णों के ग्राहक विज्ञान की भी है। इसके मतानुसार चित्र में जितने वर्ण होते हैं, उनके ग्राहक चक्षुर्ज ज्ञान भी उतने ही होते हैं और वे परस्पर द्रव्यतः भिन्न-भिन्न होते हैं। वे सब एक साथ एक ही काल में उत्पन्न होते हैं। इस मत का निरूपण आचार्य धर्मकीर्ति ने इस प्रकार किया है—

वैश्वरूप्याद् धियामेव भावानां विश्वरूपता।
तच्चेदनङ्गं केनेयं सिद्धा भेदव्यवस्थितिः[1]॥

(ख) अर्धाण्डाकारवादी—जिस प्रकार एक चित्र में नील, पीत आदि अनेक वर्ण स्थित होते हैं और वे परस्पर पृथक्स्थित होते हैं, उस प्रकार उनके ग्राहक ज्ञान में अनेकता नहीं होती, अपितु उनका ग्रहण करनेवाला चक्षुर्विज्ञान एक ही होता है और एक होते हुये ही वह समस्त (अनेक) वर्णों को जानता है। इनके मतानुसार अनेक वर्णों को जानने के लिये अनेक चक्षुर्विज्ञान होने की आवश्यकता नहीं है। चित्र तो यहाँ पर एक उदाहरणमात्र है। वैसे यह प्रश्न बहुत व्यापक एवं विचारणीय है। जब घट और पट एक साथ दिखलाई पड़ते हैं, उस समय घटज्ञ चक्षुर्विज्ञान और पटज्ञ चक्षुर्विज्ञान दो अलग-अलग होते हैं या एक ही विज्ञान होता है—यह एक विचारणीय विषय है। ऐसा चक्षुर्विज्ञान तो सम्भव नहीं होगा, जो केवल एक ही रूप को देखता हो। कारण यह है कि समस्त वस्तुयें सावयव होती हैं। अर्थात् जिसे हम एक वस्तु कहते हैं, उसके भी अनेक अवयव होते हैं और जब चक्षुर्विज्ञान उस वस्तु को देखता है, तब उसके समस्त अवयवों को भी देखता ही है। प्रश्न है कि उस समय चक्षुर्विज्ञान एक ही होता है या उस वस्तु के अवयवों की संख्या के अनुसार अनेक चक्षुर्विज्ञान होते हैं। इस विषय में इन सिद्धान्तवादियों के परस्पर भिन्न-भिन्न मत हैं। अर्धाण्डाकारवादियों के मत का

---

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद २०४ का०, पृ० १६१-१६२ एवं इसकी व्याख्यायें।

हमने यहाँ उल्लेख किया है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी निम्न शब्दों में इनके मत का इस प्रकार निरूपण किया है—

चित्रावभासेष्वर्थेषु यद्येकत्वं न युज्यते।
सैव तावत्कथं बुद्धिरेका चित्रावभासिनी ॥[1]

(ग) **नाना-अद्वैतवादी**—ये लोग उपर्युक्त दोनों मतों से सहमत नहीं हैं। इनके मतानुसार चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान अनेक नहीं, अपितु एक ही उत्पन्न होता है। कहने के लिये तो नीलग्राहक चक्षुर्विज्ञान, पीतग्राहक चक्षुर्विज्ञान, रक्तग्राहक चक्षुर्विज्ञान आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं; तथापि वस्तुतः ये सब एक चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान के अंशमात्र हैं और उस चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान से द्रव्यतः भिन्न नहीं हैं, अपितु ये सब द्रव्यतः एक हैं। ठीक यही स्थिति चित्र की भी है। उसमें यद्यपि नील, पीत आदि अनेक वर्ण स्थित होते हैं, तथापि वे सब उस एक चित्र वस्तु के अंशमात्र हैं और सब द्रव्यतः एक हैं। इतना ही नहीं, विज्ञानवाद के अनुसार वे सब अन्ततोगत्वा ज्ञान के ही द्रव्यांश हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने इस मत का निरूपण निम्न पंक्तियों में किया है—

नानार्थ्येका भवेत् तस्मात् सिद्धातोऽप्यविकल्पिका।
विकल्पयन्नप्येकार्थं यतोऽन्यदपि पश्यति ॥[2]

अपि च—

इति नामैकभावः स्याच्चित्राकारस्य चेतसि।[3]

विज्ञानवाद के इस प्रभेदों के बारे में भोटदेशीय विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। कारण यह है कि इन प्रभेदों के प्रतिपादक विस्तृत शास्त्र उपलब्ध नहीं हैं। प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थों में इनका संकेतमात्र किया गया है। हमने ऊपर जिन प्रभेदों और उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, वे सब अधिकांश विद्वानों द्वारा मान्य हैं।

---

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद २०८ का०, पृ० १६३ एवं उसकी व्याख्यायें।

२. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद २०७ का० पृ० १६२।

३. द्र०—प्रमाणवार्तिक, प्रत्यक्षपरिच्छेद २२१ का०, पृ० १६७।

मिथ्याकारवादी

चक्षुरादिविज्ञानों में जो नील आदि आकार प्रतिभासित होते हैं, उन्हें असत्य माननेवाले विज्ञानवादी 'मिथ्याकारवादी' कहलाते हैं, । इनका कहना है कि जब चक्षुर्विज्ञान में नील आदि अवभासित होते हैं, तो साथ ही बाह्यार्थत्व भी अवभासित होता है। नीलत्व और बाह्यार्थत्व दोनों पृथक्-पृथक् अवभासित नहीं होते, अपितु मिश्रितरूप से अवभासित होते हैं, अतः चक्षुर्विज्ञान मिश्रिताकारवाला होता है और क्योंकि वह आकार वस्तुस्थिति में नहीं होता, अतः वह मिथ्या है, वस्तु नहीं।

ऐसा नहीं है कि चक्षुर्विज्ञान में जो बाह्यार्थाकार है, वही केवल मिथ्या है और जो नीलाकार है, वह सत्य है; क्योंकि अनादिकाल से निरन्तर प्रवर्तमान अविद्यावासना के बल से चित्त पूर्णतः दूषित कर दिया गया है और उसी वासना के बल से चित्त में बाह्यार्थाकार भी उत्पन्न हुआ है और नीलाकार भी उत्पन्न हुआ है। फलतः चक्षुर्विज्ञान के आकार में ऐसा कोई भी अंश नहीं है, जो उस अविद्यावासना से प्रतिफलित न हो। इसलिये बाह्यार्थाकार और नीलाकार दोनों वस्तुसत् नहीं हैं, मिथ्या हैं।

आचार्यीय ग्रन्थों में 'साकारवादी' और 'निराकारवादी' शब्द बहुलतया उपलब्ध होते हैं; किन्तु हमारे विचार में उनके अर्थ क्रमशः 'सत्याकारवादी' और 'मिथ्याकारवादी' से भिन्न नहीं हैं। भोटदेशीय पण्डितों के ग्रन्थों में और उनकी परम्परा में केवल सत्याकारवादी और मिथ्याकारवादी शब्द ही प्रयुक्त हुये हैं। हमारा मत है कि भारतीय आचार्यों ने उसी अर्थ में साकारवादी और निराकारवादी शब्दों का प्रयोग लघुता (संक्षेप) की दृष्टि से किया है। अन्यथा विज्ञानवादी सिद्धान्त अपनी दृष्टि से भी खड़ा नहीं रह सकेगा।

उपर्युक्त दोनों मतों की तुलना

उपर्युक्त दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों के मत में चक्षुर्विज्ञान में नील, पीत आदि रूप का प्रतिभास भी होता है और उनके बाह्यार्थत्व का प्रतिभास भी होता है। दोनों यह भी मानते हैं कि चक्षुर्विज्ञान में बाह्यार्थत्व का प्रतिभास अविद्यावासना की वजह से ही होता है। फर्क यह है कि सत्याकारवादियों के मत में चक्षुर्विज्ञान यद्यपि बाह्यार्थाभास की दृष्टि से भ्रान्त है; क्योंकि वह अविद्यावासना का परिणाम

है। अर्थात् वह चक्षुर्विज्ञान अविद्यावासना से उपप्लुत है; तथापि नीलप्रतिभास की दृष्टि से वह भ्रान्त नहीं है; क्योंकि उसमें अविद्यावासना का कोई हाथ नहीं है। अर्थात् उस प्रकार का चक्षुर्विज्ञान अविद्यावासना से उपप्लुत नहीं है।

इसके विपरीत मिथ्याकारवादियों के अनुसार बाह्यार्थाभास की दृष्टि से भी और नीलप्रतिभास की दृष्टि से भी चक्षुर्विज्ञान भ्रान्त है; क्योंकि दोनों प्रकार के प्रतिभासों में अविद्यावासना का हाथ है। अर्थात् दोनों दृष्टियों से चक्षुर्विज्ञान अविद्यावासना से उपप्लुत ही है। फलतः चक्षुर्विज्ञान में जो नील आदि आकार हैं, वे वस्तु या सत्य नहीं हैं।

वैभाषिक और विज्ञानवादी मत की तुलना

वैभाषिक और विज्ञानवाद दोनों दर्शनों में अनेक विषयों में वैमत्य है। हम विस्तार में जाना नहीं चाहते; क्योंकि उसका अवसर नहीं है; तथापि दोनों सिद्धान्त-वादियों की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण दार्शनिक मुद्दों के बारे में उनके अपने क्या विचार हैं, इसका अतिसंक्षेपतः निर्देश करेंगे।

१. वस्तुसत्ता—वैभाषिक बाह्यार्थवादी हैं। वे बाह्यार्थ की वस्तुसत्ता स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं। इनके मत में बाह्यार्थ परिकल्पित हैं। अर्थात् बाह्यार्थ खपुष्पवत् अलीक हैं। ये केवल विज्ञान परिणाम की ही द्रव्यतः सत्ता स्वीकार करते हैं।

२. परमाणु—वैभाषिक परमाणुवादी हैं। यद्यपि परमाणु के बारे में उनके परस्पर अनेकविध मत हैं; तथापि सभी परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादी परमाणु नहीं मानते। बाह्यार्थाभाव सिद्ध करने के लिये परमाणु का निषेध करना आवश्यक होता है। इसीलिये आचार्य वसुबन्धु ने विंशिका में निरवयव परमाणु का बड़े जोरदार ढंग से खण्डन किया है, यथा—

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डःस्यादणुमात्रकः[1] ॥

३. स्वसंवेदन—वैभाषिक स्वसंवेदन नहीं मानते। अतः इनके मत में तीन ही प्रत्यक्ष होते हैं। विज्ञानवादी स्वसंवेदन मानते हैं; क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना में स्वसंवेदन का सिद्धान्त बड़ा सहायक होता है।

---

१. द्र० –विंशिका, कारिका १२ पृ० ४८-४९।

४. ज्ञानाकार—वैभाषिक मत में इन्द्रियज ज्ञान निराकार माने जाते हैं। इनके अनुसार चक्षु रूप को देखता है। चक्षु में रूपों का प्रतिभास हुआ करता है, चक्षुराश्रित विज्ञान में नहीं। चक्षुर्विज्ञान तो चक्षुगत प्रतिबिम्ब का साक्षात्कार करता (जानता) है। अतः इन्द्रिय साकार हैं और इन्द्रियज ज्ञान निराकार हैं। वैभाषिकों का कहना है कि यदि चक्षुर्विज्ञान में रूपों का प्रतिभास माना जायगा, तो उसके द्वारा अन्तरित (प्राचीर, कुड्य आदि से तिरोहित) रूपों का भी साक्षात्कार मानना पड़ेगा; क्योंकि विज्ञान अप्रतिघ होता है। अर्थात् विज्ञान के गमन में कोई रूपी धर्म बाधक नहीं होता। अतः चक्षु ही रूपों को देखता है, चक्षुर्विज्ञान नहीं।[1]

इसके विपरीत विज्ञानवादियों के मत में चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूप आदि में प्रवृत्त नहीं होतीं, अपितु चक्षुर्विज्ञान आदि ही रूप आदि का ग्रहण करते हैं। केवल विज्ञानवादी ही नहीं, अपितु वैभाषिकों को छोड़कर समस्त बौद्ध सिद्धान्तवादी यह मानते हैं कि चक्षुर्विज्ञान रूप को देखता है।

५. गोत्र—वैभाषिक यद्यपि व्यक्ति में कुशलमूल का होना मानते हैं, तथापि प्रकृतिस्थगोत्र एवं परिपुष्टगोत्र की व्यवस्था जैसे विज्ञानवादी मानते हैं, वैसे वे नहीं मानते। एक महायानी दार्शनिक के लिये इस (गोत्र) का बड़ा महत्त्व है।

६. निर्वाण—वैभाषिक निरोध को निर्वाण मानते हैं। वह भी प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध भेद से द्विविध है। उनमें भी प्रतिसंख्यानिरोध ही मुख्य हैं। निरुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था में सभी संस्कृत धर्म निरुद्ध हो जाते हैं और वह निर्वाण (संस्कृत धर्मों का निरोध) प्रतिसंख्यानिरोधस्वरूप होता है। वह असंस्कृत होता है और द्रव्यतः सत् होता है।

विज्ञानवादियों के मत में निर्वाण द्रव्यतः सत् नहीं है। वह क्लेशावरण का अभावमात्र है। महानिर्वाण भी क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों का अभाव-मात्र ही है और वह एक नित्य धर्म है।

---

१. द्र०—चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्।
विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यतः॥—
द्र०—अभिधर्मकोश १:४२ पृ० ३०।

७. बुद्धवचन—वैभाषिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते; क्योंकि उनमें वर्णित विषय उन्हें अभीष्ट नहीं होते। विज्ञानवादी समस्त महायानसूत्रों को विशुद्ध बुद्धवचन स्वीकार करते हैं।

८. द्विविधनैरात्म्य—वैभाषिक धर्मनैरात्म्य नहीं मानते। उनके मत में केवल एक नैरात्म्य है और वह पुद्गलनैरात्म्य है। धर्मनैरात्म्य की चर्चा केवल महायान सूत्रों और शास्त्रों में ही उपलब्ध होती है। हीनयानी दार्शनिक धर्मनैरात्म्य की चर्चा नहीं करते तथा न वे धर्मात्म और धर्मात्मदृष्टि के बारे में ही कुछ जानते हैं। यह तो केवल महायान की ही अपनी विशेषता है। विज्ञानवादी क्योंकि महायानी दार्शनिक हैं, अतः वे पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य दोनों मानते हैं।

सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी मत की तुलना

१. बाह्यार्थ—सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं। ये लोग बाह्यार्थ की वस्तुसत्ता स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक आचार्य भदन्त शुभगुप्त ने 'बाह्यार्थसिद्धिकारिका' नामक अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ युक्तिपूर्वक बाह्यार्थ सिद्ध किया है। बाह्यार्थ को सिद्ध करनेवाले शास्त्रों में सौत्रान्तिक दर्शन का यह सबसे बड़ा शास्त्र है।[1]

२. परमाणु—सौत्रान्तिक परमाणु की सत्ता स्वीकार करते हैं। बाह्यार्थवादियों के लिये परमाणु मानना आवश्ययक भी है। विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं। वे परमाणु नहीं मानते।

३. ज्ञानाकार—सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी दोनों इन्द्रियज आदि समस्त ज्ञानों को साकार मानते हैं।

४. स्वसंवेदन—दोनों ही स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक स्वसंवेदन मानते हुये भी बाह्यार्थवादी हैं, जबकि विज्ञानवादी स्वसंवेदन से विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना करते हैं।

---

१. भदन्त शुभगुप्त के पाँच शास्त्र तिब्बती भाषा में अनूदित हैं और तंजूर में उपलब्ध हैं, यथा—१. सर्वज्ञसिद्धिकारिका, २. बाह्यार्थसिद्धिकारिका, ३. श्रुतिपरीक्षाकारिका, ४. अन्यापोहविचारकारिका एवं ५. ईश्वरभङ्गकारिका।

५. निर्वाण—सौत्रान्तिकों के मत में निर्वाण प्रसज्यप्रतिषेध (अभाव) मात्र है, जो समस्त क्लेशों से रहिततामात्र है। वैभाषिकों की भांति वे उसे द्रव्यतः सत् नहीं मानते। क्योंकि इनके मतानुसार अभावधर्म द्रव्य नहीं हो सकता। विज्ञानवादिसम्मत निर्वाण का स्वरूप ऊपर कहा जा चुका है।

६. गोत्र—वैभाषिकों की भांति सौत्रान्तिक भी प्रकृतिस्थगोत्र एवं परिपुष्ट-गोत्र की व्यवस्था नहीं मानते। इनके शास्त्रों में इस विषय का उल्लेख नहीं मिलता। विज्ञानवादियों के मत में गोत्र एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसके बारे में ऊपर कहा गया है।

७. महायानसूत्र—प्राचीन या आगमानुयायी सौत्रान्तिक महायानसूत्रों को बुद्धवचन नहीं मानते थे। किन्तु धर्मकीर्ति के बाद के अर्वाचीन या युक्त्यनुयायी सौत्रान्तिक धर्मकीर्ति आदि आचार्यों के प्रभाव से महायानसूत्रों को बुद्धवचन मानने लगे, फिर भी वे उनका अर्थ प्रकारान्तर से लेते थे। विज्ञानवादी तो विशुद्ध महायानसूत्रानुयायी हैं ही।

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक और विज्ञानवादी

१. बाह्यार्थ—आचार्य भावविवेक (भव्य) क्योंकि माध्यमिक हैं, अतः वे समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार समस्त धर्म मिथ्या एवं मायावत् हैं। उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है, अपितु समस्त धर्मों की व्यावहारिक या सांवृतिक सत्ता है।

प्रश्न है कि व्यवहारतः सत् समस्त धर्मों की बाह्यार्थतः सत्ता होती है कि नहीं?—इस विषय में आचार्य भावविवेक ने अपने ग्रन्थों में अत्यन्त स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका कहना है कि बाह्यार्थ होते हैं। वे कहते हैं कि दशभूमिकसूत्र के "चित्तमात्रं भोः जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्[1]" (हे बोधिसत्त्वो, तीनों धातुयें चित्तमात्र हैं)—इस वचन का अभिप्राय विज्ञप्तिमात्रता से नहीं है, अपितु इस (सूत्र) के द्वारा चित्तातिरिक्त सृष्टिकर्ता का खण्डन किया है, जो तैर्थिक लोगों द्वारा मान्य है। अर्थात् इसके द्वारा बाह्यार्थ का खण्डन नहीं होता। उनका कहना है कि लङ्कावतारसूत्र की—

---

१. द्र०—दशभूमिकसूत्र, पृ० ४९।

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्[१] ॥

इस गाथा द्वारा भी बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता 'दृश्यं न विद्यते बाह्यम्' का तात्पर्य बाह्यार्थ के न होने से नहीं है, अपितु बाह्यार्थों के परमार्थतः निःस्वभाव होने से है। 'चित्तं चित्रं हि दृश्यते, देहभोगप्रतिष्ठानम्' का अर्थ है कि देह, भोग आदि में प्रवृत्त विभिन्न चित्त तत्तद् विषयाकार होते हैं। 'चित्तमात्रं वदाम्यहम्' का अर्थ चित्तातिरिक्त ईश्वरादि सृष्टिकर्ता का निषेध है। उपर्युक्त बातें उन्होंने (भावविवेक ने) अपनी 'प्रज्ञाप्रदीप' नामक मूलमाध्यमिककारिका की बृहट्टीका में कही हैं।

आचार्य चोंखापा ने कहा है कि आचार्य भावविवेक उपर्युक्त दशभूमिकसूत्र एवं लङ्कावतारसूत्र द्वारा बाह्यार्थ का निषेध किया जाना नहीं मानते। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे बाह्यार्थ का निषेध किसी भी सूत्र का अभिप्राय नहीं मानते। उनका कहना है कि फिर भी इस पर विचार करना चाहिये।

माध्यमिकहृदयकारिका एवं तर्कज्वाला नामक उसके स्वभाष्य में भी उन्होंने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है कि द्विचन्द्राकार चक्षुर्विज्ञान भी बिना एक चन्द्र के उत्पन्न नहीं होता, अतः इन्द्रियविज्ञानों का बाह्यालम्बन होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः निश्चित है कि बाह्यार्थ होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्यार्थ को लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक व्यवहार में विज्ञानवादियों से भिन्न हो जाते हैं।

२. आलयविज्ञान—बाह्यार्थ मानने के कारण स्वातन्त्रिक माध्यमिकों को आलयविज्ञान मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती और आलयविज्ञान न मानने से क्लिष्ट मनोविज्ञान मानने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य भावविवेक मध्यमकहृदय में कहते हैं कि विज्ञानवादियों ने विज्ञान के नाम से आत्मा की ही स्थापना कर दी है। उनका आशय यह है कि विज्ञानवादियों का आलयविज्ञान का सिद्धान्त आत्मवादियों के आत्मा के सिद्धान्त से वस्तुतः भिन्न नहीं है। केवल नाम में अन्तर है। इस तरह आचार्य भावविवेक आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं और छह विज्ञान ही मानते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक आगमानुयायी विज्ञानवादियों से भी भिन्न हो जाते हैं।

---

१. द्र०—लङ्कावतारसूत्र, पृ० १५४।

३. स्वसंवेदन—आचार्य भावविवेक ने अपने मध्यमकहृदय नामक ग्रन्थ में और उसके तर्कज्वाला नामक भाष्य में स्वसंवेदन का बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से खण्डन किया है। वे कहते हैं कि जैसे तीक्ष्ण भी असिधारा स्वयं को नहीं काट सकती, सुप्रशिक्षित भी नटबटु जैसे अपने स्कन्ध पर आरूढ नहीं हो सकता तथा सुप्रज्वलित भी अग्निस्कन्ध जैसे स्वयं को नहीं जला सकता, उसी प्रकार चित्त-चैतसिक (ज्ञान) भी अपने-आप को नहीं जान सकते। यदि बाह्यालम्बक ज्ञान से भिन्न कोई स्वसंवेदन है तो वह परसंवेदन ही होगा। उनके अनुसार स्वसंवेदन का सिद्धान्त कल्पितमात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विषय में स्वातन्त्रिक माध्यमिकों का सिद्धान्त विज्ञानवादियों से विपरीत हो जाता है।

४. गोत्र—आचार्य भावविवेक जीवों के चित्त की निःस्वभावता को प्रकृतिस्थगोत्र मानते हैं। छह आध्यात्मिक आयतनों में स्थित अनास्रव बीज उनके मतानुसार परिपुष्टगोत्र हैं। स्वातन्त्रिक माध्यमिक ही नहीं प्रासङ्गिक माध्यमिक भी प्रकृतिस्थगोत्र को असंस्कृत धर्म मानते हैं और उसे ही तथागतगर्भ भी स्वीकार करते हैं। ऊपर कहा गया है कि विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रकृतिस्थगोत्र एक संस्कृत धर्म होता है। इस तरह हम देखते हैं कि गोत्रव्यवस्था के बारे में भी स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं विज्ञानवादियों के मत में भिन्नता है।

५. धर्मचक्र—आचार्य भावविवेक के अनुसार द्वितीय धर्मचक्र के प्रसङ्ग में उपदिष्ट कुछ सूत्र नेयार्थ हैं। जैसे प्रज्ञापारमिताहृदय आदि वे सूत्र जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव प्रतिपादित करते हैं। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ हैं, जो समस्त धर्मों को परमार्थतः निःस्वभाव प्रतिपादित करते हैं। तृतीय धर्मचक्र के प्रसङ्ग में उपदिष्ट सूत्र नीतार्थ हैं; क्योंकि वे समस्त धर्मों को परमार्थतः निःस्वभाव कहते है। अथच द्वितीय धर्मचक्र के प्रज्ञापारमिताहृदय आदि नेयार्थ सूत्रों के वास्तविक अभिप्राय को प्रकट करते हैं। निष्कर्ष यह है कि आचार्य भावविवेक समस्त धर्मों को निःस्वभाव नहीं मानते; अपितु परमार्थतः निःस्वभाव मानते हैं।

आचार्य बुद्धपालित, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, भावविवेक एवं शान्तरक्षित आदि आचार्यों के शास्त्रों में यद्यपि निःस्वभाव, निःस्वलक्षण एवं द्रव्यतः असत् आदि शब्दों का प्रयोग बहुलतया उपलब्ध होता है; किन्तु सर्वत्र उन शब्दों का अर्थ

समान ही है; ऐसा समझ लेना गलत होगा। उनके शास्त्रों का सम्यक् परिशीलन करने पर तथा उनमें प्रतिपादित विचारों का ऊहापोहपूर्वक ठीक-ठीक आकलन करने पर ही ज्ञात होता है किस आचार्य के मत में किस शब्द का क्या वास्तविक अर्थ है। इस अर्थभेद के आधार पर ही माध्यमिकों का विभाजन सामने आता है।

आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासंगिक माध्यमिक समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं। उनके अनुसार 'वस्तु का अपनी ओर से अस्तित्व न होना' निःस्वभावता का अर्थ है। आचार्य भावविवेक आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिक वस्तुओं की अपनी ओर से सत्ता स्वीकार करते है। इसीलिये ये लोग सर्वत्र 'परमार्थतः' इस विशेषण का प्रयोग करते हैं। अर्थात् ये लोग समस्त धर्मों को परमार्थतः निःस्वभाव मानते हैं। और इसी आधार पर ये आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि से भिन्न हो जाते हैं। आचार्यों द्वारा उक्त प्रकार से कहना कोई मामूली बात या कहने का तरीकामात्र नहीं है, अपितु इसके पीछे गम्भीर दार्शनिक रहस्य छिपे हुये हैं, अपितु इसके आधार पर संसार और निर्वाण सम्बन्धी समस्त व्यवस्था में अन्तर पड़ जाता है और सारी तर्क प्रणाली में फर्क हो जाता है। इसीलिये आचार्य चोंखापा और उनके अनुयायियों ने दोनों प्रकार के माध्यमिकों के विचारगत मतभेदों को सरलता से स्पष्ट करने के लिये कहा कि आचार्य बुद्धपालित, चन्द्रकीर्ति, आर्यदेव, शान्तिदेव आदि समस्त धर्मों को निःस्वभाव या निःस्वलक्षण मानते हैं तथा आचार्य भावविवेक एवं शान्तरक्षित आदि उन्हें परमार्थतः निःस्वभाव या परमार्थतः निःस्वलक्षण मानते हैं।

विज्ञानवादी भी परिकल्पितलक्षण को लक्षणनिःस्वभाव मानते हैं, परन्तु इनके लक्षणनिःस्वभाव में और माध्यमिकों के निःस्वभाव और निःस्वलक्षण कहने में बड़ा अन्तर है। परिकल्पितलक्षण क्योंकि हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं होता तथा नाम और संकेतों द्वारा स्थापित होता है, केवल इसीलिये विज्ञानवादी उसे लक्षणनिःस्वभाव कहते हैं। जबकि माध्यमिक सापेक्ष उत्पन्न होने के कारण वस्तु को निःस्वभाव या निःस्वलक्षण कहते हैं।

योगाचार माध्यमिक एवं विज्ञानवादी

आचार्य भावविवेक के अनन्तर योगाचार माध्यमिक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य शान्तरक्षित इस दर्शन के प्रवर्तक हैं। आचार्य कमलशील आदि उनके अनुयायियों ने आगे चलकर इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

१. बाह्यार्थ—आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालङ्कार नामक ग्रन्थ के स्वभाष्य में आचार्य भावविवेक के बाह्यार्थविषयक मत का युक्तिपूर्ण ढंग से खण्डन किया है और व्यवहार में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की है। उन्होंने आचार्य भावविवेक के मध्यमकहृदय और तर्कज्वाला के उद्धरणों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका परीक्षण किया और उन्हें युक्तिहीन सिद्ध किया, साथ ही विज्ञप्ति-मात्रता को आर्यसन्धिनिर्मोचन, आर्यघनव्यूह एवं लंकावतार आदि सूत्रों का अभिप्राय सिद्ध किया। उन्होंने कहा कि आचार्य नागार्जुन का भी यही अभिप्राय है। इस प्रकार आचार्य शान्तरक्षित बाह्यार्थशून्यता को मानते हैं। निःसन्देह आचार्य के विचार विज्ञानवाद से प्रभावित हैं। यद्यपि योगाचार माध्यमिक निर्बाह्यार्थवादी हैं, तथापि वे बाह्यार्थशून्यता को परमार्थ नहीं मानते, अपितु वे उसे व्यावहारिक ही मानते हैं। आचार्य शान्तरक्षित व्यवहार में सत्याकार-विज्ञानवादी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि व्यावहारिक क्षेत्र में विज्ञानवादियों और आचार्य शान्तरक्षित में अत्यधिक साम्य है। इसीलिये उन्हें योगाचार माध्यमिक कहा जाता है।

२. आलयविज्ञान—आचार्य शान्तरक्षित के ग्रन्थों से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे आलयविज्ञान मानते हैं या नहीं, तथापि उनके दर्शन के वातावरण या रुझान को देखते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि वे आलयविज्ञान नहीं मानते। आचार्य चोंखापा का भी इस विषय में यही मत है।

३. स्वसंवेदन—विज्ञप्तिमात्रतावादी दार्शनिक स्वसंवेदन अवश्य मानते हैं। आचार्य शान्तरक्षित भी विज्ञप्तिमात्रतावादी है, अतः उन्होंने स्वसंवेदन का बड़े जोरदार ढंग से समर्थन किया है। अपने मध्यमकालोक में उन्होंने संवृतिसत्य और परमार्थसत्य का विशद निरूपण किया है। वहाँ संवृति की स्थापना करते हुये उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता को सप्रमाण सिद्ध किया है और उसकी सिद्धि के लिये सहोपलम्भनियम का युक्ति के रूप में प्रयोग किया है, जिस सहोपलम्भनियम का प्रयोग आचार्य धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्तिक में किया है। सहोपलम्भनियम की प्रामाणिकता के लिये स्वसंवेदन का मानना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस तरह हम देखते हैं कि इस (स्वसंवेदन) विषय में आचार्य शान्तरक्षित और विज्ञानवादियों में ऐकमत्य है।

४. परमार्थसत्य—ऊपर कहा गया है कि आचार्य शान्तरक्षित विज्ञप्तिमात्रता को मानते हैं; तथापि वे निर्बाह्यार्थता को परमार्थसत्य स्वीकार नहीं करते। इस विषय में वे विज्ञानवादियों से सर्वथा भिन्न मत रखते हैं। आचार्य भावविवेक की भांति ये भी परमार्थतः निःस्वभावता को ही परमार्थसत्य मानते हैं। आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि की भांति सर्वधर्मनिःस्वभावता इनके मत में स्वीकृत नहीं है। मध्यमकालोक में स्पष्टतया उल्लिखित है कि "द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत कुछ सूत्रों में समस्त धर्मों को निःस्वभाव, अनुत्पन्न आदि कहा गया है, ये सूत्र नेयार्थ हैं। उन्हें यथाशब्द स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपितु उनमें 'परमार्थः' यह विशेषण लगाना चाहिये।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य शान्तरक्षित एवं भावविवेक दोनों इस विषय में एकमत हैं। यही कारण है कि ये दोनों आचार्य 'स्वातन्त्रिक माध्यमिक' कहलाते हैं।

५. धर्मचक्र—आचार्य शान्तरक्षित ने अपने मध्यमकालोक में आर्यसन्धिनिर्मोचन आदि सूत्रों का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये लिखा है द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत कुछ सूत्र ऐसे हैं, जो समस्त धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता या परमार्थतः अनुत्पत्ति आदि यथावत् प्रदर्शित करते हैं। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं, जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव या अनुत्पन्न आदि प्रतिपादित करते हैं। उनमें से प्रथम प्रकार के सूत्र नीतार्थ हैं और द्वितीय प्रकार के सूत्र नेयार्थ हैं। वे (नेयार्थ सूत्र) यथाशब्द स्वीकार नहीं किये जा सकते; क्योंकि समस्त धर्म निःस्वभाव नहीं है। आर्यसन्धिनिर्मोचन इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन करता है, अतः वह नीतार्थसूत्र है। आर्यसन्धिनिर्मोचन का अभिप्राय वैसा नहीं है, जैसा विज्ञानवादी समझते हैं।

परिकल्पितलक्षण परमार्थनिःस्वभाव है, अतः वह लक्षणनिःस्वभाव है। परतन्त्रलक्षण परमार्थतः उत्पन्न नहीं है, अतः वह उत्पत्तिनिःस्वभाव है। परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थसत्य है और वह धर्मात्मता से रहिततामात्र है, अतः परमार्थनिःस्वभाव है। इस तरह हम देखते हैं कि आर्यसन्धिनिर्मोचन में वर्णित त्रिविध लक्षणों के अर्थ का स्पष्टीकरण करने में आचार्य शान्तरक्षित एवं भावविवेक आदि विज्ञानवादियों से सर्वथा भिन्न मत रखते हैं।

प्रासङ्गिक माध्यमिक एवं विज्ञानवादी

प्रासङ्गिक मतानुसार वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं स्वातन्त्रिक माध्यमिक सभी धर्मों की स्वभावतः सत्ता या स्वलक्षणतः सत्ता स्वीकार करते हैं।

यद्यपि सबके कहने में थोड़ा-थोड़ा फर्क है, तो भी सभी के मूल सिद्धान्त इसी पर आधृत हैं। स्वभावतः अस्तित्व एवं स्वलक्षणतः अस्तित्व पर्यायवाची हैं। लोक में द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि व्यवहार प्रचलित है, यथा—देवदत्त ने रूप देखा, शब्द सुना या कर्म किया। प्रश्न है कि वह देवदत्त नामक व्यक्ति कौन वस्तु है? क्या उसके स्कन्ध देवदत्त हैं या वह स्कन्धों से भिन्न कोई सत्तावान् पदार्थ है? इस प्रकार का अन्वेषण 'व्यवहृत अर्थ का अन्वेषण' या 'प्रज्ञप्त अर्थ का अन्वेषण' कहलाता है। इस प्रकार का अन्वेषण करने पर यदि स्कन्धों से भिन्न या स्कन्धों से अभिन्न कोई पक्ष उपलब्ध होता है, तो द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि का अस्तित्व माना जा सकता है। यदि कोई भी पक्ष उपलब्ध नहीं होता है तो उनका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृत एवं असंस्कृत सभी धर्म इसी प्रकार परीक्षणीय हैं। यह स्वभावतः अस्तित्ववादी या स्वलक्षणतः अस्तित्ववादियों का सिद्धान्त है।

कुछ वैभाषिक, जैसे वात्सीपुत्रीय आदि व्यक्ति को पञ्च स्कन्धों से भिन्नत्वेन एवं अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय मानते हैं, साथ ही उसे द्रव्यतः सत् भी स्वीकार करते हैं।[1] सौत्रान्तिक आदि मनोविज्ञान को व्यक्ति या पुद्गल मानते हैं। आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में आलयविज्ञान या विपाकविज्ञान पुद्गल माना जाता है। आचार्य भावविवेक आदि भी मनोविज्ञान को ही पुद्गल मानते हैं। तर्कज्वाला में उन्होंने स्पष्टतया लिखा है कि मनोविज्ञान ही व्यक्ति है; क्योंकि वही पुनर्भव या पुनर्जन्म ग्रहण करता है।

तैर्थिक (अबौद्ध) पंच स्कन्धों से भिन्न नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार आत्मा या तो ज्ञान का आश्रय है या स्वयं ज्ञानस्वरूप है। जब रूप आदि विषय दृष्टिगोचर होते हैं, उस समय चक्षुरिन्द्रियादि

---

१. द्र०—केचित्तु सौगतम्मन्या अप्यात्मानं प्रचक्षते।
पुद्गलव्यपदेशेन तत्त्वान्यत्वादिवर्जितम्॥—तत्त्व० (प्र० भा०), पृ० १५६।

तु०—न चैवमात्मा नित्यानित्यभूतः। तस्य हि स्कन्धेभ्यस्तत्त्वान्यत्वावक्तव्यतावत् नित्यत्वेनानित्यत्वेनाप्यवक्तव्यता व्यवस्थाप्यते—प्रसन्न, पृ० १२४।

उपकरणों द्वारा आत्मा ही द्रष्टा आदि होता है। मन, बुद्धि आदि से वह परे होता है तथा वह स्वतन्त्र एवं द्रव्यतः सत् होता है।[1]

आचार्य चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिकों का मत उपर्युक्त मतों से सर्वथा भिन्न है। वे व्यवहृत अर्थ का अन्वेषण करने पर उसकी कथमपि उपलब्धि नहीं मानते। लोक में जैसा व्यवहार होता है, वस्तुओं का उतना ही अस्तित्व होता है। अर्थात् वस्तुयें व्यवहारमात्र या प्रज्ञप्तिमात्र हैं। इस तथ्य को हम यों कह सकते हैं कि पदार्थों का अपनी ओर से किंचित् भी अस्तित्व नहीं होता। अर्थात् वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। समस्त धर्म परस्पराश्रित होते हैं। ऐसा होने पर भी प्रासङ्गिक उच्छेदवादी नहीं हैं। वे निःस्वभाव धर्मों का अस्तित्व मानते हैं और उसी के आधार पर संसार और निर्वाण की सभी व्यवस्था करते हैं[2]।

---

१. द्र०—अन्ये पुनरिहात्मानमिच्छादीनां समाश्रयम्।
स्वतोऽचिद्रूपमिच्छन्ति नित्यं सर्वगतं तथा॥

—तत्त्व० (नैयायिकवैशेषिकपरिकल्पितात्मपरीक्षा), पृ० १०१।

व्यावृत्त्यनुगमात्मानमात्मानमपरे पुनः।
चैतन्यरूपमिच्छन्ति चैतन्यं बुद्धिलक्षणम्॥

—तत्त्व० (मीमांसकपरिकल्पितात्मपरीक्षा), पृ० १२१

चैतन्यमन्ये मन्यन्ते भिन्नं बुद्धिस्वरूपतः।
आत्मनश्च निजं रूपं चैतन्यं कल्पयन्ति ते॥

—तत्त्व० (कापिलपरिकल्पितात्मपरीक्षा), पृ० १४२।

जैमिनीया इव प्राहुर्जैनाश्चिल्लक्षणं नरम्।
द्रव्यपर्यायरूपेण व्यावृत्त्यनुगमात्मकम्॥

—तत्त्व० (दिगम्बरपरिकल्पितात्मपरीक्षा) पृ० १५०।

नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्तेऽपरे पुनः॥

तत्त्व० (औपनिषदिकात्मपरीक्षा), पृ० १५६।

२. द्र०—अत्रैके परिचोदयन्ति—नास्तिकाविशिष्टा माध्यमिकाः······। नैवम्। कुतः? प्रतीत्यसमुत्पादवादिनो हि माध्यमिकाः, हेतुप्रत्ययान् प्राप्य प्रतीत्य समुत्पन्नत्वात् सर्वमेव इहलोकपरलोकं निःस्वभावं वर्णयन्ति। यथास्वरूपवादिनो नैव नास्तिकाः प्रतीत्यस-

यद्यपि प्रासङ्गिक माध्यमिक अन्वेषण करने पर व्यवहृत अर्थ की उपलब्धि नहीं मानते; तथापि लोक में वस्तु की जिस प्रकार की सत्ता मानी जाती है, संवृति के क्षेत्र में वे भी उसी प्रकार की सत्ता मान लेते हैं। लोक में किसी भी धर्म की सत्ता प्रमाणों द्वारा परीक्षण करके या अन्वेषण करके स्थापित नहीं की जाती; अपितु विना विचार किये, जैसे सभी लोग मानते हैं, उस प्रकार मान ली जाती है। शास्त्रों में इसी स्थिति को 'अविचारप्रसिद्ध' या 'अविचाररमणीय' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देवदत्त नहीं है या वह आता नहीं है या जाता नहीं है। अथवा वह अच्छा या बुरा नहीं है या इस प्रकार का विचार नहीं किया जा सकता। लोकव्यवहार में या संवृत्ति के क्षेत्र में यह सब कुछ हो सकता है। व्यावहारिक (सांवृतिक) विषयों के बारे में व्यावहारिक विचार होने में कोई आपत्ति नहीं है [1]।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रासङ्गिक माध्यमिक मत में समस्त धर्म निःस्वभाव या निःस्वलक्षण माने जाते हैं। योगाचार विज्ञानवादी इससे विपरीत समस्त धर्मों को सस्वभाव मानते हैं।

मुत्पन्नत्वाद् भावस्वभावशून्यत्वेन न परलोकाद्यभावं प्रतिपन्नाः, किं तर्हि ? ऐहलौकिकं वस्तुजातमुपलभ्य स्वभावतः तस्य परलोकादिहागमनम्, इहलोकाच्च परलोकगमनमपश्यन्तः, इहलोकोपलब्धपदार्थसदृशपदार्थान्तरापवादं कुर्वन्ति। तथापि वस्तुस्वरूपेण अविद्यमानस्य ते नास्तित्वं प्रतिपन्ना इत्यमुना तावद्दर्शनेन साम्यमस्तीति चेत् ? न हि। कुतः ? संवृत्या माध्यमिकैरस्तित्वेनाभ्युपगमान्न तुल्यता।—प्रसन्न०, पृ० १५७।

किं खल्वेष विषयपरिच्छेदः सर्वथा नास्ति ? न नास्तीति। निःस्वभावस्य भावस्य विद्यमानत्वात्।—चतुःशतकवृत्तिः, पृ० १९३।

१. लोको हि स्वतः परत इत्येवमादिकं विचारमनवतार्य कारणात् कार्यमुपद्यते इत्येतावन्मात्रप्रतिपन्नः। एवमाचार्योऽपि व्यवस्थापयामास !—प्रसन्न०, पृ० ९।

लौकिके व्यवहारे इत्थं विचाराप्रवृत्तेरविचारतश्च लौकिकपदार्थानामस्तित्वात्। यथैव हि रूपादिव्यतिरेकेण विचार्यमाण आत्मा न सम्भवति, अपि च लोकसंवृत्या स्कन्धानुपादाय अस्यास्तित्वम्, एवं राहुशिलापुत्रकयोरपीति नास्ति निदर्शनसिद्धिः। प्रसन्न०, पृ० २३।

द्विविध नैरात्म्य—योगाचार एवं स्वातन्त्रिक माध्यमिक मतों में पुद्‌गल-नैरात्म्य का स्वरूप पंचस्कन्धों से द्रव्यतः भिन्न नित्य, शाश्वत आत्मा से रहिततामात्र है। जिस प्रकार तैर्थिक आत्मावादी आत्मा मानते हैं, उसका अभाव ही 'पुद्‌गल-नैरात्म्य' है। प्रासङ्गिक माध्यमिक ऐसा नहीं मानते। उनके मत में यद्यपि उक्त प्रकार के नित्य, शाश्वत आत्मा का अस्तित्व मान्य नहीं है; तथापि उक्त प्रकार के पुद्‌गलनैरात्म्य के ज्ञान से सर्वविध आत्मदृष्टि का निरास नहीं होता। वह तो केवल परिकल्पित आत्मदृष्टि का ही प्रतिपक्ष है, जो (आत्मदृष्टि) केवल सिद्धान्तविशेष से प्रेरित लागों में ही होती है। सहज आत्मदृष्टि तो तदवस्थ ही रह जाती है।

मध्यमकावतार में चन्द्रकीर्ति ने स्पष्टतया लिखा है कि पुद्‌गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य नामक द्विविध नैरात्म्य की स्थापना पुद्‌गल और धर्म नामक धर्मियों के भेद से की गई है। धर्म अर्थात् शून्यता के स्वभाव में कोई भी फर्क नहीं होता। आशय यह है कि पुद्‌गल-निःस्वभावता पुद्‌गलनैरात्म्य है और धर्मनिःस्वभावता धर्ननैरात्म्य है। वैसे नैरात्म्य, शून्यता या निःस्वभावता तत्त्वतः एक और अभिन्न ही है। विज्ञानवादी बाह्यार्थ से शून्यता या निर्बाह्यार्थता को धर्म-नैरात्म्य मानते हैं तथा प्रासङ्गिक माध्यमिक धर्मों की निःस्वभावता को धर्मनैरात्म्य स्वीकार करते हैं।

हीनयान में भी धर्मनैरात्म्य का बोध—विज्ञानवादियों का कथन है कि पुद्‌गलनैरात्म्य का स्वरूप जैसा श्रावकयानीय आगम और शास्त्रों में प्रतिपादित है, ठीक वैसा ही है। महायान में उससे भिन्न या उससे अधिक कुछ भी नहीं है। धर्मनैरात्म्य का स्वरूप न तो हीनयानी आगम और शास्त्रों में वर्णित ही है और न तो हीनयानी लोग उसे जानते ही हैं।

प्रासङ्गिक माध्यमिक इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार हीनयान में भी धर्मनैरात्म्य वर्णित है और हीनयानी लोग भी उसे जानते हैं। आचार्य बुद्धपालित और चन्द्रकीर्ति आदि ने स्पष्टरूप से कहा है कि हीनयान में भी शून्यता प्रदर्शित की गई है। श्रावक-अर्हत्त्व और प्रत्येकबुद्ध-अर्हत्त्व की प्राप्ति के लिये भी शून्यता का ज्ञान परमापेक्षित है। क्योंकि स्वभावसद्-दृष्टि ही अविद्या है, जो संसार का मूल है। जब तक निःस्वभावता का बोध नहीं होगा, संसार से

मुक्ति असम्भव है। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध भी शून्यता के ज्ञाता होते हैं। तथापि उनमें और सम्यक् सम्बुद्ध में फर्क यह होता है कि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध की सन्तान में स्वभावसद्-दृष्टि की वासना अवशिष्ट रहती है, जबकि सम्यक् संबुद्ध उसका अशेष प्रहाण कर देता है। अतः श्रावक और प्रत्येकबुद्ध सम्यक् संबुद्ध नहीं हो पाते। इतना ही नहीं, पुण्यसम्भार में भी अन्तर होता है। बुद्धत्व पद की प्राप्ति में केवल शून्यता का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता, अपितु पुण्यसम्भार की भी अनिवार्यता होती है। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध अल्प ही पुण्यों का संचय करते हैं, जबकि बुद्ध तीन असंख्येय कल्पपर्यन्त पुण्यों का संचय करता है।

बाह्यार्थ—विज्ञानवादी निर्बाह्यार्थवादी हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिक यद्यपि समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं, तथापि वे निर्बाह्यार्थवादी नहीं हैं। उनके मत में घट, पट आदि समस्त धर्म यद्यपि निःस्वभाव हैं तथापि वे सर्वथा अलीक नहीं हैं, उनका अस्तित्व है। बाह्यार्थ भी निःस्वभाव हैं, फिर भी उनका अस्तित्व होता है। कहने का आशय यह कि इस मत में व्यवहार के क्षेत्र में बाह्यार्थ का अस्तित्व मान्य है। चन्द्रकीर्ति ने स्पष्ट कहा है कि—

षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः[1]॥

विज्ञानवादियों की इन युक्तियों के द्वारा यद्यपि निरवयव बाह्यार्थ का निषेध होता है; तथापि बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता। उनका कहना है कि विज्ञानवादियों के पास बाह्यार्थ का निषेध करने लिये उपयुक्त युक्तियों का अभाव है। इतना ही नहीं, निर्बाह्यार्थता के पक्ष में लोकप्रसिद्धि से विरोध नामक दोष भी है।

"चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्"[2] इस दशभूमिकसूत्र द्वारा बाह्यार्थ का निषेध नहीं होता, अपितु चित्त से अतिरिक्त ईश्वर आदि सृष्टिकर्ता का निषेध होता है। इस सूत्र का अर्थ आचार्य चन्द्रकीर्ति भी ठीक वैसा ही मानते हैं, जैसे आचार्य भावविवेक मानते हैं।

---

१. द्र०—विंशिका कारिका १२, पृ० ४८—४९।
२. द्र०—दशभूमिकसूत्र, पृ० ४९।

"दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्[1] ॥

इत्यादि लङ्कावतारसूत्र द्वारा यद्यपि बाह्यार्थ का निषेध किया गया है; तथापि यह सूत्र नेयार्थ है, नीतार्थ नहीं। प्रयोजनवश भगवान् ने ऐसा कहा है।

आलयविज्ञान—आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपनी मध्यमकावतारवृत्ति में कहा है कि विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान में और ईश्वरवादियों के ईश्वर में केवल इतना ही फर्क है कि विज्ञानवादी आलयविज्ञन को अनित्य मानते हैं और ईश्वरवादी अपने ईश्वर को नित्य मानते हैं। इस तरह आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार और उसकी स्ववृत्ति में आलयविज्ञान का जोरदार खण्डन किया है। उनके इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञानवादी मत में आलयविज्ञान अनित्य माना जाता है। अतः यह कहना या यह समझना कि विज्ञानवादी आलयविज्ञान को नित्य या शाश्वत मानते हैं, उचित एवं यथार्थ नहीं है।

स्वसंवेदन—ज्ञान निःस्वभाव होता है, अतः प्रासङ्गिक माध्यमिक मत में स्वसंवेदन नहीं माना जाता। ज्ञान का अस्तित्व ज्ञेय पर आश्रित है और ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञान पर आश्रित है। अतः ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये उसको जाननेवाले स्वसंवेदन की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि स्वसंवेदनवादियों के पास स्वसंवेदन को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त एवं पुष्ट युक्तियों का भी अभाव है।

विज्ञानवादी स्वसंवेदन को सिद्ध करने के लिये दीपक का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे अन्धकार में स्थित घट आदि वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिये दीपक का ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार दीपक को प्रकाशित करने के लिये प्रदीपान्तर (दूसरे दीपक) का ग्रहण नहीं किया जाता; अपितु घट आदि को प्रकाशित करते हुये दीपक स्वयं को भी प्रकाशित कर देता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञेय वस्तुओं को प्रकाशित करते हुये अपने-आप को भी

---

१. द्र०—लङ्कावतारसूत्र, पृ० १५४।

प्रकाशित कर देता है और इसे ही 'स्वसंवेदन' कहते हैं। दीपक की ही भांति वे अग्नि का दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं।

प्रासङ्गिक माध्यमिक कहते हैं कि स्वसंवेदन की सिद्धि के लिये दीपक या अग्नि का दृष्टान्त देना ही गलत है; क्योंकि दीपक या अग्नि अपने-आप को प्रकाशित ही नहीं करते। अतः यह विसदृश दृष्टान्त है। कहने का आशय यह है कि घट आदि वस्तुयें तो पहले अन्धकार में स्थित होती हैं, अतः उनका प्रदीप (दीपक) या अग्नि के द्वारा प्रकाशित किया जाना युक्त है; किन्तु उसी प्रकार अग्नि या दीपक पहले से अन्धकार में स्थित नहीं होते, जिससे कि उनका प्रकाशन हो सके। फलतः उपर्युक्त दृष्टान्तों से साध्यसिद्धि असम्भव है[1]। पुनश्च जिस प्रकार आपके अनुसार अग्नि अपने को और दूसरों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार वह दूसरों को और अपने को जला क्यों नहीं देती[2]। तथा इसी न्याय से अन्धकार को भी दूसरों को और अपने को ढंक देना चाहिये[3]। इस तरह हम देखते हैं कि प्रासङ्गिक माध्यमिक स्वसंवेदन का व्यावहारिक अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करना चाहते।

---

१. द्र०— विषमोपन्यासोऽयं न ह्यात्मानं प्रकाशयत्यग्निः।
न हि तस्यानुपलब्धिर्दृष्टा तमसीव कुम्भस्य॥

—विग्रहव्यावर्तनी का० ३५, पृ० २८६।

नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः॥

नैव प्रकाश्यते घटादिवन्नैव उद्योत्यते दीपः, यस्मान्न तमसावृतः, न अन्धकार-पिहितः। विद्यमानस्यावरणस्य अपनयनं प्रकाशनम्, ततो युक्तं घटादीनां प्रकाशनम्, तेषां प्राग् विद्यमानत्वात्। नैवं प्रदीपस्य, तस्य प्रागविद्यमानत्वात्। न च अविद्यमानस्य प्रकाशनं युक्तम्, असत्त्वात्। तस्मान्नैव प्रकाश्यते दीपः। इति विसदृशत्वान्न प्रदीप-दृष्टान्तात् साध्यसिद्धिः। —बोधिचर्यावतार, ९ : १८ पृ० १८९।

२. द्र०— यदि स्वात्मानमयं त्वद्वचनेन प्रकाशयत्यग्निः।
परमिव न त्वात्मानं परिधक्ष्यत्यपि हुताशः॥

—विग्रहव्यावर्तनी, का० ३६, पृ० २८७।

३. द्र०— यदि च स्वपरात्मानौ त्वद्वचनेन प्रकाशयत्यग्निः।
प्रच्छादयिष्यति तमः स्वपरात्मानौ हुताश इव॥

—विग्रहव्यावर्तनी, का० ३७, पृ० २८७।

त्रिविध लक्षण—आर्यसन्धिनिर्मोचन में त्रिविध लक्षणों का जैसा प्रतिपादन या व्याख्यान किया गया है, वह विज्ञानवादियों के अनुकूल हैं; किन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक उसे नहीं मानते; क्योंकि उनके मतानुसार वह सूत्र नेयार्थ है; न कि नीतार्थ। आर्यमैत्रेयनाथपरिपृच्छा में भी त्रिविध लक्षणों की स्थापना की गई है और वह यद्यपि आर्यसन्धिनिर्मोचन की स्थापना से बिलकुल भिन्न है; तथापि दोनों में भेद कर पाना, दुष्कर कार्य है। आचार्य चोंखापा ने इस विषय पर पर्याप्त विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रासङ्गिक मतानुसार रूप आदि समस्त धर्म परतन्त्रलक्षण हैं। रूप आदि धर्मों की स्वाभाविक सत्ता परिकल्पितलक्षण है तथा उनकी निःस्वभावता परिनिष्पन्नलक्षण है।

विंशिका और त्रिंशिका प्रकरणद्वय

प्रस्तुत विंशिका और त्रिंशिका नामक दोनों प्रकरण आचार्य वसुबन्धु की की रचनायें हैं। इनके द्वारा उन्होंने विज्ञप्तिमात्रता या निर्बाह्यार्थता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यद्यपि ये अतिलघुकाय ग्रन्थ हैं; तथापि इनकी विषय-प्रतिपादनशैली अत्यन्त पुष्ट एवं इनमें प्रयुक्त युक्तियाँ अत्यन्त दृढ़ हैं। बाद के विज्ञानवादी आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इन युक्तियों का भरपूर उपयोग किया है और विरोधियों ने भी इनका उद्धरण दे देकर खण्डन किया है। इसी से स्पष्ट है कि बौद्ध वाङ्मय में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। विज्ञानवादियों के द्वारा तो ये आकर ग्रन्थ ही माने जाते हैं।

नाम से ही स्पष्ट है कि विंशिका में २० कारिकायें तथा त्रिंशिका में ३० कारिकायें हैं। किन्तु इस समय उपलब्ध विंशिका में हमें २२ कारिकायें उपलब्ध होती हैं। इतना ही नहीं, तिब्बती भाषा में अनूदित विंशिका में भी २२ ही कारिकायें हैं। किन्तु तिब्बती में अनूदित स्ववृत्ति में २१ ही कारिकायें हैं। उपलब्ध २२ कारिकाओं में से—

विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥

यह पहली कारिका स्ववृत्ति में पद्यरूप में नहीं, अपितु गद्य में लिखी हुई है। देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों यह मूलकारिका न होकर स्ववृत्ति का

वाक्य है। ऐसा हो भी सकता है कि यह मूलरूप में कारिका न होकर स्ववृत्ति का अंश ही रहा हो और मूलग्रन्थ का प्रारम्भ—

यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च॥

इस कारिका से हुआ हो। फिर भी २१ कारिकाओं की समस्या रह जाती है। २० कारिकायें तो किसी तरह बनती नहीं। इस विषय में हमारी विचार यह है कि—

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः॥

यह अन्तिम कारिका ग्रन्थ का अंश न होकर उपसंहारमात्र है या यह केवल ग्रन्थसमाप्ति की सूचकमात्र है। इस तरह ग्रन्थ के मूलभाग में केवल २० कारिकायें ही रह जाती हैं। फलतः इसका 'विंशतिका' यह नाम सार्थक है। फिर भी इस विषय में विद्वानों को विचार करना चाहिये।

विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की विषयवस्तु

प्रथम कारिका ग्रन्थ का प्रतिज्ञावाक्य है। इसके द्वारा आचार्य वसुबन्धु ने यह प्रतिज्ञा की है कि समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं।[1] अर्थात् बाह्यार्थ नहीं हैं। विज्ञप्ति शब्द से चित्त और चैतसिक दोनों का ग्रहण करना चाहिये। चित्त और चैतसिक में प्रतिभासित धर्म द्रव्यतः उनसे भिन्न नहीं हैं। यद्यपि हमारे चित्त में वे धर्म बाह्यार्थतः आभासित होते हैं, तथापि यह आत्मदृष्टिवासना का फल है। यही स्थिति पुद्गल की भी है। इस तरह स्वतन्त्र पुद्गल और बाह्यार्थ विज्ञान में आरोपितमात्र हैं, परिकल्पितलक्षण हैं और उनकी बिलकुल भी सत्ता नहीं होती। अर्थात् वे सर्वथा अलीक हैं। किन्तु यही स्थिति घट, पट या नील, पीत आदि रूपों के बारे में नहीं कही जा सकती। वे तो ज्ञान के ग्राह्यांश हैं, वस्तुतः सत् हैं और परतन्त्रलक्षण हैं। परतन्त्रलक्षण धर्मी या आधार है,

---

१. विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्॥—द्र०—विंशतिका, का० १, पृ० १६।

परिकल्पितलक्षण उसमें आरोपितमात्र हैं। अर्थात् परिकल्पितलक्षण का वस्तुतः परतन्त्रलक्षण में सर्वथा अभाव है और यही (अभाव) परिनिष्पन्नलक्षण है। परिनिष्पन्नलक्षण ही आर्यों के समाहितज्ञान का विषय होता है और वही शून्यता, परमार्थसत्य या धर्मधातु है। बाह्यार्थवादियों द्वारा कल्पित बाह्यार्थ का निरास ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। आचार्य ने युक्तियों द्वारा उसी का निरास किया है। बाह्यार्थाभाव ही वस्तुतः विज्ञप्तिमात्रता है, जिसकी सिद्धि आचार्य ने बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से की है, इसीलिये ग्रन्थ का 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' यह नाम अन्वर्थक है। बीस कारिकाओं द्वारा यह कार्य किया गया है, अतः इसे 'विंशतिका विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि' कहते हैं।

द्वितीय कारिका में विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त में बाह्यार्थवादियों द्वारा दिये जाने वाले आक्षेपों का संग्रह प्रदर्शित किया गया है। बाह्यार्थवादियों का कहना है कि यदि विज्ञान का विषय बाह्यार्थतः सत् नहीं है, अर्थात् विज्ञान विना ही बाह्यार्थ के उत्पन्न हो जाया करता है तो क्यों वह किसी देशविशेष में ही उत्पन्न होता है, सर्वत्र क्यों उत्पन्न नहीं होता। किसी देश में भी कदाचित् अर्थात् कालविशेष में ही क्यों उत्पन्न होता हैं, सर्वदा क्यों उत्पन्न नहीं होता। उस देश और काल में रहनेवाले सभी लोगों की सन्तान में क्यों उत्पन्न होता है, किसी व्यक्तिविशेष की सन्तान में ही क्यों उत्पन्न नहीं होता तथा यदि उस विज्ञान के विषय बाह्यार्थतः सत् नहीं हैं तो उनसे अर्थक्रिया की निष्पत्ति क्यों होती है। मिथ्या या आरोपित अर्थों से तो अर्थक्रिया निष्पन्न होते नहीं देखी जाती,, जैसे—स्वप्न के भोजन से भूख नहीं मिटती। इस प्रकार उन्होंने विज्ञप्तिमात्रतावादियों पर चार आक्षेप दिये हैं, यथा—देशनियम का अभाव, कालनियम का अभाव, सन्तान के अनियम का अभाव तथा तथा अर्थक्रिया का अभाव[1]।

तीसरी से सातवीं कारिका तक आचार्य ने स्वप्न एवं नरक आदि का दृष्टान्त देकर उपर्युक्त आक्षेपों का सयुक्ति समुचित परिहार किया है। उनका कहना है कि स्वप्न में बिना ही बाह्यार्थं के देशनियम और कालनियम सिद्ध हैं,

---

१. यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च ॥—
विंशतिका, का० २, पृ० १७।

अतः देश और काल के नियम के लिये बाह्यार्थ मानना आवश्यक नहीं है। तुल्य कर्मविपाकवाले सभी प्रेत पूयपूर्ण नदी आदि पदार्थों को देखते हैं, अतः सन्तान के अनियम के लिये भी बाह्यार्थ मानना आवश्यक नहीं हैं। तथा स्वप्न में द्वयसमापत्ति के विना भी शुक्रविसर्गलक्षण अर्थक्रिया की निष्पत्ति हो जाती हैं, अतः अर्थक्रिया की निष्पत्ति के लिये भी बाह्यार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह नरक के दृष्टान्त द्वारा भी उन्होंने यह सिद्ध किया है कि बाह्यार्थ के बिना भी सारे नियम यथावत् निष्पन्न हो जाते हैं। विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्त के विरोध में बाह्यार्थवादियों के पास प्रौढ युक्तियों का अभाव है, अतः विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध है।

सूत्रविरोध का परिहार—बाह्यार्थवादियों का कहना है कि यदि बाह्यार्थ न माने जायँगे, तो सूत्रविरोध होगा; क्योंकि सूत्रों में भगवान् ने अनेकधा रूप आदि आयतनों के अस्तित्व का उपदेश किया है। विज्ञानवादियों का कथन है कि यह सही है कि भगवान् ने सूत्रों में रूप आदि आयतनों के अस्तित्व का कथन किया है; किन्तु उनका ऐसा कथन साभिप्राय है। किसी महान् प्रयोजन की सिद्धि के लिये उन्होंने ऐसा कहा है। ऐसे सूत्र नेयार्थ हैं, नीतार्थ नहीं। नेयार्थ सूत्र वे होते हैं, जिनका वही अर्थ नहीं होता, जो उन शब्दों से निकलता है; अपितु किसी प्रयोजन से वैसा कहा जाता है। बाह्यार्थ का प्रतिपादन करनेवाले सूत्र वैसे (साभिप्राय) ही हैं, अतः वे नेयार्थ हैं। अन्यथा अन्य सूत्रों में वे ऐसा नहीं कहते कि सत्त्व, आत्मा आदि पदार्थ वस्तुतः नहीं हैं, सभी धर्म सहेतुक हैं[1]—इत्यादि। बाह्यार्थ के निषेधपरक या विज्ञप्तिमात्रता के समर्थक सूत्रों की भी कभी नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता युक्ति और तर्क से सिद्ध है, भगवान् कभी भी युक्तिहीन बात नहीं कहते, अतः विज्ञप्तिमात्रता के प्रतिपादक सूत्र ही नीतार्थ हैं। विनेयजनों के अध्याशय और अनुशय के अनुसार भगवान् ने अनेक तरह के

---

१. आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति विपरीतेन कथ्यते।
नास्तीह सत्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः ॥—

क्षुद्रकागम, अभिधर्मकोशभाष्य में उद्धृत, पृ० ४६६।

उपदेश किये हैं,[1] अतः उनमें यह विवेक करना जरूरी है कि उनमें कौन सूत्र साभिप्राय या नेयार्थ हैं और कौन सूत्र नीतार्थ हैं।

बात असल में यह है कि बाह्यार्थवादियों की दृष्टि में रूप और बाह्यार्थ एक ही है। वे उन दोनों में फर्क नहीं करते। वे समझते हैं कि यदि रूप है तो उसे बाह्यार्थ भी अवश्य होना चाहिये। वे यह समझ नहीं पाते कि बाह्यार्थ न होने पर भी रूप का अस्तित्व हो सकता है। इसीलिये वे उक्त प्रकार से आगमविरोध दिखलाते हैं। विज्ञानवादी दोनों में फर्क करते हैं। उनका कहना है कि बाह्यार्थ न होने पर भी रूप आदि धर्मों का अस्तित्व हो सकता है। आठवीं से दसवीं कारिका तक आचार्य ने सूत्रविरोध का परिहार करते हुये बाह्यार्थप्रतिपादक सूत्रों का अभिप्राय स्पष्ट किया है।

परमाणु का निषेध—विज्ञानवादियों के मत में यद्यपि रूप आदि धर्मों का अस्तित्व मान्य है; तथापि वे (रूप आदि धर्म) विज्ञप्तिमात्र ही हैं। बाह्यार्थतः सत् नहीं हैं। उनका कहना है कि यदि बाह्यार्थ हैं तो या तो वे एक अवयवी के रूप में होंगे, जैसे कि वैशेषिक मानते हैं या अनेक परमाणु के रूप में हो सकते हैं या परमाणुसंघात के रूप में हो सकते हैं; किन्तु तीनों ही पक्ष युक्ति-संगत नहीं हैं। बाह्यार्थ एक अवयवी नहीं हो सकता; क्योंकि अवयवों से भिन्न एक अवयवी का ग्रहण कभी भी नहीं होता। उसकी सत्ता कल्पना द्वारा आरोपित मात्र है, वस्तुतः उसकी सत्ता बिलकुल नहीं है। अर्थात् वह एकदम अलीक है। बाह्यार्थ अनेक परमाणुरूप भी नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रियविज्ञानों द्वारा किसी परमाणु का ग्रहण नहीं होता। यदि बाह्यार्थ पृथक्-पृथक् अनेक परमाणुरूप होगा तो उसके अदर्शन का प्रसंग होगा। अनेक परमाणुओं का संघात या पुञ्ज भी बाह्यार्थ का स्वरूप नहीं है; क्योंकि परमाणु एक निरवयवद्रव्य

---

१. तु०—आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥

मध्यमकशास्त्र, १८ : ६, पृ० १५२।

सिद्ध नहीं है[1]। यदि मध्यस्थ परमाणु का छह दिशाओं से छह परमाणुओं से योग होता है, तो मध्यस्थ परमाणु की षडंशता सिद्ध होती है; क्योंकि जो एक परमाणु का देश है, वहाँ दूसरा परमाणु नहीं रह सकता। यदि जो एक परमाणु का देश है, वही अन्य परमाणुओं का भी देश है, तो समस्त पिण्ड अणुमात्र हो जायगा। स्थूलता सिद्ध न हो सकेगी[2]। इस तरह एक निरवयव परमाणु सिद्ध नहीं होता। यदि परमाणु है तो उसे सावयव ही होना पड़ेगा और जो सावयव है, वह कभी एक द्रव्य नहीं हो सकता[3]। इस तरह ११ से १५ वीं कारिका तक आचार्य ने अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों से परमाणु का खण्डन किया है।

प्रत्यक्षबुद्धि की बाह्यार्थग्राहकता का निषेध—सौत्रान्तिकों का कथन है कि प्रमाण के आधार पर हम किसी वस्तु के अस्तित्व या नास्तित्व का निश्चय करते हैं। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष ज्येष्ठ प्रमाण है। यदि रूप आदि बाह्यार्थ नहीं हैं तो प्रत्यक्ष के अनन्तर हम में ऐसी बुद्धि का उत्पाद कैसे होता है कि हमने रूप आदि का प्रत्यक्ष किया है ?

विज्ञानवादी कहते हैं कि बाह्यार्थ के बिना भी स्वप्न में प्रत्यक्षबुद्धि का उत्पाद होता है। अतः प्रत्यक्षबुद्धि होने से बाह्यार्थ सिद्ध नहीं होते। अपि च—जिस समय ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि हमने रूप आदि का प्रत्यक्ष किया है, उस समय वह अर्थ (विषय) सामने नहीं रहता, जिसका चक्षुर्विज्ञान ने ग्रहण किया है; क्योंकि यह मनोविज्ञान का काल होता है। चक्षुर्विज्ञान इस समय

---

१. न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥—विंशतिका,
का० ११, पृ० ४५।

२. षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥—विंशतिका,
का० १२, पृ० ४८-४९।

३. दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते।—विंशतिका,
का० १४, पृ० ५२।

निरुद्ध रहता है और मनोविज्ञान अर्थ का कथमपि परिच्छेद नहीं कर सकता। अतः प्रत्यक्षविषयक बुद्धि के उत्पाद से बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

यदि सौत्रान्तिक यह कहें कि अननुभूत का तो कभी स्मरण होता नहीं और हमें ऐसा स्मरण हो रहा है कि हमने रूप आदि का प्रत्यक्ष किया है, फलतः अर्थानुभव सिद्ध होता है? इस पर विज्ञानवादी कहते है कि बिना बाह्यार्थ के अर्थाकार विज्ञान उत्पन्न होते हैं—यह हमने भूरिशः सिद्ध किया है। अर्थाकार विज्ञान के अनन्तर स्मृति से सम्प्रयुक्त मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय ऐसी प्रतीति होती है कि हमने रूप आदि का प्रत्यक्ष किया है। अतः स्मृति के उत्पाद से अर्थानुभव सिद्ध नहीं होता।

सौत्रान्तिक यह कह सकते हैं कि जैसे स्वप्न में विना ही बाह्यार्थ के अर्थबुद्धि होती है, जाग्रत् अवस्था की अर्थबुद्धियाँ वैसी नहीं हैं। क्योंकि स्वप्न में दृष्ट अर्थों को सामान्य जन भी मिथ्या समझते हैं; किन्तु यही स्थिति जाग्रत् अवस्था में दृष्ट अर्थों के बारे में नहीं कही जा सकती। जाग्रत् अवस्था में दृष्ट अर्थों को सामान्य जन मिथ्या नहीं समझते। अतः जाग्रत्-अवस्था की बुद्धियों के विषय बाह्यार्थसत् सिद्ध होते हैं?

विज्ञानवादियों का कहना है कि वस्तु की स्थिति के विषय में स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में कोई अन्तर नहीं होता। जब तक स्वप्न टूटता नहीं, स्वप्न में दृष्ट अर्थों का मिथ्यात्व भी ज्ञात नहीं होता। जब पुरुष जागरित हो जाता है, तभी उनके मिथ्यात्व का बोध होता है। ठीक उसी प्रकार अविद्यावासनारूपी निद्रा से प्रसुप्त सामान्य पृथग्जन जब तक तत्प्रतिपक्षभूत निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान के लाभ से प्रबुद्ध नहीं हो जाते, तब तक बाह्यार्थाभाव को यथावत् नहीं जान पाते। अर्थात् जब तक पुद्‌गल आर्य नहीं हो जाता, तब तक रूप आदि अर्थों को मिथ्या नहीं समझ पाता। जब वह आर्य हो जाता है, तब वह बाह्यार्थों को असत् समझने लगता है और उसके बाद पृष्ठलब्ध शुद्ध लौकिक ज्ञान की अवस्था में उनके मिथ्यात्व का ठीक-ठीक अवबोध होता है।[1]

---

१. स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति।—द्र०—विंशतिका, का० १७, पृ० ६३।

पापमित्र और कल्याणमित्र के अभावप्रसंग का निषेध

सौत्रान्त्रिक कहते हैं कि यदि रूप, शब्द आदि बाह्यार्थ सर्वथा नहीं होते और केवल वासनाओं के परिणामस्वरूप जीवों में विज्ञप्तियों का उत्पाद होता है तो कल्याणमित्र के सम्पर्क से तदाश्रित जीवों में कुशल कर्म तथा पापमित्र के सम्पर्क से तदाश्रित जीवों में अकुशल कर्मों का उत्पाद नहीं हो सकेगा। इसी तरह सद्धर्म के श्रवण से कुशलकर्म और असद्धर्म के श्रवण से अकुशल कर्म न हो सकेंगे; क्योंकि कल्याणमित्र और पापमित्र का सम्पर्क तथा सद्धर्म और असद्धर्म की देशना आपके मत में असत् है। फलतः दुश्चरित और सुचरित आदि कुछ भी न हो सकेगा ?

विज्ञानवादी कहते हैं कि कायिक कुशल विज्ञप्ति या अकुशल विज्ञप्ति कल्याणमित्र और पापमित्र के इच्छाविशेष से उत्पन्न होती हैं, न कि बाह्य काय से। उसी प्रकार वाचिक कुशल या अकुशल विज्ञप्तियाँ भी वक्ता और श्रोता के इच्छाविशेष या मानसिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, न कि बाह्य शब्द आदि से। प्राणियों के समस्त व्यवहार अन्योन्यविज्ञप्ति के वश से निष्पन्न होते हैं।[1]

स्वप्नावस्था और जाग्रत्-अवस्था के शुभाशुभ कर्मों की समानफलता के प्रसंग का निषेध—सौत्रान्तिक आक्षेप देते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न में बिना बाह्यार्थ के विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्था में भी बिना बाह्यार्थ के ही विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, तो स्वप्नावस्था की दान, हत्या आदि चेतनाओं का और जाग्रत्-अवस्था की दान, हत्या आदि चेतनाओं का समान इष्ट या अनिष्ट फल क्यों नहीं होता। अर्थात् स्वप्न में किये हुये दान का और जाग्रत्-अवस्था में किये हुए दान का समान इष्ट फल होना चाहिये। इसी तरह स्वप्न में की गई हत्या का और जाग्रत्-अवस्था में की गई हत्या का भी समान ही अनिष्ट फल होना चाहिए। जब कि ऐसा होता नहीं, इसका कारण क्या है ? विज्ञानवादी इसका समाधान ऐसा कह कर करते हैं कि स्वप्न की विज्ञप्ति (चेतना)

---

१. अन्योऽन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।
द्र०—विंशतिका, का० १८, पृ० ६५।

मिद्ध (चैतसिक अजागरण) से अत्यन्त उपहत होती है तथा जागरित अवस्था की विज्ञप्ति वैसी नहीं होती, इसलिये उन दोनों का फल समान नहीं होता[१]।

मरण आदि की असम्भवता के प्रसंग का परिहार

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यदि समस्त जगत् विज्ञप्तिमात्र है, न किसी का बाह्य काय है और न वाक् तो कसाई आदि के द्वारा मेष (भेड़) आदि का मरण असम्भव हो जायगा; क्योंकि न तो मारनेवाले कसाई आदि के और न मरनेवाले मेष आदि के ही न तो काय ही हैं और न वाक्; ऐसी स्थिति में मरण कैसे हो सकेगा ? अर्थात् न हो सकेगा ?

विज्ञानवादियों का कहना है कि कसाई आदि के बाह्य काय और वाक् के होने, बाह्य अस्त्र-शस्त्रों के उठाने और उनसे प्रहार आदि करने से मेष आदि का मरण नहीं होता; अपितु मारनेवाले के विज्ञप्तिविशेष के आधिपत्य से उनकी मृत्यु होती है। लोक में भी व्यक्तिविशेष के मन:संकल्प से अन्य प्राणियों में स्मृति या संज्ञा का लोप हो जाना आदि देखा जाता है। पुराणों में भी इस प्रकार की अनेक कथायें हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ऋषियों के मानसिक कोप से या ऋद्धिबल से अमुक राजा का नाश हो गया या दण्डकारण्य साफ हो गया—इत्यादि। इससे यही सिद्ध होता है कि मरण की उपपत्ति के लिये काय, वाक् या अस्त्र-शस्त्र आदि आवश्यक नहीं हैं। ज्ञातव्य है कि कायिक, वाचिक और मानसिक पापों में मानसिक पाप गुरुतर माना जाता है। भगवान् ने भी त्रिविध पापों में मानसिक पाप को गुरुतर कहा है। यदि परविज्ञप्तिविशेष से अन्य जीवों का मरण न माना जायगा, तो मानसिक पाप गुरुतर कैसे सिद्ध हो सकेगा। अर्थात् सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः मरनेवाले के विज्ञप्तिविशेष से ही मरण होता है, यह सिद्ध होता है[२]।

---

१. मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्।
—विंशतिका, का० १८, पृ० ६७।

२. मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा।
स्मृतिलोपादिकाऽन्येषां पिशाचादिमनोवशात्॥
कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः।
मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति॥
—विंशतिका, का० १९–२०, पृ० ६९–७१।

परचित्तविदभिज्ञासम्बन्धी आक्षेप का परिहार

विज्ञानवादी ग्राह्यग्राहकभाव को कल्पित या मिथ्या मानते हैं। उनके मत में चित्त ग्राह्यग्राहकत्व से शून्य होता है। इस पर सौत्रान्तिक यह आक्षेप देते हैं कि परचित्तविदभिज्ञा (दूसरों के चित्त को जाननेवाला योगी का ज्ञान) परचित्त को जानती है या नहीं ? यदि नहीं जानती, तो वह परचित्तविद् कैसे कही जा सकती है ? यदि जानती है, तो उस अवस्था में परचित्त ग्राह्य होगा और अभिज्ञा ग्राहक होगी। परचित्त होने से वह अभिज्ञा से तो अवश्य भिन्न होगा। ग्राह्यग्राहक के भेदज्ञान को आप (विज्ञानवादी) लोग अयथार्थ मानते हैं। किन्तु योगी के उस ज्ञान को आप अयथार्थ कैसे कह सकते हैं ? फलतः विज्ञप्तिमात्रता का आपका सिद्धान्त टूट जाता है ?

विज्ञानवादियों का कहना है कि परचित्त को जाननेवाला योगी का ज्ञान (परचित्तविदभिज्ञा) अयथार्थ होता है। योगाभ्यास के बल से योगी परचित्त को जानते अवश्य हैं, किन्तु वे उसे यथार्थ नहीं जानते। स्वचित्त और परचित्त को निरभिलाप्यरूप में जानना ही यथार्थ जानना है, जैसा कि बुद्ध जानते हैं। योगी की परचित्तविदभिज्ञा में ग्राह्यग्राहकद्वय का आभास होता है, अतः उन (योगी) के प्रतिभास में एक विपरीत बोध होता है। भावना के बल से आगे उनका प्रतिभास क्रमशः शुद्ध होता जायगा, अन्त में बुद्धत्व की प्राप्ति हो जाने पर यथार्थज्ञान प्राप्त होगा[१]।

उपसंहार—विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त अगाध एवं विशाल है। उसके अनन्त प्रभेद हैं। उनका यथार्थ प्रतिपादन अत्यन्त कठिन है। आचार्य वसुबन्धु कहते हैं कि फिर भी मैंने यथाशक्ति प्रकाश डालने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि विज्ञप्तिमात्रता वस्तुतः बुद्धों की ही गोचर है। अर्थात् वे ही उसे

---

१. परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा।
स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः॥

विंशतिका, का० २१, पृ० ७२-७३।

यथार्थ जानते हैं। मेरे जैसे साधारण पृथग्जनों के लिये तो उसका सोच पाना य। समझ पाना भी कठिन है; क्योंकि वह तर्क की सर्वथा अगोचर है[१]।

त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि

प्रस्तुत विंशिका और त्रिंशिका नामक प्रकरणद्वय में से त्रिंशिका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। विंशिका का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बाह्यार्थ का निषेधमात्र है, जबकि त्रिंशिका द्वारा विज्ञानवाद का सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् इसके द्वारा विज्ञानवाद के अनुसार जगत् की व्याख्या, मोक्ष का स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति के उपाय प्रदर्शित किये गये हैं। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य नैरात्म्य (पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य) की स्थापना है; क्योंकि वह आत्मदृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि और धर्मात्मदृष्टि) का प्रतिपक्ष है। अर्थात् नैरात्म्यावबोध से आत्मदृष्टि का प्रहाण होता है। आत्मदृष्टि का प्रहाण इसलिये आवश्यक है; क्योंकि वह मोक्ष और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में प्रतिबन्धभूत है। सत्कायदृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि) समस्त क्लेशों का मूल है और वही मुख्यत: क्लेशावरण है। धर्मात्मदृष्टि समस्त ज्ञेयों के यथार्थ ज्ञान में बाधक है और वही अक्लिष्ट अविद्या और ज्ञेयावरण है। नैरात्म्य के सम्यग् अवबोध से उक्त दृष्टियों का प्रहाण होता है तथा मोक्ष और सर्वज्ञत्व का लाभ होता है। अत: ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य नैरात्म्यावबोध ही है।

प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मध्यममार्ग का उपदेश किया है। यही कारण है कि समस्त बौद्ध सिद्धान्तवादी अपने को मध्यममार्गी सिद्ध करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से शाश्वत-अन्त और उच्छेद-अन्त इन दो अन्तों या एकान्तवादों का निषेध करके अपने सिद्धान्त की मध्यस्थिति सिद्ध करना ही, मध्यममार्ग की स्थापना है। यद्यपि शाश्वत-अन्त और उच्छेद-अन्त का अभिप्राय सभी बौद्ध सिद्धान्तों में समान नहीं है, तथापि सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से उनका निरास किया है। विज्ञानवाद की दृष्टि से विज्ञान की भाँति बाह्यार्थ की भी द्रव्यत: सत्ता स्वीकार करना, जैसा कि सौत्रान्तिक आदि बाह्यार्थवादी स्वीकार करते हैं, 'शाश्वत-अन्त'

---

२. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि: स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचर: ॥

विंशतिका, कारिका २२, पृ० ७६।

है। तथा बाह्यार्थ की भाँति विज्ञान की भी स्वभावसत्ता स्वीकार न करना, जैसा कि माध्यमिक स्वीकार करते हैं, 'उच्छेद-अन्त' है। इन दोनों अन्तों का परिहार करके विज्ञानवाद की स्थिति को मध्य में सिद्ध करना भी इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

संवृतिसत्य और परमार्थसत्य ये दो सत्य होते हैं। यद्यपि सभी बौद्ध सिद्धान्तवादी सत्यद्वय की स्थापना करते हैं; तथापि महायानी सिद्धान्तवादियों के साहित्य में इस विषय का गम्भीर और विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। समस्त ज्ञेय धर्मों का इन दोनों सत्यों में विभाजन करके इनके यथार्थ स्वरूप का इन लोगों ने मार्मिक विवेचन किया है। यह कहा जा सकता है कि इनकी सारी चिन्तनप्रक्रिया की रीढ़ ये दो सत्य ही हैं। आचार्य वसुबन्धु ने भी इन ग्रन्थों में विज्ञानवाद के अनुसार दो सत्यों की स्थापना की है। माध्यमिकों के मत में जैसे सभी धर्मों की परमार्थनिःस्वभावता परमार्थसत्य होती है और इसीलिये समस्त धर्म प्रतीत्य-समुत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार विज्ञानवाद में सभी धर्मों की बाह्यार्थशून्यता परमार्थसत्य होती है और इसीलिए समस्तधर्म विज्ञप्तिमात्र होते हैं। विज्ञप्तिमात्र सभी धर्मों का अस्तित्व होता है, इस रूप में जीव, जन्तु, रूप, शब्द, इहलोक, परलोक, आदि सभी होते हैं। अर्थात् आलयविज्ञान या चित्त के परिणाम के रूप में इनका अस्तित्व होता है। किन्तु ये सब धर्म जैसे पृथग्जनों को दिखलाई पड़ते हैं, वैसे नहीं होते। पृथग्जन उन्हें बाह्यार्थ के रूप में देखते हैं और उनका वैसा देखना कल्पनावश है। इस तरह हम देखते हैं कि विविध प्रकार के आत्मा के स्वरूप एवं स्कन्ध, आयतन, धातु आदि बाह्य अर्थ विज्ञानपरिणाम में आरोपितमात्र या उपचरितमात्र हैं।

'परिणाम' शब्द का अर्थ भी सांख्यों में प्रचलित परिणाम शब्द के अर्थ की भाँति नहीं है, जिनके अनुसार कारण विना नष्ट हुये कार्य के रूप में परिणत हो जाता है; अपितु यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद के अर्थ में परिणाम शब्द का प्रयोग हुआ है [1]। अर्थात् कारणक्षण के निरोध के काल में कारण से सर्वथा भिन्न कार्य का

---

१. प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर्विज्ञानस्य परिणामशब्देन ज्ञापितम्—त्रिंशिकाभाष्य, पृ० १०४।

आत्मलाभ (उत्पाद) परिणाम है। इसे ही 'अन्यथात्व' कहते हैं, जो परिणाम शब्द का पर्यायवाची है[1]।

बाह्यार्थवादियों का कहना है कि उपचार के लिये भी आत्मा और बाह्यार्थ का होना जरूरी है : क्योंकि उपचार तभी होता हैं, जब ये तीन चीजें विद्यमान हों, यथा—मुख्य पदार्थ, तत्सदृश अन्य धर्म और दोनों में रहनेवाला साधारण धर्म अर्थात् सादृश्य। इनमें से एक के भी न रहने पर उपचार नहीं हो सकता। जैसे—'यह ब्राह्मणकुमार अग्नि है' यहाँ अग्नि मुख्य पदार्थ है, ब्राह्मणकुमार तत्सदृश अन्य धर्म है तथा उन दोनों में रहने वाले तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण साधारण धर्म हैं। इन तीनों के रहने से ही ब्राह्मणकुमार में अग्नि का उपचार हो पाता है। उसी प्रकार जब विज्ञान-परिणाम में आपके (विज्ञानवादियों के) अनुसार आत्मा और बाह्यार्थों का उपचार होता है, तो आत्मा और बाह्यार्थ मुख्य पदार्थ होते हैं। अतः उनका अस्तित्व होना जरूरी है; अन्यथा उपचार न हो सकेगा।

विज्ञानवादियों का कहना है कि उपचार के अवसर पर मुख्य पदार्थ होता ही नहीं। मुख्य पदार्थ का तात्पर्य वस्तुसत् धर्म से है। शब्द और कल्पना ही उपचार करनेवाले होते हैं तथा वे द्रव्यसत् धर्म का स्पर्श ही नहीं करते। वस्तु या द्रव्य का स्वरूप समस्त शब्द और कल्पनाओं के विषय से अतीत होता है। यदि शब्द और कल्पना वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार करते, तो वस्तु का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा ही उन्हें ग्रहण करना चाहिये। उदाहरणार्थ घट में उसकी अनित्यता, कृतकता, अर्थक्रियासमर्थता आदि अनेक धर्म विद्यमान होते हैं, शब्द और कल्पना को उन सबका ग्रहण करना चाहिए। किन्तु शब्द और कल्पना जब घट में प्रवृत्त होते हैं, तो अन्य धर्मों को हटाकर इनमें से किसी एक का ही ग्रहण करते हैं और उस एक का भी यथावत् ग्रहण नहीं करते, अपितु स्वलक्षण और सामान्यलक्षण का एक मिला-जुला रूप ग्रहण करते हैं। अर्थात् सामान्यलक्षण को स्वलक्षण समझ कर ग्रहण करते हैं। वस्तुतः शब्द और कल्पना वस्तु में अविद्यमान गुणों को अपनी ओर से आरोपित करके ग्रहण करते हैं और जो जहाँ नहीं है, उसका ग्रहण ही 'उपचार' कहलाता है। फलतः पूर्वपक्षी का यह कहना अयुक्त है कि मुख्य धर्म के न होने पर उपचार हो नहीं सकता।

---

१. कोऽयं परिणामो नाम ? अन्यथात्वम्। कारणक्षणनिरोध-समकालः कारणक्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मलाभः परिणाम।—त्रिंशिकाभाष्य पृ० १७।

वस्तुतः यहाँ जो मुख्य पदार्थ का निराकरण किया गया है, वह वस्तुसत् पदार्थ का कल्पनाबुद्धि के साक्षात्-विषय होने का निराकरण किया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि तैर्थिक (अबौद्ध) लोग शब्द और कल्पना को अपोहविषयक नहीं मानते, अपितु वे उन्हें वस्तुविषयक मानते हैं। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि शब्द और कल्पना द्वारा जब किसी द्रव्य का ग्रहण होता है तो उसके गुण, समवाय, जाति आदि का भी साथ ही ग्रहण हो जाता है। इसलिये वे समझते हैं कि जब किसी का किसी में उपचार किया जाता है, तो शब्द और कल्पना के उस विषय को द्रव्यसत् अवश्य होना चाहिये। इसीलिये वे लोग कहते हैं कि उपचार के लिये तीन चीजों की आवश्यकता है। इसका एकमात्र कारण शब्द और कल्पना को वस्तुविषयक मानना है।

जिस विज्ञानपरिणाम में विविध प्रकार के आत्मा और बाह्यार्थों का उपचार होता है, वह विज्ञानपरिणाम तीन प्रकार का होता है, यथा—आलयविज्ञान, क्लिष्टमनोविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान।

आलयविज्ञान—समस्त सांक्लेशिक और वैयवदानिक धर्मों की वासनाओं या बीजों का आश्रय होने से यह 'सर्वबीजक' या 'आधारविज्ञान' कहलाता है। समस्त धर्म इसमें कार्यत्वेन उपनिबद्ध होते हैं या यह स्वयं सर्व धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होता है, इसलिये यह 'आलय' कहलाता है। जानता है, इसलिये 'विज्ञान' है[१]। समस्त धातु[२], गति[३], योनि[४] एवं जातियों[५] में यह कुशल, अकुशल

---

१. तत्र सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः।...अथ वालीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन; तद्वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः। विजानातीति विज्ञानम्। सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाकः। सर्वधर्मबीजाश्रयत्वात् सर्वबीजकम्। त्रि० ३९–४०, पृ० १३६–१३७।

२. कामधातु, रूपधातु, और अरूपधातु - ये तीन धातुयें हैं।

३. देव, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं नारक, ये छह गतियाँ हैं। असुर को छोड़कर पाँच गतियाँ भी मानी जाती हैं—

नरकप्रेततिर्यञ्चो मनुष्याः षड् दिवौकसः। —अभि० को ३:१, पृ० १११।

४. जरायुज, अण्डज, संस्वेदज एवं औपपादुक – ये चार योनियाँ हैं।

५. क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र – ये चार जातियाँ हैं।

कर्मों के विपाक के रूप में उत्पन्न होता है, इसलिये यह 'विपाकविज्ञान' कहलाता है।

समस्त भाजनलोक, सत्त्वलोक और वासनायें आलयविज्ञान की आलम्बन है। यद्यपि ये आलम्बन आलयविज्ञान में प्रतिभासित होते हैं; तथापि वह इनका स्पष्टतया परिच्छेद नहीं कर पाता, इसलिये वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार कहलाता है। आलयविज्ञान अनिवृताव्याकृत होता है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों में उसका ग्रहण नहीं होता, इसलिये वह 'अनिवृत' है तथा कुशल और अकुशल दोनों में गृहीत नहीं होने से वह 'अव्याकृत' कहलाता है। स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना—ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक उससे सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं[1]।

आलयविज्ञान यावत्संसार अर्थात् जब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती, तब तक अविच्छिन्नरूप से प्रवृत्त होता रहता है। साधारणतया अर्हद्-अवस्था में या अष्टमभूमिप्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्त्व की अवस्था में उसकी निवृत्ति हो जाया करती है[2]। पुद्गल जब किसी जन्म में अर्हत् हो जाता है, तो उसके आलयविज्ञान की यद्यपि निवृत्ति हो जाती है; तथापि उसके विपाकविज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, अपितु जब तक वह जीवित रहता है, तब तक उस जन्म का विपाकविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है। जब वह निरुपधिशेषनिर्वाण प्राप्त करता है, तो उसके विपाकविज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इसी तरह अष्टमभूमिप्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्त्व के आलयविज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु विपाकविज्ञान प्रवृत्त होते रहता है। वज्रोपमसमाधि तक यही स्थिति रहती है। दशमभूमि की वज्रोपमसमाधि के

---

१. असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्॥
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत्।
तथा स्पर्शादयः

—द्र०—त्रि० का० ३, ४ पृ० १४३, १४६, १५७, १५६।

२. तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्॥
तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे
द्र०—त्रि० का० ४, ५ पृ० १६१, १६३।

अनन्तर विपाकविज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। इन अवस्थाओं को छोड़कर अवशिष्ट सभी अवस्थाओं में आलयविज्ञान की धारा शुभ, अशुभ कर्मों की वजह से एक जन्म से दूसरे जन्म में बिना रुके लगातार चलती रहती है।

क्लिष्ट मनोविज्ञान—क्लिष्ट मनोविज्ञान मननात्मक है। आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आश्रय भी है और आलम्बन भी है। आलयविज्ञान आश्रय इसलिये कहा गया है; क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान की उत्पादक वासना आलयविज्ञान में ही स्थित होती है। परिपाक होने पर उसी से क्लिष्ट मनोविज्ञान का उत्पाद होता है। आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन भी है; क्योंकि सत्कायदृष्टि आदि से सम्प्रयुक्त होने के कारण आलयविज्ञान का ही वह आत्मत्वेन ग्रहण करता है। आलयविज्ञान को आलम्बन बनाकर आत्मा का अभिनिवेश करना क्लिष्ट मनोविज्ञान का आकार है। यहाँ आलम्बन का तात्पर्य आधार से है, क्योंकि आलयविज्ञान उसमें प्रतिभासित नहीं होता। क्लिष्ट मनोविज्ञान को 'मनस्, भी कहते हैं। इसके द्वारा उसका प्रवृत्तिविज्ञानों से व्यवच्छेद किया जाता है[1]।

क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृताव्याकृत होता है। वह 'निवृत्त' इसलिये होता है; क्योंकि वह आत्मदृष्टि आदि क्लेशों से मलिन या दूषित होता है। यह अव्याकृत इसलिये होता है; क्योंकि इसका कुशल या अकुशल में विभाजन नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह कुशल, अकुशल सभी चित्तों के साथ सदा प्रवृत्त होता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ स्पर्श मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना इन पाँच सर्वत्रग चैतसिकों के अतिरिक्त आत्मदृष्टि, अविद्या (मोह), मान और राग ये चार क्लेश चैतसिक भी सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं[2]।

---

१. तदाश्रित्य प्रवर्तते।
तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्॥
—त्रिं० का० ५, पृ० १६७।

२. क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।
आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः॥
—त्रिं० का० ६, पृ० १७०, १७२।

क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक अस्थायी निवृत्ति और दूसरी स्थायी निवृत्ति। आर्यों की समाहित अवस्था में तथा निरोधसमापत्ति की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृत्त हो जाया करता है; किन्तु इन अवस्थाओं से व्युत्थित होने पर वह पुनः प्रवृत्त होने लगता है। अतः इन दो अवस्थाओं में उसकी अस्थायी निवृत्ति होती है। अर्हत्त्व की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान की स्थायी या आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इसी तरह अष्टमभूमिस्थ वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व की अवस्था से लेकर बुद्धावस्थापर्यन्त क्लिष्ट मनोविज्ञान बिलकुल प्रवृत्त नहीं होता। अतः इन दो अवस्थाओं में उसकी स्थायी निवृत्ति हो जाती है[१]।

प्रवृत्तिविज्ञान—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म नामक छह विषयों को आलम्बन बनानेवाले चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान नामक छह विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहलाते हैं। छह प्रवृत्तिविज्ञान और उनके रूप आदि छह विषय तृतीय विज्ञानपरिणाम के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। प्रवृत्तिविज्ञान कुशल, अकुशल, एवं अव्याकृत तीनों होते हैं। वे जब अलोभ आदि कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब कुशल; जब लोभ आदि अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब अकुशल तथा जब न कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं और न अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, अपितु अन्यविध चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब वे अव्याकृत कहलाते हैं। सुख, दुःख और उपेक्षा तीनों वेदनायें इनसे सम्प्रयुक्त होती हैं तथा ५ सर्वत्रग, ५ विनियत, ११ कुशल, ६ क्लेश, २० उपक्लेश एवं ४ अनियत–इस प्रकार कुल ५१ चैतसिक इनसे सम्प्रयुक्त होते हैं[२]।

स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना–ये पाँच चैतसिक 'सर्वत्रग' कहलाते हैं; क्योंकि ये चक्षुर्विज्ञान से लेकर आलयविज्ञानपर्यन्त सभी चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं।

---

१. अर्हतो न तत्।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च॥
—त्रिं० का० ५, पृ० १७७।

२. तृतीयः षड्विधस्य या।
विषयस्योपलब्धिः सा, कुशलाकुशलाद्वया॥
सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसौ।
सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना॥
—द्र०—त्रिं० का० ८, ९ पृ० १८१–१८३।

छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा-ये पांच चैतसिक 'विनियत' कहलाते हैं; क्योंकि ये अपने विषय के किसी विशेष का ग्रहण करते हुए उसका निश्चय करते हैं। ये अपने विषय के सभी प्रकारों का निश्चय नहीं कर पाते; अपितु किसी विशेष धर्म का ही निश्चय करते हैं।

श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा और अहिंसा—ये ११ चैतसिक कुशल कहलाते हैं।

राग, प्रतिध, मोह, मान, दृष्टि एवं विचिकित्सा-ये छह चैतसिक मूल क्लेश कहलाते हैं।

क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, अह्री, अत्रपा, स्त्यान, उद्धव, आश्रद्धय, कौसीद्य, प्रमाद, मुषितास्मृति, विक्षेप एवं असम्प्रजन्य—ये बीस चैतसिक 'उपक्लेश' कहलाते हैं। ये उपक्लेश स्वतन्त्ररूप से क्लेश नहीं होते; अपितु तत्तत् मूल क्लेशों की विशेष अवस्थाओं में प्रज्ञप्त होते हैं।

कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं विचार ये चार चैतसिक अनियत या अन्यथाप्रवृत्त कहलाते हैं; क्योंकि इनका अपना कोई नियत स्वभाव नहीं होता। जब ये क्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब क्लिष्ट तथा जब अक्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब अक्लिष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार कुशल चित्तों के साथ कुशल, अकुशल चित्तों के साथ अकुशल तथा अव्याकृत चित्तों के साथ अव्याकृत हो जाते हैं।

इस तरह कुल ५१ चैतसिक होते हैं, जो विविध चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। ग्रन्थ में यथास्थान उनके स्वरूप का निर्देश किया गया है।

प्रवृत्तिविज्ञानों की उत्पत्ति—प्रश्न यह है कि रूप आदि पाँचों आलम्बनों के सम्मुख उपस्थित होने पर आलयविज्ञान से एक ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है या युगपद् अनेक विज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं ?

इस प्रकार का प्रश्न इसलिये उपस्थित होता है; क्योंकि सौत्रान्तिक एक काल में एक से अधिक विज्ञानों की स्थिति नहीं मानते। ज्ञातव्य है कि विज्ञान की उत्पत्ति में चार प्रत्यय (कारण) होते हैं, यथा—आलम्बनप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय एवं कारणप्रत्यय। उदाहरणार्थ घटविषयक चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में घट

आलम्बनप्रत्यय है, चक्षुरिन्द्रिय अधिपतिप्रत्यय है, चक्षुर्विज्ञान से पूर्ववर्ती मनस्कार समनन्तरप्रत्यय है तथा इन कारणों से अतिरिक्त आलोक आदि कारण कारणप्रत्यय हैं। यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विवाद का विषय समनन्तरप्रत्यय है। सौत्रान्तिकों का कहना है कि सारे आलम्बनों के एक-साथ उपस्थित होने पर भी यदि समनन्तर-प्रत्यय न हो तो किसी भी विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। साथ ही दो मनस्कार भी एक-साथ नहीं हो सकते। फलतः विज्ञानों की उत्पत्ति मनस्कारों के अनुसार क्रमशः ही होती है, युगपद् नहीं। इसीलिये उक्त प्रकार के प्रश्न का अवसर उपस्थित होता है।

विज्ञानवादियों का कहना है कि आलम्बनों के उपस्थित होने पर एक से अधिक विज्ञान भी, यहाँ तक कि समस्त प्रवृत्तिविज्ञान एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं। समुद्र की उपमा देकर वे कहते हैं कि जैसे एक तरंग की उत्पत्ति का प्रत्यय होने पर समुद्र से एक तरंग उत्पन्न होती है, दो, तीन या अधिक तरंगों की उत्पत्ति के कारण उपस्थित होने पर दो, तीन या इससे अधिक तरंगे एक साथ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार एक आलम्बन के उपस्थित होने पर आलयविज्ञान से एक विज्ञान का उत्पाद होता है। दो, तीन या अधिक आलम्बनों के उपस्थित होने पर आलयविज्ञान से दो, तीन या इससे अधिक विज्ञान भी एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं[1]।

उनका कहना है कि विज्ञानों की उत्पत्ति में जैसे आलम्बन का नियम निश्चित है, उस प्रकार समनन्तर प्रत्यय का नियम नियत नहीं है। कहने का आशय यह है कि प्रत्येक विज्ञान का आलम्बनप्रत्यय नियत होता है, किन्तु जिस प्रकार का प्रतिनियम आलम्बनप्रत्ययों में विद्यमान है, वैसा समनन्तर प्रत्ययों में नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्रत्येक विज्ञान का समनन्तर प्रत्यय नियत हो और जिस विज्ञान का वह समनन्तरप्रत्यय है, उससे अतिरिक्त विज्ञानों का वह समनन्तर प्रत्यय न होता हो। अपितु पाँचों इन्द्रियविज्ञानों का एक ही समनन्तरप्रत्यय हो सकता है, जिस प्रकार एक ही यव बीज से सैंकड़ों यव (जौ) उत्पन्न हो जाते हैं। किसी भी विज्ञान का पूर्ववर्ती विज्ञान उसका समनन्तरप्रत्यय होता है।

---

१. पंचानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।
विज्ञानानां सह न वा तरंगाणां यथा जले ॥—

त्रि० का० १५, पृ० २४६।

यदि ऐसा न माना जायगा अर्थात् जैसे आप कहते हैं, वैसे माना जायगा तो छहों आलम्बनों के एक-साथ उपस्थित होने पर और सबके प्रति समान मनस्कार होने पर एक भी विज्ञान की उत्पत्ति न हो सकेगी; क्योंकि आपके मतानुसार एक से अधिक विज्ञान एक काल में नहीं हो सकते तथा आलम्बनप्रत्यय और समनन्तर प्रत्यय समानरूप से विद्यमान हैं। यदि आप कहें कि अनेक आलम्बन तो एक साथ उपस्थित हो सकते हैं; किन्तु अनेक मनस्कार एक-साथ नहीं हो सकते, तो भी आप उपर्युक्त दोष से मुक्त न हो सकेंगे; क्योंकि मान लीजिये आपके सम्मुख पाँच या छह आलम्बन एकसाथ उपस्थित हैं और आपकी सन्तति में किसी के भी प्रति मनस्कार नहीं हैं तो कोई भी विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा। साथ ही इसका प्रत्यक्ष से विरोध भी होगा। कहीं ऐसा भी होता है कि कोई सुनना न चाहे, फिर भी उसके सम्मुख यदि जोर-जोर से बाजे बजायें जायँ, तो उसमें श्रोत्र विज्ञान का उत्पाद न हो। फलतः समनन्तरप्रत्यय के बारे में सौत्रान्तिकों के विचार सर्वथा अयुक्तिसंगत हैं। आलयविज्ञान में समस्त विज्ञानों के समनन्तर प्रत्यय नियमितरूप से सर्वदा विद्यमान होते हैं, जो आलम्बनों के सम्मुख आते ही विज्ञानों का उत्पाद करते हैं। ऐसा न मानने पर सौत्रान्तिक को यह युक्ति दिखलानी होगी कि क्यों पाँचों आलम्बनों के उपस्थित होने पर भी एक ही विज्ञान का उत्पाद होता है, पाँचों विज्ञानों का नहीं। वस्तुतः इस दिशा में उनके पास कोई युक्ति नहीं है, अतः उन्हें या तो पाँचों विज्ञानों की एक-साथ उपस्थिति मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा या एक भी विज्ञान का उत्पाद न हो सकेगा।

प्रश्न है प्रवृत्तविज्ञानों में से छठवाँ मनोविज्ञान पाँच चक्षुरादिविज्ञानों के साथ ही प्रवृत्त होता है, या उनके विना भी प्रवृत्त होता है अथवा कोई तीसरा पक्ष है ?

मनोविज्ञान की प्रवृत्ति आसंज्ञिक आदि पाँच अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर सर्वदा होती रहती है। फलतः वह चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रिय विज्ञानों के साथ भी प्रवृत्त हो सकता है और उनके विना भी प्रवृत्त हो सकता है। पाँच अचित्तक अवस्थायें ये हैं—

१. आसंज्ञिक देवों की अवस्था, २. आसंज्ञिक समापत्ति की अवस्था, ३. निरोध समापत्ति की अवस्था, ४. मिद्ध की अवस्था एवं ५. मूर्च्छा की अवस्था[१]।

१. आसंज्ञिक अवस्था—कुछ पृथग्जन असंज्ञि-समापत्ति का लाभ करते हैं। फलस्वरूप असंज्ञी देवों में उत्पन्न होते हैं। ये चतुर्थ ध्यानभूमि के देवों में परिगणित होते हैं। असंज्ञी सत्त्वों की सन्तति में आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई चित्त-चैतसिक विद्यमान नहीं होते। उन चित्त-चैतसिक धर्मों का निरोध 'आसंज्ञिक' कहलाता है। ये जब वहाँ से च्युत होने लगते हैं, तब उनमें च्युतिचित्त उत्पन्न होता है और च्युत होकर वे अवश्य कामभूमि में उत्पन्न होते हैं।

२. असंज्ञिसमापत्ति—असंज्ञी सत्त्वों की वह समापत्ति, जिसमें चित्त-चैतसिकों का निरोध हो जाता है, 'असंज्ञिसमापत्ति' कहलाती है। चतुर्थध्यानलाभी पृथग्जनों में कभी ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि समस्त चित्त, चैतसिक या संज्ञा बन्धन हैं और उनका निरोध ही वास्तविक मुक्ति है। फलतः इस मिथ्या धारणा-वश वे असंज्ञिसमापत्ति का लाभ करते हैं। यह एक जडवत् स्थिति होती है। इसमें आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान से अतिरिक्त अन्य समस्त चित्त चैतसिक निरुद्ध रहते हैं। इस समापत्ति को प्राप्त पुद्गल च्युति (मरने) के अनन्तर असंज्ञी देवों में उत्पन्न होता है। आर्य लोग इसे भयङ्कर पतन का स्थान मानते हैं। वे इसे प्राप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं करते।

३. निरोधसमापत्ति—नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (भवाग्र) ध्यान का लाभी आर्य शान्तविहार (दृष्टधर्मनिर्वाणसुख) की इच्छा से इस समापत्ति में आस्थित होता है। इस अवस्था में आलयविज्ञान से अतिरिक्त कोई भी चित्त विद्यमान नहीं होता। अन्य समस्त चित्त-चैतसिकों का निरोध ही 'निरोधसमापत्ति' कहलाता है।

---

१. मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात्॥—

—त्रिं० का० १६, पृ० ३५३।

४. मिद्ध-अवस्था—यह एक प्रकार से गहरी नींद की अवस्था है, जिसमें कोई भी प्रवृत्तिविज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। केवल आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान मात्र विद्यमान होते हैं।

५. मूर्छा-अवस्था—लाठी, पत्थर आदि से चोट या वात, पित्त आदि धातुओं के वैषम्य से मूर्छा आ जाती है। इस अवस्था में मनोविज्ञान तक प्रवृत्त नहीं होता। केवल आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान ही प्रवृत्त होते हैं।

इन पाँच अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओं में मनोविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है। उपर्युक्त अचित्तक अवस्थाओं से व्युत्थित होने पर आलयविज्ञान से पुनः मनोविज्ञान प्रवृत्त होने लगता है; क्योंकि मनोविज्ञान के न रहने पर भी आलयविज्ञान में उसकी वासना विद्यमान होती है, जिससे पुनः मनोविज्ञान उत्पन्न होने लगता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की गई थी कि आत्मा, रूप आदि समस्त धर्म विज्ञान के परिणाम हैं या विज्ञानपरिणाम में उपचरित हैं। अर्थात् विज्ञान के परिणाम से बाहर उनकी कोई सत्ता नहीं है। ज्ञातव्य है कि विज्ञानवाद भी अपने ढंग का एक मध्यमकदर्शन ही है। यह भी शाश्वत और उच्छेद इन दो अन्तों से रहित है तथा उनके मध्य में स्थित है। इस दर्शन के अनुसार विज्ञाननिरपेक्ष द्रव्य की सत्ता मानना 'शाश्वतान्त' है तथा धर्मों का किसी भी प्रकार का अस्तित्व न मानना 'उच्छेदान्त' है। फलतः विज्ञानवादी इन दोनों अन्तों का युक्तिपूर्वक परिहार करते हैं।

शाश्वतान्त का निराकरण—विज्ञान के समस्त परिणाम विकल्प हैं; क्योंकि वे बाह्यार्थत्वेन कल्पना करते हैं और स्वयं भी बाह्यार्थत्वेन कल्पित होने के योग्य होते हैं। जिस-जिस विकल्प द्वारा जो जो धर्म कल्पित किये जाते हैं, वे सब वस्तुतः उस प्रकार के नहीं होते, जैसे कल्पित किये जाते हैं। अतः वे सब विज्ञप्तिमात्र ही हैं, बाह्यार्थत्वेन सत् नहीं हैं।

उपर्युक्त त्रिविध परिणामों या त्रैधातुक समस्त चित्त-चैतसिकों को विकल्प कहते हैं; क्योंकि वे अध्यारोपितार्थाकार होते हैं। अर्थात् बाह्य अर्थों के बिना भी उन्हें आरोपित करके अपने को तदाकारित करते हैं। उन चित्त-चैतसिकों के द्वारा

जिन्हें यहाँ विकल्प कहा गया है, समस्त धर्म बाह्यार्थत्वेन गृहीत होते हैं या बाह्यार्थत्वेन कल्पित होते हैं। बाह्यार्थत्वेन कल्पित वे समस्त धर्म वस्तुतः सत् नहीं होते। बिना ही बाह्यार्थालम्बन के सभी चित्त-चैतसिक प्रवृत्त होते हैं। यह बात विज्ञानवादी आचार्यों ने युक्ति और आगमों से विस्तारपूर्वक सिद्ध की है। फलतः विज्ञानवाद शाश्वतान्त से सर्वथा मुक्त है।

उच्छेदान्त का निराकरण—विज्ञानवादी आचार्यों ने अनेकों युक्तियों से बाह्यार्थ का खण्डन किया है; तथापि उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि समस्त धर्म खपुष्पवत् अलीक हैं; अपितु उनका अभिप्राय यह है कि समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं। कहने का आशय यह है कि यद्यपि बाह्य अर्थों का किंचिद् भी अस्तित्व नहीं है; फिर भी रूप आदि धर्म शशश्रृङ्गवत् नहीं हैं; अपितु उनका भी एक प्रकार का अस्तित्व होता है, जो केवल विज्ञान के आधार पर सिद्ध होता है। जब यह कहा जाता है कि 'समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं' तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि चित्त से अतिरिक्त कुछ नहीं है; अपितु उसका मात्र इतना आशय होता है कि उनकी बाह्यतः सत्ता नहीं है। 'मात्र'-शब्द के प्रयोग का यही रहस्य है। आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं कहा है कि "मात्र शब्द का तात्पर्य केवल बाह्यार्थ के प्रतिषेध से है"[१]। इसी आशय की बात उन्होंने फिर कही है कि "धर्मनैरात्म्य का यह अर्थ कदापि नहीं है कि धर्म सर्वथा नहीं हैं; अपितु उसका अर्थ कल्पित धर्मों के न होने मात्र से है"[२]। धर्मों का सर्वथा नास्तित्व आचार्य को अभिप्रेत नहीं है। विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त में बाह्यार्थों के न होने से ही रूप आदि समस्त धर्मों की व्यवस्था भलीभाँति हो सकती है। फलतः यह दर्शन उच्छेदान्त से भी सर्वथा मुक्त है[३]।

---

१. मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्। द्र०—विंशिका १, पृ० १।

२. न खलु सर्वथा धर्मो नास्तीत्येवं धर्मनैरात्म्यप्रवेशो भवति, अपितु कल्पितात्मना।
—द्र०—विंशिका २४, पृ० ४१।

३. अन्तद्वय के परिहारार्थ द्रष्टव्य—

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥
—द्र०—त्रि० का० १७, पृ० २६६।

अनधिष्ठित मूलविज्ञान से सकल जगत् की प्रवृत्ति

आलयविज्ञान में समस्त जगत् के बीज निहित होते हैं। सभी विज्ञान और आलयविज्ञान का एक दूसरे की अपेक्षा से उस उस प्रकार का परिणाम हुआ करता है। अर्थात् वे परस्पर एक दूसरे के कारण होते हैं। पूर्व अवस्था का त्याग कर अन्य अवस्था को प्राप्त होना 'परिणाम' है। अर्थात् बीज अवस्था का त्याग कर फल अवस्था को धारण करना परिणाम है। आलयविज्ञान के कारण चक्षुरादि-विज्ञान उत्पन्न होते हैं और चक्षुरादिविज्ञानों के कारण आलयविज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। चक्षुरादिविज्ञान आलयविज्ञान में वासनायें स्थापित करते हैं, जिनसे अनागत काल में पुनः चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होने हैं। इतना ही नहीं, उन चक्षुरादिविज्ञानों द्वारा आलयविज्ञान में ऐसी भी वासनायें स्थापित की जाती हैं, जिनसे अनागतकालिक आलयविज्ञान भी उत्पन्न होता है। आलयविज्ञान सर्वविध वासनाओं का आधार होता है, इसलिये वह चक्षुरादिविज्ञानों का हेतु भी होता है। इस तरह अन्योन्यवश सकल जगत् या विकल्पों की प्रवृत्ति हुआ करती है। इसके लिये किसी ईश्वर, महेश्वर आदि अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं है।[1]

विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर पूर्वापर जन्म की सिद्धि

वर्तमान आलयविज्ञान में अनेकविध वासनायें निहित होती हैं। पुनर्जन्म का आक्षेप करने में उनमें से कर्मवासनायें प्रधान होती हैं। इस कार्य में ग्राह्यग्राहक-वासना उनकी सहायक होती हैं। जिस प्रकार हाथ की ताकत और धनुष आदि मिलकर बाण का प्रक्षेप करते हैं, उसी प्रकार ग्राह्यग्राहकद्वयवासना और कर्मवासना मिलकर पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं। फलस्वरूप पुनः-पुनः जन्म आविर्भूत होते रहते हैं। पूर्ववासनाओं द्वारा प्रक्षिप्त विपाकविज्ञान के निरुद्ध होने पर तत्क्षण दूसरा विपाकविज्ञान उत्पन्न होता है, जो दूसरी पूर्ववासनाओं द्वारा आक्षिप्त होता है। वस्तुतः आलयविज्ञान ही जन्मग्रहण करता है और च्युति को प्राप्त होता

---

१. द्र०—सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते ॥—
त्रि० का० १८, पृ० २६६।

है। फलतः आत्मा- ईश्वर आदि के न होने पर भी आलयविज्ञान और वासनाओं के आधार पर पुनर्जन्म भलीभाँति सिद्ध हो जाता है[1]।

तीन लक्षणों का प्रतिपादन

समस्त धर्म तीन स्वभावों में संगृहीत हो जाते हैं। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो इनमें संगृहीत न होता हो। वे तीन स्वभाव हैं—परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण। ये तीनों लक्षण प्रत्येक धर्म में विद्यमान होते हैं।

स्वग्राहक कल्पना द्वारा आरोपित होना, परिकल्पित स्वभाव का लक्षण है। रूप आदि अचेतन धर्मों में तथा इन्द्रिय, विज्ञान आदि आन्तरिक धर्मों में विकल्पों (तद्ग्राहक कल्पनाओं) द्वारा जो बाह्यार्थत्व आरोपित होता है, वह 'परिकल्पित लक्षण' है। रूप से लेकर बुद्धधर्मों तक सभी में बाह्यार्थत्व का आरोप होता है या ग्राह्यग्राहकद्वैत का आरोप हुआ करता है। वह बाह्यार्थारोप ही उन उन धर्मों का परिकल्पित लक्षण है, जिसका प्रतिषेध (अभाव) परिनिष्पन्न लक्षण होता है। यहाँ जिस परिकल्पितलक्षण का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह परिनिष्पन्नलक्षण का प्रतिषेध्य या धर्मनैरात्म्य का प्रतिषेध्य है। सामान्यतया सभी परिकल्पितलक्षण परिनिष्पन्नलक्षण के प्रतिषेध्य नहीं हुआ करते। उदाहरणार्थ आकाश आदि भी परिकल्पित लक्षण हैं, किन्तु वे सर्वथा अलीक नहीं होते, अतः उनका अभाव परिनिष्पन्न लक्षण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि परिकल्पित भी द्विविध होते हैं, यथा—सत्परिकल्पित एवं असत्परिकल्पित। रूप आदि धर्मों में विद्यमान अभिधेयत्व, अभिलाप्यत्व एवं आकाश आदि धर्म सत्परिकल्पित हैं; क्योंकि इनका व्यवहारतः अस्तित्व होता है। बाह्यार्थता, अभिधेयस्वलक्षणत्व, पुद्गलात्मा, खपुष्प, शशशृङ्ग आदि असत्परिकल्पित हैं; क्योंकि इनका व्यवहारतः भी अस्तित्व नहीं होता। शास्त्रों में केवल बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व का ही मुख्यतः उल्लेख मिलता है; क्योंकि ये

---

१. द्र०—कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत् ॥—
त्रिं० का० १९, पृ० २७३।

ही परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मनैरात्म्य के प्रतिषेध्य होते हैं। जो परिकल्पित लक्षण हैं, उनका कथमपि अस्तित्व नहीं होता [1]।

हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होना, परतन्त्र स्वभाव का लक्षण है। समस्त चित्त-चैतसिक एवं उनमें प्रतिभासित रूप आदि धर्म परतन्त्र लक्षण हैं। उदाहरणार्थ रूप और रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान दोनों परतन्त्रलक्षण हैं और वे दोनों स्वभावतः अभिन्न होते हैं, क्योंकि दोनों एक ही बीज के फल हैं, एक ही काल में उत्पन्न होते हैं और और एक ही काल में निरुद्ध होते हैं।

परतन्त्र भी द्विविध है, यथा—अशुद्ध परतन्त्र एवं शुद्ध परतन्त्र। समस्त सांसारिक वस्तुएँ, जिन पर कर्म और क्लेशों का प्रभाव पड़ता है, अशुद्ध परतन्त्र हैं। आर्यों का समाहित ज्ञान, सर्वज्ञज्ञान, बुद्ध के कायवाक्-क्षेत्र शुद्ध परतन्त्र कहलाते हैं। परतन्त्र इसलिये परतन्त्र कहलाता है; क्योंकि वह अपने से भिन्न हेतु-प्रत्ययों के अधीन होता है। अर्थात् उनसे उत्पन्न होता है। रूप आदि समस्त संस्कृत धर्म आलयविज्ञान एवं वासनाओं के फल हैं, अतः उनका उत्पाद हेतु-प्रत्ययों के अधीन है। फलतः वे परतन्त्रलक्षण होते हैं। रूप आदि परतन्त्रलक्षण परमार्थसत् होते हैं [2]।

ऊपर कहा गया है कि रूप आदि परतन्त्र धर्मों में आरोपित बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व परिकल्पितलक्षण हैं और जो नितान्त असत्स्वभाव हैं। इस तरह परतन्त्र धर्मों में परिकल्पितलक्षण की वस्तुतः अविद्यमानता या रहितता परिनिष्पन्नलक्षण है और विज्ञानवादी शास्त्रों में यही धर्मधातु, तथता, भूतकोटि, परमार्थसत्य आदि शब्दों द्वारा निर्दिष्ट है [3]। यह परतन्त्र से न तो स्वभावतः भिन्न है और न व्यावृत्तितः अभिन्न। यदि बाह्यार्थ से रहितता (परिनिष्पन्नलक्षण)

---

१. द्र०—येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते—त्रि० का० २०, पृ० ३०१।

२. द्र०—परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः।—
त्रि० का २१, पृ० ३०४।

३. द्र०—निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या॥—
त्रि० का० २१, पृ० ३०८।

रूप आदि परतन्त्र से भिन्न होगी तो रूप बाह्यार्थ से शून्य है, यह न बन सकेगा। यदि अभिन्न होगी तो जैसे बाह्यार्थशून्यता विशुद्धि मार्ग का आलम्बन होती है, वैसे परतन्त्र भी उसका आलम्बन होने लगेगा। अथवा जैसे रूप आदि धर्म सांक्लेशिक होते हैं, वैसे शून्यता भी सास्रव होने लगेगी। इस तरह परिनिष्पन्न परतन्त्र से उसी प्रकार न भिन्न है और न अभिन्न, जैसे रूप आदि धर्मों की अनित्यता न उनसे भिन्न होती है और न अभिन्न[1]।

दर्शनमार्ग की अवस्था से शून्यता का साक्षात्कार प्रारम्भ होता है। शून्यता का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञान को समाहित ज्ञान कहते हैं। समाहित ज्ञान के अनन्तर पृष्ठलब्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। इस अवस्था में परतन्त्रता या संवृतिसत्यता का साक्षात्कार हुआ करता है। अर्थात् इस अवस्था में समस्त धर्म मायावत् या स्वप्नवत् दृष्टिगोचर होते हैं। विज्ञानवाद एवं माध्यमिक दोनों मतों में परमार्थसत्य का साक्षात्कार पहले होता है, तदनन्तर संवृतिसत्य का साक्षात्कार होता है। दर्शनमार्ग से पूर्व सम्भारमार्ग और प्रयोगमार्ग होते हैं। ये पृथग्जनमार्ग हैं। इस अवस्था में परमार्थसत्य और संवृतिसत्य का यद्यपि ज्ञान होता है; तथापि उनका साक्षात्कार नहीं होता। साक्षात्कार केवल आर्यावस्था में ही सम्भव है।

निःस्वभावताविषयक सूत्रों का अभिप्राय

ऊपर कहा गया है कि परतन्त्र द्रव्यतः सत् है। इसी वजह से उसमें परिकल्पित लक्षण का आरोप हो पाता है और परिनिष्पन्न की व्यवस्था हो पाती है। यदि परतन्त्र की द्रव्यसत्ता न मानी जायेगी तो तीनों लक्षणों का अपवाद हो जायेगा। किन्तु प्रश्न है कि यदि परतन्त्र की द्रव्यसत्ता है तो प्रज्ञापारमितादि सूत्रों में जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा गया है, उससे कैसे विरोध न होगा? अर्थात् अवश्य विरोध होगा।

विज्ञानवादियों का कहना है कि सूत्रविरोध बिलकुल नहीं है। वस्तुतः निःस्वभावताप्रतिपादक सूत्र नीतार्थ नहीं हैं;, अपितु नेयार्थ हैं। अतः उनका अर्थ यथाशब्द स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपितु उनका अभिप्राय समझने का प्रयास

१. द्र०—अतएव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः।—
त्रिं० का० २२, पृ० ३१७।

करना चाहिए। परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न तीनों में अपने-अपने ढंग की निःस्वभावता रहती है, इस अभिप्राय से भगवान् ने उन सूत्रों में समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है[1]। यथा—परिकल्पित लक्षणनिःस्वभाव है, परतन्त्र उत्पत्तिनिःस्वभाव है तथा परिनिष्पन्न परमार्थनिःस्वभाव है।

परिकल्पितस्वभाव धर्मों का स्वलक्षणतः अस्तित्व नहीं होता; क्योंकि वे कल्पना और संकेतो द्वारा आरोपितमात्र होते हैं। फलतः वे लक्षणनिःस्वभाव कहे गये हैं। परतन्त्रस्वभाव धर्म हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं, उनमें स्वतः उत्पाद का सामर्थ्य नहीं है, अतः वे उत्पत्तिनिःस्वभाव कहे गये हैं। अथवा वे जिस प्रकार (बाह्यार्थत्वेन) गृहीत होते हैं, उस प्रकार उनका उत्पाद नहीं होता, इसलिये वे उत्पत्तिनिःस्वभाव कहलाते हैं। परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थ निःस्वभाव है। आर्यो का समाहित ज्ञान 'परम' कहलाता है। यह (परिनिष्पन्न) उस ज्ञान का विषय होता है, अतः परमार्थ कहलाता है, साथ ही यह धर्मात्मा से रहितता (धर्मनैरात्म्य) मात्र होता है, इसलिये परमार्थनिःस्वभाव कहा गया है। अर्थात् यह योगि-प्रत्यक्ष द्वारा धर्मशून्यता के रूप में गृहीत होता है, इसकी द्रव्यसत्ता नहीं होती, अतः यह निःस्वभाव है। यही परमार्थसत्य है, धर्मों की धर्मता है और तथता भी है।[2] विज्ञप्तिमात्रता परिनिष्पन्नलक्षण से स्वभावतः भिन्न नहीं है, परन्तु उनके ज्ञान में क्रम होता है। आर्यों के समाहित ज्ञान में विषय-विषयी द्वैत का भान बिलकुल नहीं होता। वह ज्ञान शून्यता में प्रविष्ट की भांति या शून्यता के साथ एकरस अनुभूत होता है। आचार्य वसुबन्धु ने यह बात "सैव विज्ञप्तिमात्रता[3]" द्वारा प्रतिपादित की हैं।

---

१. त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम्।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता॥
—त्रि० का० २३, पृ० ३२७।

२. प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः।
न स्वयंभाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता॥
धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः।
—त्रि०का० २४-२५, पृ० ३२९।

३. द्र०—त्रि० का० २५, पृ० ३३५।

बाह्यार्थाभास का हेतु ग्राहद्वयानुशय—सामान्यतया जीव जब रूप, घट, पट आदि को देखते हैं, उस समय वे उन्हें बाह्यार्थ के रूप में प्रतीत होते हैं। इसका कारण जीवों के आलयविज्ञान में स्थित ग्राह्यग्राहकद्वयवासना है, जो पूर्व-पूर्व धर्मात्मदृष्टि द्वारा आलयविज्ञान में स्थापित की गई है। जब तक योगी का ज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थापित नहीं होता, तब तक उक्त वासना निवृत्त नहीं होती। यहाँ विज्ञप्तिमात्रता का तात्पर्य निर्बाह्यार्थता या शून्यता से है। आर्यों का समाहित ज्ञान विज्ञप्तिमात्रता में स्थित होता है। उस समय इन वासनाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं होता; किन्तु पृष्ठलब्ध अवस्था में पुनः ग्राह्यग्राहकाभास होने लगता है। बुद्धावस्था में ये वासनायें सर्वदा के लिये सर्वथा विनष्ट हो जाती हैं। इन अवस्थाओं को छोड़ कर अन्य सभी अवस्थाओं में बाह्यार्थाभास या ग्राह्यग्राहकाभास होता रहता है।[1]

क्षान्ति प्रयोगमार्ग की अवस्था में ज्ञान का स्वरूप

क्षान्ति नामक प्रयोगमार्ग की अवस्था में विज्ञप्तिमात्रता के ज्ञान की शक्ति अधिकतम रहती है। उस समय बाह्य ग्राह्याभास सर्वथा विलुप्त हो जाता है, 'समस्त धर्म विज्ञान के परिणाममात्र हैं', केवल इस प्रकार का ज्ञान ही रहता है। उस ज्ञान में बाह्य ग्राह्य के प्रति किञ्चित् मात्र भी अभिनिवेश नहीं रहता, उसे समस्त धर्म चित्त के अंश के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इतना होने पर भी वह ज्ञान शून्यता में अवस्थित नहीं है। क्योंकि यद्यपि उस ज्ञान द्वारा बाह्य ग्राह्य का प्रतिषेध कर दिया गया है; तथापि अभी बाह्य ग्राहक का प्रतिषेध नहीं किया गया है। फलतः उस ज्ञान के सम्मुख कुछ (विज्ञप्तिमात्र) अवशिष्ट रह जाता है। इसलिये वह शून्यतामात्र में प्रतिष्ठित नहीं है। जब तक बाह्य या आध्यात्मिक कुछ भी आलम्बन ज्ञान के सम्मुख उपस्थित रहता है, तब तक वह ज्ञान निरालम्ब नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि विज्ञप्तिमात्र को जानने वाला ज्ञान शून्यता का ज्ञान नहीं है।[2]

---

१. यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते॥—त्रि० का० २६, पृ० ३३९।

२. विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रतः किञ्चित् तन्मात्रे नावतिष्ठते॥—त्रि० का० २७, पृ० ३४२।

शून्यता के साक्षात्कार की अवस्था—जिस समय योगी का ज्ञान किसी साधन धर्म का आलम्बन नहीं करता, अपितु केवल बाह्यार्थ से रहिततामात्र का साक्षात्कार करता है, उस समय वह शून्यता में अवस्थित कहलाता है। क्योंकि उस ज्ञान के सम्मुख बाह्य ग्राह्य का अभावमात्र है और बाह्य ग्राह्य का अभाव होने से वहाँ बाह्य ग्राहक का भास भी सम्भव नहीं है। फलतः उस समय योगी का ज्ञान स्वचित्तधर्मता में प्रतिष्ठित होता है। अर्थात् योगी का चित्त अपनी शून्यता में प्रतिष्ठित होता है और यही शून्यता समस्त शून्यताओं में प्रधान या श्रेष्ठ होती है।[1]

कहने का आशय यह है कि बाह्य ग्राह्य की शून्यता का ज्ञान हो जाने पर ग्राहक की शून्यता का ज्ञान भी हो जाया करता है। यदि ग्राह्य के प्रति बाह्यार्थदृष्टि होती है तो ग्राहक के प्रति बाह्यार्थदृष्टि भी अवश्यमेव होती है। ग्राह्य वस्तुओं के प्रति जब बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान हो जाता है, तब ग्राहक के प्रति बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान भी अवश्यमेव हो जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि ग्राह्य की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान हो जाय और ग्राहक की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान न हो। अर्थात् रूप आदि ग्राह्य वस्तुओं की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान और चक्षुर्विज्ञान आदि ग्राहकों की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान युगपद् होता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी यह बात प्रमाणवार्तिक में कही है, यथा—

तत्रैकस्याप्यभावेन द्वयमप्यवहीयते।
तस्मात्तदेव तस्यापि तत्त्वं या द्वयशून्यता ॥[2]

ग्राह्य और ग्राहक दोनों की समानरूप से बाह्यार्थशून्यता के अवबोध से लोकोत्तर ज्ञान का उत्पाद होता है, जो निर्विकल्पक होता है, और स्वचित्त-धर्मता में स्थित होता है।

अभिसमयक्रम एवं फलावस्था—बाह्यार्थशून्यता का साक्षात्कार हो जाने पर 'अचित्त' एवं 'अनुपलम्भ' की अवस्था आती है। इस अवस्था का ज्ञान

---

१. द्र०—यदा त्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञप्तिमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात् ॥—त्रि० का० २८ पृ० ३४७।

२. द्र०—प्रमाणवार्तिक (प्रत्यक्षपरिच्छेद), पृ० १६४।

निर्विकल्प एवं लोकोत्तर होता है। यह दर्शनमार्ग की अवस्था है। आगे और अभ्यास करने पर भावनामार्ग की अवस्था में द्विविध दौष्ठुल्यों (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण की वासनाओं) का प्रहाण होता है और आश्रयपरावृत्ति की अवस्था आती है। फलतः अनास्रव धातु, अचिन्त्य धातु, ध्रुव, कुशल, महासुख और विमुक्तिकाय आदि फलों की प्राप्ति होती है। यह सब महामुनि का धर्मकाय है।

संक्षेप में अचित्तक, अनुपलम्भ एवं लोकोत्तर ज्ञान की अवस्था दर्शनमार्ग की अवस्था है। द्विविध दौष्ठुल्यों के प्रहाण द्वारा आश्रयपरावृत्ति की अवस्था भावनामार्ग की अवस्था है। अनास्रव, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुख और विमुक्तिकाय आदि की प्राप्ति की अवस्था फलावस्था है। इन सबके सामर्थ्य से सम्भारमार्ग और प्रयोगमार्ग ये दो पृथग्जनमार्ग भी अवगत हो जाते हैं। इन समस्त बातों का आचार्य वसुबन्धु ने ग्रन्थ के अन्त में सूत्ररूप में उपसंहार के रूप में प्रदर्शन किया है—

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः॥
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः॥[1]

ग्रन्थकार का परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य बसुबन्धु हैं। बौद्ध जगत् में इनकी प्रतिभा, प्रखर पाण्डित्य एवं शास्त्रप्रणयनपटुता की बड़ी प्रतिष्ठा है। इनके ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत माने जाते हैं। अपनी कृतियों से इन्होंने शास्ता (भगवान बुद्ध) के अभिप्राय का लोक में प्रसार कर उसका महान् कल्याण सिद्ध किया है। इनकी इस परार्थवृत्ति के कारण विद्वज्जन इन्हें आदर के साथ 'द्वितीय बुद्ध' कहा करते थे[2]। ये बड़े शास्त्रार्थी भी थे। वैयाकरण वसुरात को इन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित

१. द्र०—त्रिंशिका कारिका २९-३०, पृ० ३५१।

२. द्र०—परमार्थशास्त्रकृत्या कुर्वाणं शास्तृकृत्यमिव लोके।
यं बुद्धिमतामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः॥
अभिधर्मकोशभाष्य की स्फुटार्था टीका, पृ० १।

किया था। सुनते हैं कि एक बार सांख्याचार्य विन्ध्यवासी ने इनके गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। अपने गुरु की पराजय का बदला लेने के लिये ये विन्ध्यवासी से शास्त्रार्थ करने को उद्यत हुये, किन्तु तब तक वे शरीर छोड़ चुके थे। फलतः इन्होंने विन्ध्यवासी की 'सांख्यसप्तति' के खण्डन में 'परमार्थसप्तति' की रचना की। आचार्य कमलशील ने अपनी तत्त्वसंग्रह की पंजिका में इसका आदर के साथ उल्लेख किया है[1]।

आचार्य वसुबन्धु का जन्म गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर (पेशावर) में हुआ था। ये कौशिकगोत्रीय ब्राह्मण थे। ये तीन भाई थे। असंग इनसे बड़े थे तथा विरिञ्चिवत्स छोटे। एक अन्य परम्परा के अनुसार असंग और वसुबन्धु की माँ एक थी किन्तु पिता भिन्न-भिन्न थे। तारानाथ के अनुसार माता ब्राह्मणी थी और उसका नाम प्रकाशशीला था। असंग के पिता क्षत्रिय थे तथा वसुबन्धु के पिता ब्राह्मण। इनके गुरु के बारे में विभिन्न मत उपलब्ध हैं। बुदोन के अनुसार कश्मीर में इन्होंने आचार्य संघभद्र से विद्याध्ययन किया था। परमार्थ के अनुसार इनके गुरु बुद्धमित्र तथा श्वान्‌च्वांग के अनुसार परमार्थ थे। यह हो सकता है कि इन्होंने इन सभी से भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया हो।

अयोध्या उन दिनों विद्या का केन्द्र थी। कहा जाता है कि युवावस्था में ही ये अपने जन्मस्थान से अयोध्या चले आये थे। यहीं पर उन्होंने विभिन्न दर्शनशास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया और अभिधर्मकोश आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। इससे विद्वत्समाज में इनकी बड़ी कीर्ति फैल गयी। इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर अयोध्या के राजा विक्रमादित्य ने इन्हें आश्रय प्रदान किया। इतना ही नहीं, अपने पुत्र बालादित्य और रानी ध्रुवा को इनके निकट अध्ययनार्थ भेजा। विक्रमादित्य के अनन्तर जब बालादित्य राजसिंहासन पर अभिषिक्त हुये तो उन्होंने इन्हें अपने दरबार में स्थान दिया और राजकीय सम्मान प्रदान किया। विक्रमादित्य शायद स्कन्दगुप्त हों और बालादित्य नरसिंहगुप्त। ८० वर्ष की आयु तक वे जीवित रहे और यहीं (अयोध्या में) उनका देहावसान हुआ। तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु अपने जीवन के अन्तिम काल में नेपाल गये और वहीं उनका

---

१. एवमाचार्यवसुबन्धुप्रभृतिभिः कोशपरमार्थसप्ततिकादिषु अभिप्रायप्रकाशनात् पराक्रान्तम्। अतस्तत एवावगन्तव्यम्—तत्त्वसंग्रह, पृ० १६४।

शरीरपात हुआ। उन्होंने यह भी लिखा है कि वसुबन्धु लगभग सौ वर्ष तक जीवित रहे। राहुल जी के अनुसार गान्धार में उन्होंने शरीर छोड़ा।

ज्ञातव्य है कि जीवन के प्रारम्भिक काल में आचार्य वसुबन्धु सर्वास्तिवादी थे। कश्मीर में इन्होंने वैभाषिक आचार्य संघभद्र से विद्याध्ययन किया था। जब ये वैभाषिक थे, इन्होंने अभिधर्मकोश और उसके ऊपर भाष्य की रचना की थी[1]। सर्वास्तिवादियों के अभिधर्मपिटक और उसकी विभाषा टीका को आधार बनाकर लिखे गये इनके अभिधर्मकोश की विद्वत्समाज में बड़ी ख्याति हुई तथा देश-विदेश में उसका बड़े आदर के साथ अध्ययन किया जाने लगा। वैभाषिक सिद्धान्तों को जानने के लिये उसी का जोरों से अध्ययन-अध्यापन होने लगा और अन्य शास्त्र गौण हो गये। अपनी व्यापकता के कारण यह कोश समस्त बौद्धधर्म का मान्य एवं प्रमाणभूत ग्रन्थ है। वास्तव में यह बौद्धदर्शन की रीढ़ है और आज भी सभी देशों एवं बौद्ध सम्प्रदायों में इसका समादर एवं प्रामाण्य असंदिग्ध है। बाण भट्ट ने यहाँ तक लिखा है कि शाक्यभिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम में शाक्यशासन में कुशल सुग्गे भी 'कोश' का उपदेश देते थे[2]। यहाँ कोश का अभिप्राय आचार्य वसुबन्धुकृत 'अभिधर्मकोश' से ही है। कोश और भाष्य के अध्ययन से लगता है कि वसुबन्धु स्वतन्त्र विचारक थे। उनका झुकाव सौत्रान्तिक मतवाद की ओर परिलक्षित होता है। विशेषतः भाष्य में उनकी सौत्रान्तिक प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। यही कारण है कि आचार्य संघभद्र ने अपने 'न्यायानुसार' नामक अभिधर्मशास्त्र का प्रणयन प्रधानतः वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का खण्डन करने के लिये किया। उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि वसुबन्धु कहाँ कहाँ वैभाषिक मत से दूर हट गये हैं। जहाँ जहाँ वसुबन्धु का भाष्य वैभाषिक मत का विरोध करता है, वहाँ वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है। अपनी वृद्धावस्था के कारण वसुबन्धु ने आचार्य संघभद्र के साथ वाद-विवाद करने से इन्कार कर दिया

---

१. कश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः।
यद् दुर्गृहीतं तदिहास्मदागः सद्धर्मनीतौ मुनयः प्रमाणम्॥

—अभि० को० ८:४० पृ० ४५६।

२. त्रिशरणपरैः परमोपासकैः शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः।

— हर्षचरित (अष्टम उच्छ्वास)

था। अभिधर्मकोश पर कई टीकायें लिखी गईं, किन्तु उनमें से आज यशोमित्र की 'स्फुटार्था' व्याख्या ही अपने मूल रूप में उपलब्ध है। आचार्य दिङ्नाग, स्थिरमति, गुणमति आदि ने भी मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका एवं लक्षणानुसार आदि का प्रणयन किया था।

आचार्य वसुबन्धु के बड़े भाई आर्य असंग महायानी थे। वे महायान की योगाचार शाखा के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। अपनी वृद्धावस्था में आचार्य वसुबन्धु ने भी आर्य असंग के प्रभाव से महायान धर्म स्वीकार कर लिया और योगाचार सम्प्रदाय को एक निश्चित दार्शनिक एवं शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया। विज्ञानवाद को पुष्ट करने की दृष्टि से उन्होंने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका और त्रिंशिका प्रकरणद्वय), त्रिस्वभावनिर्देश, मध्यान्तविभागभाष्य आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। बुदोन ने उन्हें पंचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति एवं कर्मसिद्धिप्रकरण आदि का भी रचयिता कहा है। इसके अतिरिक्त उनके सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश, वजच्छेदिका प्रज्ञापारमिताशास्त्र एवं आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर वसुबन्धु ने स्वयं वृत्ति लिखी। त्रिंशिका पर अनेक टीकायें थीं, इनमें से केवल आचार्य स्थिरमति का भाष्य ही अपने मूलरूप में उपलब्ध है। ह्वेनसांग ने त्रिंशिका पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि शास्त्र' नामक टीका चीनी भाषा में लिखी थी। पूसें ने इसका फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ बड़े महत्त्व का है; क्योंकि इसमें त्रिंशिका के समस्त टीकाकारों का मत उल्लिखित है और धर्मपाल की टीका भी समाविष्ट है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस टीका के कुछ अंश का संस्कृतरूपान्तर किया है, जो 'विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' के जरनल के १९ वें और २० वें खण्ड में प्रकाशित हुआ है।

कालनिर्णय—वसुबन्धु के कालनिर्णय पर विद्वानों में अत्यधिक वाद-विवाद रहा है। ताकाकुसू के अनुसार इनका काल ४२० ई० और ५०० ई० के बीच है। वोगिहारा वसुबन्धु का समय ३९० ई० और ४७० ई० के बीच एवं असंग का समय ३७५ ई० एवं ४५० ई० के बीच निश्चित करते हैं। सिलवाँ लेवी के अनुसार असंग का समय ५ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध भाग है। एन० पेरी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उनका जन्म ३५० ई० के लगभग हुआ। फ्राउवाल्नर

ने हाल में पेरी के मत का प्रबल समर्थन किया है। इस मतभेद के निराकरण के लिये कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाव रखा है कि वसुबन्धु नाम के दो आचार्य हुये हैं। एक स्थविर वसुबन्धु जो असंग के भाई थे और चतुर्थ शताब्दी में हुये थे। इन्होंने ही महायानशास्त्रों का प्रणयन किया है। दूसरे आचार्य बसुबन्धु, जो सौत्रान्तिक नय के अनुयायी थे और इन्होंने ही अभिधर्मकोश की रचना की थी। विन्टरनित्ज, मैकडोनल, डा० विद्याभूषण, डा० स्मिथ, विनयतोष भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने इनका काल चतुर्थ शताब्दी निश्चित किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग इनका काल ५१० ई० बतलाते हैं तथा मेक्समूलर उन्हें छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में स्वीकार करते हैं।

परमार्थ ने वसुबन्धु की जीवनी लिखी थी। इनका जन्म उज्जयिनी में ४६६–५६६ ई० में हुआ था। वे ५४६ ई० में चीन गये थे और ५६९ ई० में केन्टन में उनका देहावसान हुआ। ताकाकुसू ने चीनी से इस जीवनी का अनुवाद कर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। परमार्थ के विवरण के अनुसार आचार्य वसुबन्धु भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् हुये थे। उनके द्वारा स्वीकृत निर्वाण के काल से गणना करने पर वसुबन्धु का समय पाँचवी शताब्दी निश्चित होता है। विक्रमादित्य एवं बालादित्य की समकालीनता से भी यह मत समर्थित होता है। दिङ्नाग का कालसान्निध्य भी इसी ओर संकेत करता है।

आचार्य कुमारजीव ने बसुबन्धु के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एवं उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इनका समय ३४४ ई० एवं ४१३ ई० के बीच में है। कहा जाता है कि कुमारजीव ने अपने गुरु सूर्यसोम से बसुबन्धुरचित सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश का श्रवण किया था। वसुबन्धुकृत आर्यदेव के शतशास्त्र की व्याख्या का चीनी अनुवाद उन्होंने ४०४ ई० में तथा उनके बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र का चीनी अनुवाद ४०५ ई० में किया था। बोधिरुचि ने बसुबन्धु के वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिताशास्त्र की वर्त्र्षिकृत व्याख्या का ५३५ ई० में चीनी अनुवाद प्रस्तुत करते हुये उन्हें २०० वर्ष प्राचीन कहा। इन प्रमाणों के आधार पर महायान ग्रन्थों के रचयिता आचार्य वसुबन्धु का समय चतुर्थ शताब्दी निश्चित होता है। चतुर्थ शताब्दी के इस वसुबन्धु को यशोमित्र ने स्पष्टतः कोशकार से भिन्न माना है। तिब्बती परम्परा के अनुसार आचार्य वसुबन्धु बुद्धनिर्वाण के ९०० वर्ष पश्चात् हुये थे। इसके अनुसार भी उनका समय चतुर्थ शताब्दी निश्चित होता है। बीसवीं

शताब्दी के तिब्बती इतिहासकार गे-दुन्-छोस्-फेल ने लिखा है कि मोटा-मोटी तौर पर तिब्बती सम्राट् स्रोङ्-चन-गम्पो, भारत के सम्राट् श्री हर्ष, आचार्य दिङ्नाग, कवि कालिदास, आचार्य दण्डी एवं मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद साहब थोड़े फर्क के साथ प्राय: समकालीन थे।

परमार्थ, ह्वेनसांग, तारानाथ, एवं ताकाकुसू के अध्ययन के अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर प्रतीत होता है कि वसुबन्धु एक ही थे और उनका समय ४२० ई० से ५०० ई० के बीच ही है। आधुनिक विद्वानों को भी अधिकतर यही निष्कर्ष मान्य है।

विज्ञानवाद के विकास में वसुबन्धु का योगदान

प्रसिद्ध है कि आर्य असंग ही बौद्धदर्शन की योगाचार-विज्ञानवाद शाखा के प्रतिष्ठापक हैं। परम्परा के अनुसार अनागत मैत्रेय बुद्ध ने तुषित लोक में आर्य असंग को अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये थे, जिनका असंग ने लोक में प्रसार किया। इधर विद्वानों की यह धारणा हुई कि जिन ग्रन्थों के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है, वस्तुत: वे ग्रन्थ असंग के गुरु मैत्रेयनाथ की रचना हैं। अत: अब यह सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि योगाचार मतवाद के प्रतिष्ठापक वस्तुत: मैत्रेयनाथ हैं। जो कुछ हो, योगाचार विज्ञानवाद के विकास के इतिहास में असंग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। मैत्रेयनाथ की समस्त रचनायें विज्ञानवादविषयक ही हैं, यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। उत्तरतन्त्र और अभिसमयालङ्कार तो अवश्य ही माध्यमिक ग्रन्थ हैं। असंग के साहित्य में विज्ञानवाद का बहुल प्रतिपादन है, तथापि विषय के निरूपण की तर्कसम्मत वादप्रधान शुद्ध शास्त्रीय शैली जैसे वसुबन्धु के ग्रन्थों में देखने को मिलती है, वैसे असंग की रचनाओं में नहीं। असंग की शैली आगमों की तरह है और उन्होंने युक्ति से अधिक आगमों का उद्धरण किया है। इस तरह विज्ञानवाद का दर्शन के रूप में विकास सर्वप्रथम हमें वसुबन्धु की रचनाओं में मिलता है। फलत: विज्ञानवादी दर्शनशास्त्र के विकास में आचार्य वसुबन्धु का योगदान किसी से कम नहीं है। आर्य असंग एवं आचार्य वसुबन्धु के जीवन से सम्बद्ध इतिवृत्त का संक्षिप्त निरूपण ऊपर किया गया है, अब उनकी रचनाओं से सम्बद्ध जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनका निदेश किया जा रहा है।

आर्य असंग की कृतियाँ

भोटभाषा में आर्य असंग के २० से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१. धर्मकायाश्रयासामान्यगुणस्तोत्र
२. प्रज्ञापारमितासाधन
३. आर्यमैत्रेयसाधन
४. आर्यसन्धिनिर्मोचनभाष्य
५. बुद्धानुस्मृतिवृत्ति
६. धर्मानुस्मृतिवृत्ति
७. संघानुस्मृतिवृत्ति
८. महायानोत्तरतन्त्रशास्त्रव्याख्या
९. योगाचारभूमिशास्त्र
१०. महायानसंग्रह
११. अभिधर्मसमुच्चय

योगाचारभूमि या योगचर्याभूमि आठ विभागों में विभक्त है—

(क) योगचर्याभूमि
(ख) श्रावकभूमि
(ग) बोधिसत्त्वभूमि
(घ) निर्णयसंग्रह
(ङ) वस्तुसंग्रह
(च) विनयसंग्रह
(छ) पर्यायसंग्रह
(ज) विवरणसंग्रह

कुछ विद्वान् उपर्युक्त प्रत्येक भाग को स्वतन्त्र ग्रन्थ भी मानते हैं। हमारे विचार में ये एक ही ग्रन्थ के आठ परिच्छेद हैं। जो भी हो, इन शास्त्रों में धार्मिक एवं दार्शनिक समस्त ज्ञेयों का सुविशद एवं सविस्तर वर्णन उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् असंग को प्रकरण-आर्यवाचा एवं वज्रच्छेदिका की

व्याख्या का रचयिता भी मानते हैं। इन शास्त्रों के अध्ययन से असंग की अलौकिक विद्वत्ता एवं सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय मिलता है। वस्तुतः उनके जैसे अद्वितीय विद्वान् लोक में विरल ही उपलब्ध होते हैं।

आचार्य वसुबन्धु की कृतियां

आचार्य बसुबन्धु के नाम पर अनेक ग्रन्थ वर्णित हैं। चीनी और तिब्बती सूची में ग्रन्थसंख्या और ग्रन्थनाम में भेद दिखलाई पड़ता है। अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों की भी यही स्थिति है। हम यहाँ तिब्बती-स्रोत के आधार पर उनकी कृतियों का निरूपण कर रहे हैं।

१. महायानसूत्रालङ्कारभाष्य—यह आर्य मैत्रेयनाथविरचित महायानसूत्रालङ्कार की टीका है।

२. धर्मधर्मताविभङ्गवृत्ति—यह आर्यमैत्रेयनाथकृत धर्मधर्मताविभंग की टीका है।

३. मध्यान्तविभङ्गटीका—यह भी मैत्रेयनाथ के मध्यान्तविभंग की टीका है।

४ महायानसंग्रहभाष्य—यह आर्य असंग के महायानसंग्रह का भाष्य है।

५. विंशतिका कारिका

६. विंशतिकावृत्ति

७. त्रिंशिका कारिका

८. कर्मसिद्धिप्रकरण—इसमें आलयविज्ञान के आधार पर कर्म और कर्मफल की सयुक्ति स्थापना की गई है।

९. व्याख्यायुक्ति

१०. व्याख्यायुक्तिसूत्रखण्डशतक

उपर्युक्त दोनों में व्याख्या, शास्त्रार्थ एवं रचना आदि की विधि निर्दिष्ट की गई है।

११. प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका—इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद सूत्र की व्याख्या करते हुये आलयविज्ञान सिद्ध किया गया है।

१२. पंचस्कन्धप्रकरण

१३. त्रिरत्नस्तोत्रम्—यह रचना पद्य में हैं। इसमें १२ पद हैं। इसके रचयिता वसुबन्धु होने में सन्देह है।

१४. आर्यषण्मुखीधारणीव्याख्या

१५. सप्तगुणपरिवर्णना—दीर्घायुष्य, निरोगता, रूपसौन्दर्य, सौभाग्य, कुलीनता, धन एवं प्रज्ञा—इन सात गुणों के होने पर लाभ एवं न होने पर दोष दिखलाया गया है। यह पद्यबद्ध रचना है।

१६. सम्भारपरिकथा—इसमें पुण्यसम्भार एवं ज्ञानसम्भार की आवश्यकता, दुर्गतियों (नरक, प्रेत एवं तिर्यक्) के दुःख तथा बोधिचित्तोत्पाद द्वारा द्विविध सम्भारों के अर्जन की अनिवार्यता प्रदर्शित की गई है। यह रचना भी पद्यबद्ध है।

१७. शीलपरिकथा—इसमें शील के गुण-दोषों का विवेचन है।

१८. पंचविधकामगुणोपलम्भनिर्देश—इसमें ३४ पद्य हैं। मृग, हस्ती आदि पाँच उपमाओं द्वारा पाँच कामगुणों के आदीनव का कुशलतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

१९. बुद्धानुस्मृतिटीका—यह बुद्धानुस्मृतिसूत्र की विस्तृत टीका है।

२०. आर्यचतुर्धर्मकव्याख्या

२१. आर्यगयाशीर्षसूत्रटीका—गयाशीर्ष एक सूत्र है, जिसका बुद्ध ने आर्यमंजुश्री को उपदेश किया था। इसमें बोधिसत्त्वों की चर्या, संवृति एवं परमार्थ सत्य आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। वसुबन्धु ने इस सूत्र की टीका लिखी है। स्थविर शाक्यमति ने इस सूत्र पर एक वृत्ति भी लिखी है।

२२. आर्यभद्रचर्याप्रणिधानटीका—भद्रचर्याप्रणिधान एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसमें बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों के गुण, चरित, स्वरूप आदि प्रदर्शित हैं। उक्त ग्रन्थ इस सूत्र की एक अच्छी टीका है।

२३. एकगाथाभाष्य—यह एकगाथासूत्र की टीका है।

२४. अभिधर्मकोशकारिका

२५. अभिधर्मकोशभाष्य

२६. त्रिस्वभावनिर्देश—तारानाथ के अनुसार यह ग्रन्थ असंग का है। किन्तु आजकल तिब्बती एवं संस्कृत में जो त्रिस्वभावनिर्देश मिलता है, उसकी

पुष्पिका में "कृतिरियमाचार्यवसुबन्धुपादानाम्"--यह लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ की रचनाशैली भी असंग की शैली से नहीं मिलती। हमारे विचार में यह निश्चितरूप से वसुबन्धु की ही रचना है।

२७. सप्तगुणवर्णनाकथा—इसमें २० पद हैं। पूर्वोक्त सप्तगुणपरिवर्णना और इसमें विषय समान ही है, फिर भी प्रतिपादन का प्रकार भिन्न है।

२८. गाथासंग्रहशास्त्र--इसमें गाथाओं का संग्रह है तथा उनके विषय भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् यह भिन्नविषयक फुटकर गाथाओं का संग्रह है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने वसुवन्धु के ग्रन्थों की जो सूची अभिधर्म-कोश की भूमिका में दी है तथा इतर ग्रन्थों में जो सूची उपलब्ध होती है, उनमें उपर्युक्त ग्रन्थों में से कई के नाम नहीं है तथा अन्य अनेक नाम नये हैं। कोई भी सूची बिलकुल मिलती नहीं है। उनके अनुसार परमार्थसप्तति, वज्रच्छेदिकासूत्र शास्त्र, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रटीका, दशभूमिकसूत्रशास्त्र आदि अन्य अनेक ग्रन्थों के रचयिता भी आचार्य वसुबन्धु हैं। हमने तिब्बती स्रोत के आधार पर आचार्य की रचनाओं का निरूपण किया है।

भाष्यकार आचार्य स्थिरमति

आचार्य स्थिरमति आचार्य वसुबन्धु के चार प्रख्यात शिष्यों में से एक हैं। उनके चार विख्यात शिष्य थे—स्थिरमति, विमुक्तसेन, गुणप्रभ एवं दिङ्नाग। इनका जन्म दण्डकारण्य में एक व्यापारी के घर हुआ था। अन्य विद्वानों के अनुसार वे मध्यभारत के ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुये थे। परम्परा के अनुसार वे सात वर्ष की अवस्था में ही वसुबन्धु के पास पहुँच गये थे। तारानाथ के अनुसार तारा देवी उनकी इष्ट देवता थीं। वसुबन्धु के समान ये भी दुर्धर्ष शास्त्रार्थी थे। वसुबन्धु के अनन्तर उन्होंने अनेक तैर्थिकों से शास्त्रार्थ करके प्रतिवादियों को हराया था। तारानाथ ने लिखा है कि स्थिरमति ने आर्यरत्नकूट और मूलमाध्यमिककारिका की व्याख्या भी लिखी थी तथा उन्होंने मूलमाध्यमिक-कारिका का अभिप्राय विज्ञप्तिमात्रता से लिया है। तारानाथ ने आगे लिखा है कि अभिधर्मकोश पर टीका लिखनेवाले स्थिरमति कौन स्थिरमति हैं—यह अज्ञात है। इसका तात्पर्य है कि उन्हें अभिधर्मकोश एवं त्रिंशिका की टीका लिखनेवाले

स्थिरमति के एक होने में सन्देह है। इनका काल पाँचवी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।

स्थिरमति को कृतियाँ

तिब्बती में स्थिरमति की छह रचनायें उपलब्ध हैं। ये सभी रचनायें उच्चकोटि की हैं।

१. आर्यमहारत्नकूटधर्मपर्यायशतसाहस्रिकापरिवर्त-काश्यपपरिवर्तटीका—यह आर्यमहारत्नकूट की टीका है। जिसका उल्लेख तारानाथ ने किया है। यह बहुत ही विस्तृत एवं स्थूलकाय ग्रन्थ है।

२. सूत्रालङ्कारवृत्तिभाष्य—यह वसुबन्धु की सूत्रालंकारवृत्ति पर भाष्य है।

३. पञ्चस्कन्धप्रकरणवैभाष्य—यह वसुबन्धु के पंचस्कन्धप्रकरण पर भाष्य है।

४. मध्यान्तविभङ्गटीका—यह मैत्रेयनाथ के मध्यान्तविभङ्ग की टीका है।

५. अभिधर्मकोशभाष्यटीका—यह अभिधर्मकोश भाष्य पर तत्त्वार्थ नाम की टीका है।

६. त्रिंशिकाभाष्य।

इनके समस्त ग्रन्थ टीका या भाष्य के रूप में ही है। इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके माध्यम से आचार्य वसुबन्धु का अभिप्राय पूर्णरूप से प्रकट हुआ है। अभिधर्म में स्थिरमति को वसुबन्धु से भी अधिक पण्डित कहा गया है। इनकी शिष्य-परम्परा में पूर्णवर्धन, जिनमित्र तथा शीलेन्द्रबोधि आदि उल्लेख्य हैं।

टीकाकार आचार्य विनीतदेव

आचार्य विनीतदेव के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि नगण्य ही है। तारानाथ स्वयं उनकी जीवनी से अधिक परिचित नहीं थे। उन्होंने केवल इतना लिखा है कि "चन्द्रवंशीय अन्तिम राजा ललितचन्द्र के समय नालन्दा में आचार्य विनीतदेव हुये। उन्होंने धर्मकीर्ति के सप्त प्रमाणशास्त्रों के ऊपर टीकायें

लिखीं।" आगे वे लिखते हैं कि उनके जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत सामग्री उपलब्ध नहीं है।

भोटदेशीय विद्वान् भारतीय आचार्यों के जीवनवृत्त से बहुत अधिक परिचित रहे हैं। बौद्धधर्म के विकास के बारे में वहाँ अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। लिखित के अलावा वहाँ के लोग श्रुतिपरम्परा से भी बहुत कुछ जानकारी रखते हैं। चाहे उनकी जानकारी में पौराणिकता का ही पुट अधिक क्यों न हो। तारानाथ स्वयं एक बहुश्रुत एवं प्रसिद्ध इतिहासकार हैं। किन्तु विनीतदेव के जीवन के बारे में अधिक सामग्री वहाँ भी ज्ञात नहीं है। तिब्बती स्रोत से हमें उनकी निम्नलिखित कृतियों का परिचय मिलता है। विद्वानों ने इनका काल ७०० ई० माना है।

विनीतदेव की कृतियाँ

१. विंशिकाप्रकरणटीका—यह आचार्य वसुबन्धु की विंशिका और उस पर उनकी स्ववृत्ति की टीका है।

२. त्रिंशिकाप्रकरणटीका—यह आचार्य वसुबन्धु की त्रिंशिका और स्थिरमति के भाष्य पर टीका है।

३. विनयविभङ्गपदव्याख्या

४. विनयस्तोत्रपदव्याख्या

५. त्रिशतककारिकाव्याख्या

६. समयभेदोपरचनचक्र निकायभेदोपदेशसंग्रह—इसमें बौद्धों के अष्टादश निकायों का विभाजन, उनके सिद्धान्त तथा उनके बारे में ज्ञातव्य सामग्री का विस्तृत विवेचन है। अष्टादश निकायों के बारे में तिब्बत में जो कुछ जानकारी है, वह इस ग्रन्थ और भावविवेक की तर्कज्वाला पर आधृत है।

७. सन्तानान्तरसिद्धिटीका

८. न्यायबिन्दुटीका

९. हेतुबिन्दुटीका

१०. सम्बन्धपरीक्षाटीका

११. वादन्यायटीका

ये (७ से ११ तक) ग्रन्थ ग्राचार्य धर्मकीर्ति के तत्तद् ग्रन्थों की टीकायें हैं, जो नाम से ही स्पष्ट हैं।

१२. ग्रालम्बनपरीक्षाटीका—यह ग्राचार्य दिङ्नाग की ग्रालम्बनपरीक्षा की टीका है।

ग्राचार्य विनीतदेव की इन उपर्युक्त रचनाग्रों से योगाचार दर्शन एवं प्रमाणशास्त्रों का ग्रभिप्राय ग्रधिक स्पष्ट हुग्रा है। इनके सारे ग्रन्थ प्रायः टीका के रूप में ही उपलब्ध होते हैं। इनका कोई स्वतन्त्र या मौलिक ग्रन्थ था कि नहीं, यह ज्ञात नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस योगाचार दर्शन का ग्रार्य ग्रसंग ने प्रवर्तन किया था, ग्राचार्य वसुबन्धु, स्थिरमति एवं विनीतदेव ग्रादि ने ग्रपने स्वतन्त्र तर्क एवं युक्तियों से उसका पोषण एवं वर्धन किया। ग्राचार्य दिङ्नाग ग्रौर धर्मकीर्ति ग्रादि यद्यपि कुछ भिन्न धारा के थे, तथापि वे योगाचार दर्शन के ही ग्रनुयायी थे ग्रौर उन्होंने ग्रपनी युक्तिप्रधान रचनाग्रों से उसके सिद्धान्तों को पुष्ट किया है।

प्रस्तुत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि

ग्रौर उसकी

गूढार्थदीपनी व्याख्या

मूलग्रन्थ—ग्राचार्य वसुबन्धु की प्रस्तुत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के दो ग्रंश हैं। विंशतिका-प्रकरण एवं त्रिंशिका-प्रकरण। विंशतिका में बीस तथा त्रिंशिका में तीस कारिकायें हैं। उपलब्ध विंशतिकाप्रकरण में कुल २२ कारिकायें हैं, फिर भी उसे क्यों विंशतिका कहा जाता है? इस विषय में हम ग्रपने विचार ऊपर 'विंशिका ग्रौर त्रिंशिका प्रकरणद्वय' के ग्रवसर पर प्रकट कर चुके हैं। विंशतिका पर ग्रन्थकार की स्ववृत्ति है तथा त्रिंशिका पर ग्राचार्य स्थिरमति का भाष्य है। मूलग्रन्थ से तात्पर्य हमारा वृत्ति ग्रौर भाष्य के साथ दोनों प्रकरणों से है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमने चार संस्करणों से सहायता ली है। पहला है श्री सिल्वाँ लेवी द्वारा सम्पादित एवं १९२५ में पेरिस से प्रकाशित संस्करण। यही संस्करण हमारा ग्राधारभूत रहा है ग्रौर इसे हमने 'ग्र' संकेत द्वारा बोधित किया है। इसी संस्करण की छायाप्रति जापान से भी प्रकाशित हुई है। हमने उसे वहाँ से मँगाकर प्राप्त की। उसके ग्रन्त में एक संशोधनपत्र दिया हुग्रा है। वह संशोधनपत्र हमें बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुग्रा

और उसका हमने भरपूर उपयोग किया। यद्यपि वह प्रति कोई भिन्न संस्करण नहीं है, तथापि क्योंकि उसके संशोधनपत्र का हमने उपयोग किया है, इसलिये उसे हमने 'ब' संकेत द्वारा बोधित किया है। तीसरा संस्करण प्रस्तुत ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद है, जो तंजूर में संगृहीत है। उससे मिलान करने पर जहाँ हमें पाठभेद प्रतीत हुआ, उसे हमने तिब्बती से संस्कृत में रूपान्तरित करके पादटिप्पणी में दे दिया है। इस संस्करण को हमने 'स' संकेत द्वारा बोधित किया है। नमग्यल इन्स्टीच्यूट, सिक्किम से प्रकाशित सवृत्ति विंशतिका को हमने 'द' संकेत द्वारा बोधित किया है। उचित पाठ के चयन में हमने बड़ी सावधानी बरती है। इस कार्य में हमें आचार्य विनीतदेव की टीका से भी बड़ी सहायता मिली है। स्वयं विनीतदेव ने भी कुछ स्थलों पर पाठभेदविमर्श प्रस्तुत किया है, जिसका गूढार्थ-दीपनी में हमने उल्लेख किया है। जो पाठ सर्वथा उचित प्रतीत हुआ, उसे हमने मूल में दिया है तथा अवशिष्ट पाठों का उल्लेख संस्करण-निर्देश के साथ पादटिप्पणी में कर दिया गया है। पूर्ववर्ती संस्करणों का सन्दर्भ (पैरा)-विभाजन एवं अर्धविराम, पूर्णविराम आदि का संयोजन हमें बिलकुल पसन्द नहीं आया। फलतः प्रसङ्ग के अनुरूप तथा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष आदि को स्पष्ट करने के लिये नये सिरे से हमने सन्दर्भबिभाजन एवं अल्पविराम, पूर्णविराम आदि का संयोजन किया है। इस तरह हमने प्रस्तुत संस्करण को आधुनिक दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक बनाने का यथासम्भव प्रयास किया है।

अनुवाद—बहुसंख्यक जिज्ञासुओं को विषयबोध कराने के लिये हमने मूल का ठीक उसके नीचे राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। अनुवाद को पूर्ण शास्त्रीय एवं प्रामाणिक बनाने की भरसक चेष्टा की गई है। अनुवाद के नियम का कहीं भी उल्लंघन नहीं किया गया। भाषासौष्ठव एवं सुगमतया भावावबोध के लिये जहाँ अतिरिक्त शब्द या वाक्य का अध्याहार करना पड़ा है, वहाँ हमने उसे कोष्ठक में दे दिया है। अतिक्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों के यथासम्भव पर्यायवाची शब्द तथा पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष आदि का निर्देश भी कोष्ठक में कर दिया गया है। हमारा यह प्रयास रहा है कि पाठक केवल अनुवाद पढ़ कर भी ग्रन्थगत विषयवस्तु को हृदयङ्गम कर लें। हमारा विश्वास है कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ या उसमें अल्पज्ञ जिज्ञासुओं को इससे अवश्य लाभ पहुँचेगा।

गूढार्थदीपनी व्याख्या

शताब्दियों के अन्तराल के बाद इधर लगभग सौ सवा सौ वर्षों से बौद्ध वाङ्मय की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। एशियाई पड़ोसी देशों में यद्यपि बौद्ध धर्म, दर्शन एवं साधना की अविच्छिन्न परम्परा प्रचलित रही, किन्तु परतन्त्रता के काल में हमारा उनसे किसी तरह का कोई सांस्कृतिक सम्बन्ध न रहा। न विद्वानों का आदान-प्रदान और न भाषा की जानकारी। विदेशी भाषा के रूप में केवल अंग्रेजी से ही हमारा कुछ परिचय था। स्वतन्त्रता-संग्राम के काल में जैसे जैसे सांस्कृतिक चेतना का उन्मेष एवं विकास हुआ, अधिकाधिक विद्वान् इस दिशा में कार्यरत हुये। स्वतन्त्रता के बाद प्रबुद्ध वर्ग में बौद्ध अध्ययन के प्रति विशेष रुचि जागरित हुई है। किन्तु सामग्री का अत्यधिक अभाव है। पालिभाषा में निबद्ध बौद्ध वाङ्मय पर तो इधर कुछ कार्य हुआ भी है, यद्यपि वह भी नगण्य ही है, तथापि संस्कृत बौद्ध वाङ्मय पर तो और भी कम कार्य हुआ है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के विशेष अध्यवसाय से सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों का उद्धार हुआ है, किन्तु उनमें से अधिकांश का अभी तक वैज्ञानिक सम्पादन एवं प्रकाशन ही नहीं हुआ है। भारतीय शासन के विशेष अनुदान से 'मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभङ्गा' से यद्यपि कुछ सूत्रों और शास्त्रों का प्रकाशन हुआ है, तथापि प्रामाणिक एवं गम्भीर अध्ययन के लिये जितनी सामग्री अपेक्षित होती है, उसका अभी तक अभाव ही है।

ज्ञात है कि बौद्धदर्शन अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त है। उनमें से चार प्रमुख हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद)। योगाचार दर्शन भी आगमानुयायी एवं युक्त्यनुयायी भेद से दो भागों में विभक्त है।

प्रस्तुत (विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि) ग्रन्थ इनमें में आगमानुयायी योगाचार दर्शनशाखा का है। आर्यसन्धिनिर्मोचन, सुवर्णप्रभास, लङ्कावतार एवं दशभूमिक सूत्र, आर्य मैत्रेयनाथ एवं आर्य असंग के ग्रन्थ इस शाखा के आकरग्रन्थ हैं। इनमें से अधिकांश संस्कृत में अनुपलब्ध हैं। फिर भी तिब्बती भाषा में प्रायः सभी का अनुवाद उपलब्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ यद्यपि अत्यन्त लघुकाय है, तथापि आगमानुयायी योगाचार दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वसुबन्धु की रचनाशैली की यह विशेषता है कि वे बहुत बड़ी बात का अत्यल्प शब्दों में प्रतिपादन कर देते हैं। फलतः इसमें विज्ञानवाद की दृष्टि से प्रायः सभी ज्ञातव्य बातों का सन्निवेश हो गया है। इतना ही नहीं, स्वपक्षसाधन के साथ-साथ पर पक्ष का निराकरण भी युक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है। यह ग्रन्थ गागर में सागर की उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ करता है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण यह अनेक उच्च शिक्षासंस्थाओं में बौद्धदर्शनसम्बन्धी पाठ्यक्रम में निर्धारित है।

अध्ययन-अध्यापन के प्रसङ्ग में हमें यह अनुभव हुआ कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर कुछ ऐसा ठोस कार्य होना चाहिये, जिससे इसके गूढ अर्थ ठीक-ठीक प्रकाश में आ जायँ। इस अभिप्राय से हमने अपनी व्याख्या का नाम 'गूढार्थदीपनी' रखा।

बौद्धदर्शन की अध्ययन-परम्परा के बीच में विशृङ्खलित हो जाने से तथा पुष्कल टीका-ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने से सर्वप्रथम मूल-ग्रन्थों के बारे में प्राचीन दृष्टिकोण ही स्पष्ट नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थिति में उन पर नये दृष्टिकोण से यदि कुछ कार्य किया भी जाता है तो वह प्रायः अपूर्ण ही रह जाता है। फलतः इस टीकानिर्माण के पीछे हमारा यह सतत दृष्टिकोण रहा कि इस दर्शनशाखा के विषय में प्राचीन विद्वानों के जो विचार थे, वे आधुनिक विद्वानों के समक्ष आ जायँ, जिससे इस विषय का सविधि अध्ययन प्रारम्भ हो सके। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर टीका लिखना तो एक निमित्तमात्र था। इस बहाने आगमानुयायी योगाचार-दर्शनविषयक समस्त ज्ञातव्य सामग्री प्रस्तुत कर देना, हमारा उद्देश्य रहा है। इतना ही नहीं, खास-खास दार्शनिक मुद्दों पर विचार करते समय हमने समस्त बौद्ध दर्शन-प्रस्थानों के साथ तुलनात्मक एवं समीक्षणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है, जिससे कि विषय का अभ्रान्त एवं अमिश्रित परिच्छेद (अवबोध) हो सके।

ज्ञात है कि तिब्बत में बौद्धदर्शन की अध्ययनपरम्परा अविच्छिन्नरूप से प्रचलित रही है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पर अनेक आचार्यों की टीकायें वहाँ अनुवाद के रूप में उपलब्ध रही हैं। सौभाग्य से संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन ग्रन्थालय में जापान से प्रकाशित समस्त तिब्बती कग्युर और तंजूर संग्रह खरीद

कर आगये। हमने उनका भरपूर उपयोग किया। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की अनेक टीकाओं में आचार्य विनीतदेव की टीका हमें बहुत पसन्द आई। उनकी शैली बड़ी प्राञ्जल एवं विषय के प्रतिपादन का प्रकार अत्यन्त स्पष्ट है। साथ ही वृत्ति एवं भाष्य के साथ दोनों प्रकरणों पर उनकी एक पूर्ण टीका है। फलत: अपनी टीका के निर्माण में हमने उसके तिब्बती अनुवाद को ही आधार बनाया। हमारी टीका उसका अक्षरश: अनुवाद नहीं है, फिर भी हमने उसके समस्त भावार्थ को अपने ढंग से ले लिया है। तथा उसे अनेक सूत्र एवं शास्त्र ग्रन्थों से पुष्पित एवं पल्लवित किया है। हमारा विश्वास है कि यह गूढार्थदीपनी व्याख्या वसुबन्धु और स्थिरमति के अभिप्राय को खुलासा करने के साथ-साथ आगमानुयायी विज्ञानवाद के अध्ययन के लिये महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध होगी।

टिप्पणी- इस टीकाग्रन्थ के निर्माण में हमने पचास से अधिक प्रमुख ग्रन्थों का सहारा लिया है। जिन जिन ग्रन्थों से सहायता ली गई है, वहाँ उन उन ग्रन्थों की पृष्ठ संख्या पादटिप्पणी में दे दी गई है। विषय की प्रामाणिकता के लिये सम्बद्ध ग्रन्थों की पंक्तियाँ भी ग्रन्थनिर्देश एवं पृष्ठनिर्देश के साथ पादटिप्पणी में उद्धृत की गई हैं। विषय के विस्तृत ज्ञान के लिये तथा तुलना के लिये भी सम्बद्ध ग्रन्थों के स्थल पृष्ठाङ्क के साथ पादटिप्पणी में निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके अलावा विषयावबोध के लिये कहीं कहीं पादटिप्पणी में हमने अपनी स्वतन्त्र टिप्पणियाँ भी दी हैं।

परिशिष्ट—ग्रन्थ को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिये हमने अन्त में दो परिशिष्ट उपनिबद्ध किये हैं। १. आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान कारिकायें (सभाष्य) तथा २. त्रिस्वभावनिर्देश (भाषानुवादसहित)।

समस्त बौद्ध दार्शनिक-प्रस्थानों में आगमानुयायी योगाचार दार्शनिक प्रस्थान ही एकमात्र ऐसा है, जो विज्ञानों की संख्या ८ मानता है। बाकी सब छह विज्ञान मानते हैं, यथा—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान। आगमानुयायी विज्ञानवादी दो विज्ञान अधिक मानते हैं—१. आलयविज्ञान एवं २. क्लिष्ट मनोविज्ञान। वैसे भेदकारण तो अनेक हैं, फिर भी इन दो अतिरिक्त विज्ञानों की मान्यता भी उन्हें, प्रमुखत: अन्य दार्शनिक प्रस्थानों से पृथक् करती है। फलत: यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि "इन दो अतिरिक्त विज्ञानों को मानने की क्या अनिवार्यता थी, इन्हें बिना माने

संसार और निर्वाण की व्यवस्था में क्या कमी पड़ रही थी, इन्हें मानने में युक्ति और आगम प्रमाण क्या हैं तथा इनका वास्तविक स्वरूप क्या है"—इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने के लिये एक परिशिष्ट उपनिबद्ध किया जाय। यद्यपि वसुबन्धु और स्थिरमति ने मूल और टीका में इस विषय पर प्रकाश डाला है, किन्तु वह इतना संक्षेप में है कि उससे जिज्ञासुओं को पर्याप्त समाधान नहीं हो पाता। फलतः तद्विषयक विशेष एवं अशेष जानकारी के लिये परिशिष्ट का संयोजन किया गया।

ज्ञात है कि तिब्बत में सातवीं शताब्दी से ही बौद्धदर्शन के अध्ययन की प्राचीन परम्परा अभी तक अक्षुण्ण है। वहाँ के मनीषियों ने न केवल भारतीय आचार्यों के ग्रन्थों को अध्ययन-अध्यापन के द्वारा जीवित ही रखा है, अपितु उनके ऊपर प्रौढ़ टीका, टिप्पणी आदि लिखकर तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण कर बौद्ध विद्याओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। तिब्बत विश्व में बौद्धदर्शन के विशेषतः उसकी महायान शाखा के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र रहा है।

आचार्य चोंखापा सुमतिकीर्ति तिब्बत में ऐसे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रतिभावान् पण्डित हो गये हैं, जिनकी तुलना पाण्डित्य के क्षेत्र में हम भारतीय आचार्य वाचस्पति मिश्र से कर सकते हैं। चोंखापा जी ने बौद्धदर्शन के प्रायः सभी प्रस्थानों के मूल ग्रन्थों पर टीकायें लिखी हैं और स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण भी किया है। उन्होंने जिस प्रस्थान पर जो लिख दिया, उस प्रस्थान का वह आकरग्रन्थ ही हो गया। उनके ग्रन्थों की प्रामाणिकता भारतीय आचार्यों के ग्रन्थों की ही भाँति मानी जाती है। उन्होंने 'आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान कारिकायें' नाम से तिब्बती में पद्यबद्ध एक लघुकाय ग्रन्थ का निर्माण किया है। साथ ही गद्य में उस पर तिब्बती में भाष्य भी लिखा है। परिशिष्ट लिखने के लिये हमने उसी को चुन लिया। उनकी पद्यपद्ध तिब्बती कारिकाओं का हमने संस्कृत कारिकाओं में रूपान्तर कर दिया तथा भाष्य का हिन्दी में अनुवाद कर दिया। इस प्रकार हमने आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान से सम्बन्धित प्रामाणिक सामग्री परिशिष्ट के रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

त्रिस्वभावनिर्देश आचार्य वसुवन्धु की ही कृति है। यह ग्रन्थ भी विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के ही समान विज्ञानवाद का ही है। इसमें कुल ३८ कारिकायें हैं। आचार्य ने इसमें परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न इन तीन स्वभावों का

विज्ञानवादी दृष्टिकोण से विशद विवेचन किया है। ज्ञातव्य है कि इन तीन स्वभावों में संसार और निर्वाण से सम्बद्ध सभी ज्ञेयों का समावेश हो जाता है और इनके स्पष्ट विवेचन से विज्ञानवादी दृष्टिकोण स्फुट हो जाता है। इसीलिये आचार्य ने इन के सम्यग् अवबोध के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया था। श्री सुजीत कुमार मुखोपाध्याय ने १९३९ ई० में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था और वह विश्वभारती से प्रकाशित भी हुआ था। किन्तु इधर वह अप्राप्य था। केवल अच्छे पुस्तकालयों में ही उसकी प्रति देखने को मिलती थी। हमने द्वितीय परिशिष्ट के रूप में उसे उपनिबद्ध कर दिया, जिससे वह विद्वानों को सुलभ हो जाय। साथ ही उसका हिन्दी में अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया, जिससे वह सभी लोगों के लिये सुगम हो जाय। हमने इस पर किसी तरह की टीका, टिप्पणी आदि की इसलिये आवश्यकता नहीं समझी, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में तीन स्वभावों के प्रकरण में उन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। विद्वानों के समक्ष अध्ययन-सामग्री प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य रहा है। परिशिष्ट के रूप में इस ग्रन्थ का संयोजन उसी उद्देश्य से प्रेरित है। आशा है, इससे विद्वानों को सन्तोष होगा।

बौद्ध दर्शन के परिभाषिक शब्दों का ग्रन्थ में जिस पृष्ठ पर विशेष विवरण दिया हुआ है, शब्दानुक्रमणिका में उस पृष्ठाङ्क को हमने 'वि०' चिह्न से बोधित कर दिया है, जिससे जिज्ञासुओं को तद्विषयक जानकारी आसानी से हो जाय।

ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का हमने हरसम्भव प्रयास किया है। इस ग्रन्थ के माध्यम से विज्ञानवाद दर्शन के अध्ययन को प्रस्तुत करना, हमारा उद्देय था। इसमें हम कहाँ तक सफल हुये, इसका मूल्याङ्कन विद्वानों का विषय है। विद्वानों को इससे कुछ भी सन्तोष हुआ या विज्ञानवादी दर्शनप्रस्थान के अध्ययन में कुछ भी सहायता मिली, तो हम अपने को कृतार्थ समझेंगे। विषय के प्रतिपादन के लिये सामग्री का संकलन हमने प्रायः प्रामाणिक ग्रन्थों से किया है। विषय-गाम्भीर्य विद्वानों से तिरोहित नहीं है। यदि कहीं त्रुटि या असंगति प्रतीत हो तो सहृदय विद्वज्जन उसे हमारी असमर्थता समझकर हमें क्षमा करने की कृपा करें।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति पण्डित श्री सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी के हम आभारी हैं, जिन्होंने हमारे इस ग्रन्थ की निर्माणयोजना को स्वीकार करके तथा विश्वविद्यालय द्वारा उसके प्रकाशन की अनुमति देकर हमें प्रोत्साहित किया है।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति डा० सत्यव्रत सिंह के हम कृतज्ञ रहेंगे, जिनकी सदाशयता एवं कार्यतत्परता की वजह से हम इस ग्रन्थ को अतिशीघ्र विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं।

परमादरणीय पण्डित श्री जगन्नाथ उपाध्याय (अध्यक्ष-पालिविभाग, वा० सं० वि० वि०, वाराणसी) हमारे गुरु हैं। उनसे हमें इस कार्य में सदा प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा। त्रिस्वभावनिर्देश को परिशिष्ट के रूप में देने का सुझाव उनका ही था। यह ग्रन्थ उनके आशीर्वाद एवं कृपा का फल है। हम उनके प्रति श्रद्धावनत हैं।

भूतपूर्व अनुसन्धानसंचालक पण्डित श्री बलदेव उपाध्याय के प्रति हम अपना आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने हमारी योजना पसन्द की तथा प्रेस आदि की सुचारु व्यवस्था कर प्रकाशन के अनुकूल वातावरण का निर्माण किया, जिससे हम शीघ्रतया ग्रन्थ प्रकाश में ला सके।

वर्तमान अनुसन्धानसंचालक डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी (वागीश शास्त्री) के हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने हमारी सारी समस्यायें सुलझाने में पूर्ण सहायता प्रदान की तथा 'वक्तव्य' लिखकर हमें प्रोत्साहित किया है।

पण्डित श्री सुबोधचन्द्र पन्त (छात्रसंरक्षकसहायक) के हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने सारी कार्यव्यस्तता के बीच समय निकाल कर हमारी प्रथम परिशिष्ट की समस्त संस्कृत कारिकाओं को ध्यानपूर्वक देखकर उन्हें परिष्कृत रूप प्रदान करने में अमूल्य सहायता प्रदान की।

अन्त में हम सुदर्शन मुद्रणालय के व्यवस्थापक, मैनेजर एवं वहाँ के समस्त कर्मचारियों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जिनके सद्व्यवहार एवं कार्यकुशलता ने हमें अत्यधिक आकृष्ट किया है। अनेकविध कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने जिस तत्परता और सौजन्य से सुचारुतया कार्य सम्पादन किया है, वह सराहनीय है।

भवतु सर्वमङ्गलम्

धर्मचक्रप्रवर्तनदिवस

दिनाङ्क ८ जुलाई १९७१

थुबतनछोगडुप शास्त्री

एवं

रामशङ्कर त्रिपाठी

सहायकग्रन्थ-अनुक्रमणिका

और

संकेत-विवरण

अ०—सिल्वाँ लेवी द्वारा सम्पादित विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का १९२५ ई० में पेरिस से प्रकाशित संस्करण

अ० नि०—अंगुत्तरनिकाय, नालन्दा संस्करण

अट्ठ०—अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि-अट्ठकथा), भण्डारकर ओरियन्टल सीरीज़, पूना, १९४२ ई०

अभि० स०—अभिधम्मत्थसंगहो, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी संस्करण, १९६७ ई०

अभि० को—अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा अनूदित, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद १९५८ ई०

अभि० को० भाष्य०—अधिधर्मकोशभाष्य, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना १९६७ ई०

अभि० दी०—अभिधर्मदीप, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना १९५९ ई०

अभि० मृ०—अभिधर्मामृत, विश्वभारती शान्तिनिकेतन १९५३ ई०

अभि० समु०—अभिधर्मसमुच्चय, विश्वभारती शान्तिनिकेतन १९५० ई०

अभिसमयालङ्कारकारिका (आर्यमैत्रेयनार्थविरचित)—अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभङ्गा १९६० ई०

आलम्बनपरीक्षा (दिङ्नागकृत)—एन० अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित, आड्यार लायब्रेरी १९४२ ई०

आलम्बनपरीक्षावृत्ति—(दिङ्नागकृत) एन० अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित, आड्यार लायब्रेरी १९४२ ई०

आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र—तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण

कर्मशतक—तिब्बती कग्युर, जापानी संस्करण

का०—कारिका

खु० नि०—खुद्दकनिकाय, नालन्दा संस्करण

डिक्शनरी ग्राफ पालि-प्रापर नेम्स—पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, सन् १९६० ई०

तत्त्व०—तत्त्वसंग्रह, बौद्धभारती वाराणसी १९६८ ई०

तत्त्वकौमुदी—(वाचस्पतिमिश्रकृत सांख्यकारिका की टीका)

तर्कज्वाला—(भावविवेककृत) मध्यमकहृदय की टीका, तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण

तु०—तुलनीय

त्रिस्वभावनिर्देश—(वसुबन्धुकृत) विश्वभारती १९३९

द०—विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का नमग्यल इन्स्टीच्यूट, सिक्किम से प्रकाशित संस्करण

दशभूमिकसूत्र—रोमन संस्करण, पेरिस, १९२६ ई०

द्र०—द्रष्टव्य

द्वि० भा०—द्वितीय भाग

ध० स०—धम्मसंगणि, नालन्दा संस्करण

ध० स० मू० टी०—धम्मसंगणि-मूलटीका, बुद्धशासन समिति, बर्मा

नेयार्थनीतार्थविभंगशास्त्र—(ग्राचार्य चोंखापा-कृत) जापानी संस्करण

न्यायबिन्दु—(धर्मकीर्तिकृत) काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना १९५५ ई०

प० दी०—परमत्थदीपनी, बर्मी संस्करण

पंचस्कन्धप्रकरण—(वसुबन्धुकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण

पंचस्कन्धोपनिबन्ध—(स्थिरमतिकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण

परि०—परिच्छेद

पृ०—पृष्ठ

प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रवृत्ति—(वसुबन्धुकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण

प्र० भा०—प्रथम भाग

प्र० वा०—प्रमाणवार्तिक, बौद्धभारती, वाराणसी १९६८ ई०

प्रसन्न०—प्रसन्नपदा (चन्द्रकीर्तिविरचित मध्यमककारिकाटीका) मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा १९६० ई०

पाणिनीय ग्रष्टाध्यायी—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

ब०—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की छायाप्रति का संशोधनपत्र, जापानी-प्रकाशन
बहुधातुकसूत्र—तिब्बती कग्युर, जापानी संस्करण
बोधि०—बोधिचर्यावतार, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा, १९६० ई०
बोधिसत्त्वभूमि—(असंगकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
मध्यमकावतार—(चन्द्रकीर्तिकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
मध्यान्तविभाग—(मैत्रेयनाथकृत) काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना १९६७ ई०
मध्यान्तविभागभाष्य—(वसुबन्धकृत) के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना १९६७ ई०
महा० सू०; म० सू०— महायानसूत्रालंकार, सिल्वाँ लेवी द्वारा प्रकाशित १९०७ ई०
महायानसंग्रह—(असंगकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
योगाचारभूमि—(असंगकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
यो० सू०—योगसूत्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
वि० – विशेष विवरण
विभ०—विभङ्ग,नालन्दासंस्करण
विभ० अ०—विभङ्ग-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति, बर्मा
विभा०—विभावनी (अभिधम्मत्थसंगहो की टीका) बर्मी संस्करण
वि० प्र० वृ०—विभाषाप्रभावृत्ति (अभिधर्मदीप की टीका) काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना १९५९ ई०
विवरणसंग्रह—(असंगकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
विंशतिकाटीका (विनीतदेवकृत) तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
विसु०—विसुद्धिमग्गो, बम्बई यूनिवर्सिटी
विसु० महा०—विसुद्धिमग्ग-महाटीका, बुद्धशासनसमिति, बर्मा
व्या० भा०—व्यासभाष्य (योगसूत्रभाष्य) लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
स० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का तिब्बती में अनूदित संस्करण, तिब्बती तंजूर, जापानी संस्करण
सांख्यकारिका—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
स्फु०—स्फुटार्था (अभिधर्मकोश की यशोमित्रकृत टीका) रोमन संस्करण, टोकियो जापान एवं बौद्धभारती, वाराणसी १९७० ई०

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७	७	विज्ञानदादी	विज्ञानवादी
१४०	१४	प्रवत्तिविज्ञान	प्रवृत्तिविज्ञान
१४१	२१	इद्रिय	इन्द्रिय
१५४	२७	आलविज्ञान	आलयविज्ञान
१६८	१६	अप्रमाद	प्रमाद
२४७	६	समस्त का	समस्त विज्ञानों का
२५१	२८	सममन्तरप्रत्यय	समनन्तरप्रत्यय
२६७	११	यथापि	तथापि
२६८	२८	सर्वया	सर्वथा
२७१	२६	व्यभिचारी	व्यभिचार
२८८	२६	विनिष्ट	विनष्ट
३०२	११	धर्मरात्म्य	धर्मनैरात्म्य
३०६	६	हो सकती	प्रज्ञप्ति
३०६	१४	शून्तता	शून्यता
३३४	३	धर्मधातुपयार्याः	धर्मधातुपर्यायाः
३३८	१४	ज्ञान की अवस्था	प्रत्यक्ष ज्ञान की अवस्था
३४८	३	स्वचित्तधमंतायां	स्वचित्तधर्मतायां
३५१	४	धर्माख्योऽर्य	धर्माख्योऽयं
३५४	१८	क्रकशः	क्रमशः
३५८	२	द्वयावरणलणम्	द्वयावरणलक्षणम्
३६०	३०	दीष्ठुल्य	दौष्ठुल्य
३६१	१६	अनास्राव	अनास्रव
३६३	१	शून्यया	शून्यता
३६३	७	प्रत्यामवेद्य	प्रत्यात्मवेद्य
३६४	२०	धर्नकाय	धर्मकाय
३६५	४	समान से	समान रूप से
३६७	२	कायविनिय	कायविनियत

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्ट—२

आचार्यवसुबन्धुप्रणीता

विंशतिका

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

सवृत्तिका

॥ नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ॥

विंशतिकाकारिकाः

विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।
यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥१॥
यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः ।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च ॥२॥
देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत् प्रेतवत् पुनः ।
सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥३॥
स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया नरकवत् पुनः ।
सर्वं नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने ॥४॥
तिरश्चां सम्भवः स्वर्गे यथा न नरके तथा ।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते ॥५॥
यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा ।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते ॥६॥
कर्मणो वासनाऽन्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते ।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम् ॥७॥

रूपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति ।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥८॥

यतः स्वबीजाद् विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते ।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत् ॥९॥

तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः ।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना ॥१०॥

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः ।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥११॥

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।
षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥१२॥

परमाणोरसंयोगे तत्संघातेऽस्ति कस्य सः ।
न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति ॥१३॥

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते ।
छायावृती कथं वाऽन्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते ॥१४॥

एकत्वे न क्रमेणेतिर्युगपन्न ग्रहाग्रहौ ।
विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत् ॥१५॥

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा ।
न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥१६॥

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः स्मरणं ततः ।
स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति ॥१७॥

अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः ।
मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम् ॥१८॥

मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा ।
स्मृतिलोपादिकाऽन्येषां पिशाचादिमनोवशात् ॥१९॥

कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः ।
मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति ॥२०॥
परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथं यथा ।
स्वचित्तज्ञानमज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः ॥२१॥
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया ।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः ॥२२॥

॥ विंशतिकाकारिकाः समाप्ताः ॥

—:०:—

॥ नमो मञ्जुश्रिये ॥

विंशतिका

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

स्ववृत्तिसहिता

१. महायाने त्रैधातुकं विज्ञप्तिमात्रं व्यवस्थाप्यते "चित्तमात्रम्, भो जिनपुत्राः, यदुत त्रैधातुकम्[1]" इति सूत्रात्। चित्तं मनो विज्ञानं विज्ञप्ति-

'चित्तमात्रं भो जिनपुत्राः०'–इस सूत्र (के प्रमाण) से महायान में तीनों धातुएँ विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थापित की जाती हैं। चित्त, मनस्, विज्ञान और विज्ञप्ति–ये

गूढार्थदीपनी

चित्तं यस्य समस्तवस्त्ववितथार्थज्ञानराश्यात्मकम्
गात्रं शक्रधनुर्विशोभिगणनातीतार्कतुल्यप्रभम्।
षष्टिब्रह्मविकस्वरस्वरवचोभाः कीर्यते सर्वतः
तं मञ्जुश्रियमानतोऽस्मि रतिमानद्वैतसद्देशिकम् ॥१॥
विज्ञप्तिशास्त्रार्थमवेक्ष्य नानामतावृतत्वान्मलिनस्वरूपम्।
तदागमैर्न्यायिचयैरदोषैर्वचिम प्रहृष्टो वसुबन्धुभावम् ॥२॥

१. अनुसन्धि—'महायाने०'–इस प्रथम वाक्य द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ के अभिधेय, प्रयोजन आदि अनुबन्धचतुष्टय का प्रदर्शन किया गया है। इनमें से अभिधेय, प्रयोजन और प्रयोजन-प्रयोजन को तो साक्षात् प्रदर्शित किया गया है; किन्तु सम्बन्ध का प्रदर्शन सामर्थ्यतः

---

१. द्र०–दशभूमिकसूत्र, पृ० ४६।

यह वचन किस सूत्र का है, इसका निर्देश आचार्य विनीतदेव आदि टीकाकारों ने अपनी टीका में नहीं किया है; किन्तु आचार्य भावविवेक, चन्द्रकीर्ति आदि विद्वानों ने विज्ञानवाद का खण्डन करते समय इसे (इस वचन को) 'दशभूमिकसूत्र' का वचन कहते हुये खण्डन किया है। इतना ही नहीं, भोट (तिब्बत) देश के महापण्डित आचार्य

श्चेति पर्यायाः। चित्तमत्र ससम्प्रयोगमभिप्रेतम् । मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम् ।

(सब) पर्यायवाची हैं। यहाँ 'चित्त' शब्द ससम्प्रयोग (चैतसिकों के साथ) अभिप्रेत है। 'मात्र' शब्द बाह्यार्थ के प्रतिषेध के लिये है।

किया गया है। ग्रन्थ के आदि में अभिधेय आदि को दिखलाना आवश्यक होता है; क्योंकि इन्हें बिना जाने प्रेक्षावान् श्रोता किसी भी शास्त्र में प्रवृत्त नहीं होते।

त्रैधातुकं विज्ञतिमात्रं व्यवस्थाप्यते—इस वाक्यांश द्वारा अभिधेय और प्रयोजन का साक्षात् कथन किया गया है। ग्रन्थ में तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्रता का युक्ति और आगम दोनों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। अतः विज्ञप्तिमात्रता ही प्रस्तुत प्रकरण का 'अभिधेय' है। तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्रता का सम्यक् व्यवस्थापन इसका 'प्रयोजन' है। यह प्रकरण इस प्रयोजन की सिद्धि में साधनभूत है, अतः इस विंशिका प्रकरण और उक्त प्रयोजन में उपाय-उपेय 'सम्बन्ध' है—यह सामर्थ्यतः सिद्ध होता है।

महायाने—यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्रता के व्यवस्थापन का क्या प्रयोजन है ?

चोंखा-पा सुमतिकीर्ति आदि ने भी इसे दशभूमिक सूत्र का ही वचन कहा है। उपलब्ध दशभूमिक सूत्र में यह वचन ठीक वैसे ही नहीं मिलता, जैसा आचार्य वसुबन्धु ने इसे अपनी 'वृत्ति' में उद्धृत किया है। उपलब्ध दशभूमिक सूत्र में "भो जिनपुत्राः"–यह सम्बोधन नहीं मिलता, केवल "चित्तमात्रं यदिदं त्रैधातुकम्"–यह पाठ मिलता है।

दशभूमिक सूत्र कोई स्वतन्त्र सूत्र नहीं है, अपितु वह बुद्धावतंसक सूत्र का ३१ वाँ परिच्छेद है। इस (दशभूमिक सूत्र) के ऊपर सिंहली आचार्य पृथ्वीबन्धु ने टीका भी लिखी है। तिब्बती भाषा में मूल सूत्र और टीका दोनों का अनुवाद उपलब्ध है। तिब्बती में अनूदित बुद्धवचनों में इसके अतिरिक्त कोई दशभूमिक सूत्र उपलब्ध नहीं है। इसमें तथा संस्कृत भाषा और रोमन लिपि में प्रकाशित उपलब्ध दशभूमिक सूत्र दोनों में 'भो जिनपुत्राः' यह अंश नहीं है। सम्भव है, पहले कोई दूसरा दशभूमिक सूत्र संस्कृत में हो, जिसमें 'भो जिनपुत्राः' यह अंश रहा हो और जिसका तिब्बती में अनुवाद न हुआ हो—यह सब विद्वानों द्वारा विचारणीय है।

आचार्य चन्द्रकीर्ति के मध्यमकावतार-भाष्य के अवलोकन से यह निश्चित हो जाता है कि उपर्युक्त सूत्रवचन अवतंसक के अन्तर्गत संगृहीत दशभूमिक सूत्र का ही है। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने आचार्य वसुबन्धु द्वारा उद्धृत सूत्रवचन के आगे-पीछे का और भी बहुत सा पाठ अपने भाष्य में उद्धृत किया है, जो उपलब्ध दशभूमिक सूत्र के पाठ से बिलकुल भिन्न नहीं है।

इसी शङ्का के समाधान के लिये 'महायाने' पद का प्रयोग किया गया है। अर्थात् यहाँ जो तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन किया गया है, वह महायान में प्रवेश के निमित्त है अथवा महायान को प्राप्त करने के निमित्त है और यही इस प्रकरण का 'प्रयोजन-प्रयोजन' है।

विशेष—'यात्यनेनेति यानम्' अर्थात् जिसके द्वारा जाया जाता है, उसे 'यान' कहते हैं। अथवा—'यात्यस्मिन्निति यानम्' अर्थात् जिसमें गमन किया जाता है, उसे भी 'यान' कहते हैं। 'महच्च तद् यानं महायानम्' अर्थात् जो बड़ा भी है और यान भी है, वह 'महायान' है।

तात्पर्य यह है कि बोधिसत्त्व के मार्ग और फल को 'महायान' कहते हैं। 'यान' शब्द के उपर्युक्त दो विग्रहों में से प्रथम विग्रह 'मार्ग' का सूचक है तथा द्वितीय विग्रह 'फल' का अवबोधक है। बोधिसत्त्व का यान (मार्ग और फल) 'महा' इसलिये कहा जाता है; क्योंकि यह अन्य श्रावक आदि यानों से उत्तम और विशिष्ट होता है।

श्रावक आदि अन्य यानों में केवल पुद्गलनैरात्म्य[१] का ज्ञान हुआ करता है और उससे केवल क्लेशावरण[२] का ही प्रहाण होता है; किन्तु इस बोधिसत्त्वयान में पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य[१] दोनों का ज्ञान होता है और उनसे क्लेशावरण और ज्ञेयावरण[२] दोनों का प्रहाण होता है।

अथवा—यह बोधिसत्त्वयान सप्तविध महत्त्व से युक्त होने के कारण 'महा' कहलाता है, यथा—

आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा।
ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च॥
उदागममहत्त्वं च महत्त्वं बुद्धकर्मणः।
एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते[३]॥

अर्थात् १. आलम्बन महत्त्व, २. प्रतिपत्ति महत्त्व, ३. ज्ञानमहत्त्व, ४. वीर्यारम्भ महत्त्व, ५. उपाय-कौशल महत्त्व, ६. समुदागम महत्त्व तथा ७. बुद्धकर्म महत्त्व।

१. आलम्बन महत्त्व—बोधिसत्त्वयान अनन्त सूत्रों तथा शास्त्रों से सम्पन्न है। ऐसा नहीं है कि वह सीमित सूत्र आदि से ही युक्त हो। कहने का अभिप्राय यह है कि

१-१. विज्ञानवाद के अनुसार कूटस्थ, शाश्वत, नित्य आत्मा का अभाव 'पुद्गलनैरात्म्य' है तथा बाह्य अर्थों का अभाव 'धर्मनैरात्म्य' है।

२-२. विज्ञानवाद के मत में राग आदि ६ मूल क्लेश, ईर्ष्या आदि २० उपक्लेश और उनकी वासनाएँ 'क्लेशावरण' हैं तथा बाह्यार्थतः सत् ग्रहण करनेवाली बुद्धि और उसकी वासना 'ज्ञेयावरण' है।

३. द्र०—महायानसूत्रालङ्कार (गुणाधिकार), ५९-६० का०, पृ० १७१।

बोधिसत्त्व श्रावकयान से सम्बद्ध सूत्रों, प्रत्येकबुद्धयान से सम्बद्ध सूत्रों एवं बोधिसत्त्वयान से सम्बद्ध सूत्रों—इन सभी सूत्रों का श्रुत, चिन्ता और भावना द्वारा विधिवत् अभ्यास करते हैं, जिससे कि समस्त जीवों के या नाना अधिमुक्ति-(अध्याशय) वाले सत्त्वों के हितार्थ (वे) यथायोग्य उपदेश कर सकें। फलतः कोई भी सूत्र या शास्त्र बोधिसत्त्व के लिये हेय नहीं होता। इसीलिये बोधिसत्त्व अपरिमित सूत्रों का अध्ययन करते हैं।

हीनयान में ऐसा नहीं है, उसमें तो सीमित सूत्र ही ग्राह्य हैं। महायान से सम्बद्ध सूत्र एवं शास्त्र हीनयानियों के लिये त्याज्य होते हैं। वे हीनयानी सूत्रों का नेयार्थ एवं नीतार्थ के रूप में विभाजन कर उनका अभिप्राय प्रदर्शित नहीं कर पाते तथा न वे समस्त जीवों को सन्मार्ग पर आरूढ करने की दृष्टि से विचार करते हैं। वे अपनी ही मुक्ति के अभिलाषी होते हैं। फलतः अपरिमित सूत्रों से उनका कोई प्रयोजन नहीं होता।

२. **प्रतिपत्ति महत्त्व**—प्रतिपत्ति का तात्पर्य साधना से है। प्रतिपत्ति दो प्रकार की होती है, यथा— १. स्वार्थ प्रतिपत्ति और २. परार्थ प्रतिपत्ति। बोधिसत्त्वयान में परार्थ अर्थात् समस्त जीवों को बुद्धत्व प्राप्त कराना मुख्य उद्देश्य होता है। अर्थात् सभी जीवों को बुद्धत्व प्राप्त कराना बोधिसत्वों का परम कर्त्तव्य है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यह आवश्यक है कि बोधिसत्त्व स्वयं पहले बुद्धत्व प्राप्त कर लें, तभी वे दूसरों को बुद्धत्व प्राप्त करा सकते हैं। फलतः उनकी साधना में दो दृष्टियाँ होती हैं, यथा— १. समस्त जीवों को बुद्धत्व प्राप्त कराना, यह 'परार्थ प्रतिपत्ति' कहलाती है तथा २. इसके लिए पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करना, यह 'स्वार्थ प्रतिपत्ति' कहलाती है।

श्रावक आदि हीनयान में न तो परार्थ का महत्त्व है और न स्वार्थ ही पूर्णरूपेण सिद्ध होता है; क्योंकि हीनयान का उद्देश्य क्लेशावरण का प्रहाण होता है। हीनयानी क्लेशावरण के प्रहाणमात्ररूपी निर्वाण को ही अपना अन्तिम गन्तव्य लक्ष्य मानते हैं। फलतः वे ज्ञेयावरण का प्रहाण नहीं कर पाते और न उन्हें वैशारद्य आदि बुद्ध के अनुपम गुणों की ही प्राप्ति होती है। अतः वे स्वार्थ भी पूर्णतया सिद्ध नहीं कर पाते।

३. **ज्ञान महत्त्व**—बोधिसत्त्वयान में पुद्गलनैरात्म्यज्ञान और धर्मनैरात्म्यज्ञान—इन दोनों ज्ञानों का बड़ा महत्त्व है। दोनों नैरात्म्यों में से धर्मनैरात्म्य अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध होता है। धर्मनैरात्म्यज्ञान ज्ञेयावरण का प्रतिपक्ष होता है और उसके द्वारा सर्वावरणों का प्रहाण करके सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। इसी कारण वह (धर्मनैरात्म्य) बोधिसत्त्वों का मुख्य भाव्य होता है। श्रावक आदि हीनयान में धर्मनैरात्म्य का कुछ भी महत्त्व नहीं है और न वे उसे समझ ही पाते हैं। फलतः उन लोगों का मुख्य भाव्य (भावना करने योग्य) पुद्गलनैरात्म्यमात्र होता है।[1]

---

१. ऐसा विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक मानते हैं। इन दोनों मतवादों के अनुसार श्रावक और प्रत्येक बुद्ध केवल पुद्गलनैरात्म्यमात्र जानते हैं, वे धर्मनैरात्म्य

४. वीर्यारम्भ महत्त्व—बोधिसत्त्वयान द्वारा अल्प काल में ही अपना उद्देश्य (बुद्धत्वप्राप्ति) सिद्ध नहीं होता; अपितु अनेक कल्पों तक निरन्वर सोत्साह प्रयत्न करने से ही लक्ष्यसिद्धि होती है। हमारे भगवान् गौतम बुद्ध अनेक जन्मों पूर्व एक बार सुबोध पण्डित के रूप में उत्पन्न हुए थे। उसी जन्म में उनमें बोधिचित्त (बुद्धत्व प्राप्ति की दृढ इच्छा) उत्पन्न हुआ था। उन सुमेध पण्डित की भाँति यदि कोई व्यक्ति वीर्यशाली (सोत्साह प्रयत्नरत) हो तो तीन असंख्येय कल्पों में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है। यदि कोई उससे कम प्रयत्नशील होगा, तो बुद्धत्व प्राप्त करने में उसे ४–५ या इससे अधिक कल्प भी लग सकते हैं। इतने कालपर्यन्त बोधिसत्त्व बड़े उत्साह के साथ जगत्कल्याणार्थ अपनी साधनाविधि का अभ्यास करते रहते हैं। श्रावक आदि हीनयानी तो इसे सुनकर ही भयभीत होने लगते हैं। वे इतने समयपर्यन्त लगातार दूसरों का हित सम्पादन करने की हिम्मत नहीं कर पाते। वे अपने उपशम के लिये कुछ जन्मों तक ही प्रयत्न करने का साहस कर पाते हैं।

बिलकुल नहीं जानते।

फिर भी इन दोनों मतों में कुछ विशेषता है। स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में ऐसा एक व्यक्ति हो सकता है, जिसने पहले महायान में प्रविष्ट होकर धर्मनैरात्म्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो और बाद में महायान से च्युत होकर हीनयान में प्रविष्ट हो गया हो। ऐसा व्यक्ति हीनयानी होते हुये भी धर्मनैरात्म्य जान सकता है; क्योंकि यद्यपि वह व्यक्ति बोधिचित्त से भ्रष्ट होने के कारण महायान से च्युत हो गया है, तथापि उसके धर्मनैरात्म्यज्ञान से च्युत होने का कोई कारण उपस्थित नहीं है।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मतानुसार धर्मनैरात्म्यज्ञान द्वारा हीनयान से महायान का भेद नहीं किया जा सकता। उनके मतानुसार हीनयान में भी धर्मनैरात्म्यज्ञान अनिवार्यरूप से होता ही है। धर्मनैरात्म्यज्ञान के बिना अर्हत्त्व ही प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इन आचार्योंके दृष्टिकोणों में भेद का कारण पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य के स्वरूप के विषय में उनका आपसी मतभेद है।

विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक 'पाँच स्कन्धों से भिन्न नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा के अभाव' को पुद्गलनैरात्म्य मानते है। धर्मनैरात्म्य इससे सूक्ष्म, गम्भीर एवं स्वरूपतः भिन्न है। विज्ञानवादियों के अनुसार बाह्यार्थशून्यता धर्मनैरात्म्य है तथा स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के अनुसार परमार्थतः निःस्वभावता ही धर्मनैरात्म्य कहलाती है।

प्रासङ्गिक आचार्यों का कथन है कि दोनों नैरात्म्यों के स्वरूप में वस्तुतः स्थूल-सूक्ष्म आदि का कोई भेद नहीं होता; अपितु उनके धर्मी या आधार में ही केवल भेद होता है। पुद्गल निःस्वभावता 'पुद्गलनैरात्म्य' तथा रूप आदि धर्मों की निःस्वभावता 'धर्मनैरात्म्य' है। उपर्युक्त नित्य, शाश्वत, कूटस्थ आत्मा, जो तैर्थिकों द्वारा परिकल्पित है, उसका अभाव तो बहुत ही स्थूल विषय है। उसके जान लेने पर भी अविद्या में कोई खास बाधा नहीं पहुँचती। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार के षष्ठ प्रकरण में इस विषय का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है।

५. उपायकौशल महत्त्व—बोधिसत्त्वयान में साधना की बड़ी कुशलता होती है। बोधिसत्त्व सांवृतिक दृष्टि से भी कामराग आदि अधिकांश क्लेशों का प्रहाण नहीं करते, अपितु वे उन्हें परार्थ की सिद्धि के लिये मार्ग के रूप में परिणत कर देते हैं। परमार्थ दृष्टि से तो उनकी दृष्टि में कोई प्रहाण करने योग्य क्लेश होते ही नहीं; क्योंकि सभी हेय एवं उपादेय बाह्यार्थतः असत् होते हैं। कामराग आदि का परित्याग न करने पर भी बोधिसत्त्व या उनके चित्त संक्लिष्ट नहीं होते; क्योंकि वे राग आदि को मार्ग के रूप में परिणत कर देते हैं तथा उनकी शून्यता को यथावत् जानते हैं। अतएव आचार्यों ने 'संसारापरित्यागासंक्लेशतः' का प्रयोग किया है। इसका अर्थ उपर्युक्त प्रकार से ही है। ऐसा अर्थ नहीं है कि बुद्ध की अवस्था में संसार उपस्थित रहता है।

६. समुदागम महत्त्व—बोधिसत्त्वयान से दश बल, चार वैशारद्य तथा अष्टादश आवेणिक बुद्धधर्मों की सिद्धि होती है। श्रावक आदि हीनयान की साधना से तो केवल मोक्ष ही प्राप्त किया जा सकता है।

७. बुद्धकर्म महत्त्व—बोधिसत्त्वयान द्वारा जगत्-कल्याणार्थ विविध चरित्र दिखलाये जा सकते हैं। ये चरित्र अनेकविध होते हैं। उनमें अभिसम्बोधि चरित्र, महापरिनिर्वाण चरित्र आदि द्वादश चरित्र प्रधान हैं[1]। इन चरित्रों के प्रदर्शन से भिन्न-भिन्न रुचिवाले सत्त्वों का हित-सम्पादन किया जाता है। श्रावक आदि हैनयानिक साधक दूसरे सत्त्वों को उनके अध्याशय के अनुसार चरित्र नहीं दिखला सकते। फलतः वे उनका उद्धार नहीं कर पाते। हीनयानियों के कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म उनके अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये होते हैं। अतः उनके कर्म अनन्त न होकर सीमित ही होते हैं। वे नाना अधिमुक्तिवाले सत्त्वों को अपने या अपने धर्म की ओर आकृष्ट नहीं कर पाते। बोधिसत्त्वयान की ही यह विशेषता है कि वह सभी प्रकार की रुचिवाले सत्त्वों को तदनुरूप देशना द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

'महायाने' इसमें सप्तमी विभक्ति 'निमित्त' अर्थ में है[2]। अतः प्रथम वाक्य का अर्थ होता है—'महायान प्राप्त करने के लिये तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन किया जाता है'।

---

१. द्वादश चरित्र ये हैं, यथा—१. तुषित क्षेत्र से च्युति, २. मातृकुक्षि में प्रवेश, ३. लुम्बिनी उद्यान में अवतरण, ४. शिल्प विद्या में नैपुण्य एवं कौमार्योचित ललित क्रीडा, ५. रानियों के परिवार के साथ राज्यग्रहण, ६. वृद्ध रोगी आदि चार निमित्तों को देखकर ससंवेग प्रव्रज्या, ७. नेरंजना के तट पर छह वर्ष तक लगातार कठोर तपश्चरण, ८. बोधिवृक्ष के मूल में उपस्थिति, ९. मारसैन्यदमन, १०. वैशाख पूर्णिमा के दिन सम्यक्संबोधि की प्राप्ति, ११. धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा १२. महापरिनिर्वाण।

२. निमित्तात्कर्मयोगे (वार्तिक; सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६ पाणिनीय सूत्रपर) यथा—

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

इस प्रकरण द्वारा ग्राह्य-ग्राहक दृष्टि के प्रहाण का उपाय दिखलाया गया है। ग्राह्य-ग्राहक दृष्टि के समुन्मूलित हो जाने पर ही विज्ञप्तिमात्रता में प्रवेश होता है और धर्मधातु[1] का साक्षात्कार होता है। अन्ततोगत्वा तथागतपद या बुद्धत्व की भी प्राप्ति होती है।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही 'महायान' शब्द में निमित्तार्थक सप्तमी का प्रयोग किया गया है और यह (महायान) ही प्रयोजन का प्रयोजन है।

जिस प्रकार केवल चित्त-चैतसिकों के आधार पर आकाशानन्त्यायतन आदि चार अरूप धातुओं की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार चित्त और चैतसिकों के आधार पर ही तीनों धातुओं की व्यवस्था होती है; बाह्य अर्थों के आधार पर नहीं।

कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु इन तीनों को 'त्रैधातुक' कहते हैं।

कामधातु—कामगुणों के प्रति आसक्तधातु को 'कामधातु' कहते हैं। इस धातु में कुछ देव, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत, नारक सत्त्व और उनसे सम्बद्ध भाजन (वस्तुओं) का ग्रहण होता है।

रूपधातु—जो कामगुणों के प्रति तो अनासक्त है; किन्तु रूप के प्रति आसक्त है, उस धातु को 'रूपधातु' कहते हैं। इसमें सत्रह रूपी देव और तत्सम्बन्धी भाजन का ग्रहण होता है।

अरूपधातु—कामगुण और रूप के प्रति अनासक्त; किन्तु नाम (चार अरूपी स्कन्ध) के प्रति आसक्त धातु 'अरूपधातु' कहलाती है। इसमें चार अरूपी देव संगृहीत होते हैं।

अथवा—'महायाने' इसमें वैषयिक सप्तमी है। इसके अनुसार विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन करनेवाला महायानविषयक प्रवचनशास्त्र 'महायान' है, जैसे—प्रमाणविषयक शास्त्र 'प्रमाणशास्त्र' कहा जाता है।

ऊपर कहा गया है कि महायान में तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्रता का आगम और युक्ति के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यहाँ यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि वह कौन आगम है, जिसके द्वारा विज्ञप्तिमात्रताका प्रतिपादन होता है?

समाधान—

चित्तमात्रम्, भो जिनपुत्राः! यदुत त्रैधातुकम्—अर्थात् हे जिनपुत्रों (बोधिसत्त्वों), तीनों धातुएं और तत्सम्बन्धी समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं; क्योंकि रूप[2],

---

१. बाह्यार्थ से शून्यता 'धर्मधातु' है।

२. साधारणतः मूर्त्त पदार्थ को रूप कहते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से यह द्विविध होता है। रूप, शब्द आदि पाँच विषय बाह्यरूप हैं तथा चक्षु, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रूप हैं। यहाँ बाह्य और आभ्यन्तर का तात्पर्य सन्तानगत होने और न होने से है। द्र०—अभि० को०, पृ० ३१।

विप्रयुक्तसंस्कार[1] एवं असंस्कृत धर्म[2]-विज्ञान से पृथक् नहीं है; अपितु ये सब विज्ञान के ही परिणाम हैं।

यह आगम का प्रदर्शन अन्यवादी (अन्य निकायवाले) स्वयूथ्य बौद्धोंके लिए है। अबौद्धों के लिये तो आगे युक्ति का प्रदर्शन किया जायगा। अल्प वक्तव्य होने के कारण आगम का प्रदर्शन पहले किया गया है।

विज्ञप्तिमात्रता के पक्ष में बाह्य शब्द और नाम समूह परमार्थसत् नहीं होते, इसलिये वाग्विज्ञप्ति ही 'आगम' होता है। वह वाग्विज्ञप्ति यथार्थ (अविपरीत) ज्ञान आदि अनेक गुणों से समन्वागत जगद्गुरु (बुद्ध) के आधिपत्य से प्रादुर्भूत है, अतः दूसरे (अन्य) से आगत होने के कारण यह 'आगम' कहलाती है।

प्रश्न—प्रथम वाक्य में तो तीनों धातुओं (समस्त धर्मों) को विज्ञप्तिमात्र कहा गया है और सूत्र में उन्हें चित्तमात्र कहा गया है। ऐसी स्थिति में अपने प्रथम वाक्य के प्रमाणस्वरूप उक्त सूत्र को कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है?

समाधान—

चित्तं मनो विज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः—अर्थात् चित्त, मनस्, विज्ञान और विज्ञप्ति ये सब परस्पर पर्यायवाची हैं अर्थात् एकार्थक हैं। प्रवचनों (सूत्रों) में एक ही अर्थ (अभिधेय) के लिये कहीं चित्त, कहीं मनस्, कहीं विज्ञान इत्यादि शब्द प्रयुक्त हैं। उन प्रवचनों के प्रयोग में कहीं भ्रम न रहे, इसलिये आचार्य ने चारों पर्यायों को एक साथ दिखला दिया है। इस प्रकरण में कथित विज्ञप्ति और सूत्रों में कथित 'चित्त' आदि शब्दों से अष्टविध विज्ञानों[3] का ग्रहण होता है। इसीलिये आगे कहे जानेवाले 'विज्ञप्तिमात्रमेवैतद्०'—इस वचन से भी कोई विरोध नहीं होता; क्योंकि अष्टविध विज्ञप्तिगण ही बाह्य अर्थ के रूप में अवभासित होते हैं।

प्रश्न—

यदि तीनों धातुयें चित्तमात्र हैं, तब तो चैतसिक असम्भव हो जायँगे?

---

१. रूप और ज्ञान से भिन्न वस्तु 'विप्रयुक्तसंस्कार' कहलाते हैं। इनके स्वरूप और भेद आदि के बारे में सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद एवं माध्यमिकों में बहुत मतभेद है। घट की अनित्यता, कृतकत्व आदि सामान्यतः इनके उदाहरण हैं।

२. जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं हैं, वे 'असंस्कृत' कहलाते हैं। आकाश आदि इनके उदाहरण हैं।

३. चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं आलयविज्ञान।

उत्तर—

चित्तमत्र ससम्प्रयोगमभिप्रेतम्—सूत्र में जो 'चित्तमात्रम्' कहा गया है, उसका अभिप्राय ससम्प्रयोग चित्त से है। 'सम्प्रयोग' का तात्पर्य चैतसिकों[1] से है। अर्थात् यहाँ वेदना आदि चैतसिकों के साथ चित्त अभीष्ट है। सारांश यह है कि त्रैधातुक समस्त धर्म चित्त से प्रादुर्भूत हैं; किन्तु केवल चित्त से ही नहीं चैतसिकों से भी प्रादुर्भूत हैं।

प्रश्न—

यदि यहाँ 'चित्त' शब्द द्वारा चित्त से प्रादुर्भूत चैतसिकों का भी ग्रहण किया जाता है, तो 'मात्र' शब्द का प्रयोग किस लिये है ?

उत्तर—

मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्—सूत्र में या इस प्रकरण मे जो 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह विज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थ के प्रतिषेध के लिये है, चैतसिकों के प्रतिषेध के लिये नहीं। चैतसिक तो विज्ञान के अन्तर्गत संगृहीत हैं।

विशेष ज्ञातव्य—चित्तमात्र या अर्थ के प्रतिषेध से तात्पर्य बाह्यार्थ के प्रतिषेध से है। यद्यपि रूप आदि बाह्यार्थ की सत्ता नहीं है; फिर भी रूप आदि का अस्तित्व तो होता ही है। जो लोग बाह्यार्थवादी हैं, उनके सोचने का यह तरीका होता है कि यदि रूप आदि हैं, तो उन्हें बाह्यार्थतः सत् होना चाहिये और यदि वे (रूप आदि) बाह्यार्थतः नहीं हैं तो वे कथमपि हो ही नहीं सकते। क्योकि रूप आदि धर्म चक्षु आदि के द्वारा प्रत्यक्षतः देखे जाते हैं, अतः वे लोग यह निश्चित करते हैं कि वे बाह्यार्थतः सत् हैं।

इसके विपरीत विज्ञानवादी सोचते हैं कि बाह्य रूप आदि के न होने पर ही उनकी सम्यग् व्यवस्था हो सकती है। उनका मन्तव्य है कि आलयविज्ञान में स्थित बीज के परिपक्व हो जाने पर वह (बीज) रूप और चक्षुर्विज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। चक्षुर्विज्ञान और रूप यद्यपि अभिन्न हैं; तथापि उनमें से एक विषयी और दूसरा विषय के रूप में प्रतिभासित होता है। ऐसी स्थिति में वे यह निश्चय करते हैं कि रूप आदि का आरम्भ आन्तरिक विज्ञान से ही होता है, बाहर से नहीं। यदि बाह्यतः आरम्भ होता तो सूक्ष्म परमाणुओं के आधार पर ही स्थूल पिण्ड का निर्माण होता; किन्तु वक्ष्यमाण (आगे कही जानेवाली) युक्तियों के द्वारा परमाणु के आधार पर उसकी व्यवस्था नहीं हो सकती। सारांश यह है कि बाह्य रूप आदि के न होने पर भी रूप आदि का सर्वथा अभाव नहीं है। इसका आगे सम्यक् निरूपण किया जायगा।

---

१. चित्त के साथ आलम्बन, आकार आदि पांच समताओं से सम्प्रयुक्त ज्ञान चैतसिक कहलाते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार वेदना-आदि ५१ चैतसिक होते हैं द्र०—अभि० को० २: ३४ का०, पृ० १३१; त्रिंशिका ६ का० और उसकी व्याख्या।

२. विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात्[1] ।
यथा[2] तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम्[3] ॥ १ ॥

कश्चिदर्थो नास्ति[4] ।

असत् (अभूत) अर्थ का अवभास होने से यह (सब कुछ उसी प्रकार) विज्ञप्तिमात्र ही है, जैसे तैमिरिक (तिमिर रोग से ग्रस्त पुरुष) को असत् (होने पर भी) केश, चन्द्र आदि का दर्शन होता है । (फलतः) कोई भी (बाह्य) अर्थ नहीं है ।

पूर्वपक्ष (बाह्यार्थवादी)—यदि बाह्य अर्थ नहीं हैं, तो नील, पीत आदि का प्रतिभास कैसे होता है ?

उत्तरपक्ष (विज्ञानवादी)—

२. विज्ञप्तिमात्रमेवैतद०-विज्ञानवादी उपर्युक्त प्रश्न का समाधान इस प्रकार करते हैं। बाह्य अर्थ के न होने पर भी विज्ञान ही अर्थ के रूप में अवभासित होता है। अनादि काल से जीवों की सन्तान में विभिन्न प्रकार की वासनायें चली आ रही हैं । समय-समय पर वे परिपक्व होती जाती हैं, जिनके परिणामस्वरूप स्वचित्त में नील आदि अर्थों की आकृतियाँ उद्भूत होती हैं । वे नील आदि आकार आकाश के साथ विज्ञान में प्रतिभासित होते हैं । आकाश के साथ भासित होने से वे नील आदि आकार विज्ञान से पृथक् (विच्छिन्न) प्रतीत होते हैं । जिस प्रकार जब दर्पण में चन्द्रबिम्ब दिखलाई पड़ता है, तब वह आकाश के साथ दिखलाई पड़ता है और दर्पण में प्रतिबिम्बित आकाश की वजह से वह (चन्द्रप्रतिबिम्ब) दर्पण से पृथक् प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार नील आदि आकृतियाँ विज्ञान से पृथक् दिखलाई पड़ती हैं । इसी आधार पर जीव यह अभिनिवेश करता है कि मुझे बाह्य अर्थ दिखलाई पड़ रहे हैं[5] ।

इस बात को समझाने के लिये ग्रन्थकार ने तैमिरिक का दृष्टान्त दिया है । जिस प्रकार तिमिर रोग से विकृत नेत्रवाले पुरुष को ऐसा अवभासित होता है, मानों केश, मशक, मक्खी आदि गिर रहे हैं या उड़ रहे हैं, जब कि वहाँ केश आदि बिलकुल नहीं हैं; फिर भी उस अवभास की वजह से वह ऐसा अभिनिवेश करता है कि मैं केश आदि देख रहा हूँ, ठीक इसी प्रकार विज्ञान में नील आदि आकार होते हैं ।

---

१. विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसद०-ब० ।
२. यद्वत्-ब० ।
३. केशोण्डुकादिदर्शनम् अथवा केशोण्डुकादिदर्शनम्-ब० ।
४. अयं पाठो अ० संस्करणे नास्ति ।
५. द्रष्टव्य—विनीतदेव की विंशिका की टीका, तञ्जूर नं० ११३, पृ० ३०० और उससे आगे (जापानी संस्करण) ।

३. अत्र चोद्यते—

यदि विज्ञप्तिरनर्था नियमो देशकालयोः ।
सन्तानस्यानियमश्च युक्ता कृत्यक्रिया न च[1] ॥ २ ॥

४. किमुक्तं भवति? यदि विना रूपाद्यर्थेन रूपादिविज्ञप्तिरुत्पद्यते, न रूपाद्यर्थात्; कस्मात् क्वचिद् देश उत्पद्यते, न सर्वत्र। तत्रैव च देशे कदाचिद् उत्पद्यते, न सर्वदा। तद्देशकालप्रतिष्ठितानां सर्वेषां सन्तान[2] उत्पद्यते, न केवलमेकस्य; यथा तैमिरिकाणां सन्ताने केशाद्याभासः, नान्येषाम्। कस्माद् यत्[3] तैमिरिकैः केश-भ्रमरादि दृश्यते, तेन केशादिक्रिया न क्रियते, न च तदन्यैर्न क्रियते; यदन्नपान-

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि विज्ञप्ति विना अर्थ के होती है तो देश-नियम, कालनियम, सन्तान का अनियम और कृत्यक्रिया की व्यवस्था (कैसे हो सकेगी अर्थात्) न हो सकेगी।

(कारिका द्वारा) क्या कहा गया? यदि रूप आदि अर्थों के विना रूपविज्ञप्ति आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, रूप आदि अर्थों से नहीं, तो क्यों (वे) किसी देशविशेष में ही उत्पन्न होती हैं, सर्वत्र नहीं। उस देशविशेष में भी क्यों कभी-कभी ही उत्पन्न होती हैं, सर्वदा नहीं। उस देश और काल में स्थित सभी (पुरुषों) की सन्तान में क्यों उत्पन्न होती हैं, केवल एक की सन्तान में नहीं, जैसे—तैमिरिकों की सन्तान में ही केश आदि का आभास होता है, अन्य (पुरुषों) की सन्तान में नहीं। क्यों तैमिरिकों को जो केश, भ्रमर आदि दिखलाई पड़ते हैं, उनके द्वारा केश आदि की अर्थक्रिया नहीं की जाती, उनसे अन्य

कश्चिदर्थो नास्ति—उपर्युक्त सम्पूर्ण वक्तव्य का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'नील आदि कोई विज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थ नहीं हैं'।

३. उपर्युक्त प्रकार से ग्राह्य अर्थों का निषेध कर देनेपर बाह्यार्थवादियों द्वारा निम्न बाधायें (युक्ति और आगम) उपस्थित की जाती हैं, यथा—यदि बाह्य अर्थ से विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, तो आप के मत में देश का नियम, काल का नियम, सन्तान का अनियम और कृत्यक्रिया—इनकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

४. उपर्युक्त कारिका का अर्थ सुस्पष्ट करने के लिये आचार्य ने 'किमुक्तं भवति०' इत्यादि कहा। विज्ञप्तिमात्रता माननेवाले पक्ष पर बाह्यार्थवादी निम्न आक्षेप (प्रसङ्ग) देते हैं, यथा—

---

१. न देशकालनियमः सन्तानानियमो न च।
न च कृत्यक्रिया युक्ता विज्ञप्तिर्यदि नार्थतः ॥ —ब०, स०।

२. सन्तानानियम—ब०, स०।

३. स० संस्करणे नास्ति।

वस्त्रविषायुधादि स्वप्ने दृश्यते, तेनान्नादिक्रिया न क्रियते, न च तदन्यैर्न क्रियते; गन्धर्वनगरेणासत्त्वात् नगरक्रिया न क्रियते, न च तदन्यैर्न क्रियते; तस्माद् अर्थाभावे[1] देशकालनियमः सन्तानानियमः कृत्यक्रिया च न युज्यते।

(केश आदि) के द्वारा (अर्थक्रिया) नहीं की जाती—ऐसा नहीं। जो अन्न, पान, वस्त्र, विष, आयुध आदि स्वप्न में दिखलाई पड़ते हैं, उनके द्वारा अन्न आदि की अर्थक्रिया नहीं की जाती, उनसे अन्य (अन्न आदि) के द्वारा (अर्थक्रिया) नहीं की जाती—ऐसा नहीं। गन्धर्वनगर द्वारा असत् होने से नगरक्रिया नहीं की जाती, उससे अन्य (नगरों) के द्वारा (अर्थक्रिया) नहीं की जाती—ऐसा नहीं। इसलिये (बाह्य) अर्थ न होने पर देशनियम, कालनियम, सन्तानानियम और कृत्यक्रिया युक्त नहीं है।

देश-अनियम प्रसङ्ग—यदि विना रूप आदि बाह्य अर्थों के रूपविज्ञप्ति आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं और वे रूप आदि बाह्य अर्थों से नितान्त असम्बद्ध रहती हैं, तो क्यों वे किसी विशिष्ट (खास) देश में ही प्रादुर्भूत होती हैं, क्यों सब जगह नहीं होतीं? वस्तुतः जब नीलबुद्धि उत्पन्न होती है, तब वह एक निश्चित स्थान (देश) पर ही उत्पन्न होती है, सब जगह व्यापक नहीं होती। यदि उसे सब जगह मानेंगे, तो पीत आदि का अभाव हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि यदि नील बुद्धि का होना, बाह्य नील पर आश्रित नहीं है, या विज्ञान ही नील रूप में भासित होने लगता है, तो ऐसी स्थिति में जहाँ विज्ञान है, वहाँ नील दिखलाई पड़ना चाहिए। फलतः सर्वत्र नील ही नील दिखाई देने लगेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं, अर्थात् लोक में सर्वत्र नील ही नील नहीं दिखाई देता; अपितु वह एक नियत देश में ही दिखलाई पड़ता है।

काल-अनियम प्रसङ्ग—जिस स्थान पर नील आदि दिखलाई भी पड़ते हैं, वहाँ भी वे सर्वदा दिखलाई नहीं पड़ते; अपितु कभी-कभी ही दिखलाई पड़ते हैं। यदि विज्ञान ही नील आदि के रूप में भासित होता है अथवा नीलबुद्धि बाह्य अर्थ की अपेक्षा नहीं करती, तो जिस प्रकार बुद्धि सर्वदा विद्यमान रहती है, उसी प्रकार नीलाभास भी सर्वदा होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत लोक में यह नियम देखा जाता है कि नीलाभास एक नियत काल में ही होता है।

सन्तान-नियम प्रसङ्ग—जिस स्थान पर और जिस समय नील आदि बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, उस स्थान पर और उस समय जितने सत्त्व उपस्थित होते हैं, सभी को वे बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, न कि किसी एक व्यक्ति को ही। यदि नील आदि बुद्धियों का

---

१. असद्भावावभासने—ब०, एतेष्वर्थाभावे तुल्ये—स०।

होना, बाह्य नील पर आश्रित नहीं है और जीव को अपनी सन्तान में स्थित ज्ञान ही नील आदि के रूप में भासित होता है, तो वह नीलाभास वहाँ स्थित सभी व्यक्तियों को नहीं प्रतीत होना चाहिए। जिस प्रकार जो पुरुष तिमिर रोग से ग्रस्त होता है, उसे ही केशोण्डुक[1] आदि दिखलाई पड़ते हैं, ठीक उसी स्थान पर और उसी समय वहाँ उपस्थित उन पुरुषों को वे (केशोण्डुक आदि) दिखलाई नहीं पड़ते, जिन्हें तिमिर रोग नहीं है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति की सन्तान में नीलाभास उत्पन्न होने का कारण (हेतु) विद्यमान होता है, केवल उसी व्यक्ति को नीलाकार दिखलाई पड़ना चाहिए, अन्य को नहीं। किन्तु लोक में यह निश्चित है कि जिस स्थान पर और जिस समय नीलाभास होता है, उस स्थान पर उस समय जितने पुरुष उपस्थित होते हैं, उन सभी व्यक्तियों को सामान्यरूप से नीलाकार दिखाई पड़ता है। यदि बाह्य नील सत् नहीं है, तो यह सन्तान का अनियम नहीं बन पायगा। यहाँ 'नियम' से तात्पर्य है—'सबकी सन्तान में न होकर एक निश्चित या विशेष सन्तान में ही ज्ञान का उत्पाद होना।'

इस प्रकार बाह्यार्थवादियों द्वारा देश-अनियम, काल-अनियम और सन्तान-नियम—ये तीन प्रसङ्ग उपस्थित किए गए हैं। ज्ञान का एक नियत देश में होना देशनियम, एक नियत काल में होना कालनियम, एक नियत सन्तान में ही होना सन्ताननियम तथा समान देश और समान काल में स्थित सभी व्यक्तियों की सन्तान में होना सन्तान-अनियम कहलाता है। विज्ञानवादियों द्वारा बाह्य अर्थ न मानने पर बाह्यार्थवादी यह आक्षेप करते हैं कि आप के मत में उपर्युक्त देशनियम, कालनियम और सन्तान-अनियम की व्यवस्था न हो सकेगी।

कृत्यक्रिया के अभाव का प्रसङ्ग—यदि ज्ञान का होना बाह्य अर्थ पर आश्रित (अपेक्षित) नहीं है और ज्ञान ही बाह्य अर्थ के रूप में अवभासित होता है, तो जगत् में जो-जो कृत्यक्रियायें (वस्तुओं के कर्म) होती हैं, वे सब अवभासितमात्र हो जायेंगी। ऐसी स्थिति में तैमिरिकों को जो केश, मशक, मक्खी आदि अवभासित होते हैं, उनसे भी क्रमशः बन्धन, दंश और उद्गिरण आदि क्रियायें होनी चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत तैमिरिकों से भिन्न विशुद्ध नेत्रवालों द्वारा दृष्ट केश, मशक, मक्खी आदि से ही क्रमशः उपर्युक्त क्रियायें होती देखी जाती हैं।

अपि च—यदि बाह्य अर्थ सत् नहीं हैं, तो ऐसी स्थिति में स्वप्न में जो खाद्य, पेय, परिधान (वस्त्र), विष और शस्त्र आदि देखे जाते हैं, उनसे भी क्रमशः उदर-भरण, तृप्ति, शीत-ताप से रक्षा, मरण और छेदन आदि क्रियायें होनी चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इनके विपरीत स्वप्न से भिन्न जाग्रत् अवस्था में देखे गए खाद्य, पेय आदि से ही उपर्युक्त क्रियायें होती देखी जाती हैं।

अपि च—यदि बाह्य अर्थ सत् नहीं हैं, तो गन्धर्वनगर से भी नगर की आरक्षण आदि सारी अर्थक्रियायें होनी चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसके विपरीत गन्धर्वनगर से भिन्न वाराणसी आदि नगरों से ही सारी नगर क्रियायें होती देखी जाती हैं।

---

१. आचार्य विनीतदेव के अनुसार केशोण्डुक का तात्पर्य उलझे हुए केशों का गुच्छ है।

५. न खलु न युज्यते। यस्मात्

देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत्

स्वप्न इव स्वप्नवत्। कथं तावत्, स्वप्ने विनाऽप्यर्थेन क्वचिदेव देशे किञ्चिद् [1]नगरारामस्त्रीपुरुषादिकं दृश्यते, न सर्वत्र। तत्रैव च देशे कदाचिद् दृश्यते, न सर्वकालमिति सिद्धो विनाऽप्यर्थेन देशकालनियमः।

(देश आदि नियम) युक्त नहीं हैं—ऐसा नहीं। क्योंकि देश आदि का नियम स्वप्न की तरह सिद्ध है। स्वप्न की तरह को 'स्वप्नवत्' कहते हैं। कैसे ? स्वप्न में अर्थ के बिना भी किसी देशविशेष में ही कुछ नगर, उद्यान, स्त्री, पुरुष आदि दिखलाई पड़ते हैं, सब जगह नहीं। उस देशविशेष में भी कभी ही दिखलाई पड़ते हैं, हमेशा नहीं। अतः अर्थ के बिना भी देश और काल का नियम सिद्ध है।

पुनश्च—यदि तैमिरिकों को प्रतिभासित केश आदि से उपर्युक्त क्रियायें नहीं होती हैं, तो विशुद्ध नेत्रवालों द्वारा दृष्ट केश आदि से भी वे क्रियायें नहीं होनी चाहिए; क्योंकि दोनों अवस्थाओं में बाह्य अर्थ का न होना और विज्ञप्तिमात्र होना समान है। हम बाह्यार्थ-वादियों के मत में तो जहाँ बाह्य केश आदि होते हैं, वहाँ वे सब क्रियायें होती हैं तथा केशोण्डुक आदि बाह्यार्थरूप से सत् नहीं हैं, इसलिये वे उन क्रियाओं को करने में असमर्थ होते हैं।

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जैसे तीन प्रकार की भ्रान्तियों द्वारा प्रतिभासित धर्मों (वस्तुओं) द्वारा अर्थ-क्रियायें नहीं की जातीं, वैसे ही अन्य जाग्रत् आदि अवस्थाओं में प्रतिभासित वस्तुओं द्वारा भी वे अर्थ-क्रियायें नहीं की जा सकेंगी। तीन भ्रान्तियाँ ये हैं—तैमिरिक भ्रान्ति, स्वप्नभ्रान्ति तथा दूरकारणज भ्रान्ति। उनमें से 'तैमिरिकाणां'०—इत्यादि द्वारा तैमिरिक भ्रान्ति, 'यदन्नपान'०—इत्यादि द्वारा स्वाप्निक भ्रान्ति तथा 'गन्धर्वनगरेण'०—इत्यादि द्वारा दूरकारणज भ्रान्ति दिखलाई गई है।

तस्माद् अर्थाभावे०—उपर्युक्त युक्तियों का उपसंहार करते हुए बाह्यार्थवादी कहते हैं कि बाह्य अर्थों का अभाव मानने पर देश और काल का नियम, सन्तान का अनियम तथा कृत्यक्रिया—इनकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इसलिये विज्ञानवादियों को अवश्य बाह्य अर्थ स्वीकार करना चाहिए।

५. न खलु न युज्यते—उपर्युक्त आक्षेपों के सम्बन्ध में विज्ञानवादियों का अभिमत है कि विज्ञप्तिमात्रता के पक्ष में ही पूर्वोक्त देश आदि के नियय की सारी व्यवस्थायें युक्तियुक्त सिद्ध होती हैं। इसके लिये बाह्य अर्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

देशादिनियमः सिद्धः०—बाह्य अर्थ के न होने पर भी स्वप्न की भाँति देशनियम आदि व्यवस्थायें हो जाती हैं। यथा—स्वप्न में बाह्य अर्थ बिलकुल नहीं होते; फिर भी ऐसा भान होता है, मानों नगर, उपवन, पुरुष, स्त्री आदि किसी नियत स्थान में स्थित हैं।

---

1. भ्रमरा०—भ०।

६. प्रेतवत् पुनः ।

सन्तानानियमः

सिद्ध इति वर्तते । प्रेतानामिव प्रेतवत् । कथं सिद्धः समम्[१] ?

सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥ ३ ॥

पूयपूर्णा नदी पूयनदी, घृतघटवत् । तुल्यकर्मविपाकावस्था हि प्रेताः सर्वेऽपि पूयपूर्णां नदीं पश्यन्ति, नैक एव । यथा पूयपूर्णाम् एवं मूत्रपुरीषादिपूर्णाम्[२], दण्डासिधरैश्च पुरुषैरधिष्ठिताम् इति 'आदि'-ग्रहणेन । एवं सन्तानानियमो विज्ञप्तीनाम् असत्यप्यर्थे सिद्धः ।

तथा प्रेतों के समान सन्तान का अनियम सिद्ध है । 'प्रेतों की तरह' को 'प्रेतवत्' कहते हैं । कैसे (प्रेतों के) समान सिद्ध है ? सभी प्रेतों द्वारा पूयनदी आदि के दर्शन में (सिद्ध है) । पूय (पीब) से पूर्ण नदी को 'पूयनदी' कहते हैं, जैसे घृत से पूर्ण घट को 'घृतघट' कहते हैं । जिनकी कर्मविपाक अवस्था समान है—ऐसे सभी प्रेत पूयपूर्ण नदी को देखते हैं, कोई एक ही नहीं । जैसे पूयपूर्ण (नदी को देखते हैं) उसी तरह मूत्र, पुरीष आदि से पूर्ण तथा दण्ड, असि (तलवार) धारण करनेवाले पुरुषों से अधिष्ठित (नदी को देखते हैं) । यह अर्थ 'आदि' शब्द के ग्रहण से लब्ध होता है । इस प्रकार (बाह्य) अर्थ असत् होने पर भी विज्ञप्तियों के सम्बन्ध में सन्तान का अनियम सिद्ध है ।

स्वप्न में ऐसा दिखाई नहीं देता कि सब जगह नगर, उपवन आदि ही हैं । यदि देशनियम के लिये बाह्य अर्थ अपेक्षित होते, तो स्वप्न में देशनियम क्यों प्रतीत होता है ? अर्थात् सर्वत्र नगर ही नगर आदि क्यों दिखाई नहीं देते ? फलतः सिद्ध होता है कि स्वप्न की भाँति देशनियम बाह्य अर्थ न होने पर भी युक्तिसङ्गत है ।

स्वप्न में जब किसी स्थानविशेष में नगर दिखलाई पड़ता है, तब उस नगर का आभास एक निश्चित काल में ही होता है । ऐसा नहीं होता कि वह हर समय (सर्वदा) दिखलाई देता हो । यद्यपि स्वप्न में बाह्य अर्थ बिलकुल नहीं हैं; फिर भी वहाँ कालनियम तो होता ही है । फलतः बाह्य अर्थ न होने पर भी स्वप्न की भाँति जगत् में काल के नियम की व्यवस्था युक्तिसङ्गत है ।

निष्कर्ष—'बाह्य अर्थ नहीं हैं, विज्ञान ही अर्थरूपेण प्रतिभासित होता है'—विज्ञानवादियों के इस पक्ष में देशनियम और कालनियम की व्यवस्था भलीभाँति होती है ।

६. सन्तान का अनियम प्रेत के दृष्टान्त द्वारा समझाया जा रहा है । जिस प्रकार बाह्य अर्थ के न होने पर भी प्रेतों की सन्तान में अनियम होता है, वैसे ही अन्य सत्त्वों में भी सन्तानानियम युक्तिसङ्गत है ।

---

१. नास्ति—स० ।

२. ०पुरीषाङ्गारनिष्ठीवनशिंघाणकपूर्णाम्—स० ।

७. स्वप्नोपघातवत् कृत्यक्रिया सिद्धेति वेदितव्यम्। यथा स्वप्ने द्वयसमापत्तिमन्तरेण शुक्रविसर्गलक्षणः स्वप्नोपघातः।

८. एवं तावद् अन्यान्यैर्दृष्टान्तैर्देशकालनियमादिचतुष्टयं सिद्धम्।

स्वप्नोघात के समान कृत्यक्रिया (अर्थक्रिया-कारित्व भी) सिद्ध है—ऐसा जानना चाहिए। जैसे—स्वप्न में द्वयसमापत्ति (स्त्री-पुरुष संयोग) के विना ही शुक्रविसर्गरूप स्वप्नोपघात (स्वप्नदोष) होता है।

इस प्रकार अन्यान्य दृष्टान्तों द्वारा भी देशनियम, कालनियम आदि चारों व्यवस्थायें सिद्ध हैं।

प्रेतवत् पुनः···०—अपने कुकर्मों के परिपाक के वश से प्रेतों को पूयनदी आदि का दर्शन होता है। जहाँ प्रेतों को पूयनदी आदि दिखलाई पड़ती हैं, वहाँ पूय का एक बिन्दु भी नहीं होता, नदी की तो बात ही दूर है। फिर भी चूँकि उनमें अपने कुकर्मों का परिपाक हुआ है, इस वजह से (उनमें) पूयनदी की विज्ञप्ति या प्रतिभास उत्पन्न होता है, साथ ही तदाश्रित अनेक विकृतियाँ (परेशानियाँ) भी उत्पन्न होती हैं। जिस समय वह पूयनदी दिखलाई पड़ती है, उस समय वहाँ एकत्र सभी प्रेतों को समानरूप से उसका आभास होता है, ऐसा नहीं कि किसी एक प्रेत को ही वह दिखलाई पड़ती हो। इसलिये बाह्य पूय के न होने पर भी पूयविज्ञप्ति समानरूप से वहाँ स्थित सभी प्रेतों की सन्तान में होती है। वह वहाँ एकत्र प्रेतों में से किसी नियत प्रेत की सन्तान में ही नहीं होती। अतः निश्चित होता है कि सन्तान-अनियम के लिये बाह्य अर्थ अपेक्षित नहीं हैं।

कारिका में उल्लिखित 'आदि' शब्द द्वारा यह भी गृहीत होता है कि कुछ प्रेतों को मूत्रपूर्ण नदी, कुछ प्रेतों को पुरीषपूर्ण नदी, कुछ प्रेतों को अङ्गारपूर्ण नदी, कुछ प्रेतों को निष्ठीवन (थूक), शिघाणक (नासामल = पोंटा) आदि से पूर्ण नदी तथा कुछ प्रेतों को तलवार, दण्ड आदि धारण करनेवाले पुरुषों से रक्षित नदी दिखलाई देती है।

उपर्युक्त सभी वस्तुओं का आभास प्रेतों को समानरूप से होता है। अर्थात् वहाँ (उस स्थान में) उस समय (उस काल में) स्थित उस जाति के समस्त प्रेतों को वे वस्तुयें दिखलाई देती हैं, किसी नियत प्रेत की सन्तति में ही नहीं।

एवं सन्तानानियमो विज्ञप्तीनाम्०—उपर्युक्त सभी युक्तियों का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि बाह्य अर्थ न होने पर भी सन्तान का अनियम भली-भाँति सिद्ध है।

७. बाह्य अर्थ के न होने पर भी कृत्यक्रिया सयुक्ति सिद्ध है। इसे समझाने के लिए स्वप्नोपघात का दृष्टान्त दिया गया है। यथा—स्वप्न में पुरुष और स्त्री का समागम नहीं होता; फिर भी स्त्री से समागम का आभास होता है और फलस्वरूप शुक्रपात भी होता है। जैसे यह होता है, ठीक उसी प्रकार केश, मशक, खाद्य, पेय, नगर, आराम, विष, आयुध, विद्युत्पात आदि के बाह्यसत्व न होने पर भी क्रमशः उनकी बन्धन, दंश आदि सारी अर्थक्रियायें सुतराम् सिद्ध हैं।

८. इस प्रकार बाह्यार्थवादियों द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त चारों आक्षेपों का पृथक्-पृथक्

९. नरकवत् पुनः ।

सर्वम्

सिद्धमिति वेदितव्यम् । नरकेष्विव नरकवत् । कथं सिद्धम् ?

नरकपालादिदर्शने तैश्च बाधने ॥ ४ ॥

यथा हि नरकेषु नारकाणां नरकपालादिदर्शनं देशकालनियमेन सिद्धम्, श्ववायसायसपर्वताद्यागमनगमनदर्शनं चेति 'आदि'-ग्रहणेन, सर्वेषां च नैकस्यैव, तैश्च तद्बाधनं सिद्धम्, असत्स्वपि नरकपालादिषु समानस्वकर्मविपाकाधिपत्यात्; तथाऽन्यत्रापि सर्वमेतद् देशकालनियमादिचतुष्टयं सिद्धमिति वेदितव्यम् ।

नरक के समान सारी (व्यवस्थायें) सिद्ध हैं—ऐसा जानना चाहिए। नरक में (होने) की तरह को 'नरकवत्' कहते हैं। कैसे (नरक के समान देशनियम आदि चारों व्यवस्थायें) सिद्ध हैं ?

नरकपाल आदि के दर्शन में और उनके द्वारा बाधन (पीडा दिये जाने) में (उक्त व्यवस्थायें सिद्ध हैं।)

जैसे—नरकपाल आदि के असत् होने पर भी अपने समान कर्मविपाक के आधिपत्य (प्रभाव) से नरकों में नारकों को नरकपाल आदि का दर्शन देश और काल के नियम से सिद्ध है। 'आदि' शब्द के द्वारा श्वान (कुत्ते), वायस (पक्षी), लौहपर्वत के आगमन और गमन का दर्शन (सिद्ध है)। तथा (वह दर्शन) सभी को होता है, किसी एक को नहीं। उन (नरकपाल आदि) के द्वारा पीडा देना (भी) सिद्ध हैं; उसी प्रकार दूसरे स्थानों (लोक) में भी देशनियय, कालनियम आदि चारों व्यवस्थायें सिद्ध हैं—ऐसा जानना चाहिए।

दृष्टान्तों द्वारा समाधान किया गया है और देशनियम, कालनियम आदि चारों व्यवस्थायें युक्तिसङ्गत ढङ्ग से प्रतिपादित की गई हैं। 'तावत्' शब्द के द्वारा आगे दिये जानेवाले अन्य दृष्टान्तों का उपक्रम किया गया है।

९. नरकवत्०—अब तक तो पृथक्-पृथक् आक्षेपों के लिये पृथक्-पृथक् दृष्टान्त दिए गए थे, किन्तु यहाँ पूर्वोक्त चारों आक्षेपों के लिये एक ही दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार नरक में देशनियम, कालनियम, सन्तानानियम और कृत्यक्रिया ये चारों व्यवस्थायें सम्पन्न होती हैं, उसी प्रकार (नरक की तरह) बाह्य अर्थ के न होने पर भी जागतिक व्यवहार में सारी व्यवस्थायें सिद्ध हैं।

नरक में चारों व्यवस्थायें कैसे सिद्ध हैं ?

नरकपालादिदर्शने०—जैसे नरक में बाह्य अर्थों के न होने पर भी नारकीय सत्त्वों को वहाँ नरकपाल, स्थाली (पकाने का बर्तन = बटलोही आदि), कटाह (कड़ाही) आदि पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं तथा वहाँ उपस्थित सभी सत्त्वों को उनका दर्शन होता है। इससे नरक में बाह्य नरकपाल आदि के न होने पर भी देशनियम सिद्ध होता है तथा वहाँ उपस्थित सभी नारकीयों को केवल उसी समय ही वे सब दिखलाई देते हैं, हमेशा नहीं। इससे नरक में बाह्य अर्थों के विना कालनियम भी सिद्ध होता है।

श्ववायसायसपर्वताद्य०—इस वाक्य द्वारा कारिका में प्रयुक्त 'आदि' शब्द का स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात् नरक में नारकीयों को कुत्ते, पक्षी, लौहमय पर्वत का आगमन और गमन का भी प्रतिभास होता है। वृत्ति में भी 'आदि' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसके द्वारा स्थाली, महाकटाह आदि का ग्रहण करना चाहिये।

उपर्युक्त नरकपाल, श्वान, वायस आदि का प्रतिभास सामान्यरूप से वहाँ उपस्थित सभी सत्त्वों को सन्तान में होता है, ऐसा नहीं कि किसी नियत सत्त्व की सन्तान में ही होता हो। इस प्रकार वहाँ बाह्य अर्थ के न होने पर भी सन्तानानियम सिद्ध है।

बाह्य नरकपाल आदि के न होने पर भी उनके प्रतिभास द्वारा नारकीयों को भयङ्कर पीडा का अनुभव होता है। इसका कारण उनके द्वारा पूर्वजन्मों में किए गए नाना प्रकार के दुष्कर्म हैं। वे कर्म तत्तत् सत्त्वों की सन्तान में वासनाशक्ति या बीजशक्ति के रूप में अन्तर्निहित रहते हैं। जब उन कर्मों का परिपाक होता है या उनकी शक्ति का उन्मेष होता है, तब उन नारकीय सत्त्वों का अपना ज्ञान स्वयं नरकपाल आदि के रूप में या श्वान वायस, लौहपर्वत आदि के रूप में प्रतिभासित होने लगता है तथा उन प्रतिभासों के प्रति उन्हें यह भी अभिनिवेश होने लगता है कि 'यहाँ भयङ्कर नरकपाल आदि स्थित हैं और ये हमें यातना दे रहे हैं' इत्यादि। इतना ही नहीं, वे नरकपाल उन्हें (नारकीयों को) आदेश देते हुए और फैसला करते हुए भी प्रतीत होते हैं। फलस्वरूप नारकीयों को तब तक तीव्र दुःखानुभूति होती रहती है, जब तक उनके उस दुःखानुभूति के जनक कर्मों का पूर्णतया नाश नहीं हो जाता। उक्त प्रकार के कर्मों को करनेवाले जितने नारकीय सत्त्व वहाँ विद्यमान होते हैं, सामान्यतः (समानरूप से) उन सबका अपना विज्ञान ही उन्हें नरकपाल आदि के रूप में प्रतिभासित होता है तथा उस प्रतिभास की वजह से उन सब में समानरूप से दुःख वेदना की उत्पत्ति होती है, न कि किसी एक में।

ऐसा होना असम्भव भी नहीं है। स्वप्न में प्रायः इस प्रकार की स्थिति का सभी को अनुभव है। जैसे—किसी दुष्ट पुरुष को कभी-कभी स्वप्न में अपने कुकर्मों या कुसंस्कारों के वश से सिंह, व्याघ्र और डाकू आदि दिखलाई पड़ते हैं। उनकी वजह से उसमें दुःख, भय और कम्पन आदि का उत्पाद भी होता है। यहाँ तक कि कुछ पुरुष भयङ्कर स्वप्न देख लेने के पश्चात् जग जाने पर भी काँपते रहते हैं।

अतः जिस प्रकार नरक में बाह्य अर्थ के विना भी देशनियम, कालनियम, सन्तानानियम एवं कृत्यक्रिया सुसङ्गत सिद्ध होती है, उसी प्रकार अन्य अवस्थाओं में भी देशनियम आदि सारी व्यवस्थायें भली-भाँति सिद्ध हैं।

१०. किं पुनः कारणं नरकपालास्ते च श्वानो वायसाश्च सत्त्वा नेष्यन्ते ?

अयोगात्। न हि ते नारका युज्यन्ते, तथैव तद्दुःखाप्रतिसंवेदनात्। परस्परं यातयताम् 'इमे नारकाः, इमे नरकपालाः' इति व्यवस्था न स्यात्। तुल्याकृति-प्रमाणबलानां च परस्परं यातयतां न तथा भयं स्यात्। दाहदुःखं च प्रदीप्तायाम् अयोमय्यां भूमावसहमानाः कथं तत्र परान् यातयेयुः। अनारकाणां वा नरके कुतः सम्भवः।

क्या कारण है कि नरकपाल, वे श्वान और वायस सत्त्व नहीं माने जाते ?

अयुक्तियुक्त होने से। वे (नरकपाल, श्वान और वायस आदि) नारकीय नहीं हो सकते; क्योंकि वे उसी प्रकार (अन्य नारकीय सत्त्वों की तरह) दुःख का अनुभव नहीं करते। परस्पर यातना देनेवालों में 'ये नारक हैं और ये नरकपाल हैं'—ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। परस्पर यातना देनेवाले समान आकृति, प्रमाण और बलवालों में उस प्रकार का भय नहीं होता। (अग्नि से) प्रदीप्त लौहमयी भूमि में दाहदुःख को भी सहन नहीं कर सकनेवाले कैसे वहाँ (नरक में) दूसरों को यातना दे सकते हैं। अथवा अनारकीय सत्त्वों का नरक में उत्पाद ही कैसे सम्भव है ?

---

१०. वैभाषिक सिद्धान्तवादी नरकपाल, नरक में स्थित श्वान और वायस आदि को जीव मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि नरकपाल आदि विज्ञान के आभासमात्र हैं या विज्ञान से बाहर जीव के रूप में उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः वे यहाँ प्रश्न उपस्थित करते हैं कि नरकपाल और नरक में स्थित श्वान, वायस आदि क्यों सत्त्व नहीं हैं ? अर्थात् वे अवश्य सत्त्व हैं; क्योंकि देखने पर वे ठीक सत्त्व की भाँति ही दिखलाई पड़ते हैं[1], अन्य जीवों की तरह शारीरिक चेष्टायें (हिलना-डुलना) करते हैं और वार्तालाप करते हैं। अतः शारीरिक और वाचिक व्यापारविशेषों से यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके भीतर चित्तसन्तति भी है। यदि इतने से वे सत्त्व (प्राणी) सिद्ध नहीं होते तो दूसरे जीवों में भी कैसे प्राणित्व सिद्ध किया जा सकता है। यदि नरकपाल आदि का दर्शन भ्रान्ति हैं तो अन्य प्राणी भी भ्रान्त ही सिद्ध होंगे।

अयोगात्—वैभाषिकों के उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुये आचार्य कहते हैं कि नरकपाल, श्वान आदि का सत्त्व होना युक्ति-संगत नहीं है। इसी बात का आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा रहा है।

---

१. तु०—त्रस्ताः पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषाः काकगृध्राश्च घोराः।
ध्वान्तं ध्वस्तं समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेयम्॥"
—बोधि०, १० : ११ पृ० २८३।

न हि ते नारका युज्यन्ते०—यदि वे नरकपाल आदि सत्त्व हैं, तो उन्हें या तो नारकीय सत्त्व होना चाहिये या अन्यजातीय सत्त्व; किन्तु उनका दोनों होना असम्भव है ।

वे (नारकीय) सत्त्व नहीं हो सकते । यदि वे नारकीय सत्त्व होते, तो उन्हें भी वैसे ही दुःखानुभूति होनी चाहिये थी, जिस प्रकार अन्य नरकस्थ जीवों को होती है । किन्तु उन्हें उस प्रकार की दुःखानुभूति नहीं होती; अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि वे केवल दूसरों को ही दुःख देते हैं और जो दुःख देनेवाले हैं, उन्हें वह दुःख नहीं होता । तथा उन नरकपाल आदि को दुःख देनेवाला अन्य कोई व्यक्ति वहाँ उपस्थित भी नहीं होता । फलतः वे 'नारकीय सत्त्व नहीं हैं'—यह सिद्ध होता है ।

उन नरकपाल आदि में जो कायिक चेष्टायें और वाग्व्यापार आदि दृष्टिगोचर होते हैं, वे भी उनके अन्दर चित्तसन्तति होने की वजह से नहीं हैं; अपितु नारकीयों के अपने कर्म की वजह से हैं । लोक में भी कभी-कभी सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं के चित्र या मूर्ति देखकर ऐसा भान होता है, मानों वे हमारे ऊपर झपट रहे हैं या मुँह खोलकर दाँत और जिह्वा आदि चला रहे हैं । इस प्रकार उनका सत्त्व की भाँति दिखलाई पड़ना, उनके अन्दर चित्तसन्तति होने के कारण नहीं है; क्योंकि यह स्पष्ट है कि चित्र या मूर्ति में चित्त नहीं होता ।

वैभाषिक—नारकीय सत्त्व आपस में एक-दूसरे को दुःख देते हैं । अतः दुःख देनेवाले (नरकपाल आदि) भी नारकीय जीव हैं और जिन्हें दुःख दिया जाता है, वे भी नारकीय जीव हैं; फिर भी उनमें जो दुःख देनेवाले हैं, उन्हें 'नरकपाल' आदि की संज्ञा दी जाती है ।

परस्परं यातयताम्०—उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुये आचार्य ने कहा कि परस्पर यातना देनेवालों में यह व्यवस्था कथमपि नहीं हो सकती कि 'ये जीव नरक-पाल हैं और ये जीव नारकीय हैं'; क्योंकि जो नरक-पाल हैं, वे भी दुःखी हैं और जो अन्य नारकीय जीव हैं, वे भी दुखी हैं । तथा उन दोनों की दुःखानुभूति में भी कोई अन्तर नहीं है । ऐसी परिस्थिति में किसे नरकपाल कहा जाय और किसे नारकीय ।

पुनश्च—

तुल्याकृतिप्रमाणबलानाम्०—यदि नरकपाल भी अन्य नरकस्थ जीवों की तरह नारकीय हैं, तो नरक-पाल और नारकीय—दोनों ही तुल्याकृति, तुल्यप्रमाण एवं तुल्यबल हो जायंगे । समान आकृति, समान प्रमाण और समान बलवाले व्यक्तियों में परस्पर पीडा पहुंचाये जाने पर भी उतना भय हरगिज नहीं हो सकता, जितना नरक के बारे में प्रसिद्ध है । प्रसिद्धि तो ऐसी है कि नरक में जानेवाले जीव अपने सामने अत्यन्त भयङ्कर, अत्यधिक प्रमाणवाले और अतिबलवान् नरकपालों को देखकर अत्यन्त भयभीत होकर भय से काँपने लगते हैं और वहाँ से भागने का प्रयत्न करने लगते हैं; किन्तु चारों ओर अंधेरा छा जाता है, अतः वे भागने में भी असमर्थ हो जाते हैं । फलस्वरूप निराश होकर उनके सामने भय से काँपते हुये सिर झुका कर खड़े हो जाते हैं ।

११. कथं तावत् तिरश्चां स्वर्गसम्भवः ? एवं नरकेषु तिर्यक्प्रेतविशेषाणां नरकपालादीनां सम्भवः स्यात् ।

(यदि ऐसी स्थिति है) तो स्वर्ग में तिर्यक् आदि जीवों का उत्पाद कैसे सम्भव है ? (जैसे स्वर्ग में होता है) उसी प्रकार नरकों में भी तिर्यक् और प्रेतविशेष नरकपाल आदि का उत्पाद सम्भव है ।

यहाँ 'आकृति' का तात्पर्य हस्त, पाद, मुख आदि के विशेष आकार-प्रकार से है । 'प्रमाण' का तात्पर्य शरीर की लम्बाई-चौड़ाई से है तथा 'बल' का तात्पर्य शरीर के विशेष सामर्थ्य से है ।

अपि च—

दाहदुःखं च प्रदीप्तायाम्०—यदि वे नरकपाल आदि नरकजन्य दुःखों का ठीक उसी प्रकार अनुभव करते हैं, जैसे अन्य नारकीय जीव, तो ऐसी स्थिति में वे दूसरों को कैसे दुःख पहुँचा सकेंगे; जब कि वे स्वयं तज्जनित ऐसी मर्मान्तिक वेदनाओं (दुःखों) से पीडित हैं, जिन्हें वे एक क्षण भी सहन नहीं कर सकते । अत्यन्त तप्त लौहमयी भूमि पर जब वे अपने शरीर को ही स्थित नहीं कर पाते तो दूसरों को कैसे यातना दे सकते हैं । फलतः उनके द्वारा दूसरों को दुःख पहुँचाया जाना असम्भव है ।

वैभाषिक—नरक-पाल और नरकमें दिखलाई पड़नेवाले श्वान, वायस आदि यद्यपि नारकीय नहीं हैं; फिर भी वे क्रमशः प्रेतविशेष एवं तिर्यग्-विशेष हैं ।

अनारकाणां वा नरके कुतः सम्भवः—नरक में नारकीय जाति से व्यतिरिक्त अन्यजातीय सत्त्वों का अर्थात् तिर्यक् और प्रेतविशेषों का उत्पन्न होना भी सम्भव नहीं है । इसके बारे में आगे युक्तियाँ प्रदर्शित की जायँगी ।

११. वैभाषिक पुनः अपने पक्ष में युक्ति प्रदर्शित करते हैं कि यदि अन्यजातीय सत्त्व (जीव) अन्य लोक में नहीं हो सकते हैं तो स्वर्ग में भी तिर्यक् आदि जीवों का उत्पाद असम्भव हो जायगा । यह ज्ञातव्य है कि स्वर्ग में ऐरावत हस्ती, हंस, क्रौञ्च, तोता, सारिका आदि तिर्यक् होते हैं । यहाँ 'स्वर्ग' से तात्पर्य 'सुगति' से है । इसमें देव, असुर और मनुष्य तीनों का ग्रहण होता है । यदि स्वर्ग में तिर्यक् आदि हो सकते हैं तो उसी प्रकार वे नरक में क्यों नहीं हो सकते ? इस तरह नरक में श्वान, वायस आदि तिर्यग्विशेष और नरकपाल आदि प्रेतविशेषों का होना युक्तियुक्त है ।

१२. तिरश्चां सम्भवः स्वर्गे यथा न नरके तथा ।
न प्रेतानां यतस्तज्जं दुःखं नानुभवन्ति ते ॥५॥

ये हि तिर्यञ्चः स्वर्गे सम्भवन्ति, ते तद्भाजनलोकसुखसंवर्तनीयेन कर्मणा तत्र सम्भूताः, तज्जं सुखं प्रत्यनुभवन्ति; न चैवं नरकपालादयो नारकं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति, तस्मात् न तिरश्चां सम्भवो युक्तो नापि प्रेतानाम्[1] ।

जिस प्रकार स्वर्ग में तिर्यक् का उत्पाद होता है, उस प्रकार नरक में (उनका उत्पाद) नहीं होता, न तो प्रेतों का ही (वहाँ उत्पाद सम्भव है); क्योंकि वे (तिर्यक् और प्रेत) नारकीय दुःख का अनुभव नहीं करते ।

जो तिर्यक् स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं, वे वहाँ के भाजनलोकज सुख को उत्पन्न करनेवाले कर्म से वहाँ उत्पन्न होकर उस भाजनलोकज सुख का अनुभव करते हैं । नरकपाल आदि उसी प्रकार नारकीय दुःख का अनुभव नहीं करते । अतः (नरक में) न तो तिर्यक् का और न प्रेतों का ही उत्पाद युक्त है ।

---

१२. वैभाषिकों की उपर्युक्त युक्ति का निरास करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार स्वर्ग में तिर्यक् निवास करते हैं, उस प्रकार वे नरक में नहीं रह सकते और न तो वहां प्रेत ही रह सकते हैं; क्योंकि वे (तिर्यक् और प्रेत) वहां के नारक दुःख का अनुभव नहीं करते ।

ये हि तिर्यञ्चः स्वर्गे सम्भवन्ति०—सामान्यतः वस्तु-स्थिति यह कि जो सत्त्व जिस देश में रहते हैं, वे परिस्थितिविशेष में उस देश के सत्त्वलोकज सुख-दुःख का अनुभव न भी करें; फिर भी उन्हें उस देश के भाजनलोकज सुख-दुःख का अनुभव तो अवश्य करना ही पड़ता है । उदाहरणार्थ जब किसी एक राष्ट्र का व्यक्ति अन्य राष्ट्र में जाता है, तब वह भले ही वहाँ के सामाजिक, सांस्कृतिक या आध्यात्मिक सुख-दुःख का अनुभव पूर्ण रूप से न करे; फिर भी वह वहाँ स्थित गृह, आराम, तडाग, नदी, पर्वत एवं ऋतु आदि का उपभोग तो करता ही है और उनसे होनेवाली सुख या दुःख की अनुभूतियाँ भी करता है । किन्तु नरक में दिखलाई पड़नेवाले नरकपाल और श्वान, वायस आदि नरक के भाजनलोकज दुःख का अनुभव नहीं करते । नरक में सुख तो होता ही नहीं है, केवल दुःख ही दुःख होता है । अतः वहाँ जो भी जायगा, उसके लिये वहाँ के दुःख का अनुभव करना अवश्यम्भावी है; क्योंकि नरक के भाजन ही ऐसे हैं, जिनसे केवल दुःखों का ही उत्पाद होता है । जैसे—वहाँ तप्त लौहमयी भूमि है, लौहनिर्मित पर्वत इतस्ततः गमनागमन करते रहते हैं । इनके बीच में जो भी आता है, वे उन्हें पीस (चूर्ण कर) देते हैं । फलतः कोई भी तिर्यक् या प्रेत जो वहाँ रहेगा उन्हें निश्चय ही दुःख का अनुभव करना होगा ।

ऐरावत आदि तिर्यक् जो स्वर्ग में रहते हैं, वे स्वर्ग लोक के भाजन से उत्पन्न सुख का अनुभव करते हैं ।

---

१. प्रेतविशेषाणाम्—स० ।

१३. तेषां तर्हि नारकाणां कर्मभिस्तत्र भूतविशेषाः सम्भवन्ति वर्णाकृति-प्रमाणबलविशिष्टाः, ये नरकपालादिसंज्ञां प्रतिलभन्ते। तथा च परिणमन्ति यद् विविधां हस्तविक्षेपादिक्रियां कुर्वन्तो दृश्यन्ते भयोत्पादनार्थम्, यथा मेषाकृतयः

(यदि ऐसा है) तो उन नारकीय सत्त्वों के कर्मों से ही वहाँ नरक में विशिष्ट वर्ण, आकृति, प्रमाण और बल से युक्त विशेष प्रकार के महाभूत उत्पन्न होते हैं, जो 'नरकपाल' आदि संज्ञा प्राप्त करते हैं। तथा वे इस प्रकार परिणमित होते हैं, जिससे भय उत्पन्न करने के लिये विविध प्रकार की हस्तविक्षेप आदि क्रिया करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। जैसे—आते

प्रश्न—तिर्यक् स्वर्ग के सुख का अनुभव कैसे कर सकते हैं ?

समाधान—तिर्यक् होने और स्वर्गज सुख का अनुभव करने में कोई विरोध नहीं है। यद्यपि पूर्व जन्म में दुःशील होने के कारण उन्होंने (ऐरावत आदि ने) तिर्यग् योनि प्राप्त की है, तथापि दान आदि पुण्यों के विपाकस्वरूप उन्हें स्वर्ग के भाजनलोक का सुख प्राप्त हुआ है।

तस्मात् न तिरश्चां सम्भवो युक्तः०—उपर्युक्त सभी बातों का निष्कर्ष यह हुआ कि जिस प्रकार ऐरावत हस्ती आदि तिर्यक् स्वर्ग के भाजनलोक के सुख का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार चूँकि नरकपाल आदि नरक के भाजनलोक के दुःख का अनुभव नहीं करते, इसलिये नरक में तिर्यक् और प्रेत का होना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त वर्णन से कुछ तथ्य निकलते हैं, यथा—यद्यपि विज्ञानवादी बाह्य अर्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते; तथापि हस्ती आदि तिर्यक् और नील आदि रूप की स्थिति को वे स्वीकार करते हैं। आचार्य ने सयुक्ति इस बात का प्रतिपादन किया है कि नरक में दिखलाई देनेवाले नरकपाल आदि तो जीव नहीं हैं; किन्तु मनुष्य आदि लोक में होनेवाले हस्ती आदि जीव हैं तथा इन दोनों के होने में जो अन्तर है, वह भी वहीं स्पष्ट किया गया है। यह स्थिति तभी सम्भव है, जब कि वस्तु मानी जाय। विज्ञान से अतिरिक्त सभी वस्तुओं का अलीक होना यदि विज्ञानवाद का अभिप्राय होगा तो नरक में दिखलाई देनेवाले श्वान, वायस आदि और स्वर्ग में दिखलाई देनेवाले वायस आदि में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। अतः विज्ञानवाद का तात्पर्य वस्तु के सर्वथा अलीक होने से नहीं है।

[बौद्धों में वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं। बाह्य अर्थ को सिद्ध करने के लिये इनकी अपनी-अपनी युक्तियाँ हैं। बाह्य अर्थ न माननेवाले विज्ञानवादियों के मत में इन्होंने अपने-अपने ढंग से असंगतियाँ प्रदर्शित की हैं। इनमें सौत्रान्तिकों के तर्क ज्यादा सूक्ष्म हैं। अभी तक वैभाषिकों की युक्तियों और आक्षेपों का परिहार किया गया। अब सौत्रान्तिकों का पक्ष उपस्थित करने के लिये आचार्य ने 'तेषां तर्हि'०—इस वचन द्वारा उसका उपक्रम किया है]

सौत्रान्तिक पक्ष—

१३. यद्यपि नरकपाल आदि सत्त्व की कोटि में नहीं आते; तथापि वे विशेष प्रकार के महाभूत हैं। नारकीय सत्त्वों के कर्मों के परिपाक के वश से नरक में विचित्र प्रकार के पृथ्वी

पर्वता आगच्छन्तो गच्छन्तः, अयःशाल्मलीवने च कण्टका अधोमुखीभवन्त ऊर्ध्वमुखीभवन्तश्चेति। न ते न सम्भवन्त्येव।

जाते हुए मेषाकृति पर्वत, अयःशाल्मली वन में अधोमुख और ऊर्ध्वमुख होते हुये कण्टक आदि। वे (मेषाकृति पर्वत आदि) नहीं ही होते—ऐसा नहीं।

आदि महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैसे—कृष्ण और पीतकृष्ण आदि वर्णों की भूमि (जमीन), शिलायें आदि; उन भूमि और शिलाओं की हस्त, पाद, मुख सदृश भयोत्पादक आकृतियाँ; उन आकृतियों के अत्यधिक विशाल परिमाण (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) तथा उनमें नारकीयों को पराभूत करनेवाला विशिष्ट सामर्थ्य (बल) आदि। इनमें किसी प्रकार की कोई चित्तसन्तति नहीं होती, ये केवल महाभूतस्वरूप ही होते हैं।

प्रश्न—यदि इनमें चित्तसन्तति नहीं है तो ये प्राणियों की भाँति हस्त, पाद, आदि अङ्गों का संचालन कैसे करते हैं?

समाधान—चित्त न होने पर भी नारकीय सत्त्वों के कर्मों के वश से वे ऐसे दिखलाई पड़ते हैं, मानों अस्त्र, शस्त्र आदि उठा रहे हैं, दाँत कटकटा रहे हैं, घूर घूर कर देख रहे हैं, भृकुटि तान रहे हैं तथा भयोत्पादक शब्द कर रहे हैं। इस प्रकार की प्रतीति इस लिये होती है कि उन नारकीयों के पूर्वकृत कर्म ही ऐसे हैं, जिनके परिणामस्वरूप उनमें उक्त प्रकार का भय और दुःख उत्पन्न हो। उन कर्मों के परिपक्व होकर शक्तिशाली हो जाने पर उनमें भयोत्पादन के लिये यह सब होता है।

महाभूतविशेष ही नरक में भय का उत्पादन करते हैं और नारकीयों को यातना देते हैं। सौत्रान्तिक कहते हैं कि नरक में लौहनिर्मित मेषाकृति पर्वत होते हैं, जो गमनागमन करते हुए एक दूसरे से टकराते हैं, उनके बीच में जो आ जाता है, उसे वे पीस देते हैं।

अपि च—नरक में लौहनिर्मित शाल्मली वन होता है, जो नारकीयों को अत्यधिक पीडा पहुँचाता है। जब नारकीय सत्त्व उस पर चढ़ते हैं, तब उन शाल्मली वृक्षों के काँटे अधोमुख हो जाते हैं तथा जब वे नीचे उतरते हैं, तब उनके काँटे ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं। इस तरह वे उन्हें नाना प्रकार से कष्ट पहुँचाते हैं। यद्यपि उन (पर्वतों और शाल्मली वृक्षों) में चित्त नहीं होता; तथापि वे चेतन सत्त्व की भाँति क्रियाकलाप करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं।

न ते न सम्भवन्त्येव—यदि कोई कहे कि नरक में वे मेषाकृति पर्वत और शाल्मली वन आदि बिलकुल होते ही नहीं, तो इसके उत्तर में वे (सौत्रान्तिक) कहते हैं कि ऐसा नहीं है। नरक में जो मेषाकृति पर्वत आदि दिखलाई पड़ते हैं, वे असत् नहीं हैं; क्योंकि वे अनुपप्लवित (निर्दोष) चक्षु आदि के ग्राह्य होते हैं तथा अर्हत् एवं बुद्ध आदि के भी गोचर होते हैं।

सौत्रान्तिकों के इस कथन में उनकी मूल मान्यता यह है कि विज्ञान बिना बाह्यार्थ के उत्पन्न नहीं होता। अतः नारकीय जीवों के विज्ञान के आलम्बन (तप्त लौहमयी भूमि, लौहमय पर्वत एवं शाल्मली वन आदि महाभूत) भी विज्ञानातिरिक्त बाह्यरूपेण सत् हैं।

१४. यदि तत्कर्मभिस्तत्र भूतानां सम्भवस्तथा।
इष्यते परिणामश्च किं विज्ञानस्य नेष्यते ॥६॥

विज्ञानस्यैव तत्कर्मभिस्तथा[1] परिणामः कस्मान्नेष्यते, किं पुनर्भूतानि कल्प्यन्ते।

यदि उन (नारकीयों) के कर्मों से वहाँ (नरक में) उस प्रकार के महाभूतों का उत्पाद माना जाता है, तो विज्ञान का ही (उस प्रकार का) परिणाम क्यों नहीं मान लिया जाता।

विज्ञान का ही उन कर्मों से उस प्रकार का परिणाम क्यों नहीं मान लिया जाता, क्यों महाभूतों की कल्पना की जाती है।

वे लौहमय पर्वत, वृक्ष आदि उन नारकीय सत्त्वों के कर्म से ठीक उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार अन्य मनुष्यलोक आदि में पर्वत, वृक्ष आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो कि विना बाह्यार्थ के उत्पन्न नहीं होतीं। अतः पर्वत, वृक्ष आदि को विज्ञानबाह्य द्रव्यसत् मानना सर्वथा उचित है।

विज्ञानवादी—

१४. आप जब इतना मानते हैं कि नारकीय जीवों के कर्मों के वश से नरक में विशिष्ट महाभूत उत्पन्न होते हैं, जो नारकीयों को विविध दुःख प्रदान करते हैं तथा गमन-आगमन आदि क्रियायें करते हैं, तब ऐसा ही क्यों नहीं मान लेते कि उन (नारकीय) जीवों के कर्मों के वश से उनका विज्ञान ही उक्त प्रकार से परिणत हो जाता है। विज्ञान से अतिरिक्त (बाह्य) महाभूतों को स्वीकार करने में कोई विशेष शक्ति भी तो दिखलाई नहीं देती। क्योंकि उन महाभूतों के होने मात्र से ही भय और दुःख उत्पन्न नही हो जाता, बल्कि उनका आलम्बन करने से ही भय या दुःख उत्पन्न होता है और आलम्बन करना ही विज्ञप्ति है। बात ऐसी करनी चाहिए, जो उभयसिद्ध हो। अर्थात् आपको और हमें दोनों को मान्य हो। महाभूतों में उक्त प्रकार की क्रियाओं का होना, विज्ञानवादी को असिद्ध है तथा लोक में भी ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। दूसरी ओर विज्ञान का सत्त्व के रूप में और उक्त प्रकार की क्रियाओं को करनेवाले के रूपमें दिखलाई देना, दोनों को सिद्ध है तथा लोक में भी ऐसा प्रसिद्ध है. यथा-स्वप्न आदि की अवस्था में स्वचित्त ही काय, वाक् और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदि विभिन्न आकार में दिखलाई पड़ता है, यह सभी को अनुभूत है। महाभूतों का उक्त प्रकार से दिखलाई पड़ना, किसी को भी और कहीं भी सिद्ध नहीं है। अतः कर्मरूपी विज्ञप्ति का ही नरकपाल आदि के रूप में परिणत होना युक्तियुक्त है।

---

१. तत्र तथा—स०।

१५. अपि च[1]

कर्मणो वासनाऽन्यत्र फलमन्यत्र कल्प्यते ।
तत्रैव नेष्यते यत्र वासना किं नु कारणम् ॥ ७ ॥

येन हि कर्मणा नारकाणां तत्र तादृशो भूतानां सम्भवः कल्प्यते परिणामश्च, [2]कर्मणो वासना तेषां विज्ञानसन्तानसन्निविष्टा, नान्यत्र। यत्रैव च वासना, तत्रैव तस्याः फलं तादृशो विज्ञानपरिणामः किं नेष्यते। [3]यत्र वासना नास्ति तत्र तस्याः फलं कल्प्यते-इति किमत्र कारणम् ?

और भी—

कर्म की वासना दूसरी जगह है और फल दूसरी जगह माना जाता है। वहीं पर (फल) क्यों नहीं माना जाता, जहाँ वासना है--इसमें क्या कारण है।

नारकीयों के जिस कर्म से नरक में महाभूतों का उस प्रकार का उत्पाद और परिणाम माना जाता है, कर्म की वासना उन (नारकीयों) की विज्ञानसन्तति में स्थित होती है, दूसरी जगह नहीं। (ऐसी स्थिति में) जहाँ वासना है, वहीं उसका फल और उस प्रकार का विज्ञानपरिणाम क्यों नहीं माना जाता। जहाँ वासना नहीं है, वहाँ उसका फल माना जाता है—इसमें क्या कारण है ?

---

१५. स्वपक्ष की सिद्धि के लिए एक और प्रबल युक्ति प्रदर्शित की जा रही है।

जो वासना कर्म से जनित है, वह विज्ञानसन्तति में ही स्थित होती है। यदि उसका फल अन्यत्र अर्थात् बाह्य महाभूतों में कल्पित किया जायगा, तो आपको वह कारण दिखलाना होगा, जिसकी वज़ह से जिस विज्ञानसन्तति में वासना उपस्थित होती है, वहाँ उसका फल नहीं होता।

येन हि कर्मणा नारकाणाम्०—नारकीयों के कर्म से उत्पन्न विशिष्ट वर्ण और आकृति आदि से युक्त महाभूत और उनकी हस्तविक्षेप आदि क्रियाओं का वहीं होना युक्त है, जहाँ उस कर्म की वासना स्थित होती है। कर्म की वासना विज्ञानसन्तति में स्थित होती है, अतः नरकपाल आदि और उनकी क्रिया-प्रतिक्रियायें सबको विज्ञानसन्तति में ही होना चाहिये, न कि महाभूतों में। क्योंकि जिस समय नारकीयों के कर्म विद्यमान थे, उस समय महाभूत नहीं थे। जैसे-जैसे वे कर्म परिपक्व होते गये, वैसे-वैसे वे (महाभूत) दृष्टिगोचर होने लगे। अतः जिस समय जिस विज्ञानसन्तान में वह परिपक्व कर्मवासना विद्यमान है,

---

१. अपि च—नास्ति स० संस्करणे।
२. तस्य कर्मणो—ब०, स०।
३. ननु यत्र—स०।

१६. आगमः कारणम्[1]। यदि विज्ञानमेव रूपादिप्रतिभासं स्यात्, न रूपादिकोऽर्थः, तदा रूपाद्यायतनास्तित्वं भगवता नोक्तं स्यात्।

आगम ही कारण है। यदि विज्ञान ही रूप आदि के रूप में प्रतिभासित होता, रूप आदि अर्थ (द्रव्यसत्) न होते तो रूपायतन आदि का होना, भगवान् ने न कहा होता।

उस समय उसी सन्तान में ही उक्त प्रकार की विज्ञप्तियों के रूप में वासनापरिणाम दिखलाई पड़ना चाहिये। किन्तु आप (सौत्रान्तिक) ऐसा नहीं मानते। बल्कि उन बाह्य महाभूत आदि में जहाँ वासना विद्यमान नहीं है, वहाँ उन कर्मों का फल स्वीकार करते हैं। इसलिये हम आप से पूछते हैं कि ऐसा होने में आपकी युक्ति क्या है? लोक में जहाँ बीज बोया जाता है, वहीं उसका फल उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं होता कि बीज तो खेत में बोये जायँ और उनके फल पर्वत की चोटी पर उगें।

सौत्रान्तिक पक्ष—

१६. वासना के दूसरे स्थान में होने एवं उसके फल के दूसरे स्थान में होने में आगम (बुद्धवचन) ही प्रमाण है। यदि विज्ञान ही रूप आदि अर्थों के रूप में अवभासित होता है, उस (विज्ञान) से अतिरिक्त रूप आदि (बाह्य) अर्थ विद्यमान (सत्) नहीं होते, तो ऐसी स्थिति में अभिधर्म आदि की देशना के प्रसङ्ग में यत्र-तत्र (जहाँ-तहाँ) भगवान् ने ऐसा क्यों कहा कि 'रूपायतन, शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन, स्प्रष्टव्यायतन; चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन, घ्राणायतन, जिह्वायतन एवं कायायतन—ये १० रूपी आयतन होते हैं'[2]। हम (सौत्रान्तिक) लोग तो भगवान् के वचन को प्रमाण मानते हैं। उस (वचन) से ही यह सिद्ध होता है कि रूप आदि धर्मों के हेतु विज्ञान से अतिरिक्त कोई अन्य (बाह्य द्रव्य) हैं। जिस प्रकार हम लोग जानते हैं कि रूप आदि धर्मों के हेतु विज्ञान से अतिरिक्त कोई अन्य हैं, उसी प्रकार नरक में भी नारकीय जीवों के चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों के हेतु 'महाभूतविशेष' पृथक् रूप से (स्वतन्त्रतया) सिद्ध हैं। नरक में जो महाभूत होते हैं, वे नारकीय सत्त्वों के कर्मों के अधिपतिफल होते हैं; न कि उन (कर्मों) के विपाक या निष्यन्द फल[3]। जो विपाक फल या निष्यन्द फल होते हैं, वे अपने बीज के समानदेश में होते हैं, अधिपतिफल के बारे में ऐसा नियम नहीं है। वे (अधिपतिफल) अपने बीज से भिन्न देश में भी हो सकते हैं। जिस प्रकार सन्तानान्तर विज्ञप्ति के आधिपत्य से सन्तानान्तर में विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अधिपतिफल भी होती हैं और भिन्नदेशीय भी होती हैं, ठीक उसी प्रकार नारकीय जीवों की कर्मवासना यद्यपि नारकीय सत्त्वों की सन्तान में ही होती है, तथापि उसका अधिपतिफल, जो तप्त लौहभूमि आदि हैं, वह बाह्य महाभूतों में होता है।

---

१. उच्यते, आगमः० स०।

२. द्र०-बहुधातुकसूत्रम्—काग्युर पु० नं० ३८. पृ० २९८–३०० (जापान में प्रकाशित)।

३. इन फलों के स्वरूपज्ञान के लिये द्र०–अभि० को० २ : ५६–५८ पृ० २१९–२२२।

१७. अकारणमेतद्। यस्मात्

रूपाद्यायतनास्तित्वं तद्विनेयजनं प्रति।
अभिप्रायवशादुक्तमुपपादुकसत्त्ववत् ॥८॥

यथा 'अस्ति सत्त्व उपपादुकः'[१] इत्युक्तं भगवता अभिप्रायवशाच्चित्तसन्तत्यनुच्छेदमायत्यामभिप्रेत्य।

"नास्तीह सत्त्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः"[२] इति वचनात्। एवं रूपाद्यायतनास्तित्वमप्युक्तं भगवता तद्देशनाविनेयजनमधिकृत्येत्याभिप्रायिकं तद्वचनम्।

यह आगम कारण नहीं है, क्योंकि (भगवान् ने) रूपायतन आदि का अस्तित्व उपपादुक सत्त्व की भाँति उन उन विनेय जनों के प्रति अभिप्रायवश कहा है।

जैसे 'उपपादुक सत्त्व हैं'—ऐसा भगवान् ने अनागत में चित्तसन्तति के अनुच्छेद (सातत्य) को दृष्टि में रखकर अभिप्रायवश कहा है।

"इस लोक में सभी धर्म हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न हैं, अतः सत्त्व या आत्मा आदि नहीं हैं"—इस वचन से (जैसे उपपादुक सत्त्व का वस्तुतः अभाव सिद्ध है); उसी प्रकार रूपायतन आदि का अस्तित्व भी उस प्रकार की देशना के भव्य विनेय जनों की दृष्टि से ही भगवान् द्वारा गया कहा है। अतः वह वचन (आयतन प्रतिपादक सूत्र) आभिप्रायिक है।

विज्ञानवादी—

१७. अकारणमेतद्—सौत्रान्तिकों के उपर्युक्त आगम हेतु से बाह्यार्थ सिद्ध नहीं होते, क्योंकि वह आगम नीतार्थसूत्र[३] न होकर नेयार्थसूत्र है। (इस बात को आगे विस्तार से समझाया जा रहा है।)

रूपाद्यायतनास्तित्वम्०—विनेय जनों के अध्याशय के अनुसार भगवान् ने भिन्न-भिन्न प्रकार की देशनायें की हैं। जो विनेय जन मन्दबुद्धि हैं तथा अभी धर्मनैरात्म्य की देशना के पात्र नहीं हैं, अपितु जिनका रूप आदि बाह्य अर्थों की देशना से ही कल्याण हो सकता है, उनको सन्मार्ग पर आरूढ करने के लिये भगवान् ने रूपायतन आदि १० आयतन या द्वादश आयतनों की देशना की है। यह सोचकर कि रूप आदि बाह्य अर्थों की देशना से ही उन

---

१. मानुष्यकसूत्रे, द्र०—अभि० को० भा०, पृ० ४६८।

२. क्षुद्रकागमे, द्र०—अभि० को० भा०, पृ० ४६६।

३. विज्ञानवादियों के अनुसार जिस सूत्र का अर्थ यथाशब्द स्वीकार किया जा सकता है, वह नीतार्थ सूत्र तथा जिसका अभिप्राय शब्द के अनुसार न लेकर प्रकारान्तर से लिया जाता है, वह नेयार्थसूत्र कहलाता है। तु०—प्रसन्न०—पृ० १३-१४।

विनेय जनों को धर्मनैरात्म्य के अभिमुख किया जा सकता है। अन्यथा यदि उन्हें प्रारम्भ में ही धर्मों की पारमार्थिक सत्ता समझा दी जाय तो निश्चय ही वे अपनी बुद्धि की दुर्बलता के कारण वस्तुस्थिति को गलत ढंग से समझ लेंगे। फलतः वे उच्छेदान्त[1] में पतित हो जायँगे। इस स्थिति को जानते हुए उपायकुशल भगवान् ने उन्हें रूप आदि बाह्य धर्मों की सत्ता बतलायी; न कि बाह्य अर्थों के द्रव्यसत् होने से।

सत्त्वों के अध्याशय को ध्यान में रखकर ठीक उसी प्रकार उन्होंने आयतनदेशना की है, जिस प्रकार दूसरे अनेक स्थलों पर उन्होंने उपपादुक सत्त्व की देशना की है। यथा—कुछ व्यक्ति (जीव) यह समझते हैं कि जीवन की वर्तमान धारा न तो पूर्व जीवन से ही कहीं से आई है और न मृत्यु के अनन्तर ही वह स्थित रहती है। अतः पूर्व जन्म और अनागत जन्म नहीं होता। इस प्रकार की दृष्टि होने से वे कुशल, अकुशल कर्म और उनके फल का अपवाद करते हैं और स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। उन लोगों की इस मलिन कुदृष्टि को विशुद्ध करने के लिये भगवान् ने देशना की कि 'उपपादुक सत्त्व होते हैं'। साधारणतः 'उपपादुक सत्त्व' उन्हें कहते हैं, जिनमें कोई विकार (क्षय, वृद्धि आदि) न हो और जिनकी उत्पत्ति में माता, पिता, गर्भ आदि कारणों की अपेक्षा न हो। अर्थात् निर्हेतुक जीव 'उपपादुक सत्त्व' हैं।

"चतस्रो योनयस्तत्र सत्त्वानामण्डजादयः[2]" तथा "नारका उपपादुकाः, अन्तराभवदेवाश्च"[3] इत्यादि स्थलों में जो उपपादुक योनि कही गयी है, उसका अभिप्राय केवल इतना है कि जो गर्भ और अण्ड से उत्पन्न नहीं होते, अकस्मात् उत्पन्न होते हैं और उत्पत्तिकाल में ही काफी परिपूर्ण होते हैं, वे 'उपपादुक' हैं। गर्भ आदि स्थूल कारणों के न होने पर भी उन (उपपादुक सत्त्वों) के पूर्व से चले आये अनेक हेतु तो होते ही हैं। अतः चार योनियों के अन्तर्गत कथित 'उपपादुक' और यहाँ वर्णित 'उपपादुक सत्त्व' में बहुत अन्तर है।

उक्त प्रकार के विनेय जनों को सन्मार्ग पर लाने के लिये भगवान् ने 'उपपादुक सत्त्व की देशना' की है और यह भी नेयार्थ है।

किसी सूत्र के नेयार्थ होने में तीन बातें अपेक्षित होती हैं, यथा—अभिप्राय, प्रयोजन और बाधक प्रमाण।

अभिप्राय—उपपादुकसत्त्वदेशना सूत्र का अभिप्राय यह है कि जीव की जब मृत्यु होती है, तो उसके बाद अन्तराभव की अवस्था आती है, जो पूर्ववर्ती जीवन की ही अगली

---

१. शाश्वतान्त और उच्छेदान्त ये दो अन्त होते हैं। ये सांवृतिक दृष्टि से और तत्त्व दृष्टि से विभिन्न प्रकार के होते हैं; किन्तु यहाँ उच्छेदान्त का तात्पर्य पूर्वापर जन्म के अभाव, कर्मफल सम्बन्ध के अभाव, स्वर्ग, मोक्ष आदि के अभाव से है।

२. अभि० को० ३: ८ पृ० २७४।

३. अभि० को० ३: ९ पृ० २७८।

धारा होती है। वह अन्तराभव यद्यपि जीव होता है; फिर भी (वह) विना माता-पिता के और मृत्यु के अव्यवहित उत्तरकाल में उत्पन्न होता है। वह जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय जो उसकी आकृति रहती है, वह घटती या बढ़ती नहीं तथा प्रतिघ रूपों से उसे आघात भी नहीं पहुँचता। मोटा-मोटी तौर पर लगता है कि यह अन्तराभव पूर्ववर्ती जीवनधारा से नहीं आया है, निर्हेतुक है और स्वतः उत्पन्न हुआ है।

इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान् ने उच्छेदवादियों को देशना की कि 'उपपादुक सत्त्व होते हैं'।

प्रयोजन—उच्छेदवादियों की दृष्टि में सभी जीव बिना पूर्ववर्ती जीवनधारा के आगन्तुकरूप से अकस्मात् प्रादुर्भूत होते हैं। यदि उनसे सीधे ऐसा कहा जाय कि 'वर्तमान जीवनधारा पूर्व जीवनधारा से आयी है और वह आगे भी इसी तरह चलती रहेगी' तो निश्चय ही उनमें उपदेश के प्रति अरुचि उत्पन्न होगी और उपदेशक के प्रति वे उदासीन हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में उनकी कुदृष्टि को मिटाने का कोई अच्छा उपाय नहीं रह जायगा। इसके बदले में उनसे यह कहा जाय कि 'यह वर्तमान जीवन पूर्व धारा से नहीं आया है और आगे भी नहीं चलेगा' तो ऐसी हालत में यद्यपि उपदेश तो उनके मनोऽनुकूल हो जायगा; किन्तु इससे वस्तुस्थिति से विरोध होगा और उपदेश का आनर्थक्य सिद्ध होगा। इन सभी परिस्थितियों को भली-भाँति समझते हुये भगवान् बुद्ध ने उपपादुकसत्त्वदेशना के रूप में एक ऐसा रास्ता निकाला, जिससे थोड़ी देर के लिये उपदेश उन (उच्छेदवादियों) की रुचि के अनुकूल हो जाय और उपदेशक के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ जाय। उपपादुक सत्त्व की देशना करने पर उन उच्छेदवादियों को ऐसा लगा कि भगवान् धारारहित सत्त्व—जैसा कि वे मानते हैं— कह रहे हैं। फलतः उपदेशक के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ी और चिरकाल तक वे उनसे धर्मदेशना सुनते रहे। धीरे धीरे उपपादुक सत्त्व का एक एक विशेषण हटते हटते अन्त में वह अन्तराभव सत्त्व अवबोधित होने लगा। तब तक उन (उच्छेदवादियों) की मनोवृत्ति भी इस प्रकार परिवर्तित हो गयी कि पूर्व-अपर जन्म मानने पर भी उनमें उद्वेग उत्पन्न न हो। अन्ततोगत्वा वे चार आर्य सत्य और नैरात्म्य देशना के भी पात्र बन जाते हैं। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

बाधकप्रमाण—उपपादुकसत्त्वदेशना को शब्द के अनुसार मानने पर आगम और युक्ति दोनों के द्वारा बाधा उपस्थित होती है।

(क) आगमबाधा—अन्य प्रमाणित आगमों में कहा गया है "नास्तीह सत्त्व आत्मा वा धर्मास्त्वेते सहेतुकाः"। अर्थात् इस लोक में जो-जो धर्म उत्पन्न होते हैं, वे सब हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं, अतः आत्मा या सत्त्व आदि (सत्) नहीं हैं। जैसे अन्य तीर्थिक आदि नित्य, शाश्वत, कूटस्थ और स्कन्धों से व्यतिरिक्त एक आत्मा को मानते हैं, वैसा आत्मा कथमपि नहीं है। इस आगम को प्रमाणित मानकर हम यह जान सकते हैं कि उपपादुक सत्त्व की देशना अभिप्रायवश ही है।

१८. कोऽत्राभिप्राय: ?

१९. यतः स्वबीजाद् विज्ञप्तिर्यदाभासा प्रवर्तते।
द्विविधायतनत्वेन ते तस्या मुनिरब्रवीत् ॥९॥

किमुक्तं भवति ? रूपप्रतिभासा विज्ञप्तिर्यतः स्वबीजात् परिणामविशेषप्राप्ताद् उत्पद्यते, तच्च बीजम्, यत्प्रतिभासा च सा, ते तस्या विज्ञप्ते[1]श्चक्षूरूपायतनत्वेन

इस (आयतनदेशना) में क्या अभिप्राय है ?

जिस स्वबीज से जिस (रूप आदि) प्रतिभासवाली विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, उस बीज और उस आभास को भगवान् ने उस विज्ञप्ति के दो प्रकार के (आध्यात्मिक और बाह्य) आयतन के रूप में कहा है।

इस कारिका द्वारा क्या कहा गया है ? रूप प्रतिभासवाली विज्ञप्ति जिस परिणाम-विशेष को प्राप्त स्वबीज से उत्पन्न होती है, वह बीज और जिस (रूप) प्रतिभासवाली वह

यह कैसे सिद्ध हैं कि पूर्व सूत्र (उपपादुकसत्त्वदेशना सूत्र) अभिप्राय के वश से (नेयार्थ) है और अपर सूत्र (नैरात्म्यदेशना सूत्र) नीतार्थ है ?

(ख) **युक्तिबाधा**—इसके लिये युक्ति ही एकमात्र प्रबल आधार है। यदि उपपादुक सत्त्व होते हैं, तो उन्हें निर्हेतुक ही होना चाहिये। निर्हेतुक होने की वजह से न उनकी उत्पत्ति होगी और न मृत्यु ही। अपि च—वे न किसी प्रकार की क्रिया कर सकेंगे और न उनका कोई अस्तित्व ही सिद्ध होगा। इस प्रकार की सैंकड़ों युक्तियों से वे (उपपादुक सत्त्व) व्याहत हैं। दूसरी ओर नैरात्म्य के पक्ष में ऐसी कोई बाधा नहीं है, जिससे नैरात्म्य खण्डित हो सके; अपितु नैरात्म्य सिद्ध करने के लिये अन्य अनेक प्रबल युक्तियाँ विद्यमान हैं।

ठीक इसी प्रकार बाह्यार्थ में रुचि रखनेवालों को नैरात्म्य की ओर उन्मुख करने के लिये रूपायतन आदि बाह्य आयतनों की देशना की गई है। अर्थात् यह आयतनदेशना भी आभिप्रायिक (नेयार्थ) देशना है। इसके अभिप्राय, प्रयोजन और बाधक प्रमाण क्रमशः आगे आते हैं।

१८. पहले कहा गया है कि किसी सूत्र के आभिप्रायिक या नेयार्थ होने में अभिप्राय, प्रयोजन और बाधक प्रमाण—ये तीन अपेक्षित होते हैं। विज्ञानवादी आयतनदेशनासूत्र को आभिप्रायिक कहते हैं, अतः सौत्रान्तिक पूछते हैं कि जिस प्रकार चित्तसन्तति के अविच्छेद के अभिप्राय से उपपादुकसत्त्वदेशना की गयी है, उस प्रकार रूप आदि आयतनों की देशना किस अभिप्राय से की गई ?

१९. अभिप्राय—जिस स्वबीज से (जो कि परिपक्व वासना है) चक्षुर्विज्ञान

---

१. विज्ञप्तेः—स० संस्करणे नास्ति।

यथाक्रमं भगवानब्रवीत्। एवं यावत् स्प्रष्टव्यप्रतिभासा विज्ञप्तिर्यतः स्वबीजात् परिणामविशेषप्राप्ताद् उत्पद्यते, तच्च बीजम्, यत्प्रतिभासा च सा, ते तस्याः कायस्प्रष्टव्यायतनत्वेन यथाक्रमं भगवानब्रवीद् इत्ययमभिप्रायः।

है, उन (बीज और रूप प्रतिभास) दोनों को भगवान् ने क्रमशः उस विज्ञप्ति के चक्षुरायतन और रूपायतन के रूप में कहा है। इसी प्रकार यहाँ से लेकर स्प्रष्टव्य प्रतिभासवाली विज्ञप्ति जिस परिणामविशेष को प्राप्त स्वबीज से उत्पन्न होती है, वह बीज और जिस (स्प्रष्टव्य) प्रतिभासवाली वह है, उन (बीज और स्प्रष्टव्य प्रतिभास) दोनों को भगवान् ने क्रमशः उस विज्ञप्ति के कायायतन और स्प्रष्टव्यायतन के रूप में कहा है। इस प्रकार यह अभिप्राय है।

आदि विज्ञान और रूप आदि आभास उत्पन्न होते हैं, उस बीज को और उस आभास को क्रमशः आध्यात्मिक आयतन और बाह्य आयतन के रूप में भगवान् ने कहा है।

किमुक्तं भवति०—उपर्युक्त बात को ही खुलासा करने के लिये आचार्य इस प्रेरक वाक्य द्वारा उसका आरम्भ करते हैं।

जब चक्षुर्विज्ञान में रूप का प्रतिभास होता है, उस समय वहाँ दो बातें विचारणीय होती हैं, यथा—चक्षुर्विज्ञान और उसमें रूप का दिखलाई पड़ना। दोनों एक ही बीज के परिणाम हैं। अर्थात् वे दोनों एक ही परिपक्व वासना के परिणाम होते हैं। इसलिये वे (दोनों प्रकार के परिणाम) अभिन्न नहीं होते। जिस वासना से चक्षुर्विज्ञान और रूप प्रतिभास दोनों उत्पन्न हुआ करते हैं, उस वासना को ही ध्यान में रख कर भगवान् ने चक्षुरायतन की देशना की है। अर्थात् उसे ही भगवान् ने चक्षुरायतन कहा है। तथा उस वासना के परिणामस्वरूप जो रूप-प्रतिभास उत्पन्न होता है, उस प्रतिभास को ध्यान में रखकर भगवान् ने रूपायतन की देशना की है। अर्थात् उसे भगवान् ने रूपायतन कहा है। इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय आयतनों की देशना भी तत्तद् जनक बीजों (परिपक्व वासना) को ध्यान में रखकर दी है तथा शब्द, गन्ध आदि तत्तद् आभासों को ध्यान में रखकर शब्दायतन गन्धायतन आदि बाह्य आयतनों की देशना की है।

इत्ययमभिप्रायः—उपर्युक्त वर्णन का उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा कि यही रूप आदि बाह्य आयतनों की देशना (आयतनदेशना सूत्र) का अभिप्राय है।

२०. एवं पुनरभिप्रायवशेन देशयित्वा को गुणः ?

२१. तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशो हि

तथा हि देश्यमाने पुद्गलनैरात्म्यं प्रविशन्ति । द्वयाद्[1] विज्ञानषट्कं प्रवर्तते, न तु कश्चिद् एको द्रष्टाऽस्ति, न यावन्मन्ता[2]—इत्येवं विदित्वा ये पुद्गलनैरात्म्य-देशनाविनेयास्ते पुद्गलनैरात्म्यं प्रविशन्ति ।

(तो) फिर उक्त प्रकार से अभिप्राय के वश से देशना देने का प्रयोजन (गुण) क्या है ?

पुद्गलनैरात्म्य में प्रवेश ही उक्त प्रकार की देशना देने का प्रयोजन है ।

उस प्रकार की देशना देने पर पुद्गलनैरात्म्य में प्रवेश होता है । दो (बीज और आभास) से छह विज्ञान प्रवृत्त होते हैं, कोई एक द्रष्टा नहीं है, यहाँ से लेकर कोई एक मन्ता नहीं है (यहाँ तक)—इस प्रकार जान कर जो पुद्गलनैरात्म्य देशना के विनेय (पात्र) हैं, वे पुद्गलनैरात्म्य में प्रविष्ट होते हैं ।

---

२०. सौत्रान्तिक—यदि उपपादुक सत्त्व देशना की भाँति आयतनदेशना भी अभिप्रायिक है तो फिर जिस प्रकार आपने ऊपर उपपादुकसत्त्व देशना का महान् प्रयोजन प्रदर्शित किया है, उसी प्रकार रूप आदि आयतनों की देशना का क्या प्रयोजन है ?

विज्ञानवादी—

२१. आयतन देशना का प्रयोजन—रूप आदि आयतनों की देशना का प्रयोजन यह है कि उससे रूप आदि बाह्य आयतनों के प्रति रुचि रखनेवाले लोगों को अनायास एक अच्छे उपाय से पुद्गलनैरात्म्य में प्रवेश कराया जा सकता है । आत्मवादी लोग मानते हैं कि आत्मा एक नित्य पदार्थ है, जो रूप आदि का द्रष्टा है और उनका भोक्ता है । जब बारह प्रकार के आयतनों की देशना का प्रतिपादन कर दिया जाता है, तो उससे यह निश्चय हो जाता है कि चक्षु आदि छह आभ्यन्तरिक आयतन और रूप आदि छह बाह्य आयतनों से चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों की उत्पत्ति होती है तथा चक्षुर्विज्ञान ही रूप का द्रष्टा है, श्रोत्रविज्ञान ही शब्द का श्रोता है, घ्राणविज्ञान ही गन्ध का घ्राता (गन्ध का ग्रहण करनेवाला) है, जिह्वाविज्ञान ही रस का आस्वादन करनेवाला है, कायविज्ञान ही स्प्रष्टव्य का स्प्रष्टा (स्पर्श करनेवाला) है और मन-आयतन ही धर्मों का मन्ता है—यह निश्चय हो जाता है । इन छह विज्ञानों से अतिरिक्त एक नित्य आत्मा, जो रूप के द्रष्टा से लेकर धर्मों के मन्ता (मनन करनेवाला) पर्यन्त माना जाता है, वह सर्वथा नहीं है ।

---

१. षट्कद्वयाद्—द० ।
२. यावत्स्प्रष्टा—स० ।

२२. अन्यथा पुनः ।

देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः

'अन्यथा' इति विज्ञप्तिमात्रदेशना। कथं धर्मनैरात्म्यप्रवेशः? विज्ञप्तिमात्रमिदं [1]रूपादिधर्मप्रतिभासमुत्पद्यते[1], न तु रूपादिलक्षणो धर्मः कोऽप्यस्तीति विदित्वा।

तथा धर्मनैरात्म्य में प्रवेश ही दूसरे प्रकार की (विज्ञप्तिमात्र-) देशना देने का प्रयोजन है।

'अन्यथा' से तात्पर्य विज्ञप्तिमात्रदेशना से है। कैसे धर्मनैरात्म्य में प्रवेश होता है? यह विज्ञप्ति (विज्ञान) ही रूप आदि धर्मों के रूप में प्रतिभासित होती हुई उत्पन्न होती है। रूप आदि लक्षणों से युक्त कोई धर्म (बाह्य द्रव्य विद्यमान) नहीं हैं—ऐसा जानकर (धर्मनैरात्म्य में प्रवेश होता है)।

अपि च—इन (उपर्युक्त) छह विज्ञानों से अतिरिक्त एक नित्य पदार्थ को द्रष्टा आदि मानने की आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि दर्शन आदि क्रियायें, जो आत्मा की मानी जाती हैं, वे (क्रियायें) चक्षुर्विज्ञान आदि द्वारा ही सम्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार जगत् की समस्त वस्तुओं को उपर्युक्त बारह आयतनों में विभक्त करके देशना कर देने से यह स्थिति ज्ञात हो जाती है कि पुद्गल या आत्मा नामक कोई नित्य पदार्थ विद्यमान नहीं है। जब द्वादश आयतनों की देशना से उन आयतनों के अतिरिक्त एक नित्य पुद्गल या आत्मा के अभाव का बोध हो जाता है, तब उक्त प्रकार के आत्मा द्वारा गृहीत कोई आत्मीय संस्कृत धर्म भी नहीं है—ऐसा बोध भी अनायास हो जाता है। फलतः सभी संस्कृत धर्मों में पुद्गलनैरात्म्य का बोध हो जाता है, अन्ततोगत्वा निर्वाण की प्राप्ति होती है। यही उक्त आयतनदेशना का प्रयोजन है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि पुद्गलनैरात्म्य का ज्ञान हो जाने से निर्वाण की प्राप्ति हो ही जाती है, तो फिर विज्ञप्तिमात्रता की देशना का क्या प्रयोजन है?

२२. विज्ञप्तिमात्रता देशना का प्रयोजन—विज्ञप्तिमात्रता की देशना का प्रयोजन धर्मनैरात्म्य में प्रवेश है। इसीलिये भगवान् ने धर्मनैरात्म्य में प्रवेश के लिये विज्ञप्तिमात्रता की देशना की। यहाँ 'प्रवेश' का तात्पर्य 'अवबोध' है।

विज्ञप्तिमात्रता की देशना से धर्मनैरात्म्य में प्रवेश कैसे होता है?

विज्ञप्तिमात्रमिदम्०—विज्ञप्ति (विज्ञान) ही रूप आदि बाह्य अर्थों के रूप में दिखलाई पड़ती है। चित्त या विज्ञप्ति से पृथक् रूप, शब्द आदि के लक्षणवाला कोई धर्म नहीं है। जिस समय इस प्रकार का अवबोध होता है, उस समय धर्मनैरात्म्य का अवबोध या धर्म-

---

१-१. स० संस्करणे नास्ति।

२३. यदि तर्हि सर्वथा धर्मो नास्ति, तदपि विज्ञप्तिमात्रं नास्तीति कथं तर्हि व्यवस्थाप्यते ?

२४. न खलु सर्वथा धर्मो नास्तीत्येवं धर्मनैरात्म्यप्रवेशो भवति; अपितु

कल्पितात्मना ॥१०॥

यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः[1] परिकल्पितः, तेन कल्पितेनात्मना तेषां नैरात्म्यम्, न त्वनभिलाप्येनात्मना यो बुद्धानां विषय इति ।

यदि सभी धर्म सर्वथा असत् हैं, तो (आपके अनुसार) वह विज्ञप्तिमात्र भी असत् (ही) है, तब कैसे (आपके द्वारा) उस (विज्ञप्तिमात्र) की व्यवस्था की जाती है ?

'सभी धर्म सर्वथा असत् हैं'—इस प्रकार (मानने से) धर्मनैरात्म्य में प्रवेश नहीं होता; अपितु कल्पितस्वभाव धर्मों के न होने से (धर्मनैरात्म्य में प्रवेश होता है) ।

जो पृथग्-जनों द्वारा धर्मों का ग्राह्य-ग्राहक आदि स्वभाव कल्पित किया जाता है, उस कल्पित स्वभाव से उन (धर्मों) की रहितता ही 'धर्मनैरात्म्य' है, न कि अनभिलाप्य स्वभाव से रहितता, जो बुद्धों का विषय है ।

नैरात्म्य में प्रवेश होता है । धर्मनैरात्म्य का ज्ञान प्राप्त करके बोधिसत्त्व क्रमशः तथागत पद प्राप्त कर लेता है, जो समस्त जगत् का नायक होता है । इस पद को प्राप्त कर लेना ही वस्तुत: मनुष्य का प्रधान उद्देश्य होता है । अत एव भगवान् ने मुख्यरूप से विज्ञप्तिमात्रता की देशना की ।

२३–२४. यदि तर्हि सर्वथा धर्मो नास्ति०—जब विज्ञानवादियों द्वारा धर्मनैरात्म्य की घोषणा की जाती है, तब बाह्यार्थवादियों को ऐसा प्रतीत होता है— जिस प्रकार पुद्गलनैरात्म्य के होने से 'आत्मा' नामक पदार्थ सर्वथा अलीक (असत्) होता है, उसी प्रकार धर्मनैरात्म्य के होने से धर्मों की सत्ता सर्वथा नहीं रहेगी—इस आशंका से वे (विज्ञानवादियों पर) आक्षेप करते हैं :—

यदि सर्व धर्मों का नास्तित्व ही धर्मनैरात्म्य का अर्थ है, तो समस्त धर्म सर्वथा असत् हो जायँगे—ऐसी स्थिति में विज्ञप्ति भी सत् नहीं हो सकेगी । फलतः आपका उपर्युक्त सभी रोचक व्याख्यान अनर्थक हो जायगा । अतः आपको दिखलाना होगा कि विज्ञप्तिमात्रता की व्यवस्था कैसे होती है ?

न खलु सर्वथा······कल्पितात्मना—धर्मनैरात्म्य का यह अर्थ कभी नहीं है कि धर्म सर्वथा नहीं हैं; अपितु उसका अर्थ कल्पित धर्मों के न होने मात्र से है ।

यो बालैर्धर्माणाम्०—पृथग्-जनों के द्वारा जो धर्मों के ग्राह्य और ग्राहक लक्षण परिकल्पित होते हैं, वे ही धर्मों के 'परिकल्पित लक्षण' होते हैं । अर्थात् अज्ञानवश पृथग्-जनों

---

१. स० संस्करणे नास्ति ।

को ऐसा प्रतीत होता है कि चक्षुर्विज्ञान ग्राहक है तथा उस (चक्षुर्विज्ञान) से व्यतिरिक्त नील आदि धर्म बाहर स्थित हैं और वे (नील आदि) ग्राह्य हैं। ऐसी प्रतीति होने के कारण वे यह भी अभिनिवेश करते हैं कि ग्राहक विज्ञान से व्यतिरिक्त बहिःस्थित ग्राह्य अर्थ भी सत् होते हैं। इस प्रकार उनके द्वारा बाह्य अर्थ परिकल्पित होते हैं। इन परिकल्पित बाह्य अर्थों से शून्यता ही 'धर्मनैरात्म्य' कही जाती है। इस तरह धर्मनैरात्म्य कहने से धर्मों का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। धर्मों की सांवृतिक स्थिति तथा पारमार्थिक स्थिति तो अवशिष्ट रहती ही है, जो बुद्ध की दृष्टिगोचर होती है और अनभिलाप्य होती है। जब धर्मों की तथता (वस्तुस्थिति) का दर्शन होता है, उस अवस्था में धर्मों में परिकल्पित ग्राह्य और ग्राहक आदि लक्षण यद्यपि नहीं रहते; फिर भी धर्मों के परतन्त्र और परिनिष्पन्न[1] लक्षण तो होते ही हैं। फलतः 'धर्मनैरात्म्य' शब्द नास्तित्वमात्र के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है; अपितु वह धर्मों की अवस्था-विशेष का द्योतक है। उदाहरणार्थ घट आदि परतन्त्र लक्षण और उस (घट) की बाह्यार्थ से शून्यता आदि परिनिष्पन्न लक्षण–इन दोनों लक्षणों (स्वभावों) की ग्राह्य-ग्राहक लक्षणों से रहितता ही 'धर्म-नैरात्म्य' है।

सारांश यह है कि घट आदि परतन्त्र भी बाह्यार्थतः सत् नहीं है, जैसे वे पृथग्-जनों द्वारा कल्पित होते हैं। घट की बाह्यार्थ से शून्यता भी बाह्य अर्थ से शून्य है। परतन्त्र और परिनिष्पन्न दोनों ही विज्ञप्तिमात्र हैं। इसलिये ग्राहक (ज्ञान) से व्यतिरिक्त बाह्य ग्राह्य और ग्राह्य से व्यतिरिक्त ग्राहक कथमपि सम्भव नहीं हैं। बाह्य ग्राह्य-ग्राहक से रहित चित्त और चित्तज धर्मों के आधार पर ही धर्मनैरात्म्य की देशना की गयी है, न कि धर्मों के सर्वथा अभाव के आधार पर।

पुद्गलनैरात्म्य भी पुद्गल का अभावमात्र नहीं है; अपितु जैसे वह स्कन्धों के ऊपर दूसरों (पुद्गलवादियों) द्वारा आरोपित किया जाता है, वैसा पुद्गल नहीं है। दूसरों द्वारा आरोप इस प्रकार किया जाता है कि रूप आदि पाँच स्कन्धों से एकदम भिन्न नित्य, शाश्वत, कूटस्थ, कर्ता और भोक्ता आदि पुद्गल होता हैं। इस प्रकार का पुद्गल हो नहीं सकता— इसे दिखाने के लिये पुद्गल-नैरात्म्य की देशना की गयी है। व्यवहारमात्र में चित्तात्मक पुद्गल तो होता ही है।

---

१. समस्त धर्म तीन लक्षणों में संगृहीत होते हैं, परिकल्पित, परतन्त्र तथा परिनिष्पन्न लक्षण। जो केवल कल्पना के द्वारा आरोपित होता है और वस्तुतः असत् होता है, उसे परिकल्पित लक्षण कहते हैं। जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न है, वह परतन्त्र है। विशुद्धि मार्ग (आर्यों के समाहित ज्ञान) के साक्षात् विषय को परिनिष्पन्न लक्षण कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिये द्र०–त्रिं० का० २०-२१ आदि; म० सू० ११ : ३८–४१ पृ० ६४-६५; त्रि० नि० पृ० १; मध्यान्त० १-५ पृ० ५; आर्यसन्धिनिर्मोचन-सूत्रम् इत्यादि।

२५. एवं विज्ञप्तिमात्रस्यापि विज्ञप्त्यन्तरपरिकल्पितेनात्मना नैरात्म्यप्रवेशाद्[1] विज्ञप्तिमात्रव्यवस्थापनया सर्वधर्माणां नैरात्म्यप्रवेशो भवति, न तु तदस्तित्वापवादात्; इतरथा हि विज्ञप्तेरपि विज्ञप्त्यन्तरमर्थः स्यादिति विज्ञप्तिमात्रत्वं न सिध्येत, अर्थवतीत्वाद् विज्ञप्तीनाम्।

इसी प्रकार विज्ञप्तिमात्र (धर्म) का भी दूसरी विज्ञप्तियों द्वारा परिकल्पित स्वभाव से नैरात्म्य होने के कारण विज्ञप्तिमात्र की स्थापना द्वारा सभी धर्मों के नैरात्म्य में प्रवेश होता है, न कि उन धर्मों के अस्तित्वमात्र के निराकरण करने से (धर्मनैरात्म्य में प्रवेश होता है)। अन्यथा एक विज्ञप्ति का दूसरी विज्ञप्ति अर्थ हो जायगा—ऐसी स्थिति में विज्ञप्तियों के अर्थवाली हो जाने से विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध न हो सकेगी।

---

२५. धर्मनैरात्म्य का अर्थ उक्त प्रकार का ही होता है। उस अर्थ का विशेष गुण दिखलाने के लिये आचार्य यहाँ उसी विषय को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करते हैं।

विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य ग्राह्य नहीं होते। विज्ञान ही विज्ञेय के रूप में आभासित होता है। जब यह स्थिति निश्चित हो गयी, तो साथ ही यह भी स्थापित हो जाता है कि विज्ञान भी अन्य विज्ञानों से अतिरिक्त बाह्य विज्ञेय नहीं हैं; अपितु वह विज्ञानान्तर का ही परिणाम है। पृथग्-जनों द्वारा इस प्रकार परिकल्पित हुआ करता है कि स्वचित्त से व्यतिरिक्त अन्य बाह्य चित्त-चैतसिक भी होते हैं। जिस प्रकार रूप, चक्षुर्विज्ञान से पृथक् बाह्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार अन्य विज्ञान भी स्वचित्त से सर्वथा पृथक् विद्यमान हैं। इसी प्रकार उनके द्वारा स्वचित्त और परचित्त में पार्थक्य भी परिकल्पित होता है। यह पार्थक्य भी परिकल्पित लक्षण है और इसके द्वारा विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिषेध होता है। अतः ग्राह्य-ग्राहक का पार्थक्य विज्ञान के क्षेत्र में नहीं होता। हालाँ कि विज्ञान और विज्ञेय में कहीं पर भी उस प्रकार का ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं होता; फिर भी चित्तमात्रात्मक सब धर्म तो होते ही हैं, जिस प्रकार वे भ्रमरहित आर्यों के दृष्टिगोचर होते हैं। धर्मनैरात्म्य का अर्थ सभी धर्मों का सर्वथा अपवाद नहीं है; अन्यथा विज्ञानवाद का दर्शन उच्छेद-अन्त में पतित हो जायगा। इसलिए घट आदि जिसमें बाह्यार्थत्व का आरोप होता है, वह परतन्त्र है और वस्तु है। जिस प्रकार जीव घट आदि को बाह्यार्थरूपेण कल्पित करता है, वह बाह्यार्थत्व परिकल्पित है तथा असत् है। इसीलिए आचार्य वसुबन्धु ने अन्यत्र कहा—

"यत् ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः[2]" इत्यादि।

---

१. °परिच्छेदात्–स०।

२. त्रि० नि० २ का०, पृ० १।

२६. कथं पुनरिदं प्रत्येतव्यम्—अनेनाभिप्रायेण भगवता रूपाद्यायतनास्तित्व-मुक्तम्, न पुनः सन्त्येव तानि, यानि रूपादिविज्ञप्तीनां प्रत्येकं विषयीभवन्तीति ?

यह कैसे माना जाय कि इसी अभिप्राय से भगवान् ने रूप आदि आयतनों की सत्ता बतलायी है तथा वे बाह्य वस्तुयें नहीं ही होतीं, जो रूपविज्ञप्ति आदि प्रत्येक विज्ञप्तियों का विषय होती हैं ?

धर्मनैरात्म्य में प्रवेश का तात्पर्य यदि उक्त प्रकार का न लिया जायगा, तो क्या आपत्ति होगी ?

इतरथा हि विज्ञप्तेरपि०—यदि विज्ञान को विज्ञानान्तर का पृथक् ग्राह्य माना जायगा, और उसे अन्य विज्ञान का परिणाम न माना जायगा, तो इस परिस्थिति में विज्ञान को जाननेवाला ग्राहक विज्ञान एक अतिरिक्त बाह्य अर्थ हो जायगा। फलतः विज्ञप्तिमात्र की सारी व्यवस्था टूट जायगी। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि बाह्यार्थ का तात्पर्य केवल बाह्य रूप आदि से ही नहीं होता; अपि तु इसका वास्तविक अर्थ चित्त से व्यतिरिक्त विषय से होता है। सामान्यतया स्वबीज का परिपाक होने से उसका विज्ञान के रूप में परिणाम हुआ करता है और वही विज्ञान विषय के रूप में प्रतिभासित होता है। इससे ठीक विपरीत को 'बाह्य अर्थ' कहते हैं।

जब ग्राह्य-ग्राहक का प्रतिषेध किया जाता है, तब उस (प्रतिषेध) के विषय केवल बाह्य रूप आदि ही नहीं होते; अपितु समस्त धर्मों के ऊपर उसे व्यवहृत किया जाता है। अतः चित्त-चैतसिक भी ग्राह्य-ग्राहक से रहित स्थित होते हैं। फलतः समस्त धर्मों में धर्म-नैरात्म्य की व्यवस्था युक्तिसङ्गत स्थापित होती है।

बाह्यार्थवादी—

२६. [ऊपर कहा जा चुका है कि रूप आदि बाह्य अर्थों की देशना (आयतनदेशना) तात्त्विकी देशना न होकर अभिप्रायिकी (नेयार्थ) देशना है। उसका अभिप्राय और प्रयोजन दिखलाया जा चुका है; किन्तु अभी तक युक्तिबाधा प्रदर्शित नहीं की गई है। उक्त देशना का शब्दानुसारी अर्थ स्वीकार करने पर अर्थात् बाह्यार्थ स्वीकार करने पर जो युक्तिविरोध होता है, उसे दिखलाने के लिये आचार्य यहाँ उन (बाह्यार्थवादियों) के कथन का अपनी ओर से अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं]—

आयतनदेशना के बारे में आप (विज्ञानवादियों) का कथन है कि स्वबीज और प्रतिभास को ध्यान में रखकर भगवान् ने रूप आदि आयतनों की सत्ता बतलायी है। रूप आदि बाह्य वस्तुयें तत्त्वतः (द्रव्यतः) विद्यमान नहीं होतीं और न वे (बाह्य वस्तुयें) बाहर से विज्ञान के विषय में आती हैं। फिर भी आप यह किस युक्ति से जानते हैं कि यह (आयतन-) देशना नेयार्थसूत्र है ? क्योंकि कोई भी सूत्र नेयार्थ तभी हो सकता है,

२७. यस्मात्

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥११॥

इति[1]।

क्योंकि—

वह (रूप आदि विज्ञप्तियों का विषय) एक (अवयवी) नहीं हो सकता, न तो अनेक परमाणु ही विषय हो सकते हैं तथा वे (परमाणु) परस्पर संहत होकर भी विषय नहीं हो सकते; क्योंकि परमाणु ही असिद्ध है।

जब कि यथाशब्द (शब्दानुसारी) अर्थ स्वीकार करने पर युक्तिविरोध उपस्थित होता हो। इस सूत्र का यथाशब्द अर्थ स्वीकार करने में कोई युक्तिविरोध दिखलाई नहीं पड़ता। रूप आदि बाह्य अर्थों को प्रत्यक्षतः देखते हुए भी यह कैसे कहा जा सकता है कि बाह्य अर्थ विज्ञान के विषय नहीं हैं ?

विज्ञानवादी—

युक्तिविरोध—

२७. यस्मात्०—बाह्यार्थवादी रूप, शब्द आदि बाह्य अर्थों को विज्ञान का विषय निरूपित करते हैं। इस मत में युक्तिविरोध दिखलाने के लिये आचार्य सर्वप्रथम उनके मत का तीन कोटियों में विभाजन करके फिर उसका निराकरण करते हैं। जैसे—यदि रूपविज्ञप्ति आदि विज्ञप्तियाँ बाह्य रूप, शब्द आदि को विषय बनाती हैं, तो उसके तीन ही प्रकार हो सकते हैं, यथा—क. एक स्थूल अवयवी के रूप में विषय बनाना, ख. अनेक व्यवहित परमाणुओं के संचय को विषय बनाना तथा ग. अव्यहितरूप से स्थित परमाणुओं के संघात को विषय बनाना[2]। ये तीनों पक्ष युक्तिसंगत नहीं हैं; क्योंकि—

रूप आदि एक स्थूल पिण्ड (अवयवी) विज्ञान का विषय नहीं हो सकता; अनेक परमाणुओं का समूह भी विषय नहीं हो सकता तथा परमाणुओं का संघात भी विज्ञान का विषय नहीं हो सकता; क्योंकि परमाणु ही असिद्ध है।

---

१. स० संस्करणे नास्ति।

२. तु०— भासमानः किमात्माऽयं बाह्योऽर्थः प्रतिभासते।
परमाणुस्वभावः किं किं वाऽवयविलक्षणः ॥—तत्त्व० १९६६ का०।

तत्र प्रत्यक्षसिद्धोऽर्थो बाह्यो भवन्ननेको वा परमाणुतोऽभिन्नो भवेत्, एको वा तैरारब्धोऽवयवी स्थूलोऽनारब्धो वेति पक्षाः। द्र०—तत्त्व० प०, द्वि० भा०, पृ० ६७१।

२८. किमुक्तं भवति ? यत् तद् रूपादिकमायतनं रूपादिविज्ञप्तीनां प्रत्येकं विषयः स्यात्, तदेकं वा स्याद्, यथाऽवयविरूपं कल्प्यते वैशेषिकैः; अनेकं वा परमाणुशः; संहता वा त एव परमाणवः ।

२९. न तावदेकं विषयो भवति, अवयवेभ्योऽन्यस्य अवयविरूपस्य क्वचिदप्यग्रहणात्; नाप्यनेकम्, परमाणूनां प्रत्येकमग्रहणात्; नापि ते संहता विषयीभवन्ति, यस्मात् परमाणुरेकं द्रव्यं न सिध्यति ।

उपर्युक्त कारिका द्वारा क्या कहा गया ? वे रूप आदि आयतन, जो रूप आदि प्रत्येक विज्ञप्तियों के विषय होते हैं, वे या तो एक (पिण्ड के रूप में विषय) होते हैं; जैसे वैशेषिक एक अवयवी की विषय के रूप में कल्पना करते हैं अथवा अनेक परमाणुओं का समूह (विषय होता है) अथवा वे परमाणु ही, जो संहत रूप में स्थित हैं, विषय होते हैं ।

एक (अवयवी) विषय नहीं होता; क्योंकि अवयवों से भिन्न अवयवी का कहीं भी ग्रहण नहीं होता । न तो अनेक (व्यवहित परमाणुओं का संचय ही विषय होता है); क्योंकि (संचयस्थ) परमाणुओं में से एक-एक का (पृथक्) ग्रहण नहीं होता । संहत अवस्था में (अव्यवहित रूप से) स्थित होकर भी वे (परमाणु) विषय नहीं होते; क्योंकि एक परमाणु द्रव्य सिद्ध नहीं है ।

---

२८. किमुक्तं भवति०—कारिकोक्त संग्रहवाक्य का इस वचन द्वारा अब विस्तार किया जा रहा है -

आप सौत्रान्तिक लोग विज्ञान से व्यतिरिक्त रूपायतन, शब्दायतन आदि को क्रमशः रूपविज्ञप्ति, शब्दविज्ञप्ति आदि के विषय के रूप में स्वीकार करते हैं । हम पूछते हैं कि क्या आप उन रूप, शब्द आदि आयतनों को एक स्थूल अवयवी के रूप में स्वीकार करते हैं, जैसा कि वैशेषिक लोग मानते हैं । अथवा उन्हें (रूप आदि को) व्यवहित अनेक परमाणुओं के समूह (संचय) के रूप में मानते हैं ? अथवा परस्परापेक्ष अव्यवहित रूप से स्थित परमाणुओं के संघात के रूप में मानते हैं ?

प्रथम पक्ष का निरास—

२९. न तावदेकम्०—वैशेषिक विज्ञान के द्वारा अवयवी का ग्रहण मानते हैं । उदाहरणार्थ जब चक्षुर्विज्ञान के द्वारा घट का प्रत्यक्ष होता है, तब घट-अवयवी का प्रत्यक्ष होता है । चूँकि अवयवी स्थूल होता है, अतः वह इन्द्रियज्ञान का विषय हो सकता है । अवयवरूपी परमाणु सूक्ष्म होते हैं, अतः वे इन्द्रियज्ञान के विषय नहीं हो सकते । वह अवयवी अपने अवयवों से भिन्न एवं एक होता है ।

किन्तु ऐसा एक अवयवी कभी भी विज्ञप्ति का विषय नहीं होता । जब हम घट आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तब अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नामक पदार्थ कभी विज्ञान का गोचर

नहीं होता; अपितु तन्तु में ही पट दिखाई देता है और मृत्पिण्ड आदि में घट आदि दिखाई देते हैं। यदि उक्त प्रकार का अवयवी पृथक् सिद्ध होता, तो तन्तु और मृत्पिण्ड आदि की अपेक्षा के बिना उसका अलग से साक्षात्कार होता। जो जिससे भिन्न होता है, वह उसकी अपेक्षा के बिना स्वतन्त्ररूप से इन्द्रियों का गोचर होता है, जैसे पट, घट से भिन्न होता है, अतः वह घट की अपेक्षा बिना किये स्वतन्त्ररूप (अलग) से इन्द्रिय का गोचर होता है, इसी तरह यदि अवयवी, अवयवों से भिन्न है तो उसे अवयवों की अपेक्षा के बिना पृथक् रूप से इन्द्रियों द्वारा गृहीत होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः एक अवयवी नहीं है।

द्वितीय पक्ष का निरास—

नाप्यनेकम्०—व्यवहित अनेक परमाणु भी विज्ञान के विषय नहीं हो सकते; क्योंकि विज्ञान जब किसी घट आदि विषय का ग्रहण करता है, तब उसके प्रत्येक परमाणु का ग्रहण नहीं करता[1]। बाह्यार्थवादियों में 'सञ्चितालम्बनः पञ्चविज्ञानगणः'—यह सिद्धान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान—ये पाँचों विज्ञान सञ्चिताकार अर्थात् व्यवहित परमाणुओं के संचय (समूह) से उत्पन्न स्थूलाकार विषय का आलम्बन करते हैं। उनके अनुसार जब ये विज्ञान सञ्चिताकार का आलम्बन करते हैं तो यह स्थिति अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि वे (विज्ञान) प्रत्येक परमाणु का आलम्बन नहीं करते; साथ ही यदि विषय के मूल में परमाणु हैं, तो उनका आकार वह नहीं ही है, जो सञ्चित का आकार है; क्योंकि बाह्यार्थवादी परमाणु को सूक्ष्म एवं अविभाज्य मानते हैं। फलतः संचिताकार भी द्वितीय चन्द्र की भाँति भ्रान्तिमात्र सिद्ध होता है। अतः द्वितीय पक्ष भी युक्तियुक्त नहीं है।

तृतीय पक्ष का निरास—

नापि ते संहता विषयीभवन्ति०—जिसमें अनेक परमाणु परस्पर अव्यवहित और संयुक्त रूप से स्थित रहते हैं—ऐसा परमाणुसंघात भी विज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा संघात होने के लिये पहले परमाणु की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध होनी चाहिये। किन्तु परमाणु की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध नहीं है। पहले कोई परमाणु नामक द्रव्य सिद्ध हो जाय, तब यह विचार हो सकता है कि परमाणुओं का संघात विज्ञप्ति का विषय होता है या व्यवहित अनेक परमाणु विज्ञप्ति के विषय होते हैं। किन्तु जब परमाणु ही द्रव्यतः असत् है, तब उक्त प्रकार के प्रश्न उठ ही नहीं सकते।

---

१. द्र०— न तावत्परमाणूनामाकारः प्रतिवेद्यते।
निरंशानेकमूर्त्तानां प्रत्ययाप्रतिवेदनात्॥
व्यपेतभागभेदा हि भासेरन् परमाणवः।
नान्यथाऽध्यक्षता तेषामात्माकारासमर्पणात्॥—
तत्त्व०, १९६७-१९६८ का०, पृ० ६७१–६७२।

३०. कथं न सिध्यति ? यस्मात्

षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।

षड्भ्यो दिग्भ्यः षड्भिः परमाणुभिर्युगपद्योगे सति परमाणोः षडंशता प्राप्नोति, एकस्य यो देशः, तत्र अन्यस्यासम्भवात् ।

(परमाणु) कैसे सिद्ध नहीं है ? इसलिये कि—

छह परमाणुओं के साथ एक साथ योग होने से परमाणु की षडंशता (छह अंशवाला होना) प्राप्त होती है।

छह दिशाओं से छह परमाणुओं के साथ युगपद् (एक साथ) संयोग होने पर (मध्यस्थ) परमाणु की षडंशता प्राप्त होती है; क्योंकि एक परमाणु का जो देश (स्थान) होता है, वहाँ दूसरे परमाणु का होना सम्भव नहीं है।

बाह्यार्थवादी—

३०. **कथं न सिध्यति ?**—बाह्यार्थवादियों को परमाणु की द्रव्यतः असत्ता स्वीकृत नहीं है। अतः वे पूछते हैं कि 'परमाणु की द्रव्यतः सत्ता कैसे नहीं है' ? अर्थात् परमाणु की द्रव्यतः सत्ता न होने में आप (विज्ञानवादियों) के पास क्या युक्तियाँ हैं ? अर्थात् आपके पास कोई युक्ति नहीं है।

विज्ञानवादी—

यस्मात्—इस वचन द्वारा आचार्य यहाँ परमाणु की द्रव्यतः असत्ता सिद्ध करनेवाली युक्तियाँ प्रदर्शित करने का उपक्रम करते हैं—

षट्केन युगपद्योगात्०—सूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल पिण्ड बनने की प्रक्रिया में आपके अनुसार बीच में रहनेवाले (मध्यस्थ) परमाणु की छह दिशाओं से छह अन्य परमाणुओं का संयोग होता है। यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—क. जब छह दिशाओं से आनेवाले छह परमाणुओं का मध्यस्थित परमाणु से एकसाथ संयोग होता है, तब वह संयोग मध्यस्थ परमाणु की भिन्न भिन्न दिशाओं से होता है, या ख. एक ही दिशा में छहों परमाणुओं का संयोग हो जाता है ?

क. यदि मध्यस्थ परमाणु की भिन्न भिन्न दिशाओं से अन्य छह परमाणुओं का संयोग होता है, तो मध्य के परमाणु के छह अंश या अवयव स्वतः सिद्ध हो जाते हैं[1], यथा—मध्यस्थ परमाणु की जो पूर्व दिशा है, वह पूर्वदिशास्थ अन्य परमाणु द्वारा गृहीत है,

---

१. द्र०— अपरान्तराभिमुख्येन रूपं चेदन्यदिष्यते ।
कथं नाम भवेदेकः परमाणुस्तथा सति ॥—
तत्त्व०, १९९१ का०, पृ० ६७६ ।

षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥१२॥

अथ य एवैकस्य[1] परमाणोर्देशः स एव षण्णाम्, तेन सर्वेषां समानदेशत्वात् सर्वः पिण्डः परमाणुमात्रः स्यात्, [परस्पराव्यतिरेकाद्;[2] इति न कश्चित् पिण्डो दृश्यः स्यात्।

छहों परमाणुओं का समान (एक) देश होने से (समस्त) पिण्ड अणुमात्र हो जायगा।

जो एक परमाणु का देश है, वही यदि छहों परमाणुओं का (भी देश) है, तो ऐसी स्थिति में समान देश होने के कारण समस्त पिण्ड परमाणुमात्र हो जायगा; क्योंकि (आपके अनुसार) वे परस्पर अभिन्न देश में स्थित होते हैं। फलतः कोई भी पिण्ड दृश्य न हो सकेगा।

वह (पूर्व दिशा) दक्षिण दिशास्थ, पश्चिम दिशास्थ आदि परमाणुओं द्वारा गृहीत नहीं है। इसी तरह अन्य दिशाओं के बारे में भी जानना चाहिये। फलतः मध्यस्थ परमाणु के छह अवयव हो जायँगे और जो छह अवयववाला है, उसकी एक एवं अविभाज्य द्रव्यसत्ता नहीं हो सकती।

ख. यदि पूर्वपक्षी कहे कि उन अन्य छह परमाणुओं का संयोग मध्यस्थ परमाणु की भिन्न भिन्न दिशाओं से नहीं होता, अपि तु सबका केवल एक ही दिशा में संयोग होता है, तो इस पक्ष का निरास करने के लिये आचार्य कहते हैं—

षण्णां समानदेशत्वात्०—मध्यस्थ परमाणु की पूर्व दिशा में रहनेवाले परमाणु द्वारा गृहीत देश (स्थान) यदि पश्चिम दिशा में रहनेवाले या दक्षिण दिशा में रहनेवाले आदि अन्य परमाणुओं द्वारा गृहीत देश से भिन्न नहीं है, तो ऐसी स्थिति में मध्यस्थ परमाणु के साथ हजारों परमाणुओं का योग हो जाने पर भी उसका क्षेत्र कुछ भी विस्तृत न होगा[3]। फलतः पर्वतसदृश महान् पिण्ड भी परमाणुमात्र हो जायगा, क्योंकि पर्वत के परिमाण के परमाणु के परिमाण से महान् (स्थूल) होने में कोई भी कारण विद्यमान नहीं है। यदि परमाणुओं द्वारा गृहीत स्थान भिन्न भिन्न नहीं हैं, तो पर्वत आदि कोई भी पिण्ड दिखलाई न पड़ सकेगा।

---

१. एकस्य—द०।
२. परस्परव्यतिरेकात्—अ०।
३. द्र०— संयुक्तं दूरदेशस्थं नैरन्तर्यव्यवस्थितम्।
एकाणवभिमुखं रूपं यदणोर्मध्यवर्त्तिनः ॥—
तत्त्व० (बहिरर्थपरीक्षा), १९८९ का०, पृ० ६०७।

३१. नैव हि परमाणवः संयुज्यन्ते, निरवयवत्वात् । मा भूद् एष दोषप्रसङ्गः । संहतास्तु परस्परं संयुज्यन्ते—इति काश्मीरवैभाषिकाः ।

३२. त इदं प्रष्टव्याः—यः परमाणूनां संघातो न स तेभ्योऽर्थान्तरम् इति[1],

परमाणोरसंयोगे[2] तत्संघातेऽस्ति कस्य सः ।

संयोग इति वर्तते ।

काश्मीर-वैभाषिक कहते हैं कि निरवयव होने से परमाणु संयुक्त नहीं होते, अतः हमारे मत में उक्त दोष का प्रसङ्ग नहीं होता । परमाणुसंघात परस्पर संयुक्त होते हैं ।

उन (काश्मीर वैभाषिकों) से यह पूछना चाहिये कि जो परमाणुओं का संघात है, वह तो उन परमाणुओं से भिन्न नहीं है, तो फिर परमाणुओं का संयोग न होने पर उनके संघात में 'वह' किसका है ? 'वह' (सः) पद से 'संयोग' का अध्याहार करना चाहिये ।

उपर्युक्त दोनों पक्ष किसी भी तरह स्थिर नहीं हो सकते; क्योंकि प्रथम पक्ष में तो परमाणु के सावयव होने से वह एक द्रव्य नहीं हो सकता और द्वितीय पक्ष में उसके निरवयव होने से संचय (स्थौल्य) नहीं बन सकता[3] ।

काश्मीर वैभाषिक—

३१. यदि परमाणुओं का संयोग होता तो छह परमाणुओं का संयोग होने से षडंशता की प्राप्ति होती; किन्तु परमाणु निरवयव हैं, इसलिये वे आपस में संयुक्त नहीं होते; फलतः उपर्युक्त षडंशता प्राप्ति का दोष हम पर लागू नहीं होता । यद्यपि परमाणु आपस में संयुक्त नहीं होते; फिर भी प्रतीत होता है, मानो संयोग होता है । ऐसा इसलिये प्रतीत होता है, चूंकि परमाणुओं के संघात आपस में संयुक्त होते हैं; क्यों कि वे संघात सावयव होते हैं । अर्थात् अकेला परमाणु दूसरे परमाणुओं से संयोग नहीं करता, बल्कि जब अनेक परमाणुओं का संघात बन जाता है, तब वे संघात परस्पर संयुक्त होने लगते हैं और बड़े-बड़े पिण्डों का निर्माण होता है । लोकप्रसिद्धि से भी हमारे मत का विरोध नहीं है ।

विज्ञानवादी—

३२. काश्मीर वैभाषिकों से पूछना चाहिये कि परमाणुओं का वह संघात, जिसका आप संयोग मानते हैं, परमाणुओं से भिन्न (व्यतिरिक्त) है या अभिन्न (अव्यतिरिक्त) ?

---

१. ० वक्तव्याः—यः परमाणूनां संघातः स तेभ्योऽर्थान्तरं न वेति—स० ।

२. ० रसंयोगात्—ब०; परमाणूनामसंयोगे—द० ।

३. द्र०— अपवन्तराभिमुख्येन तदेव यदि कल्प्यते ।
प्रचयो भूधरादीनामेवं सति न युज्यते ।।—
तत्त्व० (बहिरर्थपरीक्षा), १९९० का०, पृ० ६७८ ।

३३. न चानवयवत्वेन तत्संयोगो न सिध्यति ।।१३।।

अथ संघाता अप्यन्योऽन्यं न संयुज्यन्ते, न तर्हि परमाणूनां निरवयवत्वात् संयोगो न सिध्यतीति वक्तव्यम्; सावयवस्यापि हि संघातस्य संयोगानभ्युपगमात्। तस्मात् परमाणुरेकं द्रव्यं न सिध्यति।

(परमाणुओं के) निरवयव होने से उनका संयोग सिद्ध नहीं होता—ऐसा (आपको) नहीं (कहना चाहिये)।

यदि संघात भी परस्पर संयुक्त नहीं होते (ऐसा आप कहें), तो 'परमाणुओं के निरवयव होने से संयोग सिद्ध नहीं होता' ऐसा (आपको) नहीं कहना चाहिये; क्योंकि आप सावयव संघात का भी संयोग स्वीकार नहीं करते। इसलिये परमाणु एक द्रव्य सिद्ध नहीं है।

'परमाणुसंघात परमाणुओं से अभिन्न है'—काश्मीर वैभाषिकों के इस मत को दूषित करते हुये आचार्य कहते हैं—

यदि आपके मत में परमाणु भी परस्पर संयुक्त नहीं होते और संघात भी परमाणुओं से व्यतिरिक्त स्वीकृत नहीं है, तो ऐसी स्थिति में जो संघातों का संयोग आप लोग मानते हैं, वह किस चीज का संयोग है ?

३३. यदि काश्मीर वैभाषिक उययु‍र्क्त दोष के भय से यह कह दें कि 'संघात भी आपस में संयुक्त नहीं होते' तो आचार्य को उनके इस आशंकित कथन का भी इस प्रकार समाधान करना पड़ा--

संघात के सावयव होने पर भी यदि आप उनका संयोग स्वीकार नहीं करते हैं, तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि 'परमाणुओं के निरवयव होने से उनका संयोग नही होता'। अर्थात् जब सावयव होने पर भी आप संघातों का संयोग नहीं मानते, तो आपकी निरवयवत्व को असंयोग का हेतु नहीं कहना चाहिये।

तस्मात् ०—इस प्रकार काश्मीर वैभाषिकों को निरुत्तर करके आचार्य पूर्वोक्त कथन का उपसंहार करते हुए कहते हैं--

परमाणु एक द्रव्य सिद्ध नहीं है। क्योंकि छह परमाणुओं का युगपद् संयोग होने पर वह (परमाणु) सावयव हो जाता है और सावयव हो जाने से वह एक द्रव्य सिद्ध नहीं होता। तथा परमाणु को निरवयव मानने पर समस्त पिण्ड के अदृश्य हो जाने का प्रसङ्ग हो जाता हैं। अतः यह निरवयव पक्ष भी युक्तिसङ्गत नहीं है। निष्कर्ष यह हुआ कि किसी भी तरह परमाणु की द्रव्य-सत्ता सिद्ध नहीं होती।

३४. यदि च परमाणोः संयोग इष्यते, यदि वा नेष्यते,

दिग्भागभेदो यस्यास्ति तस्यैकत्वं न युज्यते ।

अन्यो हि परमाणोः पूर्वदिग्भागो यावदधोदिग्भाग इति दिग्भागभेदे सति कथं तदात्मकस्य परमाणोरेकत्वं योक्ष्यते[1] ।

३५. **छायावृती कथं वा**

यद्येकैकस्य परमाणोर्दिग्भागभेदो न स्याद्[2], आदित्योदये कथमन्यत्र छाया भवति, अन्यत्र आतपः[3] । न हि तस्यान्यः प्रदेशोऽस्ति यत्रातपो न स्यात् ।

परमाणु का संयोग माना जाय अथवा न माना जाय, जिसका दिग्भागभेद होता है, उसका एकत्व युक्त नहीं है । परमाणु का पूर्व दिग्भाग अन्य (भिन्न) है, यहाँ से लेकर (पश्चिम, दक्षिण आदि) अधोदिग्भाग तक सब भिन्न-भिन्न हैं । इस प्रकार दिग्भागभेद होने पर तदात्मक परमाणु का एकत्व कैसे युक्त होगा ?

अथवा छाया और आवरण भी कैसे सम्भव हैं ? यदि एक परमाणु का दिग्भागभेद नहीं है, तो सूर्योदय होने पर कैसे एक ओर छाया होती है और दूसरी ओर आतप (धूप) होता है; क्योंकि उस परमाणु का ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ आतप न पहुँचता हो ।

परमाणु के निषेधार्थ अन्य युक्तियाँ--

३४. परमाणुओं का संयोग माना जाय अथवा न माना जाय, उनकी एक द्रव्यात्मक सत्ता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती । जब परमाणु का दिग्भागभेद स्वीकार कर लिया जाता जाता है, तब वह एक द्रव्य नहीं रह सकता । यदि परमाणु की पूर्व दिशा दक्षिण दिशा से भिन्न है और इसी तरह ऊर्ध्व दिशा अधोदिशा से भिन्न है, तो वह परमाणु एक द्रव्य कैसे हो सकता है; क्योंकि इस स्थिति में वह अनेक अवयवों पर अवलम्बित हो जाता है । जितनी उसकी दिशायें होती हैं, उतनी ही संख्या में उसके विभाग किये जा सकते हैं । पुनश्च उसके प्रत्येक विभाग की भी वही स्थिति होगी । इस स्थिति का कभी ऐसा अन्त न होगा, जब उसका एक अविभाज्य अंश दिखलाया जा सके ।

३५. परमाणु के दिग्भागभेद में आपत्ति देख कर यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहें कि परमाणु में दिग्भागभेद नहीं होता, तो उनके इस कथन का निरास करते हुये आचार्य कहते हैं—

जब सूर्योदय होता है, तब परमाणु के एक ओर छाया और दूसरी ओर प्रकाश कैसे सम्भव है ? क्योंकि उस परमाणु का तो ऐसा कोई एक भाग नहीं है, जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता । क्योंकि आपके अनुसार परमाणु तो एक निर्विभाग द्रव्य है । ऐसी स्थिति में छाया का पड़ना असम्भव हो जायगा ।

---

१. युज्यते--स० ।

२. स्यात् इति—द० ।

३. ० भवतीति—स० ।

आवरणं च कथं भवति, परमाणोः परमाण्वन्तरेण यदि दिग्भागभेदो नेष्यते। न हि कश्चिदपि[1] परमाणोः परभागोऽस्ति, यत्रागमनादन्येनान्यस्य प्रतिघातः स्यात्। असति च प्रतिघाते सर्वेषां समानदेशत्वात्[2] सर्वः संघातः परमाणुमात्रः स्यादित्युक्तम्।

३६. किमेवं नेष्यते पिण्डस्य ते छायावृती[3], न परमाणोरिति ?

३७. किं खलु परमाणुभ्योऽन्यः पिण्ड इष्यते, यस्य ते स्याताम् ?

न, इत्याह।

यदि दिग्भागभेद नहीं माना जाता है तो एक परमाणु का दूसरे परमाणु से आवरण कैसे होता है ? क्योंकि परमाणु का कोई भी परभाग नहीं है, जहाँ (दूसरे परमाणु के) आ जाने से एक के द्वारा दूसरे का प्रतिघात हो। प्रतिघात न होने पर सब परमाणुओं का समान देश हो जाने से समस्त संघात परमाणुमात्र हो जायगा, यह पहले कहा जा चुका है।

क्या ऐसा नहीं माना जा सकता कि वे छाया और आवरण पिण्ड के हैं, परमाणु के नहीं ?

क्या आप पिण्ड को परमाणु से भिन्न मानते हैं ? जिस (पिण्ड) के ये (छाया और आवरण) हों ?

नहीं—ऐसा (बाह्यार्थवादियों ने) कहा।

आवरणं च कथं भवति ० —छाया में असम्भव दोष दिखला कर अब आवरणासम्भव दोष दिखलाया जा रहा है—

यदि निरवयव होने के कारण परमाणु में दिग्भागभेद स्वीकार न किया जायगा तो इस स्थिति में एक परमाणु का अन्य परमाणु से आवरण कैसे हो सकेगा ? अर्थात् परमाणु आवृत न हो सकेगा। क्योंकि निरवयव होने के कारण परमाणु की जिस दिशा से अन्य परमाणु का आगमन होगा, उस दिशा में उसका अन्य परमाणु से प्रतिघात न हो सकेगा। अर्थात् परमाणु का परमाणु से प्रतिघात नहीं होगा। जब परमाणु का परमाणु से प्रतिघात नहीं होगा, तो सब परमाणुओं का देश अभिन्न हो जायगा। फलतः पर्वत और परमाणु समान परिमाणवाले होने लगेंगे–यह पहले भी कहा जा चुका है।

बाह्यार्थवादी—

३६-३७. किमेवं नेष्यते०—यद्यपि परमाणु निरवयव हैं और इसीलिये उनकी छाया और उनका आवरण नहीं होता; फिर भी पिण्ड के सावयव होने के कारण उसकी छाया और आवरण हो सकते हैं। इसलिये हमारे पक्ष में उक्त (छाया और आवरण न हो सकने के) दोष का प्रसङ्ग नहीं होता।

---

१. कस्यचिदपि—द०।

२. सर्वम्—अ०।

३. छाया०—अ०।

अन्यो न पिण्डश्चेन्न तस्य ते ॥१४॥

यदि नान्यः परमाणुभ्यः पिण्ड इष्यते, न ते तस्येति सिद्धं भवति ।

३८. सन्निवेशपरिकल्प एषः । परमाणुः संघात इति वा, किमनया चिन्तया, लक्षणं तु रूपादि यदि न प्रतिषिध्यते ।

यदि पिण्ड (परमाणुओं से) भिन्न नहीं है, तो वे (छाया और आवरण) उस (पिण्ड) के नहीं हो सकते ।

यदि (आप) पिण्ड को परमाणु से भिन्न नहीं मानते हैं, तो वे (छाया और आवरण) उस पिण्ड के नहीं हैं, यह सिद्ध होता है ।

यह (परमाणुओं की) अवस्थिति का प्रकारविशेष है । परमाणु हो या संघात, इस चिन्ता से क्या प्रयोजन, यदि रूप आदि लक्षण प्रतिषिद्ध नहीं होते ।

विज्ञानवादी--

किं खलु परमाणु०—क्या परमाणुओं से पिण्ड भिन्न हैं, जिसकी छाया और आवरण हो सकें ? यदि परमाणुओं से भिन्न पिण्ड दिखलाया जा सके, तब तो यह विचार किया जा सकता है ।

सौत्रान्तिक—

न, इत्याह—हम पिण्ड को परमाणुओं से भिन्न स्वीकार नहीं करते ।

अन्यो न पिण्डश्चेत्०—यदि आप पिण्ड को परमाणुओं से भिन्न स्वीकार नहीं करते हैं, तो वे छाया और आवरण पिण्ड के हैं—यह कहना कहाँ तक युक्तिसंगत हो सकता है ? क्योंकि पिण्ड परमाणु से भिन्न नहीं है और परमाणु की छाया और आवरण नहीं होते । अतः आप उपर्युक्त दोष से मुक्त नहीं हो सकते ।

सौत्रान्तिक आदि बाह्यार्थवादी—

३८. परमाणुओं का संचय या संघात, जिससे स्थूल पिण्ड का निर्माण होता है, वह (संचय या संघात) परमाणुओं की स्थिति का एक विशेष प्रकार है । जैसे—अवयवों की एक विशेष ढंग की स्थिति से चक्र आदि का निर्माण होता है; किन्तु उसके प्रत्येक अवयव चक्रस्वरूप नहीं होते और न तो वे (प्रत्येक अवयव) चक्र की अर्थक्रिया ही करते हैं । उसी प्रकार रूप आदि बाह्यायतन परमाणुओं की स्थिति के एक विशेष प्रकार हैं । रूप का विभाग करते करते अन्त में जो सर्वसूक्ष्म अवस्था आती है, वही परमाणु की अवस्था होती है । यद्यपि उन्हीं परमाणुओं के एक विशेष प्रकार से स्थित रहने के कारण रूप आदि बन जाते हैं; फिर भी रूप (घट) आदि परमाणुस्वरूप नहीं हैं और न तो वे संघातस्वरूप ही है । अतः परमाणु और संघात की आपकी आलोचना से रूप आदि के लक्षणों का प्रतिषेध नहीं होता । ऐसी स्थिति में आपके इस विचार से क्या लाभ है कि 'एक परमाणु विज्ञप्ति का विषय है या संघात विज्ञप्ति का विषय है' । फलतः रूप आदि की सत्ता अभी भी अखण्डित ही है और बाह्यार्थ खण्डित नहीं हुए ।

३६. किं पुनस्तेषां लक्षणम् ? चक्षुरादिविषयत्वं नीलादित्वं च।

तदेवेदं सम्प्रधार्यते--यत्तच्चक्षुरादोनां विषयो नीलपीतादिकमिष्यते, किं तदेकं द्रव्यमथवा तदनेकमिति ?

४०. किं चातः ?

अनेकत्वे दोष उक्तः।

एकत्वे न क्रमेणेतिर्युगपन्न[1] ग्रहाग्रहौ।
विच्छिन्नानेकवृत्तिश्च सूक्ष्मानीक्षा च नो भवेत् ॥१५॥

यदि यावदविच्छिन्नं नानेकं चक्षुषो विषय स्तदेकं द्रव्यं कल्प्यते[2], पृथिव्यां क्रमेणेतिर्न[1] स्याद्, गमनमित्यर्थः[3]। सकृत्पादक्षेपेण सर्वस्य गतत्वात्।

उन (रूप आदि बाह्यायतनों) का लक्षण क्या है ? चक्षु आदि (इन्द्रियों) का विषय होना और नील आदि होना।

उस (लक्षण) का ही विचार किया जाता है--जो उन चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नील, पीत आदि माना जाता है, वह क्या एक द्रव्य है अथवा वह अनेक द्रव्य है ?

इस (प्रश्न) से क्या प्रयोजन है ?

अनेकत्व पक्ष में दोष कहा जा चुका है। एकत्व पक्ष में क्रमिक गति नहीं बन सकती। ग्रहण और अग्रहण एक साथ नहीं हो सकता। अलग अलग और अनेक जगह रहना नहीं हो सकता। तथा सूक्ष्म द्रव्यों का अनीक्षण (न देखना) नहीं बन सकता।

यदि (आप) चक्षुरिन्द्रिय के विषय को विच्छिन्न और अनेक नहीं, अपितु उसे एक द्रव्य स्वीकार करते हैं, तो पृथिवी में क्रमशः गमन नहीं हो सकेगा। 'इति' का अर्थ 'गमन' है। क्योंकि एक पादपेक्ष से ही सब गत हो जायगा।

विज्ञानवादी—

३६. किं पुनस्तेषाम्०—आप (बाह्यार्थवादियों) ने जिन रूप आदि बाह्य आयतनों का अस्तित्व स्वीकार है, उनका लक्षण क्या है ?

बाह्यार्थवादी—सामान्यतः रूप आदि चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय होते हैं, यह विषय होना ही उनका लक्षण है। विशेषतः नील, पीत आदि रूप के लक्षण है, जो सामान्य लोगों के इन्द्रियज्ञान के गोचर होते हैं।

विज्ञानवादी—

तदेवेदं सम्प्रधार्यते०—आचार्य पूर्वपक्षी सौत्रान्तिकों से पूछते हैं कि आप जिन नील, पीत आदि को चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय स्वीकार करते हैं, वे (नील, पीत आदि विषय) अवयवीभूत एक द्रव्य हैं, अथवा परमाणुभूत अनेक द्रव्य हैं ?

४०. सौत्रान्तिक विज्ञानवादियों से प्रतिप्रश्न करते हैं कि जो आप यह पूछते हैं कि

---

१. ० णैति०—द०।

२. यदि चक्षुषो विषयो यो नीलपीतादिः तदविच्छिन्नमेकं द्रव्यं कल्प्यते—स०।

३. भोटभाषायामस्यानुवादो नास्ति—द०।

अर्वाग्भागस्य च ग्रहणं परभागस्य चाग्रहणं युगपन्न[1] स्यात्; न हि तस्यैव तदानीं ग्रहणं चाग्रहणं च युक्तम् ।

विच्छिन्नस्य चानेकस्य हस्त्यश्वादिकस्यैकत्र[2] वृत्तिर्न स्याद्; यत्रैव ह्येकं तत्रैवापरमिति कथं तयोर्विच्छेद इष्यते ।

कथं वा तदेकं यत् प्राप्तं च, ताभ्यां न च प्राप्तम्; अन्तराले तच्छून्यग्रहणात् ।

सूक्ष्माणां चौदकजन्तूनां स्थूलैः समानरूपाणामनीक्षणं न स्यात् ।

यदि लक्षणभेदादेव द्रव्यान्तरत्वं कल्प्यते, नान्यथा ।

अर्वाग् भाग का ग्रहण और पर भाग का अग्रहण युगपद् नहीं हो सकता । उसी (एक) का उसी (एक) काल में ग्रहण और अग्रहण युक्त नहीं है ।

विच्छिन्न (अलग-अलग) और अनेक हस्ती, अश्व आदि का एक जगह रहना नहीं हो सकता । जहाँ एक है, वहीं दूसरा है, तब कैसे उनका अलगाव (विच्छेद) माना जा सकता है ।

वह एक कैसे है, जो प्राप्त भी है और उनके द्वारा प्राप्त नहीं भी है; क्योंकि बीच में शून्य (खाली स्थान) का ग्रहण होता है ।

सूक्ष्म उदक-जन्तुओं का, जो (आपके मतानुसार) स्थूल (जन्तुओं) के समान रूपवाले (हो जाते) हैं, अनीक्षण (नहीं दिखलाई पड़ना) नहीं हो सकता, यदि आप लक्षणभेद से ही द्रव्यों का भिन्न-भिन्न होना मानते है, दूसरे प्रकार से नहीं ।

'चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय एक है या अनेक'--इस पूछने का प्रयोजन क्या है ?

विज्ञानवादी—

अनेकत्वे दोष उक्तः—'एक' या 'अनेक' ये दो पक्ष ही हो सकते हैं । इनमें से 'अनेक' माननेवाले पक्ष का हमने युक्तिपूर्वक भलीभाँति निरास कर दिया है ।[3]

[यद्यपि आचार्य ने उक्त अवसर पर 'एक' माननेवाले पक्ष का भी निरास कर दिया था; तथापि यहाँ वे युक्त्यन्तर से उस पक्ष में पुनः दोष दिखला रहे हैं ।]

एकत्वे न क्रमेण ० —यदि चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय को एक (अवयवी) माना जायगा, तो उसमें अनेक दोष होंगे, यथा--(क) यदि पृथ्वी आदि एक अवयवी द्रव्य हैं, तो उस पर क्रमशः गमन न हो सकेगा । (ख) यदि भित्ति (दीवार) आदि एक अवयवी हैं, तो उसके इस (इधरवाले) और उस (उधरवाले) भाग का एकसाथ ग्रहण और अग्रहण

---

१. युगपदिति स० संस्करणे नास्ति ।

२. ० स्यानेकत्र०—अ० ।

३. द्र०—"न चानेकं विषयः परमाणुशः ।"–विंशिका, ११का० और उसकी व्याख्या, पृ० ४५।

तस्मादवश्यं परमाणुशो भेदः कल्पयितव्यः, स चैको न सिध्यति। तस्यासिद्धौ रूपादीनां चक्षुरादिविषयत्वमसिद्धमिति सिद्धं विज्ञप्तिमात्रं भवतीति।

इसलिये अवश्य (आपको) परमाणुशः भेद मानना चाहिये, और वह (परमाणु) एक सिद्ध नहीं होता। उस (परमाणु) के असिद्ध होने पर रूप आदि (बाह्यायतनों) का चक्षु आदि (इन्द्रियों) का विषय होना असिद्ध हो जाता है, इस प्रकार विज्ञप्तिमात्र सिद्ध होता है।

नहीं हो सकेगा। (ग) एक जगह एकत्रित हस्ती, अश्व आदि जीवों का अलग-अलग स्थान पर स्थित रहना और अनेक जगह रहना नहीं हो सकेगा। तथा (घ) अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं की अनीक्षा न हो सकेगी।

(क) यदि यावदविच्छिन्नम्०—चक्षुर्विज्ञान के विषय में आनेवाली नील, पीत आदि समस्त वस्तुयें यदि अलग अलग एक एक द्रव्य हैं, तो इस स्थिति में वन, पर्वत, गुफा, मैदान आदि विच्छिन्न स्थित नहीं हो सकते; अपि तु सब अविच्छिन्न हो जायँगे। फलतः जीव जब पृथ्वी पर चलेगा तो उसकी गति क्रमशः नहीं हो पायगी; क्योंकि एक कदम चलने (पादक्षेप) से ही गन्तव्य मार्ग पूर्णतः गत हो जायगा। यदि एक पादक्षेप से सब गन्तव्य मार्ग पूर्णतः गत नहीं होता और दूसरी गन्तव्य पृथ्वी अवशिष्ट रह जाती है, तो इसका मतलब यह हुआ कि पृथ्वी एक अवयवी नहीं है; बल्कि अनेक है। अतः पृथ्वी को एक निरवयव और अविच्छिन्न अवयवी नहीं माना जा सकता; क्योंकि एक मानने पर जीवों की क्रमशः गति सम्भव नहीं हो पाती।

(ख) अर्वाग्भागस्य च ग्रहणम्०—यदि चक्षुर्विज्ञान की विषयभूत नील, पीत आदि समस्त वस्तुयें एक एक द्रव्य हैं, तो ऐसी स्थिति में जब चक्षुर्विज्ञान द्वारा भित्ति (दीवार) का ग्रहण होता है, उस समय उसके इधरवाले भाग का ग्रहण होना और उधरवाले भाग का ग्रहण न होना— ये दोनों युगपद् (एक साथ) नहीं हो सकते; अपितु जब इधरवाले भाग का ग्रहण होगा, उसी समय उधरवाला भाग भी अवश्य गृहीत हो जायगा। अथवा उधरवाले भाग का ग्रहण कभी भी न होगा।

(ग) विच्छिन्नस्य चानेकस्य०—हमारी दृष्टि में विच्छिन्नरूप से जो नील, पीत आदि रूप दिखलाई पड़ते हैं, वे यदि एक हैं, तो जंगल, मैदान आदि सभी एक निरवयव पदार्थ हो जायँगे। ऐसी स्थिति में उस पृथ्वी पर अनेक हस्ती, अश्व आदि कैसे विच्छिन्नरूप से स्थित रह सकते हैं ? अर्थात् वे उस प्रकार स्थित नहीं रह सकते। क्योंकि वे जिस जमीन (पृथ्वी) पर स्थित हैं, वह तो एक ही जमीन है। ऐसी अवस्था में जिस जमीन पर हाथी खड़ा है, उसी जमीन पर अश्व को भी खड़ा होना चाहिये। फलतः हस्ती और अश्व के स्थान भिन्न भिन्न न हो सकने के कारण वे विच्छिन्नरूप से स्थित न हो पायँगे।

इन दोषों से भयभीत होकर कहीं सौत्रान्तिक ऐसा न कह दें कि विच्छिन्न विषय की प्रतीति का न होना तो युक्त नहीं है, अतः हस्ती और अश्व आदि के स्थान परस्पर भिन्न होते हैं। उनके इस आशङ्कित कथन को ध्यान में रखकर आचार्य कहते हैं--

कथं वा तदेकं यत् प्राप्तम्०—वह पृथ्वी एक निरवयव द्रव्य कैसे हो सकती है; अर्थात् नहीं हो सकती, जिसका जो भाग (देश) हस्ती द्वारा गृहीत है, वह अश्व द्वारा अगृहीत है और जो भाग अश्व द्वारा गृहीत है, वह हस्ती द्वारा अगृहीत है। फलतः युगपद् (हस्ती द्वारा) गृहीत (प्राप्त) और (अश्व द्वारा) अगृहीत (अप्राप्त) पृथ्वी एक द्रव्य नहीं हो सकती।

हस्ती और अश्व दोनों के द्वारा दोनों स्थान भी प्राप्त नहीं कहे जा सकते, अर्थात् हस्ती का स्थान हस्ती और अश्व दोनों के द्वारा तथा अश्व का स्थान अश्व और हस्ती दोनों के द्वारा प्राप्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हस्ती और अश्व के बीच में खाली जगह दिखलाई पड़ती है।

यदि हस्ती का क्षेत्र अश्व से भी व्याप्त है और अश्व का क्षेत्र हस्ती से व्याप्त है, तो दोनों के बीच का क्षेत्र (स्थान) भी दोनों के द्वारा व्याप्त होना चाहिये। फलतः हस्ती एवं अश्व के बीच में और हस्ती एवं अश्व दिखलाई पड़ना चाहिये।

सूक्ष्माणां चौदकजन्तूनाम्०—यदि चक्षुर्विज्ञान के विषयभूत नील, पीत आदि एक एक अवयवी हैं तो इस स्थिति में सूक्ष्मतम उदकजन्तु, जो केवल सूक्ष्मदर्शकयन्त्र या योगियों के द्वारा ही दृश्य होते हैं, वे सब पर्वत और मकान आदि की तरह सामान्य इन्द्रियों के गोचर होने लगेंगे; क्योंकि एक ही प्रकार के द्रव्य, जिनके स्वभाव भिन्न भिन्न नहीं होते, उनमें दृश्यत्व और अदृश्यत्व ये दो विभाग सम्भव नहीं हैं। अथवा पर्वत आदि भी सूक्ष्मतम उदक जन्तुओं की भाँति अदृश्य होने लगेंगे।

यदि लक्षणभेदादेव०—उपर्युक्त सभी दोष तभी होते हैं, जब सभी वस्तुओं के देश भिन्न भिन्न और कारण भिन्न भिन्न होने पर भी उन (वस्तुओं) की भिन्नता नहीं मानी जाती और केवल लक्षणभेद से ही वस्तुभेद माना जाता है। यहाँ लक्षण का तात्पर्य चाक्षुषत्व श्रावणत्व आदि से है। आचार्य की वृत्ति में उल्लिखित 'अन्यथा' शब्द से उपर्युक्त देश-भेद और कारणभेद आदि गृहीत होते हैं।

तस्मादवश्यं परमाणुशः०—'एक द्रव्य' माननेवाले पक्ष में अत्यधिक दोष होते हैं, अतः नील पीत आदि समस्त वस्तुयें, जो चक्षुर्विज्ञान आदि की विषय होती हैं, उनके परमाणुओं की अवश्य परीक्षा करनी चाहिये। तथा सम्यक् परीक्षा करने पर वे एक द्रव्य सिद्ध नहीं होते।

इतने विचार-विमर्श के फलस्वरूप जब कि सौत्रान्तिकों के पास बाह्यार्थ को सिद्ध करने के लिये युक्तियाँ शेष नही रह गयीं और वे अपने मूल सिद्धान्त से पीछे हटने लगे; फिर भी बाह्यार्थवाद का भङ्ग हो जाने के भय से उन्होंने कहा कि चक्षुर्विज्ञान आदि के

४१. प्रमाणवशादस्तित्वं नास्तित्वं वा निर्धार्यते, सर्वेषां च प्रमाणानां प्रत्यक्षं प्रमाणं गरिष्ठमित्यसत्यर्थे कथमियं बुद्धिर्भवति 'प्रत्यक्षम्'[1] इति ।

प्रमाण के आधार पर (किसी वस्तु का) अस्तित्व या नास्तित्व निर्धारित होता है। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण श्रेष्ठ होता है। ऐसी स्थिति में यदि बाह्य अर्थ नहीं हैं, तो (मुझे) प्रत्यक्ष (हुआ)--यह बुद्धि कैसे उत्पन्न होती है ?

विषयभूत रूप, शब्द आदि की सिद्धि तो होती ही है। इतने से ही हमारी आकांक्षा पूर्ण है। परमाणु की सिद्धि से हमें क्या लाभ।

उनके इस प्रकार के कथन का खण्डन आचार्य ने अब तक किया है और उसी का स्मरण करते हुये आगे कहते हैं—

तस्यासिद्धौ रूपादीनाम्०—जब परमाणु ही सिद्ध नहीं हो सके, तो रूप आदि की सत्ता, जिसे कि विज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थवादी मानते हैं, कैसे सिद्ध हो सकती है। अर्थात् किसी तरह नहीं हो सकती। फलत: विज्ञप्तिमात्रता ही सिद्ध होती है।

यद्यपि विज्ञानवादियों ने उपर्युक्त प्रकार से परमाणु और उनसे निर्मित स्थूल पिण्ड आदि का खण्डन कर दिया, जैसा कि सौत्रान्तिक मानते हैं। वे आचार्य की प्रबल युक्तियों के आगे टिक न सके और उन्होंने परमाणुओं के बारे में आगे कुछ भी कहना बन्द कर दिया; फिर भी अर्थात् इस दुर्बल अवस्था में भी वे बाह्यार्थ को छोड़ने के लिये तैयार न हुये। अतः वे बाह्यार्थ सिद्ध करने के लिये पुनः कहते हैं।

सौत्रान्तिक—

४१. प्रमाणवशाद्०—इस विश्व में 'अमुक वस्तु है' या 'अमुक वस्तु नहीं है'—इसका निश्चय प्रमाणों के द्वारा होता है। जब कोई वस्तु प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाती है, तो कहा जाता है 'अमुक वस्तु है'। यदि वह (वस्तु) प्रमाण द्वारा व्याहत होती है, तो कहा जाता है 'अमुक वस्तु नहीं है'। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण श्रेष्ठ होता है—इसे हम और आप (विज्ञानवादी) दोनों स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सभी शङ्काओं का विच्छेद हो जाया करता है और समस्त वस्तुओं की यथार्थ स्थिति का साक्षात्कार होता है। यदि प्रत्यक्ष द्वारा किया हुआ दर्शन गलत हैं, तो उसे श्रेष्ठ प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? फलतः हमें यह ज्ञात होता है कि रूप आदि बाह्यार्थों को चक्षुर्विज्ञान आदि प्रत्यक्षतः देखते हैं। क्योंकि रूप आदि के दर्शन के बाद हमें ऐसी बुद्धि (कल्पना) उत्पन्न होती है कि 'हम रूप आदि बाह्य वस्तुओं को प्रत्यक्षतः देख रहे हैं'। यदि बाह्यार्थ सत् नहीं हैं, तो इस बुद्धि का उत्पाद कैसे सम्भव है कि 'ये रूप, शब्द आदि हमारे द्वारा प्रत्यक्षतया दृष्ट हैं' ?

---

१. मम प्रत्यक्षमितीयं बुद्धिः कथं भवति—स०, द०।

४२. प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा

विनाप्यर्थेनेति पूर्वमेव ज्ञापितम् ।

सा च यदा तदा ।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥१६॥

यदा च सा प्रत्यक्षबुद्धिर्भवति[1]—'इदं मे प्रत्यक्षम्' इति तदा न सोऽर्थो दृश्यते, मनोविज्ञानेनैव परिच्छेदात्, चक्षुर्विज्ञानस्य च तदा निरुद्धत्वादिति कथं तस्य प्रत्यक्षत्वमिष्टम्; विशेषेण तु क्षणिकस्य विषयस्य[2], तदानीं निरुद्धमेव[3] तद् रूपं रसादिकं वा ।

जैसे स्वप्न आदि में प्रत्यक्ष बुद्धि बिना बाह्य अर्थ के भी उत्पन्न होती है—यह (हमने) पहले ही बतलाया है ।

वह (प्रत्यक्ष बुद्धि) जब उत्पन्न होती है, उस समय वह (नील आदि) बाह्य अर्थ दिखलाई नहीं देता, (अतः) उस (बाह्य अर्थ) का प्रत्यक्ष होना कैसे मान्य हो सकता है ।

'यह मेरा प्रत्यक्ष है'—इस प्रकार की वह प्रत्यक्ष बुद्धि जब उत्पन्न होती है, उस समय वह अर्थ दिखलाई नहीं देता; मनोविज्ञान के द्वारा ही (उस प्रकार का) परिच्छेद होने से उस समय (तो) चक्षु-विज्ञान भी निरुद्ध रहता है, ऐसी स्थिति में (आप को) उस (बाह्यार्थ) का प्रत्यक्षत्व कैसे इष्ट है, विशेष करके क्षणिक विषय का (प्रत्यक्षत्व कैसे सम्भव है); (क्योंकि) वे रूप रस आदि (विषय) उस समय निरुद्ध हो चुके रहते हैं ।

विज्ञानवादी—

४२. प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ०—जिस प्रकार स्वप्न आदि अवस्था में बाह्य अर्थ के बिना भी प्रत्यक्षबुद्धि उत्पन्न होती है, यथा—'इस (वस्तु) को हम प्रत्यक्ष द्वारा देख रहें हैं', उसी प्रकार विज्ञान ही अर्थ के रूप में अवभासित होता है और उसी से सारी प्रक्रिया बन जाती है । यह बात प्रकरण के आरम्भ में ही स्पष्टतया प्रदर्शित कर दी गयी है । इस पक्ष में पुनः युक्ति देने के लिये आचार्य ने कहा—

सा च यदा······कथं मतम्—आप (सौत्रान्तिक) यह मानते हैं कि रूप चक्षुर्विज्ञान का आलम्बनप्रत्यय है और वह चक्षुर्विज्ञान से प्रथम क्षण में होता है । वह चक्षुर्विज्ञान द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा उस रूप का दर्शन होता है । जिस क्षण में चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, उस क्षण में यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होती कि 'हमारा चक्षुर्विज्ञान रूप को देख रहा है', अपितु ऐसी बुद्धि तब उत्पन्न होती है, जब पूर्ववर्ती चक्षुर्विज्ञान द्वारा दृष्ट वस्तु का चिन्तन किया जा रहा होता है । अतः वह (प्रत्यक्ष) बुद्धि तृतीय क्षण में उत्पन्न होती है । फलतः जिस क्षण में वह बुद्धि उत्पन्न होती है, उस क्षण में

---

१. नै भवति—अ० ।

२. विशेषेण तु क्षणिकवादिना कथं तस्य प्रत्यक्षत्वमिष्टम्—द० ।

३. ० मेवं—ब० ।

४३. नाननुभूतं मनोविज्ञानेन स्मर्यंत इत्यवश्यमर्थानुभवेन भवितव्यम्, तच्च दर्शनमित्येवं तद्विषयस्य रूपादेः प्रत्यक्षत्वं मतम् ।

अननुभूत (विषय) का मनोविज्ञान द्वारा स्मरण नहीं होता, इसलिये अवश्य अर्थ का अनुभव होना चाहिये और वह (अनुभव) प्रत्यक्ष ही है, इस प्रकार उस मनोविज्ञान के विषय रूप आदि का प्रत्यक्षत्व मान्य है ।

वह रूप दिखलाई नहीं देता, जिस रूप को आपने बाह्य अर्थ माना है । क्योंकि जब (तृतीय क्षण में) मनोविज्ञान द्वारा विषय का परिच्छेद होता है, उस समय चक्षुर्विज्ञान निरुद्ध हो चुकता है और वह रूप भी जिसे आपने चक्षुर्विज्ञान का हेतु स्वीकार किया है । फलतः उस मनोविज्ञान द्वारा बाह्य रूप का ग्रहण नहीं हो सकता और न तो चक्षुर्विज्ञान के द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि दोनों के समय बाह्य रूप निरुद्ध रहता है । दूसरी बात यह है कि जब चक्षुर्विज्ञान रूप का दर्शन करता है, उस समय वह निर्विकल्पक होता है, अतः उसमें बाह्य अर्थ के निर्धारण की कोई सामर्थ्य भी नहीं रहती[1] ।

यदि सौत्रान्तिक कहें कि अर्थ कालान्तर में भी स्थित रहता है और पश्चात् प्रत्यक्ष द्वारा उसी का ग्रहण होता है, तो भी उनकी दोष से मुक्ति नहीं है--इसे समझाने के लिये आचार्य आगे कहते हैं—

विशेषेण तु क्षणिकस्य०—यदि रूप आदि बाह्य अर्थ कालान्तर अर्थात् द्वितीय आदि क्षण में भी स्थित रहें तब तो उनका पश्चात् ग्रहण सम्भव है; किन्तु वे चूंकि क्षणिक हैं, अतः वे कालान्तर में स्थित रह नहीं सकते । चूंकि द्वितीय आदि क्षण में स्थित नहीं रह पाते, इसलिये वे प्रत्यक्ष के विषय भी नहीं हो सकते; क्योंकि प्रत्यक्ष के विषय वे तभी हो सकते हैं, जब वे (विषय) प्रत्यक्ष के सम्मुख उसी काल में उपस्थित हों । फलतः क्षणिकवाद में बाह्य अर्थ का प्रत्यक्षतः ग्रहण अत्यन्त असम्भव है । जिस क्षण में रूप, रस आदि ग्राह्य विद्यमान होते हैं, उस क्षण में ग्राहक प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता और जब ग्राहक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, उस क्षण में रूप, रस आदि ग्राह्य निरुद्ध हो जाते हैं ।

सौत्रान्तिक—

४३. नाननुभूतं मनोविज्ञानेन०—प्रत्यक्षतः जिस विषय का अनुभव नहीं किया जाता, उस वस्तु का मनोविज्ञान द्वारा स्मरण भी नहीं हो सकता । बाह्य नील, पीत आदि का मनोविज्ञान द्वारा स्मरण होता है, इसलिये नील, पीत आदि बाह्य अर्थ का निःसन्देह प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव हुआ था—यह मानना पड़ेगा । फलतः हमारा बाह्यार्थ का सिद्धान्त अक्षुण्ण ही है ।

---

१. द्र०— पूर्वानुभूतग्रहणे मानसस्याप्रमाणता ।
अदृष्टग्रहणेऽन्धादेरपि स्यादर्थदर्शनम् ।।
क्षणिकत्वादतीतस्य दर्शनस्य न सम्भवः ।
वाच्यमक्षणिकत्वे स्याल्लक्षणं सविशेषणम् ।।—
प्र० वा०, (प्रत्यक्ष परि०) २३९–२४० का०, पृ० १३८–१३९ ।

४४. असिद्धमिदमनुभूतस्यार्थस्य स्मरणं भवतीति, यस्मात्

उक्तं यथा तदाभासा विज्ञप्तिः

विनाप्यर्थेन यथार्थाभासा चक्षुर्विज्ञानादिका विज्ञप्तिरुत्पद्यते तथोक्तम् ।

स्मरणं ततः ।

ततो हि विज्ञप्तेः स्मृतिसम्प्रयुक्ता तत्प्रतिभासैव रूपादिविकल्पिका मनोविज्ञप्तिरुत्पद्यत इति न स्मृत्युत्पादादर्थानुभवः सिध्यति ।

यह (मान्यता) असिद्ध है कि अनुभूत अर्थ का (ही) स्मरण होता है; क्योंकि—

जैसे अर्थाभासा विज्ञप्ति उत्पन्न होती हैं, वह कह दिया गया है ।

जैसे विना अर्थ के भी अर्थाभासवाली चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसा कह दिया गया है ।

इसके बाद स्मरण होता है ।

अर्थाभासवाली विज्ञप्ति के अनन्तर उसी अर्थ के प्रतिभासवाली, स्मृति से सम्प्रयुक्त, रूप आदि की कल्पना करनेवाली मनोविज्ञप्ति उत्पन्न होती है । इस प्रकार स्मृति के उत्पाद से अर्थानुभव सिद्ध नहीं होता ।

विज्ञानवादी—

४४. असिद्धमिदम्०—विज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थों का स्मरण होता है—यह बात हमें सिद्ध नहीं है; क्योंकि इस बात का हमने पहले ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर दिया है[1] कि रूप आदि बाह्य अर्थों के न होने पर भी रूप आदि अर्थों के अवभासवाली चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होतीं हैं । ऐसी स्थिति में जिस प्रकार विना बाह्य अर्थ के रूपविज्ञप्ति आदि विज्ञप्तियाँ हो सकती हैं, उसी प्रकार उस रूपविज्ञप्ति आदि से वह मनोविज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है, जो स्मृति चैतसिक से सम्प्रयुक्त होता है । इसलिये स्मृति के होने से बाह्यार्थस्मृति सिद्ध नहीं होती । फलतः बाह्य अर्थ पूर्व अनुभूत है, यह सिद्ध नहीं होता । हम यह जरूर कहते हैं कि अनुभव स्मृति का हेतु है और अनुभव हमारे मत में भी बन जाता है । जिस स्वबीजवासना से अर्थाभास विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी स्वबीज से ऐसा ज्ञान भी उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा विज्ञप्ति का अनुभव हुआ करता है । उसे हम 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' कहते हैं । स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा विज्ञप्तियों का अनुभव होता है और उन विज्ञप्तियों के अनुभव से ही पीछे उन विज्ञप्तियों का स्मरण करनेवाली स्मृति उत्पन्न होती है । फलतः स्मरण होने के लिये एक पृथक् बाह्य अर्थ को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

---

१. द्र०—विज्ञप्तिमात्रमेवैतद्०-विंशिका, का० १ और उसकी व्याख्या पृ० १६ ।

४५. यदि यथा स्वप्ने विज्ञप्तिरभूतार्थविषया तथा जाग्रतोऽपि स्यात्, तथैव तदभावं लोकः स्वयमवगच्छेत्; न चैवं भवति, तस्मान्न स्वप्न इवार्थोपलब्धिः सर्वा निरर्थिका।

४६. इदमज्ञापकम्, यस्मात्

स्वप्ने दृग्विषयाभावं[1] नाप्रबुद्धोऽवगच्छति ॥ १७ ॥

एवं वितथविकल्पाभ्यासवासनानिद्रया प्रसुप्तो लोकः स्वप्न इवाभूतमर्थं पश्यन्नप्रबुद्धस्तदभावं यथावन्नावगच्छति। यदा तु तत्प्रतिपक्षलोकोत्तरनिर्विकल्प-

यदि जैसे स्वप्न में विज्ञप्ति अभूतार्थविषयक होती है, वैसे जाग्रत् अवस्था में भी होती है, तो स्वप्न की तरह ही लोक उस (अर्थ) के अभाव को स्वयं जान लेता; किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः स्वप्न की तरह समस्त अर्थोपलब्धियाँ निरर्थक (बिना बाह्यार्थ के) नहीं हैं।

यह (आपका हेतु) अज्ञापक है, क्योंकि

स्वप्न में दृष्ट विषय का अभाव भी जब तक (मनुष्य) जाग नहीं जाता, तब तक नहीं जानता।

उसी प्रकार मिथ्या विकल्प के अभ्यास से उत्पन्न वासनारूपी निद्रा से प्रसुप्त (यह) लोक (पृथग्जन) स्वप्न की तरह ही अभूत (असत्) अर्थों को देखते हुए भी जब तक जागृत नहीं हो जाता, तब तक उनके अभाव को यथावत् नहीं जानता। जब उन (वासनाओं)

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष विज्ञान का ही एक अंश है। उदाहरणार्थ जब चक्षुर्विज्ञान घट का दर्शन करता है, उस समय उस (चक्षुर्विज्ञान) के दो अंश होते हैं। एक अंश घट को प्रकाशित करता है और उसे 'चक्षुर्विज्ञान' यह संज्ञा प्राप्त होती है। दूसरा अंश चक्षुर्विज्ञान को प्रकाशित करता है और उतने अंश को 'स्वसंवेदन' यह संज्ञा प्राप्त होती है। वस्तुतः वे दोनों अंश अभिन्न होते हैं। जैसे दीपक का एक अंश अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है और साथ ही वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है।

सौत्रान्तिक—

४५. यदि यथा स्वप्ने ०—जिस प्रकार स्वप्न में विज्ञप्तियाँ बिना बाह्यार्थ के उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी विज्ञान बिना बाह्य अर्थ के ही उत्पन्न होते हैं, तो ऐसी स्थिति में जैसे स्वप्न में दृष्ट अर्थों को साधारण जन स्वयं मिथ्या समझते हैं, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में दृष्ट अर्थ भी स्वयं उनके द्वारा मिथ्या समझे जाने चाहिये; किन्तु वे ऐसा नहीं समझते। अतः समस्त विज्ञप्तियाँ समान नहीं होतीं। इसलिये सिद्ध होता है कि जाग्रत् अवस्था की विज्ञप्तियों के विषय बाह्यार्थतः सत् हैं।

विज्ञानवादी—

४६. आप (सौत्रान्तिकों) का बाह्यार्थ को सिद्ध करने का उपर्युक्त हेतु सम्यक् नहीं है। वस्तुओं की स्थिति के विषय में स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में कोई अन्तर (फर्क) नहीं

---

१. स्वप्नदृग्विषयाभावं—ब०।

ज्ञानलाभात् प्रबुद्धो भवति तदा तत्पृष्ठलब्धशुद्धलौकिकज्ञानसम्मुखीभावाद् विषयाभावं यथावदवगच्छतीति समानमेतत् ।

के प्रतिपक्ष, लोकोत्तर एवं निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से (वह) प्रबुद्ध (जाग्रत) हो जाता है, तब उस (निर्विकल्पक ज्ञान) से पीछे लब्ध शुद्ध लौकिक ज्ञान के सम्मुखीभाव से (बाह्य) विषयों के अभाव को यथावद् जान जाता है । इस प्रकार यह (स्वप्न और जाग्रत अवस्था का ज्ञान) समान ही है ।

पड़ता । जब तक स्वप्न नहीं टूटता, तब तक उस (स्वप्न) में दृष्ट अर्थों का मिथ्यात्व ज्ञात नहीं होता । जब पुरुष जागृत हो जाता है, तब उसे स्वप्न के मिथ्यात्व का अवबोध होता है । जाग्रत् अवस्था में भी ठीक यही स्थिति होती है ।

अनादि काल से विपरीत दृष्टि चली आ रही है, जिसकी वजह से हमारी सन्तान में वासनायें निक्षिप्त होती रहती हैं । उन निद्रारूपी वासनाओं के कारण पृथग्जन मोहित होते रहते हैं और उन्हें स्वप्न की भाँति अयथार्थों का भास होता रहता है । जब तक मनुष्य इस निद्रारूपी वासना से प्रबुद्ध नहीं होता, तब तक यही क्रम चलता रहता है । जब पृथग्जन अवस्था को पार करके आर्य की अवस्था प्राप्त होती है, तब वस्तुओं का यथार्थ (प्रत्यक्षतः) अवबोध होता है । उस (आर्य) अवस्था का प्रत्यक्ष ज्ञान विपरीत दृष्टि का प्रतिपक्ष होता है और साथ ही वह लोकोत्तर एवं निर्विकल्पक होता है । उस समय ही वस्तुतः पुद्गल उक्त वासनारूपी निद्रा से प्रबुद्ध होता है । उस अवस्था में ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि पृथग्जन की अवस्था में जिन्हें हमने बाह्य अर्थ के रूप में ग्रहण किया था, वे सब वस्तुतः मिथ्या हैं । वे सब वस्तुएँ विज्ञान के ही परिणाम हैं तथा ग्राह्य-ग्राहकभाव से रहित हैं । ग्राह्यग्राहकविकल्प के न होने के कारण वह ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है ।

सामान्यतः आर्यों के ज्ञान दो प्रकार के होते हैं, यथा—समाहित और पृष्ठलब्ध । परमार्थ या वस्तु की यथार्थ स्थिति को प्रत्यक्षतः देखनेवाला आर्यों का ज्ञान 'समाहित ज्ञान' कहलाता है तथा उस समाहित ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न आर्यों का ज्ञान 'पृष्ठलब्ध ज्ञान' कहलाता है । वह (पृष्ठलब्ध) ज्ञान वस्तु की परमार्थ सत्यता का साक्षात्कार नहीं करता, इसलिये वह लौकिक ज्ञान तो है; किन्तु ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशवासना से रहित होने के कारण विशुद्ध है । पृष्ठलब्ध ज्ञान की अवस्था में यद्यपि बाह्यार्थ के प्रति अभिनिवेश नहीं होता; फिर भी ग्राह्य-ग्राहक या बाह्यार्थ का प्रतिभास तो होता ही है । पृथग्जन की अवस्था में बाह्य प्रपञ्चों की वासना के परिपाक की वजह से बाह्य अर्थों का भान होता है और जैसा प्रतिभास होता है, वैसा ही अभिनिवेश भी होता है । फलतः संसार में प्रवृत्ति होती रहती है । जब उक्त प्रकार का लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब परिकल्पित वासनायें प्रहीण हो जाती हैं । फलतः मोक्ष में प्रवृत्ति होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि जब पुद्गल आर्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह प्रबुद्ध हो जाता है और उस समय बाह्य अर्थों को असत् समझने लगता है ।

४७. यदि स्वसन्तानपरिणामविशेषादेव सत्त्वानामर्थप्रतिभासा विज्ञप्तय उत्पद्यन्ते, नार्थविशेषात्, तदा य एष पापकल्याणमित्रसम्पर्कात् सदसद्धर्मश्रवणाच्च विज्ञप्तिनियमः सत्त्वानां स कथं सिध्यति, असति सदसत्सम्पर्के तद्देशनायां च ?

४८. अन्योऽन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः ।

सर्वेषां हि सत्त्वानामन्योऽन्यविज्ञप्त्याधिपत्येन मिथो विज्ञप्तेर्नियमो भवति यथायोगम् । मिथ इति परस्परतः । अतः सन्तानान्तरविज्ञप्तिविशेषात् सन्तानान्तरे विज्ञप्तिविशेष उत्पद्यते, नार्थविशेषात् ।

यदि स्वसन्तानगत वासना के परिणामविशेष से ही सत्त्वों में अर्थ प्रतिभासित होनेवाली विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अर्थविशेष (बाह्य अर्थ) से नहीं होती हैं, तो जो यह पापमित्र और कल्याणमित्र के सम्पर्क से तथा सद् और असद् धर्म के श्रवण से सत्त्वों में विज्ञप्ति होने का नियम है, वह सत् और असत् सम्पर्क तथा उनको देशना के (सत्) न होने पर कैसे सिद्ध होगा ?

अन्योऽन्य अधिपतित्व से (सत्त्वों में) परस्पर विज्ञप्ति का नियम सिद्ध होता है।

सभी सत्त्वों की अन्योऽन्य विज्ञप्ति के आधिपत्य से परस्पर विज्ञप्ति का नियम यथायोग्य होता है। 'मिथः' शब्द का अर्थ 'परस्पर' है। अतः सन्तानान्तरीय (दूसरे सत्त्वों से सम्बद्ध) विज्ञप्तिविशेष से सन्तानान्तर में विज्ञप्तिविशेष उत्पन्न होता है, अर्थविशेष से नहीं।

सौत्रान्तिक—

४७. यदि अपनी अपनी सन्तान में रहनेवाली वासनाओं के परिणामस्वरूप सत्त्वों में रूप आदि विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे विज्ञप्तियाँ नील, पीत आदि बाह्य अर्थविशेष से उत्पन्न नहीं होतीं, तो ऐसी स्थिति में पापमित्र के सम्पर्क से तदाश्रित जीवों में कायिक अकुशल कर्म विज्ञप्तियाँ और कल्याणमित्र के सम्पर्क से तदाश्रित जीवों में कायिक कुशल कर्म विज्ञप्तियाँ कैसे उत्पन्न होंगी ? अर्थात् उत्पन्न न होंगी। उसी प्रकार सद्धर्म के श्रवण से श्रोता में वाचिक कुशल कर्म विज्ञप्तियाँ तथा असद्धर्म के श्रवण से वाचिक अकुशल कर्म विज्ञप्तियाँ कैसे उत्पन्न होंगो ? अर्थात् उत्पन्न न होंगी। क्योंकि उक्त विज्ञप्तियों के उत्पाद के लिये पापमित्र और कल्याणमित्र का सम्पर्क तथा सद् या असद् धर्म की देशना को विद्यमान होना चाहिये; किन्तु आप (विज्ञानवादी) ऐसा नहीं मानते। आपके मत में स्वविज्ञप्ति से व्यतिरिक्त न पापमित्र है न कल्याणमित्र तथा न तो सद् धर्म है और न असद् धर्म ही है। जब तक पापमित्र और कल्याणमित्र अनुपलब्ध हैं, तब तक उनके दुश्चरित या सुचरित का अनुसरण नहीं हो सकता तथा जब तक सद् या असद् धर्म की देशना का श्रवण न होगा, तब तक धर्म या अधर्म का आचरण भी न हो सकेगा।

विज्ञानवादी—

४८. सभी प्राणियों का विज्ञान अन्योन्य अधिपतित्व से उत्पन्न होता है, न कि बाह्यार्थ से। अर्थात् एक जीव की विज्ञप्ति के वश से दूसरे जीवों की विज्ञप्तियों का उत्पाद होता है।

४६. यदि यथा स्वप्ने निरर्थिका विज्ञप्तिरेवं जाग्रतोऽपि स्यात्, कस्मात् कुशलाकुशलसमुदाचारे सुप्तासुप्तयोस्तुल्यं फलमिष्टानिष्टमायत्यां न भवति ?

यदि जैसे स्वप्न में विज्ञप्तियाँ बिना बाह्य अर्थ के उत्पन्न होती हैं, वैसे जाग्रत् अवस्था में भी होती हैं, तो सुप्त अथवा जाग्रत् अवस्था में कुशल अथवा अकुशल कर्म करने पर (उनका) भविष्य में समान इष्ट या अनिष्ट फल क्यों नहीं होता ?

यथायोगम्—पापमित्र की दुश्चरित में ले जाने की इच्छा के वश से तदनुकूल आचरण करनेवाले दूसरे व्यक्तियों में कायिक पापविज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं तथा कल्याणमित्र की सुचरित में ले जाने की इच्छा के वश से तदनुकूल आचरण करनेवाले दूसरे व्यक्तियों में कायिक कुशल विज्ञप्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इनसे व्यतिरिक्त बाहर काय और कायचरित नहीं होते।

इसी प्रकार उपदेशक के सत्पथ पर लाने (सद्धर्मोपदेश) की इच्छा के वश से श्रोता में सद्धर्मविज्ञप्ति तथा उपदेशक के असद्धर्मोपदेश की इच्छा के वश से श्रोता में असद्धर्म विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। इनसे व्यतिरिक्त बाहर कोई शब्द नहीं होता। यही वृत्तिस्थ 'यथायोग' शब्द का अर्थ है।

इस प्रकार सौत्रान्तिकों के पूर्वाक्षिप्त दूषण का परिहार करके समस्त प्राणियों के व्यवहार अन्योन्य विज्ञप्ति के वश से ही सम्पन्न होते हैं—इसे दिखलाया जा रहा है—

अतः सन्तानान्तरविज्ञप्तिविशेषात्०—सभी प्राणी और तत्सम्बन्धी सभी व्यवहारों की विज्ञप्तियाँ अन्य जीवों की जाने की इच्छा (जिगमिषा) एवं बोलने की इच्छा (विवक्षा) आदि विज्ञप्तिविशेषों से उत्पन्न होती हैं, काय और वाक् बाह्यार्थविशेष से नहीं।

सौत्रान्तिक—विज्ञानवादियों के निर्बाह्यार्थवाद पर आक्षेप करने के लिये सौत्रान्तिक पुनः कहते हैं—

४६. यदि यथा स्वप्ने०—जिस प्रकार स्वप्न में होनेवाली विज्ञप्तियाँ बिना बाह्य अर्थ के उत्पन्न होती हैं, वैसे ही यदि जाग्रत् अवस्था में भी विज्ञप्तियाँ बिना बाह्य अर्थ के उत्पन्न होती हैं, तो ऐसी स्थिति में स्वप्नावस्था में दिये गये दान आदि का तथा जाग्रत् अवस्था में दिये गये दान आदि का भविष्य में इष्ट फल समानरूप से क्यों नहीं होता ? अर्थात् उनका समान फल ही होना चाहिये।

उसी प्रकार स्वप्न अवस्था की प्राणातिपात विज्ञप्ति और जाग्रत् अवस्था की प्राणातिपात विज्ञप्ति—इन दोनों का भविष्य में अनिष्ट फल समानरूप से क्यों नहीं होता ? अर्थात् उनका भी फल समान होना चाहिये; क्योंकि आपके अनुसार दोनों अवस्थाओं में 'बाह्यार्थ का न होना' समान है।

५०. यस्मात्[1]

मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम् ॥१८॥

इदमत्र कारणम्, न त्वर्थसद्भावः ।

क्योंकि

स्वप्न में चित्त मिद्ध से उपहत होता है, इस लिये समान फल नहीं होता ।

यही (समान फल न होने में) कारण है, न कि अर्थ का सद्भाव होना ।

विज्ञानवादी—

५०. मिद्धेनोपहतं चित्तम्०—स्वप्न अवस्था के शुभ और अशुभ कर्म, जो कि स्वप्नावस्था में दिखलाई पड़ते हैं, वे मिद्ध[2] से अत्यन्त उपहत (दबे हुये) होते हैं। इसलिये उनका फल जाग्रत् अवस्था में किये गये शुभ-अशुभ कर्मों के फल के समान नहीं होता। स्वप्न अवस्था के शुभ और अशुभ कर्मों का जाग्रत् अवस्था के शुभ और अशुभ कर्मों से फल देने के बारे में जो अन्तर पड़ता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि वे (स्वप्न अवस्था के कर्म) मिद्ध से अत्यन्त उपहत होते हैं। उनके फल देने के बारे में जो अन्तर पड़ता है, उसका यह कारण कतई नहीं है कि 'जाग्रत् अवस्था में बाह्यार्थ होते हैं और स्वप्न में बाह्यार्थ नहीं होते'। जाग्रत् अवस्था में भी जब विक्षेप और कुकल्पनाओं से प्रभावित होकर शुभ कर्म किये जाते हैं, तब उनका भी फल न्यून ही होता है।

अपि च—स्वप्न अवस्था और जाग्रत् अवस्था के कर्मों के फल देने के विषय में अन्तर होने का एक कारण यह भी है कि स्वप्न में उस दान का कोई प्रतिग्राहक नहीं होता तथा न तो उस दान से किसी का उपकार ही होता है। इसी प्रकार स्वप्न में कोई हन्तव्य नहीं होता और न तो किसी की जीवितेन्द्रिय का विच्छेद ही होता है। दूसरी ओर जाग्रत् अवस्था में ऐसे प्राणी होते हैं, जिन्हें जब दान देने की इच्छा (दित्सा) से दान दिया जाता है, तो वे उसका प्रतिग्रहण करते हैं और उससे उनको सुख प्राप्त होता है। इस तरह उस दानसे उनका उपकार होता है। उसी प्रकार (जाग्रत् अवस्था में) जब मारने की इच्छा (जिघांसा) से किसी पर शस्त्र प्रक्षेप की विज्ञप्ति होती है, तो उस विज्ञप्ति से उन (मारे

---

१. भोटभाषायामस्यानुवादो नास्ति—द० ।

२. मिद्ध ५१ चैतसिकों में से एक चैतसिक है, जो न एकान्त कुशल होता है और न एकान्त अकुशल । वह कुशल के साथ कुशल, अकुशल के साथ अकुशल और अव्याकृत के साथ अव्याकृत हो जाता है । द्र०—त्रिं० का० १४ और उसकी व्याख्या ।

५१. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदम्, न कस्यचित् कायोऽस्ति, न वाक्; कथमुपक्रम्यमाणानामौरभ्रिकादिभिरुरभ्रादीनां[1] मरणं भवति। अतत्कृते वा तन्मरणे कथमौरभ्रिकादीनां प्राणातिपातावद्येन योगो भवति ?

यदि यह (सम्पूर्ण जगत्) विज्ञप्तिमात्र ही है, न किसी का काय है और न वाक्, तो कैसे वधिक आदि द्वारा मारे जाते हुये मेष (उरभ्र) आदि का मरण होता है ? यदि वह मरण औरभ्रिक (मेष आदि को मारने वाले कसाई) के द्वारा नहीं हुआ है, तो फिर उनका प्राणातिपात नामक पाप से योग कैसे होता है ?

जाने वालों) को ऐसी असह्य पीडा होती है, जिसे वे सहन नहीं कर पाते और उससे उनकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह शस्त्रप्रक्षेप से उनका अपकार होता है[2]।

आचार्य के इस समाधान से यह निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञानवाद के मत में घट आदि वस्तुओं का अत्यन्त अभाव नहीं होता; अपितु वस्तु की सत्ता होती है। अन्यथा यह उत्तर कैसे दिया जा सकता था कि स्वप्नावस्था से जाग्रत् अवस्था की स्थिति भिन्न है (जैसे ऊपर कहा गया है)। सब वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी बाह्यार्थ स्वीकृत नहीं होते, क्योंकि 'बाह्यार्थ' उसे कहते हैं, जो विज्ञान से अत्यन्त पृथक् हों और वासना के परिणाम न हों। विज्ञानवाद का कठिन स्थल यह जानना है कि 'बाह्यार्थ' के 'बाह्य' की सीमा क्या है।

सौत्रान्तिक—

५१. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदम्०—यदि यह सम्पूर्ण जगत् विज्ञप्तिमात्र ही है, न किसी जीव का शरीर है और न वाणी, तो इस स्थिति में जब कसाई आदि मेष आदि का वध करते हैं, तो उन मेष आदि की मृत्यु कैसे हो जाती है; क्योंकि मरण के लिये यह आवश्यक है कि मारनेवाले कसाई के काय और वाक् अस्तित्व में हों तथा वध्य मेष आदि के काय और

---

१. कथमनुक्रम्य०—अ०।

२. प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मत में भी स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था में वस्तुओं के अस्तित्व में अन्तर होता है। यथा—

मायोपमाज्जिनात् पुण्यं सद्भावेऽपि कथं यथा।
यदि मायोपमः सत्त्वः किं पुनर्जायते मृतः॥
यावत्प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते।
दीर्घसन्तानमात्रेण कथं सत्त्वोऽस्ति सत्यतः॥
मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापकम्।
चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भवः॥

—बोधि० ९ : ९–११, पृ० १८३–१८४।

५२. मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद् विक्रिया यथा।
स्मृतिलोपादिकान्येषां पिशाचादिमनोवशात् ॥१९॥

यथा हि पिशाचादिमनोवशादन्येषां स्मृतिलोप-स्वप्नदर्शन-भूतग्रहावेशविकारा भवन्ति, ऋद्धिवन्मनोवशाच्च, यथा सारणस्यार्यमहाकात्यायनाधिष्ठानात् स्वप्न-दर्शनम्, आरण्यकर्षिमनःप्रदोषाच्च वेमचित्रपराजयः, तथा परविज्ञप्तिविशेषाधिपत्यात् परेषां जीवितेन्द्रियविरोधिनी काचिद् विक्रियोत्पद्यते, यया[1] सभागसन्ततिविच्छेदाख्यं मरणं भवतीति वेदितव्यम्।

जिस प्रकार पिशाच आदि के मन के वश से अन्य लोगों की स्मृतिलोप आदि (अनेक) विक्रियायें हो जाती हैं, उसी प्रकार दूसरों के विज्ञप्तिविशेष से मरण हो जाता है।

जैसे पिशाच आदि के मनोवश से अन्य लोगों में स्मृतिलोप, स्वप्नदर्शन, भूतग्रहावेश आदि विकार होते हैं, ऋद्धिमान् योगियों के मनोवश से भी, जैसे—आर्य महाकात्यायन के अधिष्ठान से सारण को स्वप्नदर्शन हुआ, आरण्यक ऋषियों के मनःप्रदोश से भी, जैसे—वेमचित्र का पराजय हुआ; उसी प्रकार दूसरों के विज्ञप्तिविशेष के आधिपत्य से दूसरों में जीवितेन्द्रिय की विरोधिनी कोई ऐसी विक्रिया उत्पन्न होती है, जिससे सभागसन्तति का विच्छेद नामक मरण हो जाता है— ऐसा जानना चाहिये।

वाक् भी अस्तित्व में हों। ऐसा होने पर ही कसाई के हाथ से मेष का वध किया जा सकता है या दूसरों को वाक् द्वारा आदेश देकर वध कराया जा सकता है। विना काय और वाक् के यदि इच्छामात्र से ही दूसरों की मृत्यु हो जाया करे, तब तो किन्हीं पुद्गलों के क्रुद्ध होने पर उनके व्यापाद (दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा) मात्र से ही दूसरों की मृत्यु होने लगेंगी।

यदि विज्ञानवादी ऐसा कहें कि मेष आदि की मृत्यु कसाई ने नहीं की; अपितु वे (मेष आदि) अपने कर्म के वश से स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो गये, तो ऐसी स्थिति में कसाई को प्राणातिपात का पाप कैसे लग सकेगा। अर्थात् नहीं लगेगा; क्योंकि उसने तो मेष आदि को मारा ही नहीं। जब उसने वध किया ही नहीं है; फिर भी यदि उसे पाप लग जायगा, तब तो सब प्राणियों को पाप ही लगने लगेंगे।

विज्ञानवादी—

५२. मरणं परविज्ञप्तिविशेषाद्०—वधक (कसाई) के बाह्य काय और बाह्य वाक् के होने, बाह्य अस्त्र-शस्त्रों के उठाने और उनका प्रहार करने से मेष आदि की मृत्यु नहीं होती; अपितु मारनेवाले (हन्ता) के विज्ञप्तिविशेष—जिसमें मेष (भेड़) वध्य के रूप में प्रतिभासित होती है और उसके ऊपर शस्त्रप्रक्षेप प्रतिभासित होता है—से उनकी मृत्यु होती है। ऐसा प्रतिभास चूँकि वधक को ही होता है, अतः वही मारनेवाला होता है और उसे ही प्राणातिपात का पाप लगता है। यह असम्भव भी नहीं है; क्योंकि ऐसी बातें अनेक उदाहरणों से सिद्ध हैं, यथा—पिशाच आदि के व्यापाद चित्त के वश से अन्य प्राणियों का

---

१. तया—द०।

५३. कथं वा दण्डकारण्यशून्यत्वमृषिकोपतः ।

यदि परविज्ञप्तिविशेषाधिपत्यात् सत्त्वानां मरणं नेष्यते, मनोदण्डस्य हि महासावद्यत्वं साधयता भगवतोपालिगृंहपतिः पृष्टः—कच्चित्ते गृहपते ! श्रुतम्, केन तानि दण्डकारण्यानि मातङ्गारण्यानि कलिङ्गारण्यानि शून्यानि मेध्यीभूतानि ? तेनोक्तम्—श्रुतं [1]मे भो गौतम ! ऋषीणां मनःप्रदोषेणेति ।

(यदि परविज्ञप्तिविशेष से मरण स्वीकार न किया जायगा, तो) कैसे ऋषियों के कोप से दण्डकारण्य शून्य हो गया ?

यदि दूसरों के विज्ञप्तिविशेष के अधिपत्य से सत्त्वों का मरण नहीं माना जायगा, तो—मनोदण्ड को महासावद्य (गुरुतर पाप) सिद्ध करते हुए भगवान् ने (जब) उपालि गृहपति से पूछा—क्या गृहपति, तुमने सुना है, किसने उन दण्डकारण्य, मातङ्गारण्य और कलिङ्गारण्य को शून्य किया, साफ किया ? (तब) उस (उपालि) ने कहा—सुना है मैंने गौतम, ऋषियों के मनः-प्रदोष से वे शून्य हुये । (यह कथन कैसे सुष्ठु होगा) ।

स्मृतिलोप हो जाता है । डाकिनी आदि के व्यापाद के वश से दूसरे प्राणियों के हृदय से रक्त निःसृत होने लगता है । देवताओं के अधिष्ठान से स्वप्नदर्शन तथा मान्त्रिक के मनोवश से भूतावेश, ग्रहावेश आदि का अपसारण होता है ।

इसी प्रकार गरुडमन्त्र को धारण करनेवाले लोगों के मनोवश से सर्प द्वारा प्रक्षिप्त विष बाहर निकाल दिया जाता है । ऋद्धिमान् पुरुषों के मनोवश से दूसरों के काय परिवर्तित कर दिये जाते हैं, जिससे उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ दिखलाई पड़ने लगती हैं । आर्य महाकात्यायन के अधिष्ठान से गृहपति सारण[2] को आश्चर्यजनक स्वप्नदर्शन हुआ तथा आरण्यक ऋषियों के मनःप्रकोप से असुरराज वेमचित्र[3] पराजित हुये ।

ठीक उसी प्रकार कसाई आदि की व्यापादरूपी मनोविज्ञप्ति के वश से मेष आदि जीवों की जीवितेन्द्रिय के प्रतिकूल इस प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, जिससे उनके प्राणों का विगम हो जाता है, जो प्राण सभागसन्तति में विद्यमान होता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य प्राणियों के विज्ञप्तिविशेष से अन्य प्राणियों की मृत्यु हो जाया करती है, बाह्य अस्त्र-शस्त्र आदि के लगने से नहीं ।

यद्यपि आचार्य ने सौत्रान्तिकों के पूर्वप्रदत्त दूषण का सयुक्ति परिहार किया; तथापि उन्हें सन्देह बना रहा कि कहीं सौत्रान्तिकों को इससे सन्तोष न हुआ हो, अतः उसी बात को पुनः पुष्ट करने के लिये वे उन्हीं से पूछते हैं—

५३. कथं वा दण्डकारण्य०—मारनेवालों की मारने की इच्छारूपी विज्ञप्तिविशेष

---

१. नास्ति द०—।

२. कर्मशतक में यह कथा बहुत स्पष्ट एवं विस्तार से वर्णित है । द्र०—तिब्बती काग्युर, पु० सं० ४०, पृ० ११ (जापान में प्रकाशित) ।

३. इसके परिचय के द्र०—डिक्शनरी पालि-प्रापर नेम्स, भाग २, पृ० ९२६ ।

५४. मनोदण्डो महावद्यः कथं वा तेन सिध्यति ॥२०॥

यद्येवं कल्प्यते, तदभिप्रसन्नैरमानुषैस्तद्वासिनः सत्त्वा उत्सादिताः, न त्वृषीणां मनःप्रदोषान्मृता इत्येवं सति कथं तेन कर्मणा मनोदण्डः कायवाग्दण्डाभ्यां महावद्यतमः सिद्धो भवति ? तन्मनःप्रदोषमात्रेण तावतां सत्त्वानां मरणात् सिध्यति ।

कैसे उससे मनोदण्ड महावद्य सिद्ध होगा ?

यदि आप ऐसी कल्पना करते हैं कि उन (ऋषियों) पर प्रसन्न अमनुष्यों द्वारा उन अरण्यों में रहनेवाले प्राणी नष्ट किये गये, ऋषियों के मनःप्रदोष से वे नहीं मरे, तो ऐसी स्थिति में उस (अमनुष्यों के) कर्म द्वारा काय और वाक् दण्ड से मनोदण्ड कैसे महावद्य सिद्ध होगा ? वह (मनोदण्ड का महावद्य सिद्ध होना तो) मनःप्रदोष से उतने सत्त्वों के मरने से सिद्ध होता है ।

से अन्य जीवों का मरण यदि आप नहीं मानेंगे, तो भगवान् की यह देशना कहाँ तक युक्ति-सङ्गत सिद्ध हो सकेगी, जिसमें उन्होंने कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के दण्डों (पापों) में से मनोदण्ड को ही गुरुतर पाप सिद्ध किया है । यथा—भगवान् ने उपालि गृहपति से पूछा—उपालि, क्या तुमने सुना है कि दण्डकारण्य आदि अरण्य, जो पहले सैकड़ो, हजारों जनों से परिपूर्ण जनपद थे, कैसे शून्य (निर्जन) अरण्य बन गये, कैसे स्वच्छ हो गये ? उपालि गृहपति ने कहा—सुना है गौतम, वे (जनपद) ऋषियों के मनःप्रदोष से निर्जन और स्वच्छ (आबादी जन्य गन्दगी से रहित) हो गये ।

यदि कहीं दूसरों के वध के लिये बाह्य अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता अवश्य होती और मारने के विज्ञप्तिविशेष से किसी (वध्य) का वध न हुआ करता, तो उन ऋषियों के मनःप्रदोषमात्र से उतने बड़े बड़े जनपद कैसे साफ हो गये होते । अन्यथा भगवान् का यह सूत्र निरर्थक होने लगेगा । फलतः कायिक, वाचिक और मानसिक पापों में से मनोदण्ड गुरुतर पाप भी सिद्ध न हो सकेगा ।

'मनोदण्ड' का तात्पर्य मनोदुश्चरित से है । दण्डकारण्य, मातङ्गारण्य और कलिङ्गारण्य ये तीनों उन अरण्यों के नाम हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध से बहुत पहले विशाल जनसमुदाय निवास किया करता था । 'शून्य' का तात्पर्य निर्जन हो जाने से है तथा 'मेध्यीभूत' का तात्पर्य निर्जन हो जाने के कारण मल-मूत्र आदि गन्दगी से रहित हो जाने से है ।

आचार्य के मन में ऐसी आशङ्का भी हुई कि सौत्रान्तिक ऋषियों के मनःप्रदोष से अरण्यों के शून्य हो जाने को जानते हुए भी कही ऐसा न कह दें कि वे जनपद तो अमनुष्यों की कायिक और वाचिक क्रियाओं से शून्य हुये । अतः उस आशंका को निर्मूल सिद्ध करने के लिये वे आगे कहते हैं—

५४. मनोदण्डो महावद्यः०—यदि आप (सौत्रान्तिक) ऐसा कहें कि अमनुष्य, जो उन आरण्यक ऋषियों पर प्रसन्न थे, उनके बाह्य काय और वाक् की क्रिया से उक्त जनपदों में रहनेवाले मनुष्यों का वध हुआ, न कि ऋषियों के मनःप्रदोष से वे जनपद शून्य हुये ।

५५. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदम्, परचित्तविदः किं परचित्तं जानन्ति, अथ न ?
किञ्चातः ?
यदि न जानन्ति, कथं परचित्तविदो भवन्ति ?
अथ जानन्ति,

परचित्तविदां ज्ञानमयथार्थं कथम् ?

यदि यह (सब कुछ) विज्ञप्तिमात्र ही है, तो (आप बताइये) परचित्तविद् (अभिज्ञाप्राप्त योगी) परचित्त को जानते हैं कि नहीं ?

(विज्ञानवादी) इससे आपका क्या मतलब है ?

यदि (परचित्तविद् परचित्त को) नहीं जानते हैं, तो वे परचित्तविद् कैसे होते हैं ?

यदि (आप कहें कि) जानते हैं, तो परचित्तविद् (अभिज्ञाप्राप्त योगियों का) ज्ञान अयथार्थ कैसे हो सकता है ?

यदि उन अमनुष्यों के बाह्य कायिक और वाचिक अकुशल कर्मों से ही वे जनपद शून्य हुये (जैसा आप कहते हैं, वैसा मान लिया जाय), तो ऐसी परिस्थिति में इस घटना से कायदण्ड और वाग्दण्ड से मनोदण्ड कैसे गुरुतर सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकेगा । मनोदण्ड महासावद्य तभी सिद्ध होगा जब कि काय और वाक् के सक्रिय न रहने पर भी उन ऋषियों के मन:प्रदोष से ही उन जनपदों के निवासियों का मरण माना जाय ।

यद्यपि इतनी(पूर्वोक्त) युक्ति-प्रतियुक्तियों से सौत्रान्तिक निरुत्तर और निरुत्साहित हो गये; तथापि बाह्यार्थवाद के पक्ष में अन्तिम युक्ति उपस्थित करते हुये वे कहते हैं--

सौत्रान्तिक—

५५. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदम्०—यदि ग्राह्य और ग्राहक का पार्थक्य नहीं होता, केवल चित्त और चैतसिक ही रहते हैं, तो ऐसी स्थिति में हम (सौत्रान्तिक) आपसे पूछते हैं कि परचित्तविदभिज्ञा[1] को प्राप्त योगी दूसरों के चित्तों को जानते हैं कि नहीं ?

---

१. ध्यानजन्य शक्तिविशेष को 'अभिज्ञा' कहते हैं । यहाँ 'अभि' का अर्थ 'विशेष' है तथा 'ज्ञा' का तात्पर्य 'जानना' है । समाधि या मार्ग के बल से ऐसे सामर्थ्य की उपलब्धि होती है । साथ ही नानाविध असाधारण क्रियाओं के प्रदर्शन की क्षमता आ जाती है । अभिज्ञायें पाँच हैं, यथा—ऋद्धिविध, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु, परचित्तज्ञान तथा पूर्वनिवासानुस्मृति । अभिज्ञायें ६ या ७ भी मानी जाती हैं । परचित्तविद्-अभिज्ञा ज्ञान की वह शक्ति है, जिसके द्वारा दूसरे पुरुष के चित्त का ज्ञान किया जाता है । इन अभिज्ञाओं के स्वरूपज्ञान के लिये द्र०—विसु० १२—१३ परिच्छेद ।

५६. यथा ।

स्वचित्तज्ञानम्

तदपि कथमयथार्थम् ?

अज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः ॥२१॥

जैसे स्वचित्तज्ञान (अयथार्थ है) ।

वह (स्वचित्तज्ञान) भी कैसे अयथार्थ है ?

जैसे (स्वचित्त और परचित्त) बुद्ध का गोचर होता है, वैसा नहीं जानने से ।

किञ्चात:—सिद्धान्त पक्ष ने इन दोनों पक्षों में कोई दोष न देखकर कहा—इस प्रश्न से आपका मतलब क्या है ?

तब सौत्रान्तिकों ने दोष का परिचय देते हुए कहा—

यदि न जानन्ति—यदि परचित्तविदभिज्ञा को प्राप्त योगी दूसरों के चित्तों को नहीं जानते हैं, तो वे परचित्तविदभिज्ञाप्राप्त कैसे कहलाते हैं ? इस शब्द की प्रवृत्ति में वैसा कुछ कारण तो अवश्य होना ही चाहिये, जिससे वे परचित्तविद् कहला सकें। अर्थात् जब परचित्त को जानेंगे, तभी कहला सकेंगे कि ये 'परचित्तविद्' हैं ।

अथ जानन्ति०—यदि उक्त दोष से डरकर आप (विज्ञानवादी) ऐसा स्वीकार कर लें कि 'वे परचित्त को जानते हैं', तो ऐसी परिस्थिति में उस परचित्तविदभिज्ञा में तो ग्राह्य और ग्राहक की आकृति अवश्य होगी; क्योंकि उस समय परचित्त ग्राह्य होगा और अभिज्ञा ग्राहक होगी। ये ग्राह्य और ग्राहक दोनों पृथक्-पृथक् रूप से उस योगी को दिखलाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में वह योगी यथार्थ ज्ञाता नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसे ग्राह्य और ग्राहक भिन्न भिन्न रूप से दिखलाई पड़ते हैं और आप (विज्ञानवादियों) के मत में यह ग्राह्य-ग्राहक का भेदज्ञान अयथार्थ ज्ञान स्वीकार किया गया है। प्रश्न है कि भावना में पारंगत उन योगियों का ज्ञान अयथार्थ कैसे माना जा सकता है ? यदि कहें कि उनका ज्ञान यथार्थ है, तब तो यह सिद्ध ही हो गया कि ग्राह्य और ग्राहक का पार्थक्य वस्तुत: सत् है। फलतः आप का विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त टूट जायगा। अथवा आपको यह कहना पड़ेगा कि परचित्तविदभिज्ञा होती ही नहीं ?

विज्ञानवादी—

५६. यथा स्वचित्तज्ञानम्—हम (विज्ञानवादी) यह मानते हैं कि योगी का परचित्तविद् ज्ञान यथार्थ नहीं होता। उदाहरणार्थ जिस प्रकार सभी जीव अपने अपने अतीत और अनागत चित्त यथार्थरूप से नहीं जान पाते, उसी प्रकार योगियों की परचित्ताभिज्ञा भी परचित्त को यथार्थरूप से नहीं जानती। होता यह है कि योगी को अपने योगाभ्यास के वश

यथा तन्निरभिलाप्येनात्मना बुद्धानां गोचरः, तथा तदज्ञानात् तदुभयं न यथार्थम्, वितथप्रतिभासतया ग्राह्य-ग्राहकविकल्पस्याप्रहीणत्वात् ।

जैसे वह (स्वचित्त और परचित्त) निरभिलाप्यरूप से बुद्ध का गोचर होता है, वैसा नहीं जानने से वे दोनों (स्वचित्तज्ञान और परचित्तज्ञान) यथार्थ नहीं हैं; क्योंकि मिथ्या प्रतिभास होने के कारण ग्राह्य और ग्राहक के विकल्प (अभिनिवेश) का प्रहाण नहीं हुआ है ।

से स्वचित्त ही परचित्त के आकार के सदृश स्पष्ट प्रतिभासित होता है और उसी योगाभ्यास के वश से उन्हें अतीत, अनागत वस्तुओं के सदृश स्पष्ट प्रतिभास होता है; फलतः वे समझते हैं कि हम परचित्त एवं अतीत-अनागत को जानते हैं । वस्तुतः वे अपने चित्त के ग्राह्यांश को ही परचित्त समझते हैं और इसीलिये वे 'परचित्तविद्' कहलाते हैं ।

सौत्रान्तिक—आचार्य के उपर्युक्त दृष्टान्त को सौत्रान्तिक दृष्टान्तासिद्ध समझते हैं, अतः वे विज्ञानवादियों से पूछते हैं--

तदपि कथमयथार्थम्—पहले जीवों का स्वचित्तज्ञान अयथार्थ सिद्ध हो जाय, तभी उस दृष्टान्त से योगी का परचित्तज्ञान अयथार्थ सिद्ध किया जा सकता है: किन्तु जीवों का स्वचित्तज्ञान ही अयथार्थ सिद्ध नहीं हैं, अतः यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि योगी का परचित्तविद् ज्ञान अयथार्थ है ?

विज्ञानवादी—आचार्य ने जीवों के स्वचित्तज्ञान और योगियों के परचित्तज्ञान दोनों को अयथार्थ सिद्ध करने के लिये कहा –

अज्ञानाद् यथा बुद्धस्य गोचरः—भगवान् बुद्ध स्वचित्त और परचित्त को जिस निरभिलाप्यरूप में जानते है, उसी प्रकार जीवों का स्वचित्तज्ञान स्वचित्त को नहीं जानता और न योगियों का परचित्तज्ञान परचित्त को ही जानता है । यहाँ निरभिलाप्य का तात्पर्य अनिर्वचनीय से है । बाह्य अर्थ सत्, असत् (एकदम अलीक), उभय और अनुभय—इन चारों कोटियों में से किसी भी कोटि में निर्वचन करने योग्य नहीं हैं, इसीलिये वे 'अनिर्वचनीय' कहलाते हैं । ऐसा नहीं है कि अनिर्वचनीय का अर्थ एकदम वाक् का अविषय होने से है । अन्यथा यदि वे वाक् के विषय ही न होंगे और किसी भी प्रकार उनका कथन न हो सकेगा, तो उन्हें अनिर्वचनीय भी कैसे कहा जा सकता है । विज्ञप्तिमात्रता को अनिर्वचनीय कहकर उसे वाक् का एकदम अविषय कहना परस्पर वैसे ही अत्यन्त विरुद्ध है, जैसे 'मेरी माता वन्ध्या है'–यह कहना ।

यहाँ यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि जीव स्वचित्त को और योगी परचित्त को निरभिलाप्यरूप में क्यों नहीं जानते ?

वितथप्रतिभासतया—जीवों के स्वचित्तज्ञान और योगियों के परचित्तज्ञान दोनों ज्ञानों को ग्राह्य और ग्राहक भाव भासित होता है, इसलिये उनके प्रतिभास में एक विपरीत

बोध होता है। वस्तुतः उन लोगों का चित्त ग्राह्य-ग्राहक के पार्थक्य से सर्वथा रहित होता है; फिर भी उनके आभास में यह पार्थक्य विद्यमान रहता है। इस प्रकार अद्वय में द्वय का प्रतिभास सर्वथा विपरीत ही कहा जायगा। वह द्वय का भान, जो विपरीत ग्राह्य अंश है, उससे आवृत होने की वज़ह से स्वचित्त और परचित्त क्रमशः जीवों और योगियों को यथार्थ दिखलाई नहीं देते। जीव जब स्वसान्तानिक अतीत और अनागत चित्तों को जानते हैं, तब उनमें द्वैत का प्रतिभास होता है। वे अपने चित्त के ग्राह्यांश को ही, जो कि अतीत और अनागत के सदृश दिखलाई देता है, अपना अतीत और अनागत चित्त समझ लेते हैं। उसी प्रकार योगी भी जब दूसरों के चित्तों को जानते हैं, तब द्वैतप्रतिभास के कारण ही वे अपने योगिचित्त के ग्राह्यांश को परचित्त समझ लेते हैं। किसी भी हालत में वे स्वचित्त और परचित्त को अनिर्वचनीयरूप में नहीं जानते।

तात्पर्य यह है कि जब भी कोई विज्ञान उत्पन्न होता है, तब वह अपने उत्पाद के लिये बाह्य ग्राह्य की अपेक्षा नहीं किया करता। अपितु उस विज्ञान के ही दो अंश होते हैं। एक अंश ग्राह्य के रूप में दिखलाई पड़ता है, उसे 'ग्राह्यांश' कहते हैं। दूसरा अंश ग्राहक के रूप में दिखलाई पड़ता है, उसे 'ग्राहकांश' कहते हैं। इस तरह द्वैत के रूप में भान हुआ करता है[1]। यह द्वैतभान तब तक होता रहता है, जब तक जीव बुद्धत्व को प्राप्त नहीं हो जाते।

उक्त द्वैतभान एक प्रकार का आवरण है, जिसकी वज़ह से वस्तु की यथार्थ स्थिति का साक्षात्कार नहीं हो पाता। दर्शनमार्ग आदि के समाहित ज्ञान को यह द्वैतप्रतिभास नहीं होता, इसलिये वह ज्ञान वस्तुस्थिति का साक्षात्कार करनेवाला होता है। किन्तु पृष्ठलब्ध अवस्था में उक्त द्वैतभान फिर होने लगता है, फलतः पृष्ठलब्ध अवस्था में परमार्थ सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। परचित्तज्ञान आदि अभिज्ञायें भी पृष्ठलब्ध अवस्था में होती है। इसलिये वे उक्त द्वैताभास से मुक्त नहीं हैं। अतएव सभी पृथग्जन और पृष्ठलब्ध अवस्था के योगी वस्तुओं को यथार्थरूप से नहीं जानते; क्यों कि उनके ज्ञान के आगे उक्त द्वैताभास का परदा होता है; जैसे किसी घट को समान रंगवाले कपड़े से ढँक कर देखा जाय, तो घट का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; फिर भी लोग यह तो समझते ही हैं कि हम घट को देख रहे हैं।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि जीवों और योगियों के चित्त वस्तुतः अद्वैतस्वरूप हैं, तो उन्हें द्वैत का प्रतिभास क्यों होता है?

ग्राह्यग्राहकविकल्पस्याप्रहीणत्वात्—पृथग्जन और योगियों ने चूँकि ग्राह्य और ग्राहक अभिनिवेश का प्रहाण नहीं किया है, अतः उन्हें उक्त प्रकार का द्वैतप्रतिभास हुआ करता है। यद्यपि चित्त का यथार्थ स्वरूप अद्वैत है; तथापि जब तक ग्राह्य-ग्राहकाभिनिवेश पूर्णतः क्षीण नहीं होता, तब तक द्वैत का भान होता रहता है। आर्यों को समाहित अवस्था में ग्राह्य-ग्राहक का भान नहीं होता तथा बुद्ध को किसी अवस्था में द्वैत का भान नहीं होता अर्थात्

---

१. **विज्ञानातिरिक्तत्वेन ग्राह्यांश की सत्ता का भान तथा ग्राहकांश का बाह्यार्थरूपेण भान 'द्वैतभान' कहलाता है।**

५७. अनन्तविनिश्चयप्रभेदागाधगाम्भीर्यायां विज्ञप्तिमात्रतायाम्,
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया ।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या

सर्वंप्रकारा तु सा मादृशैश्चिन्तयितुं न शक्यते, तर्काविषयत्वात् । कस्य पुनः सा सर्वथा गोचरः ? इत्याह—

बुद्धगोचरः ॥ २२ ॥

बुद्धानां हि सा भगवतां सर्वप्रकारं गोचरः, सर्वाकारसर्वज्ञेयज्ञानाविघातात् ।

॥ इति विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः ॥

कृतिरियमाचार्यवसुबन्धोः ॥

विज्ञप्तिमात्रता के अनन्त विनिश्चय और प्रभेदों से अगाध और गम्भीर होने पर भी मैंने अपनी शक्ति के अनुरूप विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि की है । वह किसी भी प्रकार चिन्त्य नहीं है ।

तर्क (सविकल्प ज्ञान) का अविषय होने से उस (विज्ञप्तिमात्रता) के समस्त प्रकारों का मेरे जैसे पुरुषों द्वारा चिन्तन नहीं किया जा सकता । (यदि ऐसी स्थिति है, तो) फिर वह सर्वथा किसकी विषय है ? इसके समाधान के लिये आचार्य ने कहा—

(वह केवल) बुद्ध की ही गोचर है ।

वह (विज्ञप्तिमात्रता) केवल भगवान् बुद्धों को ही सब प्रकार से गोचर है; क्योंकि उनका ज्ञान सभी प्रकार के सभी ज्ञेयों में अप्रतिहत है ।

इस प्रकार आचार्य वसुबन्धु की यह 'विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः' नामक कृति

❀ समाप्त ❀

सर्वदा अद्वैत प्रतिभासित होता है । उस समय (आर्यों की समाहित अवस्था और बुद्धत्व की अवस्था में) उन्हें वस्तुओं की यथार्थ स्थिति का साक्षात्कार होता है ।

इस प्रकार विज्ञप्तिमात्रतावाद को दूषण देनेवाले कुवादों का पूर्णतः समाधान कर दिया गया है ।

५७. अनन्तविनिश्चयप्रभेद०—यद्यपि विज्ञानवाद के विषय में बहुत वक्तव्य हैं; फिर भी उनमें से यहाँ अत्यन्त अल्प कहा गया है, उसके सभी प्रकार यहाँ नहीं कहे गये हैं; क्योंकि विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि या विज्ञानवाद के सिद्धान्त अनन्त हैं, उनका अवगाहन करना अत्यन्त कठिन है । वे मन्देन्द्रिय पुद्गलों के दृष्टिगोचर भी नहीं हैं । इसलिये उसके सभी प्रकार हमारे जैसे पृथग्जन द्वारा प्रतिपादित नहीं किये जा सकते; फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार हमने इतना प्रतिपादन अवश्य कर दिया है, जिससे उक्त गम्भीर और विस्तृत

विज्ञप्तिमात्रता की किसी प्रकार सिद्धि हो जाय। हमारे जैसा पृथग्जन, जिसने तत्त्व का यथावत् दर्शन नहीं किया है और कल्पनाजालों से वियुक्त भी नहीं है, उसमें विज्ञप्तिमात्रता के सभी प्रकारों को सोचने की सामर्थ्य भी कहाँ है; क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता या तत्त्व तर्क का विषय नहीं है। तर्क का तात्पर्य सविकल्पक चिन्तन से है। तत्त्व उस सविकल्पक ज्ञान के साक्षात् विषय के रूप में नहीं आ सकता। इसलिये यहाँ उसे (तत्त्व को) तर्क का अविषय कहा गया है। इसका मतलब यह नही है कि तत्त्व अनुमान का भी विषय नहीं है; क्योंकि तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिये सर्वप्रथम उसे अनुमान द्वारा जानकर तदनन्तर उसकी समाधि के साथ भावना की जाती है। फलतः क्रमशः उसमें उत्तरोत्तर प्रकर्षता आती रहती है। अन्त में एक दिन उसका साक्षात्कार भो होता है।

यहाँ ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जिन्हें तत्त्व ज्ञान नहीं है, ऐसे लोगों द्वारा यदि विज्ञप्तिमात्रता के सभी प्रकार सोचे नहीं जा सकते हैं, तो फिर विज्ञप्तिमात्रता के सभी प्रकार किसके दृष्टिगोचर हैं ?

बुद्धगोचरः—विज्ञप्तिमात्रता के सभी प्रकार केवल बुद्धों के ही गोचर हैं; क्योंकि उन्हीं का ज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थों के प्रति अप्रतिहत होता है। अर्थात् उनके ज्ञान में कहीं भी रुकावट नहीं होती। अनेक कल्पों से ज्ञेय पदार्थों के प्रति प्रज्ञा का अभ्यास किया गया था, इसलिये उनकी प्रज्ञा असीमित शक्तिसम्पन्न होकर लौकिक और लोकोत्तर समस्त धर्मों का साक्षात्कार करने में पूर्ण सक्षम हो गयी है। फलतः बुद्धों का ज्ञान कहीं भी प्रतिहत नहीं हो सकता। प्रतिघात होने में कोई कारण उपस्थित होना चाहिये, बुद्ध तो समस्त ज्ञेयावरणों से सर्वथा रहित होते हैं; फलतः वे विना प्रतिघात के यावत् ज्ञेय और यथार्थ ज्ञेय सबको यथावत् जानते रहते हैं।

आचार्य वसुबन्धुप्रणीत विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि नामक विंशिका प्रकरण की गूढार्थदीपनी व्याख्या समाप्त।



आचार्यवसुबन्धुप्रणीता

त्रिंशिका
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

स्थिरमतिविरचितभाष्यसहिता

॥ नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ॥

त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाः

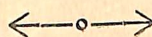
आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥१॥
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च ।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम् ॥२॥
असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत् ।
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् ॥३॥
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत् ।
तथा स्पर्शादयस्तच्च वर्तते स्रोतसौघवत् ॥४॥
तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते ।
तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम् ॥५॥
क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा ।
आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः ॥६॥
यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्चार्हतो न तत् ।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च ॥७॥
द्वितीयः परिणामोऽयं तृतीयः षड्विधस्य या ।
विषयस्योपलब्धिः सा कुशलाकुशलाद्वया ॥८॥

सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसौ ।
सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना ॥९॥
आद्याः स्पर्शादयश्छन्दाधिमोक्षस्मृतयः सह ।
समाधिधीभ्यां नियताः श्रद्धाथ ह्रीरपत्रपा ॥१०॥
अलोभादित्रयं वीर्यं प्रश्रब्धिः साप्रमादिका ।
अहिंसा कुशलाः क्लेशा रागप्रतिघमूढयः ॥११॥
मानदृग्विचिकित्साश्च क्रोधोपनहने पुनः ।
म्रक्षः प्रदाश ईर्ष्याथ मात्सर्यं सह मायया ॥१२॥
शाठ्यं मदो विहिंसा ह्रीरत्रपा स्त्यानमुद्धवः ।
आश्रद्धयमथ कौसीद्यं प्रमादो मुषिता स्मृतिः ॥१३॥
विक्षेपोऽसम्प्रजन्यं च कौकृत्यं मिद्धमेव च ।
वितर्कश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा ॥१४॥
पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः ।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले ॥१५॥
मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते ।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात् ॥१६॥
विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते ।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥१७॥
सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।
यात्यन्योऽन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते ॥१८॥
कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह ।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत् ॥१९॥
येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु विकल्प्यते ।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते ॥२०॥

परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः ।
निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या ॥२१॥
अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः ।
अनित्यतादिवद् वाच्यो नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते ॥२२॥
त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम् ।
सन्धाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥२३॥
प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः ।
न स्वयम्भाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता ॥२४॥
धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथताऽपि सः ।
सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता ॥२५॥
यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति ।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥२६॥
विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः ।
स्थापयन्नग्रतः किञ्चित् तन्मात्रे नावतिष्ठते ॥२७॥
यदा त्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा ।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात् ॥२८॥
अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत् ।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः ॥२९॥
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥३०॥

॥ त्रिंशिकाविज्ञप्तिकारिकाः समाप्ताः ॥

॥ कृतिरियमाचार्यवसुबन्धोः ॥



॥ नमो मञ्जुश्रिये ॥

त्रिंशिका

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

स्थिरमतिविरचितभाष्यसहिता

१. पुद्गलधर्मनैरात्म्ययोरप्रतिपन्नविप्रतिपन्नानामविपरीतपुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनार्थं त्रिंशिकाविज्ञप्तिप्रकरणारम्भः।

पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य (के विषय) में अप्रतिपन्न (जानकारी नहीं रखनेवाले) और विप्रतिपन्न (गलत जानकारी रखनेवाले) जनों के लिये अविपरीत (यथार्थ) पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन करने के लिये इस 'त्रिंशिका-विज्ञप्ति' नामक प्रकरण का आरम्भ किया गया है।

गूढार्थदीपनी

१. अनुसन्धि—आचार्य स्थिरमति अपने इस प्रथम वाक्य द्वारा प्रस्तुत प्रकरण के अभिधेय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन आदि का प्रदर्शन कर रहे हैं। किसी भी शास्त्र के प्रारम्भ में इन (अभिधेय आदि) का प्रतिपादन आवश्यक होता है; क्योंकि इन्हें विना जाने विचारवान् श्रोता उन उन शास्त्रों के श्रवण में प्रवृत्त नहीं होते। अतः श्रोतृजन के प्रसादनार्थ भाष्यकार शास्त्र के प्रारम्भ में अभिधेय आदि का प्रतिपादन कर रहे हैं।

'पुद्गलधर्मनैरात्म्ययोः' इस वचन के द्वारा 'प्रयोजन' का, 'अप्रतिपन्नविप्रतिपन्नानाम्' इसके द्वारा 'सम्बन्धी' का, 'अविपरीतपुद्गलधर्मनैरात्म्य०' के द्वारा 'अभिधेय' का तथा 'त्रिंशिकाविज्ञप्तिप्रकरणारम्भः' इस वचन के द्वारा 'सम्बन्ध' का निर्देश किया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य को युक्ति और आगम द्वारा अविपरीतरूप से दिखलाना, इस प्रकरण का 'अभिधेय' है। नैरात्म्यद्वय को सम्यग् रूप से जानना, इसका 'प्रयोजन' है। वह (प्रयोजन) भी इस प्रकरण के द्वारा ही सिद्ध होता है, इसलिये यह प्रकरण उस प्रयोजनसिद्धि का उपाय है और प्रयोजन उपेय है। फलतः इन दोनों के बीच 'उपायोपेय सम्बन्ध' है।

पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का अविपरीत प्रतिपादन किन (व्यक्तियों) के लिये किया जा रहा है ?

अप्रतिपन्न (द्विविध नैरात्म्य को न जाननेवाले) तथा विप्रतिपन्न (विपरीत ढंग से जाननेवाले) पुद्गलों में नैरात्म्यद्वयसम्बन्धी सम्यग् ज्ञान के उत्पाद के लिये उनका प्रतिपादन किया जा रहा है।

ज्ञातव्य है कि अप्रतिपत्ति दो प्रकार की होती है, यथा—अज्ञान और सन्देह। अज्ञान वस्तुस्थिति को बिलकुल न जानना है। सन्देह यद्यपि विषय के प्रति प्रवृत्त है; तथापि द्विमुख (द्विकोटिक ज्ञान) होने से उसके द्वारा विषय का यथावत् ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिये ये दोनों 'अप्रतिपत्ति' कहे जाते हैं तथा इनसे युक्त पुद्गल 'अप्रतिपन्न' कहलाते हैं।

विप्रतिपत्ति का तात्पर्य विपर्ययज्ञान से है। यह स्वविषय को एकान्तरूप से विपरीत (उलटा) समझता है। इससे युक्त पुद्गल 'विप्रतिपन्न' कहलाते हैं।

पुद्गलनैरात्म्य—'पूर्यते गलति च' इस विग्रह के अनुसार पुद्गल वह है, जो पूरित भी होता है और क्षीण भी होता है। अपूर्व कर्मों के सञ्चय से वह पूरित होता है और पूर्वकृत कर्मों के उपभोग से वह क्षीण भी होता है, इसलिये 'पुद्गल' कहलाता है।

अथवा—'पुनः पुनः गच्छति' इस विग्रह के अनुसार जिस भव में वह पहले जा चुका है, कर्म-क्लेशों की वज़ह से उसमें पुनः पुनः गमन करता है, इसीलिये 'पुद्गल' कहलाता है[1]।

इस प्रकार के पुद्गल का आलम्बन करके साधारण पृथग्जनों को ऐसा प्रतीत होता है; मानों वह (पुद्गल) पञ्च स्कन्धों से भिन्न, नित्य, शाश्वत, कूटस्थ कोई द्रव्यसत् धर्म है। किन्तु इस प्रकार के आत्मा की सत्ता नहीं है, इसलिये इस प्रकार के आत्मा का अभाव 'पुद्गलनैरात्म्य' कहलाता है।

धर्मनैरात्म्य—जो स्वलक्षण को धारण करते हैं, वे 'धर्म' कहे जाते हैं। इसमें घट, पट आदि सभी संस्कृत एवं असंस्कृत पदार्थ संगृहीत होते हैं। वे (पदार्थ) सांसारिक साधारण सत्त्वों को बाह्यार्थतः सत् प्रतीत होते हैं; किन्तु वे वस्तुतः उस प्रकार बाह्यार्थतः सत् नहीं होते। अत एव धर्मों की बाह्यार्थ से रहितता को 'धर्मनैरात्म्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

विशेष—पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य में 'पुद्गल' और 'धर्म' ये आधार (आश्रय) या धर्मी हैं तथा 'नैरात्म्य' उनमें आधेय (आश्रित) या धर्म है। अथवा उनका वास्तविक स्वरूप है। ऐसा नहीं है कि पुद्गलनैरात्म्य का अर्थ पुद्गल का सर्वथा अभाव या धर्मनैरात्म्य का अर्थ धर्मों (पदार्थों) का सर्वथा नास्तित्व है। जैसे—जब 'रज्जु में सर्पाभाव' कहा जाता

---

1. 'पुद्गल' शब्द की उपर्युक्त व्याख्याओं के लिये द्र०—आचार्य विनीतदेव की इस स्थल पर टीका।

२. पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं[1] पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा हि—आत्मदृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशाः; पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कायदृष्टेः

पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन (क्रमशः) क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के प्रहाण के लिये भी है। जैसे—राग आदि (सम्पूर्ण) क्लेश आत्मदृष्टि से प्रसूत हैं और पुद्गलनैरात्म्य का अवबोध सत्कायदृष्टि का प्रतिपक्ष है, अतः सत्कायदृष्टि के प्रहाण के लिये

है, तब वहाँ रज्जु आधार या धर्मी होती है और सर्पाभाव आधेय या धर्म होता है। जब रज्जु में सर्प के अभाव का ज्ञान होता है, तब रज्जु का अभाव नहीं हो जाता; अपितु उसमें सर्प से रहितता का ही बोध होता है।

पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य को विपरीतरूप से समझनेवाले बौद्धों में भी कम नहीं हैं। उदाहरणार्थ सम्मितीय लोग ही हैं, जो पुद्गलनैरात्म्य को गलत ढंग से समझते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तैर्थिक (बौद्धातिरिक्त आत्मवादी) आत्मा की कल्पना करते हैं, यद्यपि उस प्रकार की आत्मा सत् नहीं है; तथापि कर्ता, भोक्ता आदि स्वतन्त्र पुद्गल तो अवश्य होता है। अन्यथा शुभ-अशुभ कर्मों की व्यर्थता का प्रसङ्ग होगा तथा संसार में प्रवृत्त करनेवाले संक्लेश धर्मों और मोक्ष की ओर ले जानेवाले व्यवदान धर्मों की व्यवस्था न हो सकेगी।

इसी प्रकार धर्मनैरात्म्य को गलत ढंग से समझनेवाले माध्यमिक लोग हैं, जो कहते हैं कि समस्त धर्म सर्वथा निःस्वभाव हैं और उन (धर्मों) की सत्ता कल्पितमात्र है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के मत समीचीन नहीं हैं—इसका आगे यथास्थान युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया जायगा।[2]

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के अप्रतिपन्न और विप्रतिपन्न लोगों को पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का यथार्थ स्वरूप दिखलाने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) ने इस त्रिंशिकाविज्ञप्ति नामक प्रकरण का प्रारम्भ किया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक शास्त्र में अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध होते हैं। इनमें प्रयोजन दो प्रकार का होता है, यथा—प्रयोजन और प्रयोजन-प्रयोजन। इनमें से प्रयोजन का कथन ऊपर कर दिया गया है। अब यहाँ प्रयोजन-प्रयोजन दिखलाया जा रहा है।

प्रयोजन-प्रयोजन का त्रिविध प्रदर्शन

प्रथम प्रकार—

प्रश्न होता है, आखिर बुद्ध और उनके अनुयायी उपदेशकों ने पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य की देशना क्यों की?

२. पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः०—पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य—इन

---

१. तत्र पुद्गल०—स०।

२. द्र०—त्रिंशिका ५, पृ० ९३-९५।

प्रतिपक्षत्वात्, तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति[१]। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि[२] ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वात्, ज्ञेयावरणं प्रहीयते।

प्रवर्तमान (पुरुष) सम्पूर्ण क्लेशों का त्याग करता है। ज्ञेयावरण का प्रतिपक्ष होने से धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण प्रहीण होता है।

दो नैरात्म्यों की देशना इसलिये की गई है, जिससे कि अभिलाषी पुरुष क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का भली-भाँति प्रहाण कर सकें। पुद्गलनैरात्म्य की देशना क्लेशावरण के प्रहाण के लिये तथा धर्मनैरात्म्य की देशना ज्ञेयावरण के प्रहाण के लिये है।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि पुद्गलनैरात्म्य की देशना क्लेशावरण के प्रहाण के लिये कैसे उपयोगी है?

तथा हि—आत्मदृष्टिप्रभवा रागादयः०—राग आदि समस्त क्लेश सत्कायदृष्टि से उत्पन्न होते हैं। यथा—स्वस्कन्धसमूह[३] का आलम्बन करके सामान्य जन उसे (समूह को) इस प्रकार की 'आत्मा' समझने लगते हैं, जो एकदम स्वतन्त्र, नित्य और सबसे प्रधान है। तदनन्तर स्वसम्बद्ध सभी पदार्थों को 'आत्मीय' समझने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जो पदार्थ अपने अनुकूल (सुखवेदनीय) प्रतीत होते हैं, उनके प्रति वे रागवान् होते हैं तथा जो पदार्थ प्रतिकूल (दुःखवेदनीय) प्रतीत होते हैं, उनके प्रति वे ईर्ष्या, द्वेष आदि से युक्त होते हैं।[४] जिस समय इस प्रकार की आत्मदृष्टि और आत्मीयदृष्टि का प्रहाण हो जाता है, उस समय उनमें राग, द्वेष आदि मलों का उसी प्रकार उत्पाद नहीं होता, जिस प्रकार वृक्ष के समीप कुल्हाड़ी आ जाने पर उस (वृक्ष) में द्वेष आदि का उत्पाद नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि राग आदि समस्त क्लेश सत्कायदृष्टि से ही सम्बद्ध हैं। सत्कायदृष्टि के होने पर ही क्लेशों की प्रवृत्ति होती है और उस (सत्कायदृष्टि) के निवृत्त (प्रहीण) हो

---

१. तत्प्रहीणायां सर्वक्लेशान् प्रजहाति—स०।

२. ०ज्ञानेनापि—स०।

३. अपनी सन्तान में होनेवाले रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों का समूह।

४. द्र०— यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥
—प्र० वा० (प्रमाण० परि०) २१९–२२१ पृ० ७६–७७।

३. क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम् । क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति, अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते । ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन्

क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रहाण भी (क्रमशः) मोक्ष और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति के लिये है । क्लेश मोक्ष की प्राप्ति में आवरण (प्रतिबन्धक) हैं । इसलिये उन (क्लेशों) के प्रहीण हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है । ज्ञेयावरण भी सम्पूर्ण ज्ञेयों में ज्ञान की

जाने पर राग आदि क्लेशों का उत्पाद असम्भव हो जाता है । पुद्गल-नैरात्म्यज्ञान सत्कायदृष्टि का साक्षात् प्रतिपक्ष है । इसलिये जब पुद्गलनैरात्म्य का प्रत्यक्षतः अवबोध (साक्षात्कार) होता है, तब सत्कायदृष्टि अपने-आप विगलित हो जाती है । इसीलिये पुद्गलनैरात्म्य की देशना क्लेशावरण के प्रहाण के लिये उपयुक्त है ।

धर्मनैरात्म्य की देशना ज्ञेयावरण के प्रहाण के लिये कैसे उपयोगी है ?

धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि०—विज्ञानवादियों के मत में बाह्यार्थसत्-दृष्टि ही ज्ञेयावरण है; क्योंकि वही (दृष्टि) समस्त ज्ञेय धर्मों के साक्षात्कार में आवरण है । जब बाह्यार्थदृष्टि का पूर्णतः क्षय हो जाता है, तब सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है ।

भावविवेक (भव्य) आदि स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में धर्मों की सत्यतः सत्तादृष्टि ज्ञेयावरण है ।

विज्ञानवादी और स्वातन्त्रिक माध्यमिक दोनों के मत में ज्ञेयावरण ज्ञानविशेष (ज्ञानजातीय धर्म) माना जाता है; किन्तु नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति आदि प्रासङ्गिक माध्यमिक ज्ञेयावरण को ज्ञानविशेष नहीं मानते और न तो धर्मों की स्वलक्षणसत्-दृष्टि को ही ज्ञेयावरण मानते हैं; अपितु वे उसे (स्वलक्षणसत्-दृष्टि को) क्लेशावरण ही मानते हैं । उन क्लेशों की वासना ही उनके मत में ज्ञेयावरण मानी जाती है[1] ।

जब धर्मनैरात्म्य (बाह्यार्थाभाव) का साक्षात्कार होता है, तब बाह्यार्थदृष्टि अपने-आप विगलित हो जाती है और आगे चलकर सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है । इसीलिये धर्मनैरात्म्य की देशना ज्ञेयावरण के प्रहाण के लिये उपयुक्त है ।

क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के प्रहाण से क्या लाभ होता है ?

३. क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि ०—राग आदि क्लेश ही मोक्ष की प्राप्ति में प्रधान

---

१. विज्ञान से अतिरिक्त ग्राह्य-ग्राहक की सत्ता मानना, विज्ञानवाद के मत में 'बाह्यार्थसत्-दृष्टि' है तथा समस्त धर्मों को स्वभावतः सत् समझना, स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत में 'सत्यतः सत्-दृष्टि' है । 'बाह्यार्थसत्-दृष्टि' एवं 'सत्यतः सत्-दृष्टि' दोनों धर्मात्मदृष्टि हैं । स्वरूपतः यह दृष्टि चैतसिक है । अतः क्रमशः दोनों प्रकार की दृष्टियाँ दोनों मतों में ज्ञानजातीय मानी जाती हैं और इन्हें ही वे क्रमशः ज्ञेयावरण कहते हैं ।

प्रासङ्गिक माध्यमिक उक्त दोनों प्रकार की दृष्टियों को ज्ञेयावरण नहीं; अपितु

ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतमक्लिष्टमज्ञानम् । तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते ।

प्रवृत्ति होने में प्रतिबन्धभूत अक्लिष्ट अज्ञान है। उस (ज्ञेयावरण) के प्रहीण हो जाने पर ज्ञेय के सभी आकारों में असक्त और अप्रतिहत ज्ञान प्रवृत्त होने लगता हैं। फलतः सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है।

बाधक हैं। अतः उनके समूल प्रहीण हो जाने पर मुक्ति का लाभ होता है और उस अवस्था में पुद्गल (व्यक्ति) अर्हत् कहलाता है। इसीलिये क्लेशावरण का प्रहाण मोक्षप्राप्ति का प्रधान हेतु कहा गया है।

ज्ञेयावरण ही सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में प्रधान बाधक है। उसके समूल प्रहीण हो जाने पर सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है और पुद्गल बुद्ध हो जाता है।

ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये०—उपर्युक्त दोनों आवरणों (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) में से ज्ञेयावरण अधिक दुर्बोध है। अतः आचार्य (स्थिरमति) उसके लक्षण या स्वभाव का विशेष प्रतिपादन कर रहे हैं, यथा—

प्राकृत जीव का ज्ञान और हीनयानी अर्हत् का ज्ञान-इन दोनों ज्ञानों में सकल ज्ञेयों में प्रवृत्त होने की सामर्थ्य नहीं है। ज्ञेयावरण ही इस (असामर्थ्य) का प्रधान कारण है। सकल ज्ञेयों के प्रति उन (पृथग्जन और हीनयानी अर्हत्) का जो अज्ञान है, वही 'ज्ञेयावरण' है। वह ज्ञेयावरण क्लेशों से युक्त (क्लिष्ट) नहीं होता; क्योंकि वह उस अर्हत् की सन्तान में भी होता है, जिसके समस्त क्लेश नष्ट हो चुके हैं। इसीलिये इसे 'अक्लिष्ट' कहा गया है। यह वस्तुओं (धर्मों) के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, इसलिये यह (ज्ञेयावरण) 'अज्ञान' भी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि बाह्यार्थसत्-दृष्टि एक प्रकार का अज्ञान है, जो अक्लिष्ट है और वही ज्ञेयावरण है।

शास्त्रों में सर्वत्र दो प्रकार की अविद्याओं (अज्ञानों) का उल्लेख उपलब्ध होता है, यथा—क्लिष्ट अविद्या और अक्लिष्ट अविद्या। उनमें से क्लिष्ट अविद्या ही क्लेशावरण हैं। अक्लिष्ट अविद्या भी दो प्रकार की होती है, यथा—समापत्त्यावरण और ज्ञेयावरण।

क्लेशावरण मानते हैं और उसे वे ज्ञानजातीय मानते हैं। ज्ञेयावरण उनके मत में क्लेशावरण की वासना है, जो ज्ञानजातीय नहीं, अपितु विप्रयुक्तसंस्कार है।

प्रासङ्गिक माध्यमिक क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का भेद ज्ञान और उसके द्वारा स्थापित वासना (दौष्ठुल्य) के आधार पर करते हैं। जबकि इनसे अतिरिक्त अन्य मतवादी क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का भेद नैरात्म्यद्वय के प्रतिषेध्य के आधार पर स्वीकार करते हैं।

४. अथ वा धर्मपुद्गलाभिनिविष्टाश्चित्तमात्रं यथाभूतं न जानन्तीत्यतो धर्मपुद्गलनैरात्म्यप्रदर्शनेन सफले विज्ञप्तिमात्रेऽनुपूर्वेण प्रवेशार्थं प्रकरणारम्भः।

अथवा—(बाह्य) धर्म और (स्वतन्त्र) पुद्गल (की सत्ता) में अभिनिविष्ट लोग चित्तमात्रता को यथाभूत नहीं जानते, अतः धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य के प्रदर्शन से फलसहित विज्ञप्तिमात्रता में क्रमशः (उनके) प्रवेश के लिये (इस त्रिंशिका) प्रकरण का आरम्भ किया गया है।

समापत्त्यावरण—प्रथम ध्यान समापत्ति से लेकर भवाग्रसमापत्ति पर्यन्त समस्त समापत्तियों के उत्पाद में बाधा देनेवाला अज्ञान 'समापत्त्यावरण' है। कुछ अर्हत् ऐसे होते हैं, जिनके समस्त क्लेश तो नष्ट हो चुके रहते हैं; किन्तु उन्हें किसी भी ध्यान का मौल प्राप्त नहीं होता; फलतः उन्हें कोई भी अभिज्ञा प्राप्त नहीं होती। ऐसे अर्हतों की सन्तान में समापत्त्यावरण उपस्थित होता है। वह (समापत्त्यावरण) अक्लिष्ट होता है; क्योंकि वह क्षीणास्रव अर्हत् की सन्तान में विद्यमान है।

ज्ञेयावरण—यह एक प्रकार की बुद्धि है. जो ग्राह्य और ग्राहक की द्वैधता का ग्रहण करती है और यही समस्त धर्मों के साक्षात्कार में आवरणभूत (बाधक) है। यह पहले (ऊपर) भी कहा जा चुका है।

तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेये०—यहाँ 'सर्वाकार' का तात्पर्य अनित्यता, दुःखता, शून्यता एवं अनात्मता आकारों से है। यावत् (सम्पूर्ण) पदार्थों में विद्यमान इन आकारों का साक्षात्कार सर्वज्ञ की अवस्था में ही होता है। वह सर्वज्ञज्ञान असक्त होता है। क्योंकि वही ज्ञान 'सक्त' कहलाता है, जो किन्हीं विशेष कारणों की अपेक्षा से कभी तो प्रवृत्त होता है और कभी नहीं; अर्थात् कादाचित्क होता है। सर्वज्ञज्ञान उस प्रकार का नहीं है; अपितु यह कारणों की विना अपेक्षा किये सर्वदा प्रवृत्त होता रहता है, अतः यह 'असक्त ज्ञान' है। वह (सर्वज्ञज्ञान) अप्रतिहत भी होता है। क्योंकि वही ज्ञान 'प्रतिहत' कहलाता है, जो किन्हीं विषयों (धर्मों) में प्रवृत्त होता है और किन्हीं विषयों में नहीं। सर्वज्ञज्ञान इस प्रकार का नहीं है; अपितु वह समस्त ज्ञेय धर्मों में प्रवृत्त होता है।

आशय यह है कि सार्वकालिक होने से सर्वज्ञज्ञान असक्त है और सार्वदैशिक होने से अप्रतिहत है।

प्रयोजन-प्रयोजन के प्रदर्शन का द्वितीय प्रकार—

४. अथ वा धर्मपुद्गलाभिनिविष्टाः०—तैर्थिक (अबौद्ध) लोग पुद्गल (आत्मा) की द्रव्यतः सत्ता (पांच स्कन्धों से भिन्न नित्य शाश्वत सत्ता) में अभिनिविष्ट हैं तथा वैभाषिक और सौत्रान्तिक आदि कुछ बाह्यार्थवादी बौद्ध लोग रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थतः सत्ता में अभिनिवेश करते हैं। ये दोनों प्रकार के लोग पुद्गल और धर्म की यथावत् स्थिति को नहीं जान पाते। इन दोनों प्रकार के पुद्गलों के लिये इस शास्त्र की रचना की गयी है, जिससे कि वे फल के साथ विज्ञप्तिमात्रता में क्रमशः प्रविष्ट हो सकें।

सफले विज्ञप्तिमात्रे—समस्त धर्मों का विज्ञप्तिमात्रता के रूप में अवबोध हो जाने पर 'प्रमुदिता' आदि भूमियों की प्राप्ति होती है। इसलिये प्रमुदिता आदि दश भूमियाँ और बुद्धत्व ही विज्ञप्तिमात्रता के अवबोध के फल हैं।

अनुपूर्वेण प्रवेशार्थम्—सर्वप्रथम विज्ञप्तिमात्रता के अवबोधक विज्ञानवादी शास्त्रों का श्रद्धापूर्वक श्रवण किया जाता है। तदन्तर उनमें प्रतिपादित विषयों का युक्तिपूर्वक चिन्तन किया जाता है। ये अवस्थायें प्रायः सम्भारमार्ग की अवस्था होती हैं। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से जब बाह्यार्थशून्यता का सम्यग् अवबोध हो जाता है, तब शमथ के साथ उसकी भावना की जाती है। इस अवस्था में चार स्मृत्युपस्थान[1] आदि की भी भावना की जाती है। इस प्रकार की भावना के बल से आगे चलकर जब 'क्षान्ति' नामक प्रयोगमार्ग की अवस्था आती है, तब ग्राह्यदृष्टि (विषयों के प्रति बाह्यार्थदृष्टि) को अभिभूत करने में विशेष शक्ति प्राप्त होती है। पुनः पुनः भावना के अभ्यास से आगे चलकर जब धर्मवर्धन या अग्रधर्म की अवस्था आती है, तब उस अवस्था में ग्राहकदृष्टि (विज्ञान के प्रति बाह्यार्थदृष्टि) को भी अभिभूत करने (दबाने) में विशेष सामर्थ्य का लाभ होता है। इसके बाद जब ग्राह्यदृष्टि और ग्राहकदृष्टि दोनों समूल टूट जाती हैं, तब धर्मधातु का साक्षात्कार होता है। धर्मधातु के साक्षात्कार में तथा उस साक्षात्कार के प्रकर्षपर्यन्त पहुँचने में अनेक प्रकार के आवरण (बाधक) होते हैं, जिन्हें तोड़ना होता है। क्रमशः उन आवरणों के उन्मूलित होने के साथ साथ आगे-आगे की भूमियाँ प्राप्त होती जाती हैं। अन्ततोगत्वा उस सर्वश्रेष्ठ बुद्धत्व पद की प्राप्ति होती है, जो सकल जगत् का उद्धारक होता है। यही क्रम **'सफले विज्ञप्तिमात्रेऽनुपूर्वेण प्रवेशार्थम्'** के द्वारा कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि बुद्धत्वपद की प्राप्ति के अभिलाषी साधक को सर्वप्रथम श्रवण करना चाहिये। उसके बाद चिन्तन और तदनन्तर भावना करनी चाहिये। जब भावनामयी प्रज्ञा में अत्यन्त प्रकर्षता आ जाती है तब धर्मधातु, शून्यता या विज्ञप्तिमात्रता का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार करनेमात्र से ही गन्तव्य मार्ग परिपूर्ण नहीं होता; अपितु और भी दश भूमियों को क्रमशः पार करना होता है। अन्तिम अवस्था में बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि बुद्धत्व या सर्वज्ञज्ञान सहेतुक है और वह दोनों सम्भारों (पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार) की परिपूर्णता से ही सम्पन्न होता है।

कुछ अबौद्ध तथा वैभाषिक आदि कुछ बौद्धों की भी यह मान्यता है कि तत्त्व का साक्षात्कार होते ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भोटदेश में भी आजकल ऐसे बहुत से लोग विद्यमान हैं जो अपने को अनुत्तरज्ञानमार्गी मानते हैं, वे शून्यता के साक्षात्कार और मुक्ति की प्राप्ति को युगपद् स्वीकार करते हैं। शास्त्रों के श्रवण, चिन्तन आदि के विना भी वे धर्मधातु का साक्षात्कार स्वीकार करते हैं। ये सभी बातें आचार्य वसुबन्धु के मत के विपरीत हैं। आचार्य नागार्जुन आदि न्यायविदों ने भी उपर्युक्त मान्यताओं का खण्डन किया है तथा इस दिशा में

१. १. कायस्मृत्युपस्थान, २. वेदना स्मृत्युपस्थान, ३. चित्तस्मृत्युपस्थान, एवं ४. धर्मस्मृत्युपस्थान—ये चार स्मृत्युपस्थान हैं। इनके स्वरूपज्ञान के लिये द्र०—सतिपट्ठान-विभङ्ग, विभ० अ०, पृ० २१० और विसु० पृ० ४८१।

५. अथ वा विज्ञानवद् विज्ञेयमपि द्रव्यत एवेति केचित् मन्यन्ते; विज्ञेयवद्[1] विज्ञानमपि संवृतित एव, न परमार्थतः—इत्यस्य द्विप्रकारस्यापि एकान्तवादस्य प्रतिषेधार्थः प्रकरणारम्भः।

अथवा विज्ञान की भाँति विज्ञेय भी द्रव्यतः ही हैं—इस प्रकार कुछ लोग मानते हैं। अथवा विज्ञेय की भाँति विज्ञान भी संवृतितः ही है, परमार्थतः नहीं—ऐसा कुछ लोग मानते हैं। इन दोनों प्रकार के एकान्तवादों का प्रतिषेध करने के लिये (इस त्रिंशिका) प्रकरण का आरम्भ किया गया है।

अच्छा विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी आगे एतद्विषयक विस्तृत विवेचन किया जायगा।[2]

प्रयोजन-प्रयोजन के प्रदर्शन का तृतीय प्रकार—

५. अथवा विज्ञानवद् विज्ञेयमपि०—वैभाषिक आदि बाह्यार्थवादियों का अभिमत है कि जिस प्रकार विज्ञान की द्रव्यतः सत्ता है, उसी प्रकार विज्ञेय भी द्रव्यतः सत् हैं।

यहाँ विज्ञान का अर्थ तो सुबोध है; किन्तु विज्ञेय के बारे में बहुत कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिसकी वज़ह से उसके सुस्पष्ट अर्थनिर्धारण में भ्रान्ति होने की सम्भावना रहती है। इसलिये इस विषय में कुछ विचार करना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

कुछ विद्वानों का विचार है कि "यहाँ 'विज्ञेय' का तात्पर्य रूप, घट, पट आदि से है। विज्ञानवादी रूप, घट, पट आदि की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे (विज्ञानवादी) केवल चित्त या विज्ञान की सत्ता ही स्वीकार करते हैं। बाह्यार्थवादी रूप, घट, पट आदि की भी सत्ता स्वीकार करते हैं और इसीलिये वे बाह्यार्थवादी हैं।"

उन लोगों का यह विचार—जहाँ तक विज्ञानवादियों के मत को प्रस्तुत करने का सवाल है—विज्ञानवाद के सर्वथा विपरीत है।

विज्ञानवादी यद्यपि घट, पट आदि को बाह्यार्थत्वेन स्वीकार नहीं करते; तथापि वे उनकी सत्ता तो अवश्य स्वीकार करते हैं। क्योंकि वे उन्हें (घट, पट आदि को) परतन्त्रलक्षण

---

१. अन्ये विज्ञेय०—स०।

२. तु०—विद्यास्थाने पञ्चविधे योगमकृत्वा सर्वज्ञत्वं नैति कथंचित्परमार्यः।
इत्यन्येषां निग्रहणानुग्रहणाय स्वाज्ञार्थं वा तत्र करोत्येव स योगम्॥
महायानसूत्रालङ्कारः, एकदशः परिच्छेदः, का० ६० पृ० ७० (धर्मपर्येष्ट्यधिकारः)।

अपि च—दृष्टोऽर्थः श्रुतमात्रकाद्यदिभवेत् स्याद् भावनापार्थिका।
अश्रुत्वा यदि भावनामनुविशेत् स्याद्देशनापार्थिका॥
महा० सू०, का० ३, पृ० ७७ देशनाधिकारो द्वादशः।

मानते हैं।[1] तथा जो धर्म परतन्त्रलक्षण होते हैं, अर्थात् हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होते हैं, उनकी सत्ता को वे पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करते हैं। इस विषय में 'आर्यसन्धिनिर्मोचन' की 'आर्यपरमोद्गतपरिपृच्छा' में अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है, जिसे (आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र को) आर्य असङ्ग एवं आचार्य वसुबन्धु आदि विज्ञानवादी आचार्यों ने अत्यन्त प्रमाणभूत माना है।

विंशिका प्रकरण की—

"मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्"[2]

इस कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में बाह्यार्थवादियों ने जब यह आक्षेप किया कि—'जब बाह्य रूप, घट, पट आदि नहीं होते और वे सर्वथा स्वप्नवत् होते हैं, तो स्वप्न में दान देने, दूसरों का वध करने आदि से जाग्रत् अवस्था में दान देने, दूसरों का वध करने आदि कर्मों में कोई वैशिष्ट्य (भेद) नहीं हो सकेगा' तो इस आक्षेप का समाधान करते हुये आचार्य वसुबन्धु ने कहा—'यद्यपि स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था दोनों में बाह्य अर्थ की सत्ता का न होना एकदम तुल्य है; तथापि स्वप्न के दान और जाग्रत् अवस्था के दान का समान फल नहीं होगा; क्योंकि स्वप्न अवस्था में कोई देय वस्तु नहीं होती और दान का कोई प्रतिग्राहक भी विद्यमान नहीं होता। इसके विपरीत जाग्रत् अवस्था में देय वस्तु भी होती है और दान का प्रतिग्राहक भी विद्यमान् होता है।'

इस विचार-विमर्श से यह स्पष्ट होता है कि विज्ञानवादियों के मत में यद्यपि रूप आदि धर्मों की बाह्य सत्ता नहीं होती; फिर भी उनकी सत्ता अवश्य है।

प्रमाणवार्तिककार ने भी निःस्वभाववादी माध्यमिकों को इस प्रकार के अनेक आक्षेप दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि विज्ञानवाद में वस्तुओं की सत्ता का निषेध नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ वे कहते हैं—'यदि बीज, अङ्कुर आदि धर्म निःस्वभाव होंगे, तो उनमें कार्य-कारण भाव के अभाव का प्रसङ्ग हो जायगा'—इत्यादि। यथा—

"अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरंकुरादिषु।
दृष्टा शक्तिर्मता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा॥"[3]

इस दिशा में सैकड़ों आगम एवं युक्तियाँ प्रदर्शित की जा सकती हैं। इसलिये विज्ञानवाद में घट, पट आदि रूपी धर्मों की सत्ता का न माना जाना अयुक्त है। अर्थात् घट, पट आदि की सत्ता सुतरां सिद्ध है।

---

१. 'जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न है, वह 'परतन्त्र' है'—परतन्त्रलक्षण की इस परिभाषा के लिए द्रष्टव्य—

"परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः"—त्रिं० का० २१ और उसकी व्याख्या।

२. द्र०—विंशिका का० १८, पृ० ६७।

३. द्र०—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०), का० ४ पृ० १००-१०१।

६. **आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।**

लोकशास्त्रयोरिति वाक्यशेषः ।

विज्ञानपरिणामेऽसौ[1]

आत्मधर्मोपचार इति सम्बध्यते । आत्मा धर्माश्चोपचर्यन्त इत्यात्मधर्मोपचारः ।

लोक और शास्त्र में—यह वाक्यशेष है, (अर्थात् इस वचन का अध्याहार करना चाहिये) जो विभिन्न प्रकार का आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रचलित (प्रवृत्त) है, वह विज्ञान के परिणाम में (ही) है । 'वह' (असौ) इस पद का आत्मोपचार और धर्मोपचार से सम्बन्ध है । आत्मा और धर्म उपचरित होते हैं, इसलिये आत्मोपचार और धर्मोपचार कहा

प्रश्न—तो फिर 'विज्ञानवद् विज्ञेयमपि द्रव्यत एवेति०'का वास्तविक अभिप्राय क्या है ?

बाह्यार्थवादी कहते हैं कि जब नीलबुद्धि उत्पन्न होती है, तब चक्षुर्विज्ञान एक विषयी (विषयग्राहक) विज्ञान होता है । उस समय उसमें जो नीलाकृति आभासित होती है, वह चक्षुर्विज्ञान का अंश नहीं है; अपितु चक्षुर्विज्ञान से बाहर दूरावस्थित नील पदार्थ का अंश है, जो स्वतन्त्ररूप से बाहर से आकर दिखलाई पड़ रहा है । इस प्रकार का विज्ञान से बाह्य दूरावस्थित नील पदार्थ उनके मत में 'बाह्यार्थ' कहलाता है । उसे वे (बाह्यार्थवादी) 'सत्' स्वीकार करते हैं । उसे (बाह्यार्थ को) असत् मानने पर वे लोग आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि यदि विज्ञान की सत्ता है तो उसमें आभासित उक्त प्रकार के (विज्ञान से पृथग्) दूरावस्थित नील आदि की भी सत्ता होनी चाहिये । इस विषय में उनका यह निश्चित मत है कि विज्ञान और बाह्यार्थ (जैसे उनके द्वारा माने जाते हैं)—दोनों की सत्ता होनी चाहिये ।

विज्ञानवाद की दृष्टि में यह (बाह्यार्थसत्) पक्ष एक प्रकार का 'शाश्वत-अन्त' है ।

विज्ञेयवद् विज्ञानमपि०—निःस्वभाववादी माध्यमिक कहते हैं कि जिस प्रकार बाह्यार्थ की स्वाभाविक सत्ता नहीं है, उसी प्रकार विज्ञान भी स्वभावतः सत् नहीं है; अपितु दोनों की सत्ता सांवृतिक ही है । अर्थात् बाह्यार्थ और विज्ञान दोनों कल्पित ही हैं ।

विज्ञानवादी इस पक्ष से भी सहमत नहीं है । उनके मत में धर्मों की स्वभावतः असत्ता मानने पर वे खपुष्पवत् अलीक हो जाते हैं । फलतः कार्यकारणभाव आदि समस्त व्यवस्थायें टूट जाती हैं । इस विषय में विज्ञानवादी माध्यमिकों पर प्रायः वही आक्षेप करते हैं, जो प्रमाणवार्तिककार ने किये हैं और जिनका उल्लेख हमने अभी-अभी (पहले) किया है ।[2]

यह (सांवृतिक) पक्ष भी विज्ञानवाद की दृष्टि में एक प्रकार का 'उच्छेद-अन्त' है ।

इन दोनों प्रकार के एकान्तवादों (शाश्वतान्त और उच्छेदान्त) का निराकरण करके पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य की यथावत् स्थापना करने के लिये आचार्य वसुबन्धु ने इस त्रिंशिकाविज्ञप्ति प्रकरण का आरम्भ किया है ।

६. **आत्मधर्मोपचारो हि···विज्ञानपरिणामेऽसौ**—लोक और शास्त्र में जो

---

१. परिणामोऽसौ—स० ।

२. द्र०—पृ० ६४ ।

स पुनः आत्मप्रज्ञप्तिः[1] धर्मप्रज्ञप्तिश्च। विविध इत्यनेकप्रकारः। आत्मा जीवो जन्तुर्मनुजो माणव[2] इत्येवमादिक आत्मोपचारः। स्कन्धा धातव आयतनानि रूपं वेदना संज्ञा संस्कारा विज्ञानमित्येवमादिको धर्मोपचारः।

जाता है। वह (आत्मोपचार और धर्मोपचार) पुनः (क्रमशः) आत्मप्रज्ञप्ति और धर्मप्रज्ञप्ति है। 'विविध' का तात्पर्य 'अनेक प्रकार' से है। आत्मा, जीव, जन्तु, मनुज, माणव इत्यादि अनेक प्रकार का आत्मोपचार होता है। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इत्यादि अनेक प्रकार का धर्मोपचार होता है।

आत्मा, धर्म इत्यादि अनेक प्रकार के उपचार प्रचलित हैं, वे सब विज्ञान या चित्त के ही परिणाम हैं, न कि बाह्य आत्मा या धर्म होते हैं। अर्थात् वे आत्मा या धर्म विज्ञान के ग्राह्यांश[3] में ही कल्पित हैं।

आत्मा धर्माश्चोपचर्यन्त इत्यात्म०—आचार्य विनीतदेव ने उपचार, कल्पना तथा व्यवहार—इन शब्दों को पर्यायवाची कहा है तथा इन (शब्दों) का अभिप्राय अवबोध (प्रतीति = समझना) एवं अभिलाप (कहना) कहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त कारिका का अर्थ है—लोक और शास्त्रों में 'आत्मा' या 'धर्म' जो कुछ भी समझे या कहे जाते हैं, वे सब विज्ञान के ही परिणाम हैं, बाह्यार्थ नहीं हैं।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि लोक में जो सत्त्व, मनुष्य आदि पुद्गल तथा घट, पट आदि धर्म प्रतीत होते हैं, वे सब विज्ञान के ही ग्राह्यांश हैं। उनकी बाह्यार्थतः कथमपि सत्ता नहीं है। विज्ञान के परिणाम के रूप में उनकी सत्ता है।

विविध इत्यनेक ०—'विविध' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य (स्थिरमति) ने 'विविध इत्यनेकप्रकारः'—ऐसा कहा है। अर्थात् 'विविध' शब्द का अर्थ 'अनेक प्रकार' है। तात्पर्य यह है कि लोक में आत्मा के तरह-तरह के उपचार (प्रतीति या अभिलाप) विद्यमान हैं, यथा—आत्मा, जीव जन्तु, मनुज और मानव आदि। ये सब संज्ञायें आत्मा के लिए प्रयुक्त हैं।

स्कन्धा धातव आयतनानि ०—जिस प्रकार आत्मोपचार में विविधता दिखलाई देती है, उसी प्रकार धर्मोपचार के भी अनेक प्रकार हैं, यथा—पाँच स्कन्ध, अठारह धातु, बारह आयतन आदि। ये सब संज्ञायें धर्म के लिये प्रयुक्त हैं।

---

१. आत्मविज्ञप्तिः—अ०।

२. मानव—ब०।

३. ग्राहक और ग्राह्य यद्यपि अद्वय हैं। अर्थात् वे घट और पट की तरह भिन्न भिन्न नहीं हैं; तथापि वे ज्ञान के ही दो अंश हैं। पहला है ग्राहकांश तथा दूसरा है ग्राह्यांश। हम लोगों को जिस तरह से आत्मा तथा धर्मों की प्रतीतियाँ हो रही हैं, वे आत्मा और धर्म वस्तुतः वैसे नहीं हैं। अपितु वे ज्ञान के ग्राह्यांश में ही आरोपित हैं।

७. अयं द्विप्रकारोऽप्युपचारो विज्ञानपरिणाम एव, न मुख्ये आत्मनि धर्मेषु चेति कुत[1] एतत् ? धर्माणामात्मनश्च विज्ञानपरिणामाद् बहिरभावात् ।

८. कोऽयं परिणामो नाम ? अन्यथात्वम् । कारणक्षणनिरोधसमकालः कारणक्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मलाभः परिणामः ।

यह दोनों प्रकार का उपचार (आत्मोपचार और धर्मोपचार) विज्ञान के परिणाम में ही होता है, मुख्य आत्मा या धर्मों में नहीं होता—यह (आप) कैसे (जानते हैं) ? क्योंकि विज्ञानपरिणाम से बाहर आत्मा और धर्मों का अभाव है।

यह परिणाम क्या है ? अन्यथात्व (ही परिणाम है)। कारणक्षण के निरोध के समय कारणक्षण से विलक्षण, कार्य का जो आत्मलाभ (उत्पाद) है, वही 'परिणाम' है।

पूर्वपक्ष (बाह्यार्थवादी)—

७. अयं द्विप्रकारोऽप्युपचारो विज्ञान०—यहाँ बाह्यार्थवादी पूर्वपक्ष (प्रश्न) उपस्थित करते हैं कि 'उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपचार (आत्मोपचार और धर्मोपचार) विज्ञान के ग्राह्यांश (परिणाम) में ही किये जाते हैं, मुख्य आत्मा या धर्मों में नहीं किये जाते'—यह बात आप कैसे जानते हैं।

यहाँ 'मुख्य' शब्द का तात्पर्य 'परमार्थ' से है। प्रश्नकर्ताओं का आशय यह है कि 'आत्मा और धर्म का व्यवहार विज्ञान के ग्राह्यांश में ही किया जाता है, पारमार्थिक आत्मा या धर्मों में नहीं किया जाता'—इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—

धर्माणामात्मनश्च विज्ञान०—'आत्मा और धर्मों के उपचार के आधार या विषय पारमार्थिक आत्मा और धर्म नहीं हैं'—इस बात को समझाने के लिये आचार्य कहते हैं कि विज्ञानपरिणाम से व्यतिरिक्त न कोई बाह्य आत्मा होती है और न धर्म ही। जब बाह्य आत्मा या धर्म अथवा पारमार्थिक आत्मा या धर्म होते ही नहीं, तब वे उपचार के आधार कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते। फलतः आत्मा और धर्मों का उपचार मुख्य आत्मा या धर्मों में नहीं होता।

८. कोऽयं परिणामो नाम ?—ऊपर कहा गया है कि 'विविध प्रकार के आत्मोपचार और धर्मोपचार विज्ञान के परिणाम में प्रवृत्त होते हैं'—यहाँ यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि 'परिणाम' शब्द का अभिप्राय वस्तुतः क्या है ? क्या यहाँ भी 'परिणाम' शब्द का अभिप्राय वही है, जैसा सत्कार्यवादी सांख्य मानते हैं ? सांख्यों के अनुसार कार्य द्रव्य अपने उत्पाद से पूर्व कारण में सत् (विद्यमान) होता है; किन्तु उस समय वह

---

१. कथम्—स०।

९. तत्र आत्मादिविकल्पवासनापरिपोषाद् रूपादिविकल्पवासनापरिपोषाच्च आलयविज्ञानाद् आत्मादिनिर्भासो विकल्पो रूपादिनिर्भासश्चोत्पद्यते। तम् आत्मादिनिर्भासं रूपादिनिर्भासं च तस्माद् विकल्पाद् बहिर्भूतमिवोपादाय आत्माद्युपचारो रूपादिधर्मोपचारश्च अनादिकालिकः प्रवर्तते, विनापि बाह्येनात्मना धर्मैश्च, तद्यथा तैमिरिकस्य केशोण्डुकाद्युपचार[1] इति।

वहाँ (जीव में) आत्मा आदि की कल्पनाओं द्वारा आहित वासना के परिपोष से तथा रूप आदि की कल्पनाओं द्वारा आहित वासना के परिपोष से आलयविज्ञान से आत्मा आदि के निर्भासवाला विकल्प और रूप आदि के निर्भासवाला विकल्प उत्पन्न होता है। उस आत्मा आदि के निर्भास को और रूप आदि के निर्भास को उस विकल्प से बहिर्भूत की तरह ग्रहण करके बाह्य आत्मा और धर्मों के न होने पर भी आत्मा आदि का उपचार और रूप आदि धर्मों का उपचार अनादि काल से प्रवृत्त हो रहा है। जैसे तैमिरिक (तिमिर रोग से ग्रस्त) पुरुष को केशोण्डुक आदि का उपचार होता है।

अनभिव्यक्त होता है। कालान्तर में कारण में स्थित वह अनभिव्यक्त कार्य द्रव्य अभिव्यक्त होता है और यह 'अभिव्यक्ति' ही उनके अनुसार 'परिणाम' है[2]। प्रश्नकर्ता का आशय है कि आप (विज्ञानवादियों) का परिणाम भी क्या वैसा (सांख्यों की तरह) ही है या दूसरे प्रकार का है ?

सिद्धान्तवादी—

अन्यथात्वम्—हमारे यहाँ परिणाम का तात्पर्य 'अन्यथात्व' (भिन्न प्रकार का हो जाना) से है, न कि सांख्यों द्वारा कल्पित परिणाम के अर्थ की भाँति है। अपने इस संक्षिप्त कथन को स्पष्ट करते हुये आचार्य (स्थिरमति) आगे कहते हैं—

कारणक्षणनिरोधसम०—साधारणतः जिस समय कारणक्षण का निरोध होता है, उस निरोध के समय ही कार्यक्षण का उत्पाद होता है, जो (कार्यक्षण) कारणक्षण से विलक्षण (भिन्न) होता है। इस कार्यक्षण के उत्पाद को ही 'परिणाम' कहते हैं। यथा—जिस समय बीज का क्षण निरुद्ध होता है, उसी समय अंकुर के क्षण का आरम्भ होता है, जो (अंकुरक्षण) बीज से सर्वथा भिन्न होता है और इसे ही 'परिणाम' कहते हैं। वह अंकुर न तो पहले से बीज में स्थित होता है और न अव्यक्तरूप से कारण में विद्यमान ही होता है। इस तरह परिणाम का अर्थ यहाँ सांख्यों से सर्वथा भिन्न होता है।

९. तत्र आत्मादिविकल्पवासना०— ऊपर 'परिणाम' शब्द का सामान्य स्वरूप दिखलाया गया है। अब विशेषतः 'विज्ञान के परिणाम' का स्वरूप दिखलाने के लिये आचार्य कहते हैं—

---

1. °कादिदर्शनम्०-स०।
2. द्र०—सांख्य० ९ का० और उस पर तत्त्वकौमुदी।

जीव की सन्तान में अनादि काल से विविध प्रकार की वासनायें चली आ रही हैं, जो (वासनायें) आत्मदृष्टि आदि द्वारा स्थापित हैं। समय समय पर उन वासनाओं के परिपुष्ट हो जाने से आत्मा आदि की कल्पनायें आविर्भूत होती हैं। उन कल्पनाओं का आधार आलयविज्ञान होता है। आत्मकल्पना के आविर्भाव की अवस्था में व्यक्ति सोचता है 'मैं जा रहा हूँ' 'मुझे सुख चाहिये' इत्यादि। उस समय उसे 'मैं' (आत्मा) की प्रतीति इस प्रकार हुआ करती है, मानों वह आत्मा विज्ञान से बाह्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य हो, जिसके लिये सुख की आवश्यकता है। उसी प्रकार जब एक व्यक्ति के सम्मुख दूसरा व्यक्ति आता है, तब भी उस व्यक्ति को ऐसा आभास होता है, मानों वह (दूसरा व्यक्ति) विज्ञान से बाह्य कोई स्वतन्त्र व्यक्ति है, जो आ रहा है और उसका मुझे आदर या अपमान करना है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब आत्मा (अहम्) की कल्पना आविर्भूत होती है, तब 'कल्पना से एकदम बहिर्भूत कोई स्वतन्त्र आत्मा है' ऐसा आभास होता है। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि व्यक्ति अनादि काल से आत्मा की कल्पना करते चले आ रहे हैं और उस प्रकार की कल्पना का अत्यन्त अभ्यास हो गया है। जैसे कोई कामुक व्यक्ति जिसके प्रति तीव्र राग से युक्त होता है और जिसका निरन्तर चिन्तन करता रहता है, उसे अन्त में ऐसा आभास होने लगता है, मानो वह सामने उपस्थित हो।

उसी प्रकार आलयविज्ञान में ऐसी वासनायें भी विद्यमान होती हैं, जो रूप आदि धर्मों की कल्पनाओं द्वारा स्थापित होती हैं और जो रूप आदि की कल्पना को उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। वे वासनायें जब परिपुष्ट होती हैं, तब रूप आदि की कल्पनायें भी आविर्भूत होती हैं। उन रूप आदि की कल्पनाओं के उत्पादकाल में रूप आदि धर्मों का ऐसा आभास होता है, मानों वे रूप आदि धर्म उन कल्पनाओं से एकदम बहिःस्थित हों तथा बाहर से कल्पना के विषय में आये हों। जैसे तिमिर रोग से ग्रस्त किसी व्यक्ति को जब केशोण्डुक (केशगुच्छ) का आभास होता है, तब उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह केशोण्डुक, जिसे वह देख रहा है, उसके चक्षुर्विज्ञान से एकदम बाहर स्थित है। वह यह बिलकुल नहीं समझ पाता कि जिस केशोण्डुक को मैं देख रहा हूँ, वह मेरे चक्षुर्विज्ञान का ही ग्राह्यांश है। बाह्यार्थ के सर्वथा न होने पर भी रूप आदि धर्मों का उस प्रकार का आभास इसलिये होता है; क्योंकि रूप आदि की कल्पनायें अनादिकाल से व्यक्ति की सन्तान में चली आ रही हैं।

वासनापरिपोष—वासना आलयविज्ञान में स्थापित एक प्रकार की शक्ति (सामर्थ्य) है। परिपोष उस सामर्थ्य की वह परिपक्व अवस्था है, जिसके समनन्तर कार्य की सिद्धि होती है।

निर्भास—निर्भास का तात्पर्य ज्ञानगत ग्राह्यांश से है।

बाह्यार्थ के न होने पर भी उनका उपचार हो सकता है। इसे समझाने के लिये भाष्यकार ने तैमिरिकों को होनेवाले केशोण्डुक के अवभास को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया

१०. यच्च यत्र नास्ति, तत् तत्रोपचर्यते, तद्यथा बाहीके गौः। एवं विज्ञानस्वरूपे बहिश्च आत्मधर्माभावात् परिकल्पित एवात्मा धर्माश्च, न तु परमार्थतः सन्तीति 'विज्ञानवद् विज्ञेयमपि द्रव्यत एव'[1] इत्ययमेकान्तवादो नाभ्युपेयः।

जो जहाँ नहीं होता है, उसका वहाँ उपचार किया जाता है, जैसे बाहीक में 'गो' का। इसी तरह विज्ञानस्वरूप में और बाहर (भी) आत्मा और धर्मों का अभाव होने से आत्मा और धर्म परिकल्पित ही हैं, न कि परमार्थतः। इसलिये 'विज्ञान की भाँति विज्ञेय भी द्रव्यतः ही हैं'—इस प्रकार का यह एकान्तवाद[2] स्वीकार करने योग्य नहीं है।

है। यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि यदि विज्ञान के ग्राह्यांश में आत्मा या धर्म का उपचार होता है तो वह ग्राह्यांश ही वास्तविक आत्मा या धर्म हो जायगा ?

समाधान—

१०. यच्च यत्र नास्ति०—जो जहाँ नहीं होता, उसका वहाँ उपचार हुआ करता है, जैसे—मूर्ख आदमी में बैल का उपचार होता है।

विशेष ज्ञातव्य—पहले कहा है कि उपचार का तात्पर्य सामान्य जन को होनेवाली प्रतीति (अवबोध) और अभिलाप से है। प्राकृत अवबोध और अभिलाप उपचार इसलिये हुआ करते हैं; क्योंकि वे बाह्यार्थ के आरोप के साथ पदार्थों का ज्ञान और कथन किया करते हैं। अर्थात् पामर अवस्था में जो कुछ भी ज्ञान हुआ करता है, सब में बाह्यार्थ का प्रतिभास होता है। इसलिये उस अवस्था की सारी बुद्धियाँ (आलयविज्ञान और स्वसंवेदनको छोड़कर) भ्रान्त होती हैं। फलतः वे (बुद्धियाँ) जहाँ जो नहीं होता, अर्थात् जहाँ बाह्यार्थ नहीं होता, वहाँ बाह्यार्थ का उपचार किया करती हैं।

जब घट की बुद्धि उत्पन्न होती है, तब उसमें घट का प्रतिभास भी होता है और घट का बाह्यार्थत्वेन प्रतिभास भी होता है। इस तरह उस बुद्धि में दो प्रकार का प्रतिभास (आभास) होता है। ये दोनों ही प्रतिभास गलत नहीं हैं। अर्थात् इनमें एक ही गलत है। घट के प्रतिभास की दृष्टि से यह बुद्धि ठीक है तथा बाह्यार्थत्वेन प्रतिभास की दृष्टि से वह गलत (भ्रान्त) है। इसलिये यह घटबुद्धि सम्मुख विद्यमान पिण्ड में घट का आरोप नहीं करती; अपितु उसमें बाह्यार्थ का ही आरोप करती है। यही स्थल विज्ञप्तिमात्रता समझने में दुर्बोध स्थल है।

बाह्यार्थवादी इस घटाभास और बाह्यार्थाभास के भेद को नहीं समझ पाते। वे उन दोनों प्रकार के प्रतिभासों को अभिन्न समझते हैं। इसीलिये वे विज्ञानवाद पर नाना प्रकार के आक्षेप देते हैं।

---

१. ०मप्युच्यत०-अ०।

२. यहाँ एकान्तवाद शब्द से वैभाषिक, सौत्रान्तिक और स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत का ग्रहण करना चाहिये।

११. उपचारस्य च निराधारस्यासम्भवाद् अवश्यं विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्तीत्युपगन्तव्यो[1] यत्र आत्मधर्मोपचारः प्रवर्तते। अतश्चायमुपगमो न युक्तिक्षमो 'विज्ञानमपि विज्ञेयवत् संवृतित एव, न परमार्थतः' इति संवृतितोऽप्यभावप्रसङ्गात्। न हि संवृतिर्निरुपादाना युज्यते।

उपचारका निराधार होना असम्भव होने से विज्ञानपरिणाम वस्तुतः है, इस प्रकार अवश्य स्वीकार करना चाहिये, जिस (विज्ञानपरिणाम) में आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रवृत्त होते हैं। इसलिये यह स्वीकार करना युक्तिसह नहीं है कि "विज्ञेय की भाँति विज्ञान भी संवृतितः ही है, परमार्थतः नहीं"; क्योंकि संवृतितः स्वीकार करने पर भी उसके अभाव का प्रसङ्ग होगा। उपादान के विना संवृति का होना युक्त नहीं है।

इस तरह उपचार एक आरोपमात्र सिद्ध होता है। इसलिये उसके विषयक्षेत्र में मुख्य (पारमार्थिक) आत्मा और धर्म नहीं आते।

प्रथम एकान्तवाद का निरास—

एवं विज्ञानस्वरूपे बहिश्च०—विज्ञान के ग्राह्यांश से या विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य आत्मा और धर्म वस्तुतः नहीं हैं। इसलिये बाह्यरूपेण आभासित आत्मा और धर्म सभी कल्पित या आरोपितमात्र है। उनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं होती। इसलिये 'विज्ञान की भाँति विज्ञेय भी द्रव्यतः सत् हैं'—यह एकान्तवाद कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

द्वितीय एकान्तवाद का निरास—

११. उपचारस्य च निराधारस्यासम्भ०—जब किसी पदार्थ का उपचार या आरोप हुआ करता है, तब उसका आधार होना भी अत्यावश्यक होता है। इसलिये आत्मा और धर्मोंके उपचार के लिये भी आधार होना परमावश्यक है तथा वह आधार विज्ञान का परिमाण है। इसलिये 'विज्ञेय की भाँति विज्ञान भी सांवृतिक ही है, परमार्थतः नहीं'—ऐसा वाद स्वीकार करना भी युक्तिसह नहीं है। क्योंकि विज्ञान की पारमार्थिक सत्ताका निषेध होने पर उसकी सांवृतिक सत्ता भी निरस्त हो जायगी। इसे स्पष्ट करने के लिये आचार्य ने कहा—

न हि संवृतिर्निरुपादाना०—उपादान अर्थात् आश्रय के विना संवृति नहीं हो सकती। इसलिये निःसन्देह किसी के आधार पर ही किसी का उपचार सम्भव हो सकता है। यदि निराधार भी उपचार होने लगेंगे, तो सब में सब का उपचार होने लगेगा। इस प्रकार आचार्य (स्थिरमति) माध्यमिकों पर अतिप्रसङ्ग दोष का आपादन करते हैं।

अभिप्राय यह है कि विज्ञानवादी स्वाभाविक सत्ता या स्वलक्षण सत्ता स्वीकार करते हैं। सब धर्म (पदार्थ) स्वभावतः अर्थात् अपनी ओर से स्वतन्त्रतः सत् हैं। यद्यपि विज्ञान

---

१. वस्तुतोऽस्त्युप०—अ०।

तथा वासना के विना पदार्थों की सत्ता हो नहीं सकती, तथापि उससे पदार्थों की स्वलक्षण सत्ता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। इसीलिये विज्ञानवादी यह कभी नहीं कहते कि सब पदार्थ कल्पित हैं। उन्होंने पदार्थों का तीन श्रेणी में विभाजन किया है, यथा—परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण और परिनिष्पन्न लक्षण। इन तीनों में परतन्त्र और परिनिष्पन्न कल्पितस्वभाव नहीं हैं, अपितु इनकी पारमार्थिक सत्ता है। परिकल्पित लक्षण ही कल्पितस्वभाव है।

स्पष्टीकरण—घट एक 'परतन्त्र लक्षण' धर्म है, क्योंकि वह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न है। घट की बाह्यार्थतः सत्ता 'परिकल्पित लक्षण' है। क्योंकि वह (बाह्यार्थतः सत्ता) कल्पना द्वारा आरोपितमात्र है। उस बाह्य घट की वास्तविक सत्ता नहीं है और न वह हेतु-प्रत्ययों से ही उत्पन्न है। उस (बाह्य घट) की वास्तविक सत्ता न होने पर भी जीवों को उसकी सर्वदा प्रतीति होती है। परिकल्पित लक्षण (घट की बाह्यार्थतः सत्ता) से रहितता (शून्यता) ही 'परिनिष्पन्न लक्षण' है[1]।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के लक्षणों में से परतन्त्र लक्षण ही आधार है। उसी में बाह्यार्थ का आरोप किया जाता है तथा तत्त्वज्ञान (शून्यताज्ञान) होने पर उसी में विज्ञप्तिमात्रता का अवबोध होता है। वह परतन्त्र लक्षण (घट) संवृतिसत्य भी है। वही जीवों को बाह्यार्थत्वेन आभासित होता है। किन्तु जैसा वह लोगों को आभासित होता है, वैसी उसकी वस्तुस्थिति नहीं है; अपितु वह (घट) विज्ञान का एक परिणाममात्र है।

आलयविज्ञान में अनेक वासनायें निवास करती रहती हैं, जो अनादि काल से विभिन्न कल्पनाओं द्वारा निक्षिप्त (स्थापित) होती हैं। यथासमय वे परिपक्व होती हैं तथा यथायोग्य घट आदि के रूप में परिणत होती हैं। जब वे घट आदि के रूप में परिणत होती हैं, तब जीवों को ऐसा आभास होने लगता है, मानों ये घट आदि बाह्यार्थतः सत् हैं। अर्थात् ये घट आदि स्वतन्त्ररूप से बाहर से आकर हमारी बुद्धि के विषय हुए हैं।

तात्पर्य यह है कि घट, पट आदि यावत् (समस्त) पदार्थ उपर्युक्त प्रकार से अपनी-अपनी उन वासनाओं के परिणाम हैं, जो वासनायें आलयविज्ञान में स्थित हैं। इसीलिये आलयविज्ञान सभी पदार्थों का आधार कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि आलयविज्ञान में ही घट आदि समस्त धर्मों का आरोप होता है। इस प्रकार वासनाओं के परिणामभूत घट, पट आदि समस्त धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है। उन्हीं में बाह्यार्थ का आरोप होता है तथा तत्त्वज्ञान होने पर उन्हीं में बाह्यार्थ से शून्यता का भी दर्शन होता है।

सभी वासनाओं का आधार होने से यद्यपि आलयविज्ञान सभी धर्मों का आधार कहा गया है; तथापि वह परमार्थ सत्य नहीं है; अपितु वह संवृतिसत्य है, क्योंकि वह आर्यों के समाहित ज्ञान का गोचर नहीं है। और क्योंकि वह हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न है, इसलिये भी परमार्थ सत्य नहीं है। 'आर्यसन्धिनिर्मोचन' में, जो कि विज्ञानवादियों का

---

1. तीनों लक्षणों के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र०—त्रिंशिका कारिका २० एवं उसकी व्याख्या।

एकमात्र मूलसूत्र माना जाता है, उसमें विशुद्धिमार्ग के आलम्बन को 'परमार्थ सत्य' कहा गया है। विशुद्धिमार्ग का तात्पर्य आर्यों के समाहित ज्ञान से है। इतना ही नहीं कोई भी विज्ञान और चैतसिक आदि परमार्थ सत्य नहीं हैं।

विज्ञान का परिणाम तो बाह्यार्थ से शून्य सिद्ध करने का हेतु (लिङ्ग) है, न कि वह (विज्ञान परिणाम) परमार्थ सत्य है। परमार्थ सत्य तो बाह्यार्थ से शून्यता है।

जिस प्रकार माध्यमिकों के यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद स्वभाव से शून्य सिद्ध करने का हेतु (लिङ्ग) है, न कि वह परमार्थ सत्य है। परमार्थ सत्य तो स्वभाव से शून्यता है। प्रतीत्यसमुत्पन्न होना परमार्थ सत्य नहीं, अपितु संवृतिसत्य ही है।

उसी प्रकार यहाँ (विज्ञानवाद में) विज्ञान का परिणाम होना परमार्थ सत्य नहीं; अपितु संवृतिसत्य ही है।

विज्ञानवादियों के मत में 'परमार्थ सत्य' के प्रसङ्ग में 'परम' का तात्पर्य 'आर्यों के समाहित ज्ञान' से है। इस ज्ञान का विषय होते हुए सत्य होना 'परमार्थ सत्य' का लक्षण है।

आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र तथा विज्ञानवाद के अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में घट, पट आदि परतन्त्रलक्षण धर्मों की भी परमार्थतः सत्ता प्रतिपादित है और उसका अभिप्राय भी वहीं स्पष्ट किया हुआ है। उस अवस्था में 'परम' का अर्थ 'वस्तु' है और जो वस्तुतः सत् है, वह 'परमार्थतः सत्' है। 'वस्तु' का तात्पर्य हेतु प्रत्ययों से उत्पन्न होने से है।

विज्ञानवादी घट, पट आदि को परिकल्पित लक्षण किसी भी तरह नहीं मानते; अपितु वे उन्हें परतन्त्रलक्षण मानते हैं। घट, पट आदि की बाह्यार्थतः सत्ता, जो कि नहीं होने पर भी प्रतिभासित होती है, उसे ही वे परिकल्पित लक्षण मानते हैं। उस प्रकार का प्रतिभास या उस प्रकार की दृष्टि भ्रान्त (गलत) है। असल में घट, पट आदि निर्बाह्यार्थ होते हैं। उनमें स्थित निर्बाह्यार्थता को वे परिनिष्पन्न लक्षण कहते हैं।

विज्ञानवादियों के मत में परमार्थ सत्य आधार नहीं होता; अपितु वह आधेय होता है। उसका आधार तो परतन्त्र हुआ करता है, जो संवृतिसत्य होता है। वह आधार भी एक न होकर अनेक होते हैं, फलतः परमार्थ सत्य भी एक न होकर अनेक होते हैं। आलयविज्ञान आदि विज्ञान, वेदना आदि चैतसिक तथा रूप आदि विषय सब परतन्त्र लक्षण की कोटि में आते हैं। ये सब संवृति सत्य हैं, विज्ञान के परिणाम हैं तथा परिकल्पित और परिनिष्पन्न लक्षणों के आधार हैं। यदि उनकी स्वाभाविक (वस्तुतः या परमार्थतः) सत्ता न मानी जायगी तो सांवृतिक सत्ता भी न हो सकेगी।

१२. तस्माद् अयमेकान्तवादो द्विप्रकारोऽपि निर्युक्तिकत्वात् त्याज्य इत्याचार्यवचनम्। एवं च सर्वं विज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वाद् वस्तुतो न विद्यते। विज्ञानं पुनः प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वाद् द्रव्यतोऽस्तीत्यभ्युपेयम्। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर्विज्ञानस्य 'परिणाम'-शब्देन ज्ञापितम्।

इसलिये यह (उपर्युक्त) दोनों प्रकार का एकान्तवाद युक्तिहीन होने से त्याज्य है—ऐसा आचार्यों का कथन है। इसी प्रकार सम्पूर्ण (बाह्य) विज्ञेय भी परिकल्पितस्वभाव होने से वस्तुतः (द्रव्यतः) नहीं हैं। विज्ञान तो प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से द्रव्यतः है—ऐसा स्वीकार करना चाहिये। विज्ञान का प्रतीत्यसमुत्पन्न होना तो 'परिणाम' शब्द द्वारा (ऊपर) दिखलाया गया है।

उपसंहार—

१२. तस्माद् अयमेकान्तवादो द्विप्रकारोऽपि०—उपर्युक्त प्रकार के दोनों प्रकार के एकान्तवाद वस्तुतः त्याज्य हैं; क्योंकि उनमें कोई युक्ति नहीं दिखलाई पड़ती। यह बात आचार्य स्थिरमति अपनी ओर से नहीं कहते; अपितु वे कहते कि अन्य आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में इसे भलीभाँति स्पष्ट किया है[1]।

स्वपक्ष-निरूपण

एवं च सर्वं विज्ञेयम्०—वे सभी पदार्थ जो बाह्यार्थत्वेन प्रतीत हो रहे हैं, परिकल्पितस्वभाव हैं। अर्थात् उनकी वाह्यार्थतः सत्ता परिकल्पित ही है, वास्तविक नहीं। अर्थात् वे असत् हैं। घट, पट आदि धर्म सभी विज्ञान के परिणाम हैं और प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, इसलिये वे सब द्रव्यतः सत् हैं।

विज्ञान या उसके परिणामभूत समस्त पदार्थ 'प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं'—यह कैसे जाना जा सकता है?

प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर्विज्ञानस्य०—ऊपर 'विज्ञानपरिणामेऽसौ' में 'परिणाम' शब्द द्वारा यह स्पष्ट दिखलाया गया है कि विज्ञान और विज्ञान के परिणामभूत समस्त पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। 'परिणाम' शब्द का अर्थ ही है—'कारण क्षण के निरुद्ध होने पर कारण क्षण से विलक्षण कार्य क्षण की उत्पत्ति[2]'।

माध्यमिकों के मत में तो सभी ज्ञेय (धर्म) प्रतीत्यसमुत्पन्न होते हैं; किन्तु परम्परा के अनुसार विज्ञानवादियों के मत में 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं धर्मों के

---

१. आर्य असङ्ग के ग्रन्थ और महायान सूत्रालङ्कार, विशेषतः उसका धर्मपर्येष्ट्यधिकार आदि देखें।

२. कोऽयं परिणामो नाम? अन्यथात्वम्। कारणक्षणनिरोधसमकालः कारणक्षणविलक्षणः कार्यस्यात्मलाभः परिणामः। द्र०—त्रिं० ८, पृ० ६७–६८।

१३. कथमेतद् गम्यते विना बाह्येनार्थेन विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यत इति ? बाह्यो ह्यर्थः स्वाभासविज्ञानजनकत्वेन विज्ञानस्यालम्बनप्रत्यय इष्यते, न तु[1] कारणत्वमात्रेण, समनन्तरादिप्रत्ययविशेषाप्रसङ्गात्[2]।

यह (आप) कैसे जानते हैं कि बिना बाह्य अर्थ के विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है ?

(आपके मत में) बाह्य अर्थ अपने आभासवाले विज्ञान का जनक होने के कारण विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय माना जाता है, न कि कारणमात्र होने से। क्योंकि (कारणमात्र मानने पर उसके) समनन्तरप्रत्यय आदि प्रत्ययों से भेद का अप्रसङ्ग होगा। [अर्थात् वह (आलम्बनप्रत्यय) समनन्तर आदि प्रत्ययों से भिन्न न हो सकेगा।]

लिये होता है, जो हेतु या कारण से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विज्ञान के सभी परिणाम द्रव्यतः सत् हैं। विज्ञानवादियों के मत में विज्ञान भी अन्य विज्ञानों का परिणाम होता है[3]।

बाह्यार्थवादी—

१३. कथमेतद् गम्यते०—विना बाह्यार्थ के अर्थाभासी विज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है ? बाह्यार्थवादियों को सबसे ज्यादा परेशानी इस बात से होती है कि यदि बाह्य अर्थ का अस्तित्व न माना जायगा, तो चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों की उत्पत्ति कैसे सम्भव होगी। अर्थात् उनकी उत्पत्ति कथमपि न हो सकेगी। क्योंकि उन लोगों के मत में चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान तीन या चार प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ, जो इन्द्रियविज्ञानों की असाधारण हेतु होती हैं, वे तत्तद् विज्ञानों की 'अधिपति-प्रत्यय' हैं। रूप आदि बाह्य अर्थ, जो बाहर से चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों को विषयाकार प्रदान करते हैं, वे 'आलम्बन-प्रत्यय' हैं। विज्ञानों से समनन्तर (अव्यवहित)-पूर्व स्थित ज्ञान, जो उन विज्ञानों की निरन्तर प्रवृत्ति में विशेष सहायता प्रदान करते हैं, वे 'समनन्तर-प्रत्यय' कहलाते हैं। ये तीनों प्रत्यय सामान्यरूप से 'कारण-प्रत्यय' कहलाते हैं; क्योंकि इनसे विज्ञानों की उत्पत्ति होती है।

बाह्यार्थवादियों के मत में उपर्युक्त प्रत्ययों में से आलम्बन-प्रत्यय का बाह्यार्थ होना परमावश्यक है। इसीलिये वे उपर्युक्त प्रश्न उपस्थापित करते हैं।

---

१. 'तु' नास्ति—अ०।

२. °प्रत्ययादिविशेषाप्रसङ्गात—अ०।

३. द्रष्टव्य—

"अन्योन्याधिपतित्वेन विज्ञप्तिनियमो मिथः।"—विंशिका, कारिका १८ और उसकी व्याख्या, पृष्ठ ६५।

१४. संचितालम्बनाश्च पञ्चविज्ञानकायास्तदाकारत्वात्। न च संचितम् अवयवसंहतिमात्राद् अन्यद् विद्यते; तदवयवान् अपोह्य संचिताकारविज्ञानाभावात्। तस्माद् विनैव बाह्येनार्थेन विज्ञानं संचिताकारमुत्पद्यते।

(आप बाह्यार्थवादियों के मत में) पाँच विज्ञानकाय (चक्षुर्विज्ञान से लेकर कायविज्ञान तक) संचितालम्बन माने जाते हैं, क्योंकि वे संचिताकार (स्थूलाकारवाले) होते हैं। किन्तु 'संचित' अवयवसंघात से भिन्न (कोई वस्तुसत् धर्म) नहीं है; क्योंकि उसके अवयवों को हटा देने पर संचिताकार विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये बाह्य अर्थ के विना ही संचिताकार विज्ञान उत्पन्न होता है।

सिद्धान्तपक्ष—

बाह्यो ह्यर्थः स्वाभासजनकत्वेन०—विज्ञानवादी बाह्यार्थवादियों से कहते हैं कि जिस समय आप लोग बाह्य अर्थ से अर्थाभासी विज्ञान का उत्पाद मानते हैं, उसी समय उसे (बाह्य अर्थ को) उस विज्ञान का आलम्बनप्रत्यय भी मानते हैं। आप ऐसा नहीं मानते कि बाह्य अर्थ कारणमात्र होने के नाते विज्ञान को अर्थाकार प्रदान करता है।

यदि आप (बाह्यार्थवादी) ऐसा कहें कि कारणत्वमात्र से विज्ञानों को अर्थाकार प्रदान हुआ करता है, तब तो समनन्तरप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय और हेतुप्रत्यय (कारणप्रत्यय) भी अर्थाकार प्रदान करनेवाले होने लगेंगे। फलतः आलम्बनप्रत्यय और अन्य प्रत्ययों में कोई विशेष (भेद) न रह सकेगा। (विज्ञानवादी कहते हैं) इसीलिये आप लोगों ने समनन्तरप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय को कारणमात्र माना है और आलम्बनप्रत्यय को एक विशिष्ट प्रत्यय माना है, जो दो धर्मों से युक्त है, यथा—१. विज्ञान को अर्थाकार प्रदान करना और २. उस विज्ञान का जनक होना।

[यहाँ तक विज्ञानवादियों द्वारा बाह्यार्थवादियों के कथन का अनुवाद किया गया।]

बाह्यार्थवादी—ठीक है। उपर्युक्त प्रकार के दो धर्मों से विशिष्ट बाह्यार्थ को हम विज्ञान का विषय (आलम्बन) मानते हैं और इसमें कोई दोष नहीं है। आपने जो बातें कही हैं, वे हमें मान्य हैं। ऐसा मानने में दोष क्या है और ऐसा कह कर आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं?

विज्ञानवादी—

१४. संचितालम्बनाश्च पञ्चविज्ञान०—आप बाह्यार्थवादियों के मत में चक्षुर्विज्ञान से लेकर कायविज्ञान पर्यन्त पाँच विज्ञान[1] संचित आलम्बनवाले माने जाते हैं। 'संचित' से तात्पर्य 'सम्पुञ्जित' से है। उसका आलम्बन करने से पाँच विज्ञान स्थूल आकारवाले कहे जाते हैं।

---

1. चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान।

बाह्यार्थवादी—चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों के संचिताकार होने से क्या दोष होता है ?

विज्ञानवादी—

न च संचितम् अवयवसंहति०—घट के ग्रीवा, उदर आदि अवयवों के समूह को 'संचित' कहते हैं। वस्तुत: उन अवयवों से भिन्न कोई 'संचित' नामक वस्तु नहीं होती; क्योंकि उन अवयवों को हटाने पर कोई संचिताकार विज्ञान उत्पन्न नहीं होता। यदि 'संचित' या 'संघात' नामक कोई द्रव्य वस्तुतः विद्यमान होता तो, अवयवों को हटा देने पर भी उस (संचित) से संचिताकार विज्ञान की उत्पत्ति होती; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये 'संचित' की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध नहीं होती।

आचार्य विनीतदेव ने इस प्रसङ्ग में कहा है कि अवयवों से व्यतिरिक्त (भिन्न) अवयवी की द्रव्यसत्ता का आचार्यों ने खण्डन किया है। इससे उनका तात्पर्य दिङ्नाग आदि आचार्यों से है[1]।

उपसंहार—

तस्माद् विनैव बाह्येनार्थेन०—यद्यपि अवयवों के समूह से भिन्न कोई 'संचित' नामक धर्म द्रव्यतः सत् नहीं होता; तथापि विज्ञान को संचिताभास तो अवश्य होता ही है। विज्ञान में जैसा आभास होता है, वैसा बाहर भी होना आवश्यक नहीं है। इसलिये बाह्यार्थ के न होने पर भी वासनाओं के परिपाकवश ऐसा विज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमें संचिताभास होता है।

बाह्यार्थवादी—यदि संचित या संघात द्रव्यसत् सिद्ध नहीं हो पाता और इसलिये वह विज्ञान का आलम्बन नहीं हो पाता है, तो भी संचित परमाणु तो विज्ञान के आलम्बन अवश्य हो ही सकते हैं ?

---

१ यदाभासा न तस्मात् सा द्रव्याभावाद् द्विचन्द्रवत्।
एवं बाह्यद्वयं चैव न युक्तं मतिगोचरः॥
साधनं संचिताकारमिच्छन्ति किल केचन।
अणवाकारो न विज्ञप्तेरर्थः कठिनतादिवत्॥
भवेद् घटशरावादेस्तथा सति समा गतिः।
आकारभेदाद् भेदश्चेत् नास्ति तु द्रव्यसत्यणौ॥

द्रष्टव्य—आचार्य-दिङ्नाग-कृत आलम्बनपरीक्षा, २-४ कारिका और उन पर उनकी स्ववृत्ति, पृ० ४-५।

१५. न च परमाणव एव संचितास्तस्यालम्बनम्, परमाणूनाम् अतदाकारत्वात्। न ह्यसञ्चितावस्थातः सञ्चितावस्थायां परमाणूनां कश्चिद् आत्मातिशयः, तस्माद् असञ्चितवत् सञ्चिता अपि परमाणवो नैवालम्बनम्।

न तो सञ्चित परमाणु ही उस (विज्ञान) के आलम्बन हैं; क्योंकि परमाणु (जैसा आकार विज्ञान में भासित होता है) उस आकारवाले नहीं होते। असञ्चित अवस्था से सञ्चित अवस्था में परमाणुओं में कोई स्वभावातिशय भी नहीं होता, इसलिये असञ्चित परमाणुओं की भाँति सञ्चित परमाणु भी आलम्बन नहीं ही होते।

विज्ञानवादी—

१५. न च परमाणव एव०—सञ्चित परमाणु भी विज्ञान के आलम्बन नहीं हो सकते; क्योंकि—

परमाणूनाम् अतदाकारत्वात्—जो स्थूलाकार विज्ञान में अवभासित होता है, वह स्थूलाकार प्रत्येक परमाणु में स्थित नहीं होता। इसलिये 'सञ्चित' के अन्तर्गत होनेवाला प्रत्येक परमाणु विज्ञान का आलम्बन नहीं हो सकता। परमाणु के पास स्थूलाकार नहीं है और विज्ञान स्थूलाकार है। जिस (परमाणु) के पास स्थूलाकार नहीं है, वह दूसरे को (विज्ञान को) स्थूलाकार कैसे प्रदान कर सकता है? जब परमाणु विज्ञान को आकार ही प्रदान नहीं कर पाता है, तो ऐसी हालत में वह विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय कैसे हो सकता है?

बाह्यार्थवादी—यद्यपि प्रत्येक परमाणु में स्थूल आकार नहीं होता; तथापि जब सब एक साथ मिलते हैं, तो उनमें स्थूल आकार आ जाता है। इस प्रकार वे विज्ञान को स्थूल आकार प्रदान कर सकते हैं।

विज्ञानवादी—

न ह्यसञ्चितावस्थातः सञ्चितावस्थायाम्०—जिस प्रकार असञ्चित अवस्था में परमाणुओं के पास स्थूल आकर नहीं होता, ठीक उसी प्रकार सञ्चित अवस्था में भी उनमें स्थूल आकार नहीं आ सकता। असञ्चित अवस्था के परमाणु और सञ्चित अवस्था के परमाणु के स्वभाव में कोई वैशिष्ट्य (भेद) नहीं है। वे जैसे पहले थे, वैसे अब भी हैं। फलतः जिस प्रकार असञ्चित परमाणु विज्ञान के आलम्बन नहीं होते, उसी प्रकार सम्पुञ्जित परमाणु भी विज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय नहीं हो सकते।

तात्पर्य यह है कि परमाणु जब अनेक परमाणुओं के साथ सम्मिलित नहीं होता; (अर्थात् एकाकी रहता है) उस अवस्था में उसमें स्थूल आकार नहीं होता और इसलिये वह जिस प्रकार स्थूलाकार विज्ञान का आलम्बन नहीं हो पाता; उसी प्रकार जब वह अनेक

१६. अन्यस्तु मन्यते—एकैकपरमाणुरन्यनिरपेक्षोऽतीन्द्रियः[1]; बहवस्तु परस्परापेक्षा[2] इन्द्रियग्राह्याः। तेषामपि सापेक्षनिरपेक्षावस्थयोरात्मातिशयाभावाद् एकान्तेनेन्द्रियग्राह्यत्वम् अतीन्द्रियत्वं वा।

दूसरे प्रकार के बाह्यार्थवादी ऐसा मानते हैं कि एक-एक परमाणु, जो अन्य परमाणु से निरपेक्ष हैं, अतीन्द्रिय होते हैं; किन्तु परस्परापेक्ष बहुत परमाणु इन्द्रियग्राह्य होते हैं। इन (बाह्यार्थवादियों) के मत में भी सापेक्ष और निरपेक्ष अवस्था के परमाणुओं के स्वभाव में भेद न होने से या तो उन (परमाणुओं) में एकान्तरूप से इन्द्रियग्राह्यत्व ही होगा, या अतीन्द्रियत्व ही होगा।

परमाणुओं से सम्मिलित होता हैं, उस समय भी स्वभावातिशय न होने से उसमें स्थूल आकार नहीं हो सकता। वह पहले की ही भाँति दिग्भागभेदरहित ही रहता है। फलतः उसमें किसी नये स्थूल आकार के न आने से वह विज्ञान का आलम्बन कथमपि नहीं हो सकता।

अपर बाह्यार्थवादी—

१६. अन्यस्तु मन्यते—एकैकपरमाणु०—ये लोग परमाणुओं के आलम्बन होने का एक दूसरा प्रकार प्रदर्शित करते हैं। इनके मतानुसार एक-एक परमाणु, जो अन्य परमाणुओं से निरपेक्ष हैं, अतीन्द्रिय होते हैं। अर्थात् इन्द्रिय के विषय नहीं होते। किन्तु जब वे (उस प्रकार के परमाणु) परस्पर सापेक्ष होते हैं, तब इन्द्रिय के विषय हो जाते हैं।

विज्ञानवादी—

तेषामपि सापेक्षनिरपेक्षावस्थ०—आप (बाह्यार्थवादियों) का यह पक्ष भी युक्तिसह नहीं है। परमाणुओं की रक्षा के लिये आपके द्वारा सापेक्ष और निरपेक्ष ये दोनों कोटियाँ खड़ी की गयी हैं; किन्तु इससे आपकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती। निरपेक्ष अवस्था के परमाणुओं के सापेक्ष होने पर भी उनके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता। निरपेक्ष अवस्था में जिस प्रकार उनमें स्थूल आकार नहीं होता, वैसे ही सापेक्ष होने पर भी उनमें स्थूलाकार नहीं हो सकता। फलतः निरपेक्ष अवस्था में जिस प्रकार वे इन्द्रियग्राह्य नहीं होते, वैसे ही सापेक्ष अवस्था में भी वे इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकते। ऐसा हो नहीं सकता कि निरपेक्ष अवस्था में वे अतीन्द्रिय रहें और सापेक्ष होने पर उनका स्वभाव बदल जाय और वे स्थूल होकर इन्द्रियग्राह्य हो जाय। यदि ऐसा होगा तो सापेक्ष अवस्था का परमाणु परमाणु न रह सकेगा। फलतः आपका यह मत कि परमाणु इन्द्रियविज्ञान को आकार प्रदान करता है—सिद्ध नहीं होता।

---

१. ० निरपेक्ष्योऽती०—अ०।
२. परस्परापेक्ष्या०—अ०।

१७. यदि च परमाणव एव परस्परापेक्षा विज्ञानस्य विषयीभवन्ति, एवं सति योऽयं घटकुडयाद्याकारभेदो विज्ञाने, स न स्यात्, परमाणूनामतदाकारत्वात्।

यदि परमाणु ही परस्पर सापेक्ष होकर विज्ञान के विषय होते हैं, तो ऐसी स्थिति में जो विज्ञान में यह घटाकार, कुड्याकार आदि का भेद (पृथक्त्व) प्रतिभासित होता है, वह न हो सकेगा; क्योंकि परमाणु घटाकार, कुड्याकार आदि नहीं होते।

आचार्य विनीतदेव ऐसी स्थिति में यहाँ यह अतिप्रसङ्ग दिखलाते कि 'परमाणु या तो सर्वथा अतीन्द्रिय होगा या सदा सर्वथा इन्द्रियग्राह्य ही रहेगा।'

दूषणान्तर—

१७. यदि च परमाणव एव०—यदि परस्पर सापेक्ष परमाणु विज्ञान के विषय होते हैं, तो घट, कुड्य (प्राचीर), शराव, स्तम्भ आदि का पृथक्-पृथक् आभास विज्ञान में न हो सकेगा। क्योंकि घटविज्ञान परमाणु के आकारवाला है और घट परमाणु के आकारवाला नहीं है। परमाणु का आकार अत्यन्त सूक्ष्म है, जब कि घट का आकार उससे सर्वथा विपरीत अत्यन्त स्थूल होता है।

एक ही वस्तु में परस्पर विपरीत सूक्ष्म और स्थूल दोनों आकारों का होना सर्वथा असम्भव है।

यद्यपि ऐसा तो होता है कि किसी स्थान विशेष में स्थूल और सूक्ष्म दोनों वस्तुयें एक ज्ञान में प्रतिभासित होती हैं। यथा—एक उद्यान में हस्ती और उसके मस्तक पर स्थित भ्रमर—दोनों एक ही चक्षुर्विज्ञान में भासित होते हैं। अर्थात् उस चक्षुर्विज्ञान में हस्ती और मधुप दोनों के आकार आते हैं। उनमें से हस्ती का आकार स्थूल और मधुप का आकार हस्ती के आकार की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। इतना होने पर भी केवल हस्ती में ही स्थूलाकार और सूक्ष्माकार दोनों होना सम्भव नहीं है। फलतः घटज्ञ विज्ञान में घट का स्थूल और सूक्ष्म दोनों आकारों में आभासित होना सम्भव नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि घटाकार विज्ञान में घट का आकार भी प्रतिभासित हो और साथ ही घटस्थित अनेक परमाणुओं का आकार भी प्रतिभासित हो। यदि ऐसा होगा तो घटस्थ परमाणुओं से भिन्न घट स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार 'सापेक्ष परमाणु इन्द्रियविज्ञानों को आकार प्रदान करते हैं'—यह मत समीचीन सिद्ध नहीं होता।

विशेष ज्ञातव्य—ऊपर कहा गया है कि सामान्यतया एक ही चक्षुर्विज्ञान में दो या अनेक वस्तुओं का एक साथ प्रतिभास हो सकता है। किन्तु इस विषय में विज्ञानवादियों के तीन प्रकार के मत प्रचलित हैं, यथा—

१. ग्राह्यग्राहकसमसंख्याक—विविध वर्णों से युक्त चित्रपट में जिस प्रकार नील, पीत आदि अनेक वर्ण पृथक्-पृथक् स्थित होते हैं, उसी प्रकार उन्हें देखनेवाले नीलज्ञ,

पीतज्ञ आदि चक्षुर्विज्ञान भी अनेक और पृथक्-पृथक् होते हैं। अर्थात् ग्राह्य चित्र में नील, पीत आदि जितने पृथक् द्रव्य होते हैं, चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान भी उतनी ही संख्या में एक साथ उत्पन्न होते हैं। इन लोगों का कहना है कि जिस प्रकार चित्र में जहाँ नील है, वहाँ पीत नहीं है और जहाँ पीत है, वहाँ नील नहीं है; उसी प्रकार जो चक्षुर्विज्ञान नीलाकार है, वह पीताकार नहीं है और जो पीताकार है, वह नीलाकार नहीं है। फलतः नील आदि द्रव्यों की संख्या में ही चक्षुर्विज्ञान होना चाहिए।

२. **अर्धाण्डाकारवादी**—जिस प्रकार एक चित्र में नील, पीत आदि अनेक द्रव्य पृथक्-पृथक् अवस्थित होते हैं, उस प्रकार चक्षुर्विज्ञान अनेक नहीं होते; अपितु चक्षुर्विज्ञान एक ही होता है। दृश्य में यद्यपि नील, पीत आदि अनेक पृथक् द्रव्य होते हैं; फिर भी उन्हें ग्रहण करनेवाला चक्षुर्विज्ञान अनेक न होकर एक ही होता है। इन लोगों का कहना हैं कि एक साथ अनेक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकते।

३. **नाना-अद्वैतवादी**—चित्रपट में यद्यपि अनेक वर्ण हैं; किन्तु वे सब वर्ण चित्रपट से पृथक् नहीं हैं। वे नानाविध वर्ण चित्रपट के अवयव ही हैं। उनसे भिन्न चित्रपट नहीं होता और चित्रपट से भिन्न नाना वर्ण नहीं होते। वस्तुतः नानाविध वर्णों का समूह ही 'चित्र' है। जिस प्रकार नाना वर्ण और चित्र अभिन्न (अद्वैत) हैं, उसी प्रकार उन वर्णों को ग्रहण करनेवाला चक्षुर्विज्ञान 'चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान' है। न तो एक-एक वर्ण को ग्रहण करनेवाला चक्षुर्विज्ञान 'चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान' है और न ही नाना वर्णों को ग्रहण करनेवाले चक्षुर्विज्ञान से भिन्न कोई चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान है। इनके मत में भी अनेक चक्षुर्विज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते; किन्तु एक चक्षुर्विज्ञान के अनेक अंश हो सकते हैं। वे सब अंश मिलकर 'चित्रज्ञ चक्षुर्विज्ञान' कहलाते हैं।

इस विषय में विज्ञानवादियों का निम्न विभाजन भी उपलब्ध होता है, यथा—सत्याकारविज्ञानवादी और मिथ्याकारविज्ञानवादी। उपर्युक्त तीनों मत सत्याकारविज्ञानवादियों के पक्ष के अन्तर्गत आते हैं।

१. **सत्याकारविज्ञानवादी**—इनका मत है कि चक्षुर्विज्ञान आदि में जब नील आदि का प्रतिभास होता है, तब उसमें जो नीलाभास अंश है, वह सत्य है तथा जो नील आदि बाह्यार्थाभास है, वह सर्वथा मिथ्या है। ज्ञातव्य है कि चक्षुर्विज्ञान आदि में अनेकविध प्रतिभास होते हैं, यथा-नील, पीत आदि आभास तथा नील, पीत आदि बाह्यार्थाभास। इनमें से नील आदि आभास अंश सत्य है; क्योंकि नील नील है और पीत पीत है तथा नील आदि बाह्यार्थाभास अंश असत्य होता है। इन लोगों का मूल विचार यह है कि चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों को बाह्यार्थाभास हुआ करता है। अतः जो अंश बाह्यार्थाभास है, उसके होने में अविद्या एवं वासना का प्रभाव होता है। इसलिये वह अंश मिथ्या होता है। उन विज्ञानों में जो नील आदि प्रतिभासित होते हैं, उनके होने में अविद्या एवं वासना का कोई प्रभाव नहीं

होता। अतः उतना अंश (नीलाभास) सत्य होता है। फलतः यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि चक्षुर्विज्ञान आदि को नील आदि दिखलाई पड़ना सत्य है तथा नील आदि बाह्यार्थ दिखलाई पड़ना मिथ्या है।

२. मिथ्याकार विज्ञानवादी—इनके मतानुसार जैसे नील बाह्यार्थाभास के होने में अविद्या एवं वासना का प्रभाव होता है, वैसे ही नीलाभास होने में भी उनका प्रभाव होता है। फलतः चक्षुर्विज्ञान में जो नीलाभास होता है वह भी मिथ्या है तथा जो नील आदि बाह्यार्थाभास होता है, वह भी मिथ्या है। इनके अनुसार नीलाभास होते समय जैसे वस्तु नील हैं, वैसे चक्षुर्विज्ञान को दिखलाई नहीं पड़ती। जब नील दिखलाई पड़ता है, तब वह नील ही बाह्यार्थ के रूप में भी दिखलाई पड़ता है, इसलिये नील बाह्यार्थाभास के अतिरिक्त कोई नीलाभास नामक सत्य अंश वहाँ विद्यमान नहीं होता। अत एव जब तक बाह्यार्थाभास है, तब तक नील स्वरूप का यथावत् ज्ञान नही हो सकता। इसलिये चक्षुर्विज्ञान आदि में वस्तु का जो भी आभास है, वह सब मिथ्या है; फिर भी नील, पीत आदि वस्तुयें मिथ्या नहीं हैं, केवल चक्षुर्विज्ञान में उन (नील, पीत आदि) के प्रतिभासित होने में मिथ्यात्व आ जाता है।

कुछ शास्त्रों में साकारविज्ञानवादी एवं निराकारविज्ञानवादी शब्दों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है; किन्तु ये सब अत्यन्त संकुचित हैं। इनसे किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिये। इनका वास्तविक अर्थ क्रमशः सत्याकारवादी और मिथ्याकारवादी ही हैं। ये शब्द प्रमाणवार्तिक आदि की टीकाओं में और अन्य शास्त्रों में स्पष्टतया उल्लिखित हैं[1]।

अनेक भारतीय पण्डितों और भोटदेशीय प्रसिद्ध पण्डितों ने आचार्य धर्मकीर्ति और दिङ्नाग को सत्याकारवादी विज्ञानवादी माना है। कुछ थोड़े से पण्डित ऐसे भी हैं, जो उन्हें मिथ्याकारवादी मानते हैं। आचार्य वसुबन्धु कैसे थे इसका शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। जो भी हो सत्याकारवादी, मिथ्याकारवादी, ग्राह्यग्राहकसमसंख्याक, अर्धाण्डाकारवादी, नानाअद्वैतवादी— इन सबके बीच जो वादविवाद, शास्त्रार्थ, प्रश्नोत्तर आदि हैं वे प्रमाणवार्तिक के तृतीय परिच्छेद में उपलब्ध हैं[2]।

---

1. एतत्सम्बन्धी विशेष ज्ञान के लिये आचार्य देवेन्द्रबुद्धिकृत प्रमाणवार्तिक की व्याख्या तथा आचार्य चोंङ्खापा, ग्यल् छब जे, खस् डुब जे, आदि तिब्बती पण्डितों की टीकायें देखें।

२. द्र०— अथैकायतनत्वेऽपि नानेकं दृश्यते सकृत्।
सकृद्ग्रहावभासः किं वियुक्तेषु तिलादिषु॥
× × ×
नेकं चित्रपतङ्गादि रूपं वा दृश्यते कथम्।
चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः॥
× × +

१८. न चान्यनिर्भासस्य विज्ञानस्य अन्याकारो विषयो युज्यतेऽतिप्रसङ्गात् ।

१९. न च परमाणवः स्तम्भादिवत् परमार्थतः सन्ति, अर्वाङ्मध्यपरभागसद्भावात् । तदनभ्युपगमे वा पूर्वदक्षिणापरोत्तरादिदिग्भेदो यः, स परमाणोर्न स्यात् । ततश्च विज्ञानवत् परमाणोरप्यमूर्तत्वमदेशस्थत्वं च प्रसज्यते[1] ।

अन्य निर्भासवाले विज्ञान का अन्य आकारवाला विषय युक्त नहीं है । (ऐसा होगा तो) अतिप्रसङ्ग होगा ।

परमाणु 'स्तम्भ' आदि के समान परमार्थतः (बाह्यार्थतः) सत् नहीं होते; क्योंकि उनके अर्वाक् (पूर्व), मध्य और पर भाग होते हैं । ऐसा न मानने पर 'यह परमाणु की पूर्व दिशा है, यह दक्षिण, यह पश्चिम और यह उत्तर आदि दिशायें हैं'—यह भेद न हो सकेगा । फलतः विज्ञान के समान परमाणु के भी अमूर्तत्व और अदेशस्थत्व का प्रसङ्ग होगा ।

इन सब आकारों एवं आभासों के विषय में विज्ञानवादी आचार्यों के बीच यद्यपि विभिन्न प्रकार के वादविवाद हैं; तथापि इस विषय में सब एकमत हैं कि एक ही वस्तु एकसाथ सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों में दिखलाई नहीं पड़ सकती । जो सूक्ष्म है, वह सूक्ष्म दिखलाई देगी और जो स्थूल है, वह स्थूल दिखलाई देगी ।

१८. पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि परमाणु ही घटाकारत्वेन विज्ञान के आलम्बन होते हैं । इसका निरास करने के लिये आचार्य कहते हैं—

न चान्यनिर्भासस्य०—परमाणुओं का आकार अत्यन्त सूक्ष्म है और घट आदि का आकार स्थूल है । ऐसी स्थिति में अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु स्थूल आकार के रूप में चक्षुर्विज्ञान के विषय कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । यदि सूक्ष्म आकार भी स्थूल आकार के रूप में प्रतिभासित होने लगेंगे, तो मच्छर आदि सूक्ष्म आकारवाले प्राणी हाथी आदि के रूप में प्रतिभासित होने लगेंगे । फलतः परमाणु कथमपि विज्ञान के आलम्बन नहीं हो सकते ।

१९. अभी तक परमाणु को मान कर उसका खण्डन किया गया । अब 'परमाणु का अस्तित्व ही नहीं है'—यह कहा जा रहा है—

वैश्वरूप्याद्धियामेव भावानां विश्वरूपता ।
तच्चेदनङ्गं केनेयं सिद्धा भेदव्यवस्थितिः ॥

द्र०—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०) १९७, २००, २०४ का० पृ० १६०–१६२ ।

प्र० वा० के प्रत्यक्षपरिच्छेद की कारिका १९७ से लेकर २२५ तक इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है, एतद्विषयक विशेष ज्ञान के लिये जिज्ञासु को उन्हीं स्थलों का अवलोकन करना चाहिये ।

1. प्रसज्यते—प्र० ।

न च परमाणवः स्तम्भादिवत्०—जिस प्रकार स्तम्भ आदि के पूर्व, अपर, मध्य आदि भाग होते हैं और इसलिये वे परमार्थतः (बाह्यार्थतः) सत् नहीं होते; अपि तु प्रज्ञप्तिसत् होते हैं, उसी प्रकार बाह्यार्थवादियों के परमाणु भी पूर्व, अपर, मध्य आदि भागों से युक्त होते हैं, अतः वे भी प्रज्ञप्तिसत् ही सिद्ध होंगे।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बाह्यार्थवादी परमाणु के पूर्व, अपर, मध्य आदि भाग नहीं मानते, अतः वे यह कह सकते हैं कि 'आपका हेतु असिद्ध है'—इस आशङ्का को दृष्टि में रख कर आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

तदनभ्युपगमे वा०--यदि परमाणु के पूर्व, अपर, मध्य आदि भाग स्वीकार न किये जायँगे, तो यह व्यवस्था न हो सकेगी कि 'यह परमाणु की पूर्व दिशा है, यह परमाणु की दक्षिण दिशा है'—इत्यादि। फलतः परमाणु की कोई भी दिशा न रहेगी। ऐसी स्थिति में वह किसी देश में स्थित नहीं रह सकेगा। जिस प्रकार चित्त-चैतसिक (ज्ञान) किसी देश में स्थित नहीं होते और न तो वे परस्पर मिलकर स्थूल रूप ही धारण कर पाते हैं, ठीक उसी प्रकार परमाणु भी किसी देश में स्थित न हो सकेंगे और न तो वे परस्पर मिलकर स्थूल रूप ही धारण कर पायँगे[1]।

तात्पर्य यह है कि बाह्यार्थवादी परमाणु को निरवयव मानते हैं और उसे रूपी (रूपस्कन्धान्तर्गत) पदार्थ मानते हैं। विज्ञानवादियों के मत में कोई भी धर्म (पदार्थ) निरवयव नहीं होता। सभी सावयव होते हैं। विशेषतः रूपी धर्म तो अवश्य पूर्व, अपर आदि दिशावाले होते हैं। अन्यथा वे (रूपी धर्म) न तो किसी देश में व्याप्त होकर स्थित रह सकेंगे और न छोटे-छोटे अवयवों के मिलने से स्थूल ही हो सकेंगे। रूप का लक्षण है—"अपने द्वारा व्याप्त देश में अन्य रूपों को आने के लिये अवकाश न देना तथा छोटे-छोटे अवयवों के मिलने पर स्थूल रूप धारण करना।" बाह्यार्थवादियों द्वारा स्वीकृत परमाणु में रूप का उपर्युक्त लक्षण नहीं घटता, इसलिये वह रूपी धर्म कथमपि नहीं हो सकता। अर्थात् रूपस्कन्ध में वह परिगणित नहीं हो सकता। साथ ही अवशिष्ट चार स्कन्धों वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों में भी उसका संग्रह नहीं किया जा सकता। फलतः ऐसे परमाणु का, जिसके दिग्भागभेद नहीं हैं, कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता।

---

१. तु०— साहित्येनापि जातास्ते स्वरूपेणैव भासिनः।
त्यजन्त्यनंशरूपत्वं न चेत् तासु दशास्वमी॥
लब्धापचयपर्यन्तं रूपं तेषां समस्ति चेत्।
कथं नाम न ते मूर्ता भवेयुर्वेदनादिवत्॥
द्र०—तत्त्व० (बहिरर्थपरीक्षा), १९६९-१९७० का०, पृ० ६७२।

२०. एवं बाह्यार्थाभावाद् विज्ञानमेवार्थाकारमुत्पद्यते स्वप्नविज्ञानवद् इत्यभ्युपेयम् ।

२१. वेदनादयोऽपि नातीतानागतास्तदाकारविज्ञानजनकाः[1], निरुद्धाजातत्वात्। न च वर्तमाना वर्तमानजनका उत्पद्यमानावस्थायामसत्त्वाद्, उत्पन्नावस्थायां

इस प्रकार बाह्यार्थ का अभाव होने से विज्ञान ही स्वप्नविज्ञान के समान अर्थ (विषय) के रूप में उत्पन्न होता है—ऐसा मानना चाहिए।

अतीत, अनागत वेदना आदि (के विषय) भी तदाकार विज्ञान के उत्पादक नहीं है; क्योंकि (उस समय वे) निरुद्ध और अजात हैं। वर्तमान (वेदनीय आदि भी) भी वर्तमान (विज्ञान) के जनक नहीं हैं; क्योंकि उत्पद्यमान अवस्था में वे असत् हैं तथा उत्पन्नावस्था में (तो)

---

२०. उपसंहार—

एवं बाह्यार्थाभावाद्०—जिनके दिग्भागभेद नहीं होते, ऐसे परमाणुओं की सत्ता का अभाव सिद्ध हो जाने से जिस प्रकार बाह्यार्थवादी बाह्यार्थ मानते हैं, उनकी सिद्धि नहीं होती। फलतः चक्षु, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों के आलम्बन बाह्य रूप, शब्द आदि नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच विज्ञानों के आलम्बन-प्रत्यय दूसरे प्रकार से स्थापित होते हैं—

आलयविज्ञान में स्थित वासना, जो चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों को रूप आदि आकार प्रदान करने में समर्थ है तथा जो रूप आदि के रूप में परिणत होकर चक्षुर्विज्ञान आदि को भासित होती है, वही चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों का आलम्बन-प्रत्यय है। जिस प्रकार स्वप्न अवस्था में, जहाँ कोई बाह्य नील, पीत आदि द्रव्य नहीं होते, स्वसान्तानिक वासना ही नाना प्रकार के रूपों में प्रतिभासित होती है और उन्हें आलम्बन बनाकर विविध विज्ञानों की उत्पत्ति होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञानवादी पक्ष में पाँच इन्द्रियविज्ञानों के आलम्बन बाह्य अर्थ कथमपि नहीं हो सकते; अपितु आन्तरिक वासना या आन्तरिक रूप आदि ही इन्द्रियविज्ञानों के आलम्बन होते हैं। क्योकि वे (वासना या आन्तरिक रूप) ही पाँच इन्द्रियविज्ञानों को विषयाकार प्रदान करते हैं तथा उन्हीं से इन्द्रियविज्ञान साक्षात् रूप से उत्पन्न होते हैं। इन दोनों विशेषों से युक्त होना ही 'आलम्बन-प्रत्यय' का लक्षण है।[2]

मनोविज्ञान के बाह्यालम्बनत्व का निषेध—

२१. वेदनादयोऽपि०—ऊपर पाँच इन्द्रियविज्ञानों के बाह्यालम्बनत्व निषेध किया

---

१. वेदनादयोऽपि न। नातीतानागताः (विषयाः) तदाकार०—इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति।

२. द्र०—"चक्षुराख्यां शक्तिमन्तःरूपं च उपादाय विज्ञानमर्थावभासि आलम्बनादविभक्तमुत्पद्यते। इदं द्वयमपि अनादिकालमन्योऽन्यहेतुकम्। कदाचिद् विज्ञानस्य शक्तिपरिपाकाद्

विज्ञानस्यापि तदाकारेणोत्पन्नत्वात् न किञ्चित् कर्त्तव्यमस्तीति मनोविज्ञानमप्यनालम्बनमेवोत्पद्यते।

विज्ञान के भी उसी आकार से उत्पन्न हो जाने से (उन वेदनीय आदि का) कुछ भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। अतः मनोविज्ञान भी अनालम्बन ही उत्पन्न होता है।

गया है। उसी के साथ ही इन्द्रियविज्ञानों से सम्प्रयुक्त वेदना आदि चैतसिकों के भी बाह्यालम्बनत्व का निरास अपने आप हो जाता है। इसलिये यहाँ 'वेदनादयः' का तात्पर्य मानसिक वेदना आदि से है। वेदना तो केवल उपलक्षणमात्र है। अतः यहाँ उससे मनोविज्ञान और उससे सम्प्रयुक्त सभी चैतसिकों का ग्रहण करना चाहिए।

जब मानसिक वेदनायें उत्पन्न होती हैं, तब उनका कोई बाह्य आलम्बन नहीं होता। जो वेदनीय (विषय) वेदना के समय निरुद्ध हो चुके हैं, वे उसके आलम्बन नहीं हो सकते। अतीत वेदनीय वेदना को विषयाकार प्रदान नहीं कर सकते; क्योंकि न तो वे स्वयं वेदना को प्रतिभासित होते हैं और न तो वे परिणत होकर ही वेदना को भासित हो सकते हैं। जो वेदनीय वेदना के समय अनागत हैं, वे भी किसी तरह वेदना के आलम्बन नहीं हो सकते; क्योंकि वे स्वतः उस समय विद्यमान नहीं हैं। अतः वे वेदना की उत्पत्ति में किञ्चित् भी सहायक नहीं हो सकते। अतीत और अनागत दोनों द्रव्यसत् नहीं होते। फलतः उनसे विज्ञान आदि की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है।

यहाँ पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि अतीत और अनागत द्रव्यसत् नहीं है, अतः उनसे विज्ञान आदि का उत्पाद नहीं हो सकता; किन्तु प्रत्युत्पन्न वेदनीय से प्रत्युत्पन्न विज्ञान आदि का उत्पाद तो हो ही सकता है। आचार्य स्थिरमति इससे भी असहमति दिखलाते हुए कहते हैं—

न च वर्तमाना वर्तमानजनकाः०—वर्तमान वेदनीय विषयों से भी विज्ञान आदि का उत्पाद सम्भव नहीं है; क्योंकि विज्ञान की उत्पद्यमान अवस्था में विज्ञान आदि होते ही नहीं है। इसलिये उस समय वेदनीय उनको आकार प्रदान नहीं कर सकते। विज्ञान की उत्पन्न अवस्था में तो वह (विज्ञान) स्वयं विषयाकार हो चुका रहता है। अतः उस अवस्था में भी उसे किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं रहती। फलतः वर्तमान बाह्य वेदनीय का कुछ भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं है।

जब कल्पना उत्पन्न होती है, तब उसके उत्पाद में बाह्यार्थ की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ घट की कल्पना स्वसन्तान में विगत अनेकों जन्मों से चली आ रही है; किन्तु कभी भी घट उस कल्पना के सम्मुख उपस्थित नहीं होता। घट का यथाभूत आकार (स्वलक्षण) उस कल्पना के सामने नहीं आता। दिमाग में बहुत प्रकार की वासनायें विद्यमान रहती हैं। उनकी वजह से तद्वत् आकार की प्रतीति

द्विषयाकारता भवति, कदाचिच्च तदाकारशक्तिः। विज्ञानं सा च उभयमन्यत्वेनानन्यत्वेन च यथेष्टमुच्यताम्। एवमन्तरालम्बनं धर्मताद्वयविशिष्टत्वाद् विषयतया उपपद्यते"—आलम्बनपरीक्षावृत्ति, पृ० ७।

होती है। भविष्य में उत्पन्न होनेवाले घट की कल्पना भी पहले से ही की जा सकती है। उसकी भी वही स्थिति है। चक्षुर्विज्ञान जब घट को देखता है, तब घट-विषयक कल्पना भी तत्काल उत्पन्न होती है; किन्तु उस समय भी वही स्थिति होती है। अर्थात् घट वषयक कल्पना के समय भी उसके सम्मुख घट उपस्थित नहीं होता और वह घट के यथाभूत आकार को नहीं देख पाती। चक्षुर्विज्ञान जिस प्रकार घट को देखता है, उसका अनुगमन करती हुई कल्पना केवल घट को जानती है। स्वप्नावस्था में विना बाह्यार्थ के अनेक मनोविज्ञानों की उत्पत्ति होती ही है। इन सबके ऊपर विचार-विमर्श करने से यह स्पष्ट होता है कि मनोविज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त चैतसिकों के आलम्बन बाह्यार्थ नहीं हैं। यह बात उतनी कठिन भी नहीं है, जितनी इन्द्रियविज्ञानों का बाह्यालम्बन न होना है। इसलिये जब-जब आचार्यों ने बाह्यार्थ पर विचार किया है, तब-तब प्रायः चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों और उनके रूप आदि विषयों को लेकर ही विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार बाह्य ग्राह्य का खण्डन किया गया है। जब बाह्य अर्थ ही नहीं होते तो उन बाह्यार्थों का ग्रहण करनेवाला कोई ग्राहक भी नहीं हो सकता। इसे ही ग्राह्य-ग्राहकाभाव कहते हैं। ऐसा नहीं है कि विज्ञानवादी आचार्य यह कहते हैं कि विश्व में कोई ज्ञान और उसका कोई विषय नहीं होता।

उपर्युक्त प्रकार के ग्राह्य और ग्राहक से राहित्य को 'धर्मनैरात्म्य' की संज्ञा प्रदान की गयी है।

जब विज्ञान को प्रतीत्यसमुत्पन्न कहा गया है, तो उसी से पुद्गलनैरात्म्य का भी स्पष्टतया निर्देश हो जाता है। जब रूप, शब्द आदि कोई बाह्य विषय नहीं हैं; अपितु सकल धर्म विज्ञान के ही परिणाम हैं। विज्ञान भी नित्य, शाश्वत नहीं है; अपितु प्रतीत्यसमुत्पन्न है। वह भी पूर्व-पूर्व विज्ञान और वासनाओं का परिणाम है। यह बात **'विज्ञानपरिणामेऽसौ'** के द्वारा प्रदर्शित की गई है। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव है कि विज्ञान से अतिरिक्त कोई पुद्गल या आत्मा नामक नित्य, शाश्वत पदार्थ है। यदि 'वह पुद्गल या आत्मा प्रतीत्यसमुत्पन्न है'—ऐसा कहें, तब तो वह अनित्य हो जायगा। फलस्वरूप आत्मवादियों का आत्मा सिद्ध न हो सकेगा। यदि वे पुद्गल या आत्मा को प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं मानेंगे, तब तो वह नित्य हो जायगा। नित्य हो जाने से वह शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और उन कर्मों के इष्टानिष्ट फलों का भोक्ता न हो सकेगा। यदि कर्ता और भोक्ता होने के लिए उसे किसी सहायक की अपेक्षा होगी, तब तो उसकी अनित्य पुद्गल से कोई विशेषता न रहेगी। इन सब बातों को आचार्य विनीतदेव ने इस स्थल पर उपसंहार के रूप में स्पष्टता से कहा है।

२२. अन्यस्त्वाह—असत्यात्मनि मुख्ये धर्मेषु चोपचारो न युज्यते। उपचारो हि त्रिषु भवति नान्यतमाभावे, मुख्यपदार्थे तत्सदृशेऽन्यस्मिन् विषये तयोश्च सादृश्ये; तद्यथा—मुख्येऽग्नौ तत्सदृशे च माणवके तयोश्च साधारणे धर्मे कपिलत्वे तीक्ष्णत्वे वा सति 'अग्निर्माणवकः' इत्युपचारः क्रियते।

दूसरे लोग कहते हैं—मुख्य आत्मा और बाह्य धर्मों के न होने पर उपचार युक्त नहीं है। तीन धर्म होने पर ही उपचार होता है, उनमें से एक का भी अभाव होने पर (उपचार) नहीं (होता), यथा—मुख्य पदार्थ, तत्सदृश अन्य विषय तथा उन दोनों में सादृश्य। उदाहरणार्थ—मुख्य अग्नि, तत्सदृश माणवक और उन दोनों में कपिलत्व, तीक्ष्णत्व साधारण धर्म होने पर ही 'यह कुमार अग्नि है'—ऐसा उपचार किया जाता है।

---

२२. अन्यस्त्वाह—असत्यात्मनि०—ऊपर 'आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते' 'विज्ञानपरिणामेऽसौ' के अवसर पर कहा गया है कि विज्ञान के परिणाम में आत्मा और बाह्य धर्मों का उपचार होता है। यहाँ पर वैयाकरण आदि पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं।

उनका कहना है—यदि मुख्य आत्मा (जैसे आत्मवादियों द्वारा कल्पित है) और बाह्य अर्थ सर्वथा असत् हैं, तो विज्ञान के परिणाम (ग्राह्यांश) में उन (आत्मा और धर्मों) का उपचार नहीं हो सकता। उपचार वहीं हो सकता है, जहाँ निम्न तीन धर्मों की उपस्थिति हो, यथा—१. मुख्य पदार्थ, २. तत्सदृश अन्य धर्म तथा ३. उन दोनों में सादृश्य। इन तीनों में से जहाँ एक का भी अभाव होता है, वहाँ उपचार नहीं हो सकता।

तद्यथा—मुख्येऽग्नौ तत्सदृशे०—उदाहरणार्थ—जब किसी ब्राह्मण कुमार में अग्नि का उपचार किया जाता है, तब वहाँ उपर्युक्त तीनों धर्मों की उपस्थिति होती है। वहाँ अग्नि मुख्य पदार्थ है, जिसका माणव (ब्राह्मण कुमार) में उपचार किया जाता है। ब्राह्मण कुमार तत्सदृश (अग्निसदृश) विषय है, जिसमें अग्नि का उपचार होता है। कपिलत्व, तीक्ष्णत्व आदि दोनों (अग्नि और माणव) में होनेवाले वे साधारण धर्म हैं, जिनकी वजह से माणव में अग्नि का उपचार हो पाता है।

ठीक इसी तरह विज्ञान के परिणाम में भी आत्मा और बाह्य धर्मों का उपचार करने के लिये उपर्युक्त तीनों धर्मों की आवश्यकता है। सर्व प्रथम मुख्य पदार्थ आत्मा और बाह्य धर्मों की उपस्थिति परमावश्यक है, जिनका विज्ञानपरिणाम में उपचार किया जा सके। दूसरा तत्सदृश विषय विज्ञानपरिणाम उपस्थित होना चाहिए, जिसमें विविध बाह्य धर्म और आत्मा का उपचार किया जा सके। उन दोनों (विज्ञानपरिणाम और आत्मा, बाह्य धर्म) में साधारण धर्म भी आवश्यक हैं, जिनकी वजह से विज्ञानपरिणाम में विविध उपचार किए जा सकें।

२३. अत्र ह्यग्निर्माणवक इति जातिर्द्रव्यं वोपचर्यते। उभयथाप्युपचाराभावः।

२४. तत्र तावन्न जातेः साधारणं[1] कपिलत्वं तीक्ष्णत्वं वा। न च साधारणधर्माभावे माणवके जातेरुपचारो युज्यतेऽतिप्रसङ्गात्।

यहाँ 'अग्निर्माणवकः' इस स्थल में (अर्थात् माणवक में अग्नि का उपचार करने में) अग्निजाति (अग्नित्व) का उपचार किया जा सकता है या अग्नि द्रव्य का उपचार किया जा सकता है। दोनों ही प्रकार से उपचार नहीं हो सकता।

वहाँ (उपचार के प्रसङ्ग में) कपिलत्व या तीक्ष्णत्व जाति (अग्नित्व) के साधारण धर्म नहीं हैं। साधारण धर्म का अभाव होने पर (भी उपचार करने पर) अतिप्रसङ्ग होने से माणवक में जाति का उपचार अयुक्त है।

ऐसी स्थिति में विज्ञानवादियों को आत्मा और बाह्य धर्मों का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा; अन्यथा उनके उपर्युक्त उपचार की व्यवस्था कथमपि न हो सकेगी।

सिद्धान्तपक्ष—

२३. सर्वप्रथम उस दृष्टान्त का, जिसे वैयाकरण आदि ने उपस्थित किया है, खण्डन करने के लिये आचार्य (स्थिरमति) कहते हैं—

अत्र ह्यग्निर्माणवक इति० —ब्राह्मण कुमार में जब अग्नि का उपचार किया जाता है, तो उस समय उसमें अग्नि की जाति 'अग्नित्व' का उपचार होता है। अथवा अग्नि द्रव्य का उपचार होता है। जाति और द्रव्य दोनों का उपचार दोषयुक्त है।

जाति के उपचार का खण्डन—

२४. तत्र तावन्न जातेः०—अग्निजाति (अग्नित्व) का उपचार माणवक में नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें साधारण धर्म का अभाव है। और आप (पूर्वपक्षी) ने उपचार के लिये साधारण धर्म का होना आवश्यक माना है। बात यह है कि कपिलत्व और तीक्ष्णत्व दोनों (माणवक और अग्नित्व) के साधारण धर्म नहीं हैं। जो कपिलत्व और तीक्ष्णत्व माणवक में हैं, वे किसी भी तरह अग्नित्व में नहीं हैं। आपके सिद्धान्त के अनुसार अग्नित्व को कपिल या तीक्ष्ण नहीं माना जाता। ये गुण (कपिलत्व और तीक्ष्णत्व) द्रव्य के होते हैं, जाति के नहीं।

न च साधारणधर्माभावे०—साधारण धर्म के न होने पर भी यदि आप जाति का उपचार मानेंगे, तब तो अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित होगा। अर्थात् तब तो सब में सब का उपचार होने लगेगा।

---

१. साधारणधर्मः—स०।

२५. अतद्धर्मत्वेऽपि जातेस्तीक्ष्णत्वकपिलत्वयोर्जात्यविनाभावित्वात् माणवके जात्युपचारो भविष्यति[1]।

२६. जात्यभावेऽपि तीक्ष्णत्वकपिलत्वयोर्माणवके दर्शनाद् अविनाभावित्वमयुक्तम्। अविनाभावित्वे चोपचाराभावोऽग्नाविव माणवकेऽपि जातिसद्भावात्। तस्मान्न माणवके जात्युपचारः सम्भवति।

यद्यपि तीक्ष्णत्व और कपिलत्व जाति के धर्म नहीं है; तथापि उनका जाति से अविनाभाव होने के कारण माणवक में जाति का उपचार हो जायगा।

जाति के बिना भी तीक्ष्णत्व और कपिलत्व का माणवक में दर्शन होने से अविनाभावित्व अयुक्त है। अविनाभाव मानने पर अग्नि के समान माणवक में भी जाति (अग्नित्व) का सद्भाव होने से उपचार का अभाव होगा। इसलिये माणवक में जाति का उपचार असम्भव है।

---

२५. पूर्वपक्ष—

अतद्धर्मत्वेऽपि जातेः०—कपिलत्व, तीक्ष्णत्व आदि यद्यपि जाति (अग्नित्व) के धर्म नहीं है; तथापि अग्नित्व के बिना तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि का होना असम्भव है। अर्थात् तीक्ष्णत्व, कपिलत्व का अग्नित्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है और यह अविनाभाव सम्बन्ध ही यहाँ उपचार का आधार है। फलतः ब्राह्मण कुमार में अग्नित्व का उपचार हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त प्रकार से तीक्ष्णत्व और कपिलत्व अग्नित्व के साधारण धर्म नहीं हैं; फिर भी उस (अग्नित्व) के साथ उनका अविनाभाव होने से माणवक में ही उसका उपचार किया जा सकता हैं, अन्य में नहीं। अर्थात् सबमें सबका उपचार नहीं किया जा सकता। इसलिये आपने हमारे ऊपर जो अतिप्रसङ्ग दिया है, वह दोष हमारे ऊपर लागू नहीं होता।

२६. सिद्धान्तपक्ष—

जात्यभावेऽपि०—ब्राह्मण कुमार में अग्नित्व नहीं होता; फिर भी उसमें तीक्ष्णत्व, कपिलत्व दिखलाई पड़ते हैं। अतः अग्नित्व के बिना भी तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि हो सकते हैं। फलतः अग्नित्व के साथ तीक्ष्णत्व, कपिलत्व का अविनाभाव सिद्ध नहीं है।

पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि माणवक में तीक्ष्णत्व, कपिलत्व का 'अग्नित्व के विना अभावित्व' है, इसलिये उपचार हो सकता है—इसे अयुक्त दिखाने के लिये आचार्य कहते हैं—

---

1. भविष्यतीति चेत्—स०।

२७. नापि द्रव्योपचारः[1] सामान्यधर्माभावात्। न हि योऽग्नेस्तीक्ष्णो गुणः

सामान्य धर्म का अभाव होने से अग्निद्रव्य का उपचार भी नहीं हो सकता। जो अग्नि

अविनाभावित्वे चोपचाराभावः०—यदि माणवक में अग्नित्व के विना न होनेवाले तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि हैं, तब तो अग्नित्व का भी माणवक में होना अवश्यम्भावी हो जायगा। ऐसी स्थिति में अग्नित्व का उपचार माणवक में कथमपि नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब माणवक में अग्नित्व स्वयं उपस्थित ही है, तब उसमें अग्नित्व के उपचार का अवसर ही कहाँ है। जिस प्रकार अग्नि में अग्नित्व होता है; इसलिये अग्नि में अग्नित्व का उपचार नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार माणवक में अग्नित्व के विद्यमान होने से माणवक में अग्नित्व का उपचार असम्भव है। उपचार वहीं होता है, जहाँ जो धर्म विद्यमान नहीं रहता।

उपसंहार—

तस्मान्न माणवके जात्युपचारः सम्भवति०—इस प्रकार उपचार के दोनों आधार युक्तियुक्त न होने से माणवक में अग्नित्व (अग्नि की जाति) का उपचार नहीं हो सकता। माणवक में अग्नित्व के उपचार का पहला आधार है—अग्नित्व में तीक्ष्णत्व, कपिलत्व का होना; क्योंकि उपचार में साधारण धर्म का होना परमावश्यक है। तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि साधारण धर्म माने गये हैं। अतः अग्नित्व और माणवक दोनों में उनका होना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वपक्ष अपने सिद्धान्त के अनुसार अग्नित्व जाति में तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों का होना स्वीकार नहीं करते। सिद्धान्तपक्ष की दृष्टि से देखा जाय तो 'अग्नित्व' नामक जाति, जो पूर्वपक्ष द्वारा स्वीकृत है, वह होती ही नहीं। फलतः उपचार का एक आधार तो अपने ही टूट जाता है।

उपचार का दूसरा आधार तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि का अग्नित्व के साथ अविनाभावित्व है, जिसे पूर्वपक्षी ने स्वीकृत किया है। इस नियम के अनुसार तो माणवक में अग्नित्व की अनिवार्यतः उपस्थिति हो गयी। फलतः माणवक में अग्नित्व के उपचार की आवश्यकता ही नहीं रह गयी, जिस प्रकार अग्नि में अग्नित्व के रहने से अग्नि में अग्नित्व के उपचार की आवश्यकता नहीं होती।

उपचार के उपर्युक्त दोनों प्रकार के आधारों के टूट जाने से माणवक में अग्नित्व का उपचार कथमपि सम्भव नहीं है।

द्रव्य के उपचार का खण्डन—

२७. नापि द्रव्योपचारः०—अग्नि-द्रव्य का उपचार भी ब्राह्मण कुमार में करना

---

१. ०पचारो युज्यते—स०।

कपिलो वा, स एव माणवके। किं तर्हि? ततोऽन्यः[1], विशेषस्य स्वाश्रयप्रतिबद्धत्वात्। न विनाऽग्निगुणेनाग्नेर्माणवके उपचारो युक्तः।

का तीक्ष्ण या कपिल गुण है, वही गुण माणवक में नहीं है। तो कौन (गुण है)? उस (अग्नि के गुण) से भिन्न है; क्योंकि विशेष अपने आश्रय से (ही सर्वदा) प्रतिबद्ध रहता है। अग्नि के गुण के विना माणवक में अग्नि का उपचार अयुक्त है।

अयुक्तिसङ्गत है; क्योंकि अग्नि-द्रव्य और ब्राह्मण कुमार के बीच कोई साधारण (सामान्य) धर्म विद्यमान नहीं है।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण तो दोनों में होते ही हैं, इसलिये सामान्य धर्म का अभाव नहीं है?

सिद्धान्त पक्ष--

न हि योऽग्नेस्तीक्ष्णो गुणः०--तीक्ष्ण और कपिल आदि गुण, जिन्हें आप अग्नि-द्रव्य और माणवक में साधारण धर्म मानते हैं, एकदम असत्य है। ऐसा हो नहीं सकता। अग्नि-द्रव्य के जो तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण हैं, वे ही माणवक के गुण नहीं हैं और किसी तरह माने भी नहीं जा सकते। तथा माणवक के जो तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण हैं, वे ही अग्नि के गुण नहीं हैं; अपितु उनसे सर्वथा भिन्न हैं। माणवक के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण, अग्नि के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों से भिन्न इसलिये हैं, चूँ कि वे माणवक के अपने विशेष हैं और विशेष अपने आश्रय (विशेष्य) से ही सर्वदा प्रतिबद्ध रहते हैं। जो जिस (विशेष्य) के विशेष होते हैं, वे उससे भिन्न किसी अन्य आश्रय में संक्रान्त नहीं होते। अग्नि इन्धन आदि का दहन करने में समर्थ है, इसलिये उसे 'तीक्ष्ण' कहते हैं। ब्राह्मण कुमार अपने कार्य में निपुण होता है, इसलिये उसे 'तीक्ष्ण' कहते हैं। इस प्रकार दोनों की तीक्ष्णता एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। उसी प्रकार अग्नि का कपिलत्व अपने ढङ्ग का है तथा ब्राह्मण कुमार का कपिलत्व अपने ढङ्ग का है। दोनों में अत्यन्त वैषम्य है।

अग्नि के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों के आधार पर माणवक में अग्नि-द्रव्य का उपचार नहीं किया जा सकता। आपके मतानुसार भी अग्निगुणों के विना अग्नि का उपचार अन्यत्र नहीं किया जा सकता; क्योंकि ब्राह्मण कुमार के जो तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण हैं, वे अग्नि के गुण कथमपि नहीं हैं। इसलिये दूसरी वस्तु के गुणों के आधार पर दूसरी वस्तु (माणवक आदि) में उपचार करना असम्भव हैं; अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित होगा। अर्थात् सबमें सबका उपचार होने लगेगा।

---

१. स ततोऽन्यः—स०।

२८. अग्निगुणसादृश्याद् युक्त इति चेत्? एवमप्यग्निगुणस्यैव तीक्ष्णस्य कपिलस्य वा माणवकगुणे तीक्ष्णे कपिले वा सादृश्याद् उपचारो युक्तः, न तु माणवकेऽग्नेः, [1]गुणसादृश्येनासम्बन्धात्[1]। तस्माद् द्रव्योपचारोऽपि नैव युज्यते।

अग्नि के गुणों से सादृश्य होने से उपचार युक्त है? (पूर्वपक्ष)। ऐसा होने पर भी अग्नि के तीक्ष्ण, कपिल गुणों का ही माणवक के तीक्ष्ण, कपिल गुणों में सादृश्य की वजह से उपचारयुक्त है, न कि माणवक में अग्नि का उपचार; क्योंकि (माणवक और अग्नि का) गुणों की सदृशता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये द्रव्य का उपचार भी युक्त नहीं है।

पूर्वपक्ष—

२८. अग्निगुणसादृश्याद् युक्त इति चेत्?—यद्यपि तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुण अपने अपने आश्रय (विशेष्य) से ही सम्बद्ध रहते हैं, इसलिये उनके आधार पर ब्राह्मण कुमार में अग्नि का उपचार नहीं हो सकता; तथापि अग्नि के गुणों और ब्राह्मण बटु (कुमार) के गुणों में एक सादृश्य अवश्य है, जिसकी वज़ह से अग्नि का उपचार ब्राह्मण बटु में किया जा सकता है। अग्नि के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों में और ब्राह्मण कुमार के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों में एक प्रकार की समता है। उसी समता के आधार पर माणवक में अग्नि-द्रव्य का उपचार हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त अतिप्रसङ्ग दोष हम पर लागू नहीं होगा।

सिद्धान्तपक्ष--

एवमप्यग्निगुणस्यैव तीक्ष्णस्य०—किसी तरह गुणों में सादृश्य हो भी जाय; तथापि वह (सादृश्य) माणवक में अग्नि के उपचार का हेतु नहीं हो सकता। माणवक के गुणों (तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि) और अग्नि के गुणों (तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि) में जो सादृश्य है, वह उन गुणों (तीक्ष्णत्व, कपिलत्वों) से ही सम्बद्ध है। माणवक और अग्नि से उस (सादृश्य) का कोई सम्बन्ध नहीं है। फलतः अग्नि के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों का माणवक के तीक्ष्णत्व, कपिलत्व आदि गुणों में ही उपचार हो सकता है। माणवक में अग्नि का उपचार कथमपि नहीं हो सकता। अग्नि-द्रव्य का गुणों की जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार उपचार के दोनों आधार, जो पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये थे, उनका निरास करके उपसंहार करते हुये आचार्य कहते हैं—

तस्माद् द्रव्योपचारोऽपि नैव युज्यते—उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर जाति (अग्नित्व) और द्रव्य—दोनों दृष्टियों से माणवक में अग्नि का उपचार नहीं किया जा सकता।

१-१. ० सादृश्यादुपचारो युज्यते, अग्नेर्गुणसादृश्येना०—स०।

२६. मुख्योऽपि पदार्थो नास्ति, तत्स्वरूपस्य सर्वज्ञानाभिधानविषयातिक्रान्तत्वात् ।

मुख्य पदार्थ भी नहीं है; क्योंकि उस (मुख्य पदार्थ) का स्वरूप सभी ज्ञान और अभिधान का विषय नहीं होता ।

---

२६. अभी तक दृष्टान्त के बारे में विचार किया गया है। अब दार्ष्टान्तिक अर्थात् बाह्यार्थोपचार के बारे में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—

तैर्थिक लोग शब्द और कल्पना को अपोहविषयक नहीं मानते; अपितु वे उन्हें वस्तुविषयक मानते हैं। अर्थात् वे यह मानते हैं कि शब्द और कल्पना वस्तु का साक्षात् ग्रहण करते हैं। साथ ही वे यह भी मानते हैं कि शब्द और कल्पना द्वारा जब किसी द्रव्य का ज्ञान होता है, तब उसके गुण, समवाय, जाति आदि का ज्ञान भी उन्हीं के द्वारा साथ ही हो जाता है। इसलिये जब किसी का उपचार किसी में किया जाता है, तब शब्द और कल्पना के उस विषय को द्रव्य अवश्य होना चाहिये। अर्थात् शब्द और कल्पनाबुद्धि का विषय वस्तु अवश्य होना चाहिए। इसीलिये वे लोग कहते हैं कि उपचार के लिये उपर्युक्त तीन चीजों की आवश्यकता होती है। इसका एकमात्र कारण शब्द और कल्पना को वस्तुविषयक मानना है। यहाँ इसका निराकरण किया जा रहा है—

मुख्योऽपि पदार्थो नास्ति०—शब्द और कल्पना का विषय मुख्य पदार्थ अर्थात् द्रव्यसत् धर्म कभी नहीं होता[1]; क्योंकि वस्तु या द्रव्य का स्वरूप समस्त शब्द एवं कल्पनाओं से अतीत होता है। अर्थात् वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार शब्द एवं कल्पना नहीं कर सकते। यदि शब्द और कल्पना वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार करते होते, तो जैसा वस्तु का स्वरूप है, ठीक वैसा ही उन्हें गृहीत करना चाहिए था। घट के स्वरूप में उस (घट) की अनित्यता, उसकी कृतकता, उसकी अर्थक्रियासमर्थता आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं, उन सबका ग्रहण उन्हें करना चाहिये था; किन्तु शब्द एवं कल्पना जब वस्तु में प्रवृत्त होते हैं, तब उन स्वरूपों को हटाकर उनमें से किसी एक स्वरूप में ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार शब्द और कल्पना की यही प्रवृत्ति है कि वे अन्य को हटाकर उनमें से किसी एक का ही ग्रहण करते हैं। उस एक का भी ठीक प्रकार से (यथावत्) ग्रहण नहीं कर पाते; अपितु उनमें (शब्द और कल्पना में) वस्तु के स्वलक्षण और सामान्य लक्षण का एक मिलाजुला प्रतिबिम्ब ही अवभासित होता है। अतएव वस्तु का स्वरूप शब्द और कल्पना से अतीत कहा गया है।

---

१. तात्पर्य यह है कि द्रव्यसत् (स्वलक्षण) धर्म शब्द और कल्पना के प्रतिभास-विषय कभी नहीं होते।

३०. प्रधाने हि गुणरूपेणैव ज्ञानाभिधाने प्रवर्त्तेते, तत्स्वरूपासंस्पर्शात्। अन्यथा च गुणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

३१. न हि ज्ञानाभिधानव्यतिरिक्तोऽन्यः पदार्थस्वरूपपरिच्छित्त्युपायोऽस्तीत्यतः प्रधानस्वरूपविषयज्ञानाभिधानाभावात् नैव मुख्यः पदार्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्। एवं

ज्ञान (कल्पनाबुद्धि) और अभिधान (वाचक शब्द) प्रधान में गुणरूप से ही प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि उन (कल्पना और अभिधान) के द्वारा प्रधान के स्वरूप का संस्पर्श नहीं होता; अन्यथा गुणोंको व्यर्थता का प्रसङ्ग होगा।

ज्ञान और अभिधान से अतिरिक्त पदार्थ के स्वरूप का परिच्छेद (बोध) करनेवाला अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः चूँकि ज्ञान और अभिधान प्रधान (मुख्यपदार्थ) के स्वरूप को विषय बनानेवाले नहीं है, इसलिये मुख्य पदार्थ ही नहीं है—ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार

---

३०. ज्ञान और अभिधान प्रधान (द्रव्य) में गुणरूप से प्रवृत्त होते हैं; क्योंकि गुणों के विना प्रधान के स्वरूप का संस्पर्श नहीं होता; अन्यथा गुण व्यर्थ होने लगेंगे।

आचार्य विनीतदेव लिखते हैं कि 'प्रधान गुणों से युक्त होने पर ही जाना जा सकता है। गुणों के विना प्रधान का स्वरूप जाना नहीं जा सकता'—यह पूर्वपक्ष है। उन्होंने आगे लिखा है—'प्रधान का तात्पर्य विशेष्य अर्थात् द्रव्य है तथा 'गुण' शब्द का तात्पर्य विशेषण है, यथा—शुक्ल आदि। इसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि कोई तैर्थिक उपर्युक्त प्रकार से माननेवाला है।

आचार्य स्थिरमति के भाष्य से यह स्पष्ट नहीं होता कि यह वाक्य पूर्वपक्ष का है या सिद्धान्तपक्ष का; फिर भी यह (वाक्य) स्वपक्ष में आसानी से जोड़ा जा सकता है, यथा—

जब किसी वस्तु में शब्द और कल्पना प्रवृत्त होते हैं, तो गुणों (विशेषणों) के विना उसमें उनकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। शब्द और कल्पना वस्तु के स्वरूप का कभी भी स्पर्श नहीं करते अर्थात् साक्षात्कार नहीं करते। वे दूसरे-दूसरे गुणों को अर्थात् दूसरे-दूसरे विशेषणों को, चाहे वे (गुण या विशेषण) उस वस्तु में हों या न हों, अपनी ओर से हठात् आरोपित करके उस (वस्तु) का ग्रहण करते हैं। शब्द और कल्पना का स्वभाव ही यही है कि वे विशेष्यविशेषण-भाव द्वारा वस्तु का ग्रहण करते हैं। विशेष्यविशेषणभाव की स्थापना शब्द और कल्पना की दृष्टि से ही होती है। वस्तुस्वरूप में विशेष्य और विशेषण पृथक् अवस्थित नहीं होते। यदि शब्द और कल्पना वस्तु के स्वरूप का साक्षात् स्पर्श करें तब तो विशेषण या गुणों की आवश्यकता ही न रहे। फलतः उन (गुणों) की स्थापना ही व्यर्थ होगी। प्रत्यक्ष के क्षेत्र में विशेष्यविशेषण-भाव नहीं रहता; क्योंकि उसके द्वारा वस्तु का साक्षात् स्पर्श होता है।

३१. पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि 'यह ठीक है कि शब्द और कल्पना वस्तु के स्वरूप में प्रवृत्त नहीं होते; तथापि वस्तु (द्रव्य) अन्य उपायों से जानी जा सकती है'—तो यह भी अयुक्त है, यथा—

यावच्छब्दे सम्बन्धाभावात् ज्ञानाभिधानाभावः। एवं चाभिधानाभिधेयाभावाद् नैव मुख्यः पदार्थोऽस्ति।

शब्द तक में सम्बन्ध न होने से ज्ञान और अभिधान का अभाव है। इस प्रकार अभिधान और अभिधेय का अभाव होने से मुख्य पदार्थ नहीं ही है।

न हि ज्ञानाभिधानव्यतिरिक्तः०—उपचार के अवसर में शब्द और कल्पना के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे बाह्य मुख्य पदार्थ का ज्ञान किया जा सके; क्योंकि प्रत्यक्षबुद्धि का तो उपचार के स्थल में कोई उपयोग होता नहीं। अर्थात् प्रत्यक्षबुद्धि उपचार में कोई भाग नहीं लेती। शब्द और कल्पना ही केवल उस समय उपचार करनेवाले होते हैं।

उपसंहार—

अतः प्रधानस्वरूपविषयज्ञानाभिधान०--ब्राह्मण कुमार में जिस समय अग्नि का उपचार किया जाता है, उस समय 'अग्निर्माणवकोऽयम्'—इस प्रकार कहने और ग्रहण करनेवाले शब्द और कल्पना अग्नि के स्वरूप का स्पर्श नहीं करते तथा उस समय अग्नि का परिच्छेद (बोध) करनेवाला अन्य कोई ज्ञान भी विद्यमान नहीं होता। फलतः 'अग्निर्माणवकोऽयम्'—इस प्रकार ग्रहण करनेवाले शब्द और कल्पना के सम्मुख 'अग्नि' नामक कोई मुख्य पदार्थ उपस्थित नहीं होता। इसी प्रकार विज्ञप्तिमात्रता में जब बाह्यार्थ का उपचार किया जाता है, उस समय भी उपचार करनेवाली बुद्धियों के सम्मुख 'बाह्यार्थ' नामक कोई मुख्य पदार्थ उपस्थित नहीं होता। फलतः उपचार के लिये मुख्य पदार्थ का होना अनावश्यक है।

पूर्वपक्ष--अग्नि-द्रव्य में यद्यपि शब्द और कल्पना साक्षात् प्रवृत्त नहीं होते—इसलिये वहाँ मुख्य पदार्थ नहीं होता; तथापि अग्नि की जाति (अग्नित्व) में शब्द और कल्पना प्रवृत्त हो ही सकते हैं। इसलिये वहाँ अग्नित्व ही मुख्य पदार्थ है?

यह भी अयुक्त है; क्योंकि अग्नित्व नामक कोई वस्तुसत् धर्म विद्यमान ही नहीं होता। वह (अग्नित्व) केवल शब्द और कल्पना द्वारा कल्पितमात्र है। यदि अग्नित्व नामक कोई वस्तुसत् धर्म हो भी जाय; तथापि उसमें शब्द और कल्पना प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे। क्योंकि हमने ऊपर कहा है कि शब्द और कल्पना किसी भी धर्मके स्वरूप का यथावत् ग्रहण करने में असमर्थ हैं। फलतः अग्नि की जाति 'अग्नित्व' भी मुख्य पदार्थ नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष—यदि अग्नि-द्रव्य और अग्नि की जाति 'अग्नित्व' दोनों में शब्द और कल्पना साक्षात् प्रवृत्त नहीं होते; फिर भी शब्द में शब्द और कल्पना में कल्पना तो साक्षात् प्रवृत्त हो ही सकते हैं। अतः उपचार करते समय शब्द और कल्पना ही मुख्य पदार्थ हैं?

यह भी अयुक्त है, यथा—

एवं यावच्छब्दे सम्बन्धाभावात्०--जिस प्रकार द्रव्य और जाति में शब्द और कल्पना साक्षात् प्रवृत्त नहीं होते, उसी प्रकार शब्द में शब्द भी साक्षात् प्रवृत्त नहीं हो सकता;

३२. अपि च सर्वं एवायं गौण एव न मुख्योऽस्ति। गौणो हि नाम यो यत्राविद्यमानेन रूपेण प्रवर्तते। सर्वश्च शब्दः प्रधानेऽविद्यमानेनैव गुणरूपेण प्रवर्तते, अतो मुख्यो नास्त्येव। तत्र यदुक्तम्—"असत्यात्मनि मुख्ये धर्मेषु चोपचारो न युक्तः"[1] इति तदयुक्तम्।

और भी, यह सभी (वस्तुव्यवहार) गौण ही है, मुख्य नहीं। गौण उसे कहते हैं, जो जहाँ अविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है। सम्पूर्ण शब्द प्रधान में अविद्यमान गुणरूप से ही प्रवृत्त होते हैं, अतः मुख्य नहीं ही है। इसलिये जो वहाँ यह कहा गया कि—'मुख्य आत्मा और धर्मों के न होने पर उपचार युक्त नहीं है'—यह अयुक्त है।

क्योंकि शब्द का शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध के लिए भिन्न होना जरूरी है और शब्द, शब्द से भिन्न नहीं है। अन्य सिद्धान्तों में भी यह बात प्रसिद्ध है कि जहाँ सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ अभिधान भी प्रवृत्त नहीं होता। शब्द में जब शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती, तो वहाँ कल्पना की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।

वैयाकरण समस्त ज्ञान को सविकल्पक मानते हैं। उनके मत में कोई भी ज्ञान विना अभिधान (शब्द) के किसी भी विषय में प्रवृत्त नहीं होता। इसलिये जाति, गुण, कर्म आदि जो भी गृहीत होते हैं, वे सब शब्द की विना अपेक्षा के गृहीत नहीं होते। अर्थात् शब्दसापेक्ष होकर ही गृहीत होते हैं।

इस पक्ष को देखकर यहाँ शब्द और कल्पना को अन्यापोहविषयक सिद्ध किया गया है और दिखलाया गया है कि शब्द और कल्पना वस्तु के स्वरूप का स्पर्श नहीं करते। फलतः 'अग्निर्माणवकोऽयम्' 'इदं रूपं बाह्यार्थः' इत्यादि उपचार के स्थलों में मुख्य पदार्थ नहीं होता।

उपसंहार--

एवं चाभिधानाभिधेयाभावात्०--उपर्युक्त प्रकार से देखा गया है कि शब्द (अभिधान) और कल्पना वस्तु के स्वरूप का किसी भी तरह संस्पर्श नहीं करते। फलतः शब्द का अभिधेय और कल्पना का अध्यवसेय वस्तुसत् नहीं होते। निष्कर्ष यह हुआ कि मुख्य पदार्थ का अस्तित्व नहीं है।

३२. मुख्य पदार्थ का खण्डन करके वैयाकरण आदि को समस्त वस्तुयें उपचरित दिखलाने के लिये आचार्य कहते हैं—

अपि च सर्व एवायम्०—वैयाकरण के मत में समस्त ज्ञान सविकल्पक होता है। इसलिये उनके यहाँ समस्त विषय या वस्तु शब्दसापेक्ष हैं। हमने युक्तिपूर्वक यहाँ सिद्ध किया हैं कि समस्त कल्पना और अभिधान वस्तु के स्वरूप का बिलकुल स्पर्श नहीं करते; अपितु वे अपनी तरफ से सब कुछ उपचार करते हैं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकलेगा कि

---

1. द्र०—त्रिं० २२ पृ० ११८।

वैयाकरण के मत में समस्त वस्तुयें उपचरित (गौण = कल्पित) सिद्ध होंगी। जैसे—उनके मत में समस्त ज्ञान सविकल्पक हैं। सविकल्पक ज्ञान वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करते; अपितु वे उन (वस्तुओं) में अविद्यमान गुणों या विशेषणों द्वारा प्रवृत्त होते हैं। शब्द और कल्पना द्वारा वस्तु में जो अपनी ओर से विशेषण जोड़े जाते हैं, वे वस्तु के स्वरूप में विद्यमान नहीं होते; फिर भी ग्रहण किये जाते हैं। जो जहाँ नहीं हैं, उनका ग्रहण किया जाना ही 'गौण' 'उपचरित' या 'कल्पित' कहलाता है।

फलतः पूर्वपक्षी का यह कहना अत्यन्त अयुक्त है कि मुख्य धर्म के न होने पर उपचार नहीं हो सकता। उन (पूर्वपक्षी) के मत में तो मुख्य पदार्थ कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ मुख्य पदार्थ का जो निराकरण किया गया है, वह सब वस्तुसत् (द्रव्यसत्) पदार्थ का कल्पना-बुद्धि के साक्षात् विषय होने का निराकरण किया गया है। वैयाकरण समस्त बुद्धि को सविकल्पक मानते हैं। नैयायिक आदि सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों प्रकार की बुद्धियाँ मानते हैं। सबके मत में सविकल्पक बुद्धि वस्तु में साक्षात् प्रवृत्त होती है। बस्तुस्वभाव ही उनके मत में शब्द और कल्पना के ग्राह्य होते हैं। किन्तु सभी बौद्धों के मत में यह सम्भव नहीं है। बौद्ध अपोहवादी हैं। वस्तु (परमार्थ) कल्पना और शब्द की साक्षात् ग्राह्य नहीं होती; क्योंकि उस (शब्द और कल्पना) में अभिन्न वस्तु में भेदों का तथा भिन्न वस्तु में अभेद का प्रतिभास होता है। पूर्व, अपर काल एवं देश का मिश्रण करके उनके द्वारा ग्रहण होता हैं। अर्थात् देश, काल, स्वभाव सभी दृष्टियों से विपरीत भास होता है। इसलिये शब्द और कल्पना (सविकल्पक)-बुद्धि वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकते। आचार्य कमलशील ने तत्त्वसंग्रह की 'शब्दार्थ परीक्षा' की पञ्जिका में उपर्युक्त विषय का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है—

"वस्त्वेव हि परमार्थतः शब्दप्रत्ययग्राह्यम्, अतः शब्दैः साक्षाद् विधिनिषेधाभ्यां वस्तुस्वभावप्रतिपादनाद् विधिरेव शब्दार्थ इति विधिशब्दार्थवादिनां दर्शनम्। अपोहवादिनां तु न परमार्थतः शब्दानां किञ्चिद् वाच्यं वस्तुस्वरूपमस्ति। सर्वं एव हि शाब्दः प्रत्ययो भ्रान्तः, भिन्नेष्वभेदाकाराध्यवसायेन प्रवृत्तेः[1]।"

यहाँ 'विधि' शब्द का तात्पर्य भाव पदार्थ से है। विधि, साधन, वस्तु—ये सब पर्यायवाची हैं। तैर्थिक लोग (नैयायिक आदि) वस्तु को शब्द एवं कल्पना का साक्षात् विषय मानते हैं, इसलिये वे 'विधिशब्दार्थवादी' हैं।

---

१. द्र०—तत्त्व० पञ्जिका (शब्दार्थपरीक्षा) पृ० ३३८।

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी प्रमाणवार्तिक में शब्द और कल्पना की प्रवृत्ति और उनके विषय का स्वरूप बहुत विस्तार और स्पष्टता के साथ कहा है—

शब्दाः संकेतितं प्राहुर्व्यवहाराय स स्मृतः।
तदा स्वलक्षणं नास्ति संकेतस्तेन तत्र न[1] ॥ ९२

× × ×

अपि च—

अर्थानां यच्च सामान्यमन्यव्यावृत्तिलक्षणम्।
यन्निष्ठास्त इमे शब्दा न रूपं तस्य किञ्चन[2] ॥ ३०

× × ×

अत एव समस्त कल्पना-बुद्धि यद्यपि एकान्तरूप से भ्रान्त बुद्धि है; तथापि उससे अर्थ की प्राप्ति होती है। यह (कल्पना) केवल विसंवादक ही नहीं है; अपितु अविसंवादक भी होती है। दीपक के प्रकाश को मणि समझनेवाली बुद्धि विसंवादक होती है। वह केवल विसंवादक ही नहीं; अपितु मिथ्याज्ञान भी होती है। किन्तु 'अयं घटः' 'अयं पटः' जाननेवाली कल्पना-बुद्धि यद्यपि भ्रान्त तो होती है; फिर भी वह मिथ्याज्ञान नहीं है, साथ ही वह अविसंवादक भी होती है। यद्यपि इसका साक्षात् विषय वस्तुस्वरूप नहीं होता; तथापि परम्परा से यह (कल्पना-बुद्धि) वस्तु से सम्बद्ध होती है। इसलिये इससे अर्थ की प्राप्ति होती है। आचार्य कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में कहा है—

"यत्र तु पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्धः, तत्रार्थाविसंवादो भ्रान्तत्वेऽपीति दर्शनम्[3] ।,,

दो मिथ्याज्ञानों में मिथ्याज्ञान होने की दृष्टि से समानता होने पर भी जब वस्तुप्रापकत्व और वस्तु अप्रापकत्व की दृष्टि से भेद हो सकता है, तो दो भ्रान्त ज्ञानों के वस्तुप्रापक होने और वस्तु-अप्रापक होने में तो सन्देह ही क्या है। अर्थात् ज्ञान का भ्रान्त होना वस्तु की प्राप्ति में बाधक नहीं है। ज्ञान का मिथ्या होना भी जब वस्तु की प्राप्ति में बाधक नहीं है, तब भ्रान्त ज्ञान के विषय में तो कहना ही क्या है।

उदाहरणार्थ दीपक के प्रकाश को मणि समझकर पुद्गल जब मणि के अन्वेषण में प्रवृत्त होता है, तो उसे मणि की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि दीपक के प्रकाश को मणि ग्रहण करनेवाली बुद्धि परम्परा से मणि से सम्बद्ध नहीं है। वह केवल मिथ्याज्ञानमात्र है, वस्तु से असम्बद्ध है। अत एव आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है—

---

१. प्र० वा० (स्वार्थानुमान परिच्छेद), का० ९२ पृ० २८८।
२. प्र० वा० (प्रत्यक्षपरिच्छेद) का० ३० पृ० ११०।
३. तत्त्व० पञ्जिका (शब्दार्थपरीक्षा) पृ० ३३८।

वस्तुलाभाश्रयो यत्र यथोक्तानुमितौ यथा।
नान्यत्र भ्रान्तिसाम्येऽपि दीपतेजो मणौ यथा[1]॥

किन्तु मणि के प्रकाश को मणि समझकर जब कोई पुद्गल मणि के अन्वेषण में प्रवृत्त होता है, तो उसे मणि की प्राप्ति हो सकती है। यद्यपि वह ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान है; क्योंकि वह प्रकाश को मणि समझता है; तथापि चूँकि वह ज्ञान परम्परा से मणि से सम्बद्ध है, इसलिये उसके मिथ्या ज्ञान होने पर भी उससे मणि की प्राप्ति होती है। इसीलिये आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति[2]॥

इस प्रकार शब्द और कल्पना का साक्षात् विषय क्या है, उनका स्वरूप क्या है, एवं उनकी प्रवृत्ति का स्वरूप क्या है?—इत्यादि विषय अत्यन्त कठिन एवं महत्त्वपूर्ण हैं। प्रमाणवार्तिक, उसकी टीकाओं, अनुटीकाओं, तत्त्वसंग्रह की शब्दार्थपरीक्षा आदि परीक्षाओं एवं उनकी पञ्जिका में इन विषयों का विस्तृत व्याख्यान किया गया है। विशेष ज्ञानार्थ इनका अवलोकन करना चाहिये। अधिक वक्तव्य का यहाँ अवसर नहीं है; फिर भी एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर संकेत कर देना यहाँ हम आवश्यक समझते हैं—

जब कभी कल्पना या किसी अन्य बुद्धि के विषय की चर्चा की जाती है, तो वहाँ यह ध्यान देना अत्यावश्यक है कि 'विषय किसे कहते है तथा वह कितने प्रकार का होता है?

विषय तीन प्रकार के होते हैं, यथा—प्रतिभासविषय, प्रवृत्तिविषय एवं अध्यवसाय-विषय। प्रतिभासविषय को साक्षाद्-विषय भी कहते हैं।

इनमें से निर्विकल्पक बुद्धियों के दो ही विषय होते हैं, यथा—प्रतिभासविषय एवं प्रवृत्तिविषय। सबिकल्पक बुद्धियों के उपर्युक्त तीनों प्रकार के विषय होते हैं।

उदाहरणार्थं—रूप (नील आदि) चक्षुर्विज्ञान (निर्विकल्पक बुद्धि) का प्रतिभास-विषय भी है और प्रवृत्तिविषय भी है। रूप की अनित्यता, कृतकता आदि भावपदार्थ उस चक्षुर्विज्ञान के प्रतिभासविषय तो होते हैं; किन्तु प्रवृत्तिविषय नहीं होते; क्योंकि उसे उनका प्रतिभासमात्र होता है, ग्रहण नहीं होता। इस बात को आचार्य धर्मकीर्ति ने—

एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्।
कोऽन्यो भागो न दृष्टः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते[3]॥

इत्यादि कारिकाओं द्वारा समझाया है।

---

१. प्र० वा० (स्वार्थानुमान परिच्छेद) का० ८१ पृ० २८५।
२. प्र० वा० (प्रत्यक्षपरिच्छेद) का० ५७ पृ० ११८-११९।
३. प्र० वा० (स्वार्थानुमान परिच्छेद) का० ४३ पृ० २७३।

३३. विज्ञानपरिणामः कतिभेद[1] इति न ज्ञायते। अतस्तत्प्रभेदोपदर्शनार्थमाह—

परिणामः स च त्रिधा ॥१॥

यत्रात्माद्युपचारो[2] धर्मोपचारश्च। स पुनर्हेतुभावेन फलभावेन च भिद्यते[3]।

यह नहीं मालूम कि विज्ञानपरिणाम कितने प्रकार का है? इसलिये उसके प्रभेद दिखलाने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) ने कहा—

वह परिणाम तीन प्रकार का है, जिसमें आत्मा आदि का उपचार और (बाह्य) धर्मों का उपचार होता है। वह (परिणाम) हेतुभाव और फलभाव से पुन: दो प्रकार से भी विभक्त होता है।

चक्षुर्विज्ञान आदि निर्विकल्पक बुद्धियों का अध्यवसायविषय नहीं होता; क्योंकि ये बुद्धियाँ किसी भी विषय का अध्यवसाय नहीं करतीं।

रूप आदि वस्तुयें कल्पनाबुद्धि की प्रवृत्तिविषय एवं अध्यवसायविषय दोनों होती हैं; किन्तु वे (रूप आदि वस्तुयें) उसकी प्रतिभासविषय नहीं होती; क्योंकि वे उस बुद्धि के प्रतिभासक्षेत्र में नहीं आतीं। कल्पना-बुद्धि के प्रतिभास क्षेत्र में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ होती हैं। इसलिये उसके प्रतिभासविषय ऐसे धर्म होते हैं, जो वस्तुस्वभाव में विद्यमान नहीं होते। फलतः कल्पना-बुद्धि एकान्तरूप से भ्रान्त्यात्मक होती है। वह वस्तु के (यथार्थ) स्वभाव का कथमपि साक्षात्कार नहीं कर सकती।

जिस ज्ञान के प्रतिभास में भ्रान्ति होती है, वह ज्ञान 'भ्रान्तबुद्धि' कहलाता है तथा जिस ज्ञान के प्रवृत्तिविषय में भ्रान्ति होती है, वह 'मिथ्याबुद्धि' या 'विसंवादक-बुद्धि' कहलाता है। कल्पनाबुद्धि की जो स्थिति है, वही अभिधान (शब्द) की भी स्थिति होती है।

३३. 'आत्मधर्मोपचारो हि' की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'उपचार' के बारे में अनेक अवान्तर बातें कही गयीं। अब पुन: मूल विषय के प्रतिपादन का उपक्रम किया जा रहा है—

'विज्ञानपरिणामेऽसौ' के अवसर पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि जिस विज्ञानपरिणाम में समस्त जगत् उपचरित है, वह विज्ञानपरिणाम कितने प्रकार का है? इसे दिखलाने के लिये आचार्य वसुबन्धु ने कहा—'वह विज्ञानपरिणाम तीन प्रकार का है', यथा—विपाकविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञान। इन्हीं में आत्मा और बाह्य धर्मों का उपचार हुआ करता हैं। वे तीन परिणाम भी हेतुरूप और फलरूप से दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं।

---

१. कतिप्रभेदः-- स०।

२. आत्मा उ.प०--प्र०; इति। यत्रा०--स०।

३. विद्यते—प्र०।

३४. तत्र हेतुपरिणामो याऽऽलयविज्ञाने विपाकनिष्यन्दवासनापरिपुष्टिः[1] ।

वहाँ (उन दो भागों में) जो आलयविज्ञान में विपाक और निष्यन्द वासनाओं की परिपुष्टि है, वह 'हेतुपरिणाम' है ।

---

३४. हेतुपरिणाम—

तत्र हेतुपरिणामो या०—आलयविज्ञान में अनेक प्रकार की वासनायें निवास करती रहती हैं और परिपुष्ट होती रहती हैं । उनमें से जो विपाक वासना और निष्यन्द वासनाओं की परिपुष्टि है, वह 'हेतुपरिणाम' कहलाती है । इतना ही नहीं वे वासनायें जिसमें रहती हैं, उस आश्रयभूत आलयविज्ञान को भी 'हेतुपरिणाम' कहा जाता है ।

आलयविज्ञान में वासनाओं की स्थिति के बारे में योगाचार आचार्यों में तीन प्रकार के मत पाये जाते है, यथा—

१. आलयविज्ञान में अपूर्व वासनाओं का उत्पाद होता है । अर्थात् जो वासना पहले कभी नहीं थी, वह उत्पन्न होती है ।

२. आलयविज्ञान में वासनायें सर्वदा विद्यमान रहती हैं और सांक्लेशिक धर्मों से परिपुष्ट होती रहती हैं । जब पूर्णतः परिपुष्ट हो जाती हैं, तब फल देने में समर्थ होती हैं । अर्थात् आलयविज्ञान में अपूर्व वासनाओं का उत्पाद नहीं होता; अपितु वे उसमें अनादि काल से विद्यमान रहती हैं । जब वे सांक्लेशिक धर्मों से पुष्ट होकर परिपक्व हो जाती हैं, तब फल देने लगती हैं ।

३. कुछ वासनायें पहले से ही रहती हैं । उनका परिपोष होता रहता है । परिपुष्ट हो जाने पर फल प्रदान करती हैं । कुछ वासनायें अपूर्व भी होती हैं ।

उपर्युक्त तीनों मतों में से आचार्य स्थिरमति ने मध्यम पक्ष स्वीकार किया है । आचार्य विनीतदेव ने भी उपर्युक्त तीनों मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि टीकाकार ने मध्यम मत स्थापित किया है[2] ।

---

१. ०निःष्यन्द०—अ० ।

२. आचार्य असङ्ग द्वारा प्रणीत महायानसङ्ग्रह शास्त्र की 'विवृतगूढार्थपिण्डव्याख्या' में उपर्युक्त तीनों मत प्रस्तुत करके उनकी आलोचना की गयी है । व्याख्याकार का नाम ज्ञात नहीं हो सका । तिब्बती विद्वान् उन्हें 'गूढार्थकार' नामसे जानते हैं । प्रथम पक्ष वहाँ स्वपक्ष के रूप स्वीकृत किया गया है । आचार्य विनीतदेव के अनुसार आचार्य स्थिरमति मध्यम पक्ष स्वीकार करते हैं । भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखा पा तृतीय मत पसन्द करते हैं । उपर्युक्त पक्षों की विशेष जानकारी के लिये द्र०—तिब्बती तन्जूर, पु० नं० ११३, पृ० ७४, (जापान में प्रकाशित) ।

३५. फलपरिणामः पुनर्विपाकवासनावृत्तिलाभाद् आलयविज्ञानस्य पूर्वकर्माक्षेपपरिसमाप्तौ या निकायसभागान्तरेष्वभिनिर्वृत्तिः। निष्यन्दवासनावृत्तिलाभाच्च[1] या प्रवृत्तिविज्ञानानां क्लिष्टस्य च मनस आलयविज्ञानाद् अभिनिर्वृत्तिः।

विपाक-वासना की वृत्ति के लाभ से आलयविज्ञान की जो पूर्व कर्मों के आक्षेप की परिसमाप्ति होने पर दूसरे-दूसरे निकाय सभागों (इस जन्म और अपर जन्मों की सजातीय सन्तानों) में अभिनिर्वृत्ति है तथा निष्यन्द-वासना की वृत्ति के लाभ से जो प्रवृत्ति-विज्ञानों और क्लिष्ट मन की आलयविज्ञान से अभिनिर्वृत्ति है, वह 'फलपरिणाम' है।

---

३५. फलपरिणाम—

फलपरिणामः पुनर्विपाक०—उपर्युक्त हेतुपरिणामभूत आलयविज्ञान में परिपुष्ट विपाक वासना एवं परिपुष्ट निष्यन्द वासनायें रहती हैं। ये वासनायें अथवा कर्म अगले विज्ञानों का आक्षेप करते हैं। विपाक और निष्यन्द दोनों वासनाओं द्वारा आगे होनेवाली सजातीय सन्तान की उत्पत्ति होती है। हेतुपरिणाम-अवस्था की विपाकवासना फल-अवस्था के आलयविज्ञान का आक्षेप करती है। तात्पर्य यह है कि हेतु-अवस्था का आलयविज्ञान और उसमें स्थित परिपुष्ट विपाकवासना फल-अवस्था के आलयविज्ञान का उत्पाद करते हैं। फल-अवस्था के आलयविज्ञान के उत्पाद में निष्यन्दवासना का कुछ भी हाथ नहीं होता। इसलिये फल-अवस्था का आलयविज्ञान, जो हेतु-अवस्था की परिपुष्ट विपाकवासना द्वारा आक्षिप्त है, 'प्रथम फलपरिणाम' है।

ऊपर कहा गया है कि हेतु-अवस्था के आलयविज्ञान (हेतुपरिणाम) में परिपुष्ट निष्यन्द वासनायें भी होती हैं। ये (निष्यन्द वासनायें) आगे होनेवाले क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञानों का उत्पाद करती हैं। अर्थात् हेतु-अवस्था के आलयविज्ञान में जो परिपुष्ट निष्यन्दवासना रहती है, उससे फल-अवस्था के क्लिष्ट मनोविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों की उत्पत्ति होती है। इसलिये क्लिष्ट मनोविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान 'द्वितीय फलपरिणाम' हैं। इस तरह फलपरिणाम दो प्रकार का होता है।

फल-अवस्था का आलयविज्ञान भी आगे आनेवाले आलयविज्ञानों का हेतु होता है। इस प्रकार सभी आलयविज्ञान आगे आनेवाले आलयविज्ञानों की अपेक्षा 'हेतु' तथा पूर्ववर्ती आलयविज्ञानों की अपेक्षा 'फल' होते हैं। उसमें विपाकवासना और निष्यन्दवासनायें रहती हैं। विपाकवासना आगे आनेवाले आलयविज्ञान का हेतु होती है तथा निष्यन्दवासना आलयविज्ञान से अतिरिक्त अन्य विज्ञानों का हेतु होती है। दोनों प्रकार की वासनायें, आलयविज्ञान से अतिरिक्त सभी विज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त चैतसिक सब आलयविज्ञान में ही आश्रित होते हैं।

---

१. निःष्यन्द०—अ०।

३६. तत्र प्रवृत्तिविज्ञानं कुशलाकुशलम् आलयविज्ञाने विपाकवासनां निष्यन्दवासनां[1] चाधत्ते। अव्याकृतं क्लिष्टं च मनो निष्यन्दवासनामेव[1]।

वहाँ (इस प्रसङ्ग में) कुशल और अकुशल प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान में विपाकवासना और निष्यन्दवासना को स्थापित करते हैं। अव्याकृत प्रवृत्तिविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान केवल निष्यन्दवासना को ही स्थापित करते हैं।

---

३६. वासनाओं की स्थापना—ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान में विपाकवासना और निष्यन्दवासना रहती हैं। उनके परिपुष्ट होने पर उनसे समय-समय पर फल का उत्पाद होता है। ये वासनायें भी अहेतुक तो नहीं ही होतीं। इनके स्थापक (स्थापना करनेवाले) विज्ञान अवश्य होना चाहिए। उन्हें दिखलाने के लिये टीकाकार कहते हैं—

तत्र प्रवृत्तिविज्ञानं कुशला०—विज्ञानवाद में चक्षुर्विज्ञान आदि प्रवृत्तिविज्ञानों में से प्रत्येक त्रिविध होते हैं, यथा—कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत। उनमें से कुशल और अकुशल प्रवृत्तिविज्ञानों द्वारा दो वासनाओं की स्थापना की जाती है। विपाकफल उत्पन्न करने के लिये आलयविज्ञान में विपाकवासना की स्थापना की जाती है तथा आगामी कुशल, अकुशल प्रवृत्तिविज्ञानों की उत्पत्ति के लिये आलयविज्ञान में निष्यन्दवासना की स्थापना की जाती है, जिससे इसी जन्म के या जन्मान्तर के प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होते हैं। अव्याकृत प्रवृत्तिविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा अपने जाति के (सजातीय) विज्ञानों के उत्पाद के लिये आलयविज्ञान में निष्यन्दवासना की स्थापना की जाती है, जिससे आगामी अव्याकृत प्रवृत्तिविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान उत्पन्न होते हैं। इन दोनों (अव्याकृत प्रवृत्तिविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान) के द्वारा विपाकवासना की स्थापना नहीं की जा सकती; क्योंकि ये अव्याकृत हैं तथा अव्याकृत ज्ञानों के द्वारा विपाकवासना की स्थापना अशक्य है। विपाकफल सर्वदा एकान्तरूप से कुशल, अकुशल कर्मों के ही फल होते हैं।

सारांश—परिणाम तीन प्रकार का होता है, यथा—विपाकविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञान। ये तीनों हेतुपरिणाम एवं फलपरिणाम के रूप में द्विधा विभक्त हैं। परिपुष्ट विपाकवासना और निष्यन्दवासना से युक्त आलयविज्ञान 'हेतुपरिणाम' है। इस (हेतुपरिणाम) से आगे होनेवाले आलयविज्ञान के साथ समस्त विज्ञानों का उत्पाद होता है। हेतु-अवस्था की विपाकवासना से फल-अवस्था का आलयविज्ञान उत्पन्न होता है तथा निष्यन्दवासना से अन्य विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इन सब स्थितियों का आचार्य स्थिरमति और विनीतदेव ने अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है। आर्य असंग ने महायानसंग्रह और बोधिसत्त्वभूमि आदि में आलयविज्ञान का बहुत विस्तृत एवं गम्भीर विवेचन किया

---

1. निःष्यन्द०—अ०।

३७. योऽसौ त्रिविधः परिणाम उक्तोऽसावपि न ज्ञायते। अतस्तद्भेद-प्रदर्शनार्थमाह[1]—

विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।

इति। स एष त्रिविधः परिणामः, विपाकाख्यो मननाख्यो विषयविज्ञप्त्याख्यश्च।

३८. तत्र कुशलाकुशलकर्मवासनापरिपाकवशाद् यथाक्षेपं फलाभिनिर्वृत्ति-र्विपाकः। क्लिष्टं मनो नित्यं मननात्मकत्वात् मननाख्यम्[2]। रूपादिविषयप्रत्यव-भासत्वात् चक्षुरादिविज्ञानं षट्प्रकारमपि विषयविज्ञप्तिः।

जो वह तीन प्रकार का परिणाम कहा गया है, वह भी (स्पष्ट) ज्ञात नहीं हो पा रहा है। इसलिये उस (परिणाम) का भेद प्रदर्शित करने के लिये (आचार्य वसुबन्धु ने) कहा है—

विपाक, मनन और विषयविज्ञप्ति—ये ही त्रिविध परिणाम हैं। वह यह तीन प्रकार का परिणाम इस प्रकार है—१. विपाक नामक, २. मनन नामक और विषयविज्ञप्ति नामक।

वहाँ (त्रिविध परिणामों में) कुशल और अकुशल कर्मों की वासना के परिपाक के वश से आक्षेपक के अनुसार फल की अभिनिर्वृत्ति 'विपाक' है। क्लिष्ट मन सर्वदा मननस्व-भाव होने से 'मनन' कहलाता है। रूप आदि विषय जिनमें अवभासित होते हैं, वे चक्षुर्विज्ञान आदि छहों प्रकार के विज्ञान 'विषयविज्ञप्ति' हैं।

है[3]। इनका ही अन्य विज्ञानवादी आचार्यों ने अनुसरण किया है। इसलिये ऐसा मानना अत्यन्त अयुक्त है कि विज्ञानवादी आलयविज्ञान को नित्य मानते हैं।

३७. त्रिंशिका कारिका की द्वितीय कारिका के व्याख्यान का आधार प्रस्तुत करने के लिये टीकाकार उपक्रम कर रहे हैं, यथा—

योऽसौ त्रिविधः परि०—'परिणामः स च त्रिधा' के अवसर पर यद्यपि परिणाम की संख्या का निर्देश कर दिया गया है; किन्तु उतने से उसका स्पष्ट परिज्ञान नहीं हुआ। अतः उसके स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन करने के लिये सर्वप्रथम उसके भेदों को दिखलाया जा रहा है—

विपाको मननाख्यश्च०—वह परिणाम त्रिविध है, यथा—विपाक (आलयविज्ञान), मनन (क्लिष्ट मनोविज्ञान) तथा विषयविज्ञप्ति (चक्षुर्विज्ञान आदि छह प्रवृत्तिविज्ञान)।

३८. तीनों परिणामों का मोटामोटी स्वरूप दिखलाने के लिये टीकाकार कहते हैं—

---

१. अतस्तत्प्रभेदप्रदर्श०—स०।

२. 'आख्यम्' नास्ति—स०।

३. द्रष्टव्य—तिब्बती तञ्जूर, पु० नं० ११२ (जापान में प्रकाशित)।

३९. तत्स्वरूपनिर्देशमन्तरेण न तत् प्रतीयते इत्यतो यस्य यत्स्वरूपं तद् यथाक्रमं प्रदर्शयन्नाह—

तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम् ॥२॥

इति। तत्रेति योऽयमनन्तरोक्तः त्रिविधः परिणामः। आलयाख्यमित्यालयविज्ञान-संज्ञकं यद् विज्ञानं स विपाकपरिणामः। तच्च[1] सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ।

उनके स्वरूप का निर्देश किये बिना वे (ठीक ठीक) ज्ञात नहीं होते, इसलिये जिसका जो स्वरूप है, उसे क्रमशः दिखलाने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) कहते हैं—

वहाँ 'आलय' नामक विज्ञान 'विपाक' (है और वही) सब बीजों का आश्रय है।

'जो यह अनन्तर (अव्यवहित पूर्व) त्रिविध परिणाम कहा गया है',–वह (कारिकास्थ) 'तत्र' का तात्पर्य है। 'आलयाख्य' का तात्पर्य आलयविज्ञानसंज्ञक जो विज्ञान है, उससे है, वह विपाकपरिणाम है और वही सभी सांक्लेशिक धर्मों के बीजों का आश्रय होने से 'आलय' कहा जाता है। 'आलय' 'स्थान'—ये पर्यायवाची हैं।

तत्र कुशलाकुशलकर्मवासना०—जिस विज्ञान में परिपक्व कुशल एवं अकुशल वासनायें रहती हैं, वह 'विपाक' है। उस आलयविज्ञान को आलम्बन बनाकर सर्वदा 'अहम्' की दृष्टि रखनेवाला मनोविज्ञान 'क्लिष्ट मनोविज्ञान' कहलाता है तथा रूप आदि विषयों में प्रवृत्त होनेवाले चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहलाते हैं। आलम्बन की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों परिणामों का स्थूल स्वरूप ही यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

३९. तीनों परिणामों के स्वरूप का विस्तृत निर्देश—

तत्स्वरूपनिर्देशमन्तरेण न०—विपाक आदि तीनों परिणामों के स्वरूप का जब तक विस्तृत निर्देश नहीं किया जायगा, तब तक उनका यथावद् ज्ञान नहीं हो सकता, अतः उनके स्वरूप का विस्तृत निर्देश करने के लिये आचार्य वसुबन्धु 'तत्रालयाख्यं विज्ञानम्'०—इत्यादि कहते हैं।

प्रथम परिणाम आलयविज्ञान

सौत्रान्तिक आदि दार्शनिक, जो आलयविज्ञान स्वीकार नहीं करते, उनके द्वारा आगे दिये जानेवाले (वक्ष्यमाण) दूषणों का परिहार करने की दृष्टि से तथा आलयविज्ञान के स्वरूप का सरलता से प्रतिपादन करने की दृष्टि से उसके विषय में पहले यहाँ कुछ ज्ञातव्य बातें कहना अत्यावश्यक प्रतीत होता है, यथा—

---

1. तत्र—अ०।

४०. अथ वाऽऽलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन; तद् वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः। विजानातीति विज्ञानम्। सर्वधातुगतियोनिजातिषु कुशलाकुशलकर्मविपाकत्वाद् विपाकः। सर्वधर्मबीजाश्रयत्वात् सर्वबीजकम्।

अथवा सभी धर्म इसमें कार्यरूप से आलीन होते हैं, अर्थात् उपनिबद्ध होते हैं (इसलिये यह विज्ञान 'आलय' कहलाता है)। अथवा वह (स्वयं) सभी धर्मों में कारणरूप से आलीन होता है, अर्थात् उपनिबद्ध होता है—इसलिये यह 'आलय' कहलाता है। विशेषरूप से जानता है, इसलिये इसे 'विज्ञान' कहते हैं। सभी धातु, गति, योनि और जातियों में कुशल, अकुशल कर्मों का विपाक होने से इसे 'विपाक' कहते हैं। तथा सभी (प्रकार के) धर्मों के बीजों का आश्रय होने से इसे 'सर्वबीजक' कहते हैं।

आलयविज्ञान का स्वरूप—इन्द्रिय, रूप आदि अर्थ एवं वासनायें आलयविज्ञान के आलम्बन हैं। अपने आलम्बनों को आभासित करते हुए भी वह अपरिच्छिन्नाकार होता है। अर्थात् ये सभी आलम्बन यद्यपि आलयविज्ञान में प्रतिभासित होते हैं; तथापि आलयविज्ञान उनका निश्चय नहीं कर पाता और न तो पश्चात्कालिक निश्चय ही उसकी वजह से आनीत होता है। आलयविज्ञान निश्चितरूप से अनिवृताव्याकृत होता है तथा उसके परिवार में वेदना आदि पाँच सर्वत्रग चैतसिक होते हैं, जो उससे सम्प्रयुक्त होते हैं, अन्य नहीं। उपर्युक्त सभी प्रकार के वैशिष्ट्यों से युक्त जो विज्ञान है; वही 'आलयविज्ञान' कहलाता है। इन सभी बातों का आगे यथावसर स्पष्ट वर्णन किया जायगा।[1] यहाँ ग्रन्थकार ने सबसे पहले आलयविज्ञान की केवल शाब्दिक व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शित की है, यथा—

आलयविज्ञान को 'विपाकविज्ञान' भी कहते हैं। इस प्रकार के विज्ञान को 'आलय' इसलिये कहते हैं, चूँकि वह विज्ञान रूपस्कन्ध आदि सभी सांक्लेशिक धर्मों का आधार है। सांक्लेशिक का तात्पर्य सास्रव धर्मों से है। यह 'आलय' का एक अर्थ है।

४०. 'आलय' शब्द के अर्थान्तर—

अथ वाऽऽलीयन्ते०—उपर्युक्त विज्ञान को 'आलय' इसलिये कहते हैं, चूँकि समस्त धर्म इसके फल (कार्य) हैं। अर्थात् समस्त धर्म कार्यभावेन इससे उपनिबद्ध होते हैं।

अथवा—यह आलयविज्ञान ही समस्त धर्मों का कारण (हेतु) है। अर्थात् समस्त धर्मों से यह कारणभावेन उपनिबद्ध होता है।

ज्ञातव्य—कारिका की टीका देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों उपर्युक्त तीनों व्युत्पत्तियाँ एक ही 'आलय' के लिये प्रयुक्त हुई हैं। ऐसा प्रतीत इसलिये होता है, चूँकि

---

१. द्र०—त्रिंशिका प्रकरण ४२ पृ० १४० और उससे आगे।

टीकाकार ने अत्यल्प शब्दों में स्वरूप का निर्देश किया है। वस्तुतः उन (व्युत्पत्तियों) का अभिप्राय ऐसा नहीं है।

आलयविज्ञान स्वयं विपाक है और उसमें वासना या बीज रहते हैं। ऐसी स्थिति में उस (आलयविज्ञान) के दो अंश हो जाते हैं। एक विपाकांश और दूसरा बीजांश। दोनों अंशों को अलग अलग करके व्याख्या करनी चाहिये। इस तरह 'आलय' की तीन व्याख्या हो जाती है। एक सामान्यतः (अर्थात् मिली-जुली, जिसमें अंशो को अलग नहीं किया जाता), दूसरी विपाकांश की तथा तीसरी बीजांश की।

क. आलय की सामान्य व्याख्या—जो समस्त धर्मों का आश्रय है, वह 'आलय' है। इसे 'तच्च सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ'—इस वचन द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

ख. बीजांश की व्याख्या—चक्षुर्विज्ञान से लेकर क्लिष्ट मनोविज्ञान पर्यन्त सात विज्ञान, तथा क्लेश और कर्मों से उत्पन्न समस्त सांसारिक धर्म, जिससे कार्यभावेन उपनिबद्ध होते हैं, वह 'आलय' (बीजांश) है। इसे 'अथ वाऽऽलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन' इस वचन द्वारा दिखलाया गया है।

अथवा—जो समस्त सांसारिक धर्मों से कारणभावेन उपनिबद्ध होता है, वह 'आलय' (बीजांश) है। इसे 'तद् वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः'—इस वचन द्वारा दिखलाया गया है।

ग. विपाकांश की व्याख्या—विपाकांश को 'आलय' इसलिये कहते हैं, चूंकि समस्त जीव इस (आलय) में क्लिष्ट मनोविज्ञान के द्वारा आत्मभावेन आसक्त होते हैं। अर्थात् समस्त जीव क्लिष्ट मनोविज्ञान के द्वारा इस विपाक का आत्मा के रूप में ग्रहण करते हैं। यह बात यहाँ (आलय की व्याख्या के प्रसङ्ग में) साक्षात् निर्दिष्ट नहीं की गयी है; किन्तु उपर्युक्त व्युत्पत्तियों तथा आगे कहे जानेवाले (वक्ष्यमाण) क्लिष्ट मनोविज्ञान की व्याख्या के सामर्थ्य से निर्दिष्ट होती है।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त आलयविज्ञान को तो 'आलय' कहते ही हैं, उस आलयविज्ञान में स्थित वासना या बीज भी 'आलय' कहे जाते हैं; किन्तु उन्हें (वासना या बीजों को) आलयविज्ञान नहीं कहते; क्योंकि वे ज्ञान नहीं हैं।

विज्ञान का अर्थ—

विजानातीति विज्ञानम्—वस्तु के स्वरूप को जानने से आलय 'विज्ञान' कहा जाता है।

विपाक का अर्थ—

सर्वधातुगतियोनिजातिषु०—समस्त धातु, गति, योनि तथा जातियों में पूर्वकृत कुशल, अकुशल कर्मों द्वारा यही विज्ञान परिपक्व हुआ करता है। अर्थात् कुशल, अकुशल कर्मों द्वारा सभी जीवों में आलयविज्ञान उद्भूत होता है, इसलिये यह 'विपाकविज्ञान' कहलाता है। कुशल, अकुशल कर्म प्रक्षेपक होते हैं तथा आलयविज्ञान प्रक्षिप्त (प्रक्षेप्य) होता है।

धातु त्रिविध हैं, यथा—कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु।

गति पाँच या छह होती हैं, यथा—देव, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं नारक। असुर को छोड़ कर गतियाँ पाँच भी मानी जाती हैं। असुर का एकदेश देवों में तथा एकदेश प्रेतों में संगृहीत होता है, इसलिये कभी-कभी उसकी पृथक् गणना नहीं की जाती।

योनि चार हैं, यथा—जरायुज, अण्डज, संस्वेदज और उपपादुक।

जातियाँ चार हैं, यथा—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र।

सर्वबीजक का अर्थ—

सर्वधर्मबीजाश्रयत्वात् ०—उपर्युक्त आलयविज्ञान 'सर्वबीजक' इसलिये कहा जाता है, चूँकि समस्त धर्मों की वासना या बीज उसमें आधृत होते हैं। आलयविज्ञान में यद्यपि अनेक प्रकार की वासनायें होतीं हैं; किन्तु उन सबका निम्न तीन भागोंमें विभाग किया जा सकता है, यथा—

१. विपाकवासना—यह कुशल, अकुशल चित्तों (विज्ञानों) द्वारा प्रक्षिप्त होती है। इसका परिपाक होने पर अगले आलयविज्ञान का उत्पाद होता है। विपाकवासना का मतलब यह नहीं है कि जो विपाक भी है और वासना भी; अपितु आगामी विपाक (आलयविज्ञान) को निष्पन्न करनेवाली वासना 'विपाकवासना' है।

२. निष्यन्दवासना—यह चक्षुर्विज्ञान आदि सप्त (७) विज्ञानों द्वारा प्रक्षिप्त होती है। इसका परिपाक होने पर आगामी सजातीय सप्त विज्ञानों का उत्पाद होता है। साथ ही रूप आदि धर्मों का भी प्रादुर्भाव होता है। इस वासना के प्रक्षेपक विज्ञानों में कुशल, अकुशल और अव्याकृत तीनों प्रकार के चित्त होते हैं। आलयविज्ञान कभी भी वासनाओं का प्रक्षेपक नहीं होता। वह केवल वासनाओं का आधार ही होता है।

३. अनास्रव बीज—ये किसी प्रक्षेपक द्वारा प्रक्षिप्त नहीं होते; अपितु अनादिकाल से सभी जीवों में विद्यमान रहते हैं। श्रुतमयी वासना द्वारा परिपक्व होने पर शक्तिशाली हो जाते हैं और मुक्तिमार्ग के आधार बन जाते हैं। विज्ञानवादी मत में इसे (अनास्रव बीज को) 'गोत्र' कहते। गोत्र ही तीनों यानों का आधार होता है।[1]

---

१. गोत्र के बारे में अत्यधिक वक्तव्य है, जिसका यहाँ कथन अप्रासंगिक होगा। आगे परिशिष्ट में इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया जायगा।

४१. यदि प्रवृत्तिविज्ञानव्यतिरिक्तम् आलयविज्ञानमस्ति, ततोऽस्यालम्बनम् आकारश्च[1] वक्तव्यः। न हि निरालम्बनं निराकारं वा विज्ञानं युज्यते ?

४२. नैव तत् निरालम्बनं निराकारं वेष्यते। किं तर्हि ? अपरिच्छिन्नालम्बनाकारम्। किं कारणम् ? यस्माद् आलयविज्ञानं द्विधा प्रवर्तते। अध्यात्मम् उपादानविज्ञप्तितः, बहिर्धाऽपरिच्छिन्नाकारभाजनविज्ञप्तितश्च।

यदि प्रवृत्तिविज्ञानों से अतिरिक्त आलयविज्ञान है, तो उसका आलम्बन और आकार कहना चाहिये। विज्ञान का निरालम्बन और निराकार होना तो युक्त नहीं है ?

वह (आलयविज्ञान हमारे द्वारा) निरालम्बन और निराकार नहीं ही माना जाता। तो कैसे माना जाता है ? अपरिच्छिन्न-आलम्बन और अपरिच्छिन्न-आकार माना जाता है। (ऐसा मानने में) क्या कारण है ? क्योंकि आलयविज्ञान द्विधा प्रवृत्त होता है। अध्यात्म (आलयविज्ञान) उपादानविज्ञप्ति से तथा बहिर्धा (आलयविज्ञान) अपरिच्छिन्नाकार भाजनविज्ञप्ति से (प्रवृत्त होता है)।

पूर्वपक्ष (सौत्रान्तिक)—

४१. यदि प्रवत्तिविज्ञानव्यति ०—यदि चक्षुर्विज्ञान आदि छह प्रवृत्तिविज्ञानों के अलावा अन्य विज्ञान स्वीकार किया जाता है, तो उसका आलम्बन और आकार अवश्य होना चाहिये। किन्तु कोई ऐसा आलम्बन उपलब्ध नहीं है, जो चक्षुर्विज्ञान आदि षड् विज्ञानों के आलम्बनों से भिन्न हो। अर्थात् ऐसा कोई आलम्बन नहीं है, जो षड् विज्ञानों का आलम्बन न होता हो। अतः आलयविज्ञान स्वीकार करना उचित नहीं है। यदि आलयविज्ञान स्वीकार किया जाता है, तो यह बतलाना होगा कि उसका आलम्बन क्या है ? और उसका आकार क्या है ? क्योंकि यह असम्भव है कि विज्ञान निरालम्बन और निराकार हो।

सिद्धान्तपक्ष—

४२. नैव तत् निरालम्बनम् ०—चूँकि निरालम्बन और निराकार विज्ञान सम्भव नहीं है, इसलिये हम आलयविज्ञान को निरालम्बन और निराकार नहीं मानते; अपितु हम उसे अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार मानते हैं। फलतः प्रवृत्तिविज्ञान से व्यतिरिक्त अन्य विज्ञान के होने में कोई बाधा नहीं है।

हमने पहले संक्षेप में आलयविज्ञान का लक्षण कहा है।[2] अब उसका हम यहाँ इस प्रसङ्ग में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन कर रहे हैं।

---

१. वा०—अ०।

२. द्र०—त्रिंशिका, पृ० १२७।

४३. तत्राध्यात्ममुपादानं परिकल्पितस्वभावाभिनिवेशवासना साधिष्ठानमिन्द्रियरूपं नाम च। अस्यालम्बनस्यातिसूक्ष्मत्वात्।

वहाँ (आलम्बनों में) परिकल्पित स्वभावों के अभिनिवेश की वासना, साधिष्ठान इन्द्रियरूप एवं नाम—ये अध्यात्म उपादान हैं। इस (आलयविज्ञान) के आलम्बनों के अत्यन्त सूक्ष्म होने से (यह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार है)।

पूर्वपक्ष (सौत्रान्तिक)—

किं कारणम्—ज्ञान का यह स्वभाव है कि जब वह उत्पन्न होता है, तब वह परिच्छिन्नालम्बन एवं परिच्छिन्नाकार होते हुये ही उत्पन्न होता है। अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार तो कोई ज्ञान होता ही नहीं। आप (विज्ञानवादी) आलयविज्ञान को अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार मानते हैं। ऐसी स्थिति में आपको वह युक्ति (हेतु) बतलानी होगी, जिसकी वज़ह से आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है?

सिद्धान्तपक्ष—

यस्माद् आलयविज्ञानं द्विधा०—सौत्रान्तिक ने आलयविज्ञान के अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होने का हेतु ही पूछा है; किन्तु उस हेतु को कहने से पूर्व आलयविज्ञान के आलम्बन का स्वरूप समझना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। अतः टीकाकार (स्थिरमति) पहले आलयविज्ञान के आलम्बन का परिचय देते हैं। तदनन्तर वे वह हेतु प्रदर्शित करेंगे, जिसकी वज़ह से आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है।

हमने पहले कहा है कि आलयविज्ञान के आलम्बन त्रिविध होते हैं, यथा—चक्षु आदि इन्द्रिय, २. रूप आदि अर्थ एवं ३. वासनायें।[1] वे त्रिविध आलम्बन भी दो भागों में विभक्त हैं, यथा—१. अध्यात्म उपादान एवं २. बहिर्धा (बाह्य) आलम्बन। उपर्युक्त त्रिविध आलम्बनों में से इन्द्रिय और वासना 'अध्यात्म उपादान' हैं; क्योंकि वे चित्त द्वारा गृहीत हैं तथा रूप आदि अर्थ 'बहिर्धा उपादान' हैं; क्योंकि वे चित्त द्वारा परिगृहीत नहीं होते।

आलयविज्ञान के आलम्बनों का स्वरूप-परिचय

४३. क. अध्यात्म उपादान का स्वरूप—

तत्राध्यात्ममुपादानम्०—अध्यात्म उपादान तीन प्रकार का है, यथा—

१. परिकल्पितस्वभाव अभिनिवेशवासना—आत्मा और बाह्यार्थ 'परिकल्पित स्वभाव' हैं। उन्हें सद्रूपेण ग्रहण करनेवाली बुद्धि 'परिकल्पितस्वभाव-अभिनिवेश' है। इस

---

1. द्र०—त्रिंशिका, पृ० १३७।

अभिनिवेश द्वारा प्रक्षिप्त (स्थापित) वासना 'परिकल्पितस्वभाव-अभिनिवेशवासना' कहलाती है। इसी की वजह से बाह्यार्थाभास और आत्माभास आदि हुआ करते हैं।

२. साधिष्ठान इन्द्रियरूप—अधिष्ठान का तात्पर्य 'काय' से है। कायसहित इन्द्रियाँ 'साधिष्ठान इन्द्रियरूप' हैं। चक्षुरिन्द्रिय आदि इसके पाँच भेद होते हैं।

३. नाम—इसमें रूपस्कन्ध को छोड़ कर अवशिष्ट चार स्कन्ध संगृहीत होते हैं, यथा—वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध।

ख. बहिर्धा उपादान का स्वरूप—

बहिर्धाऽपरिच्छिन्नाकारभाजनविज्ञप्तितश्च—इस वचन के द्वारा बाह्य आलम्बन का परिचय दिया गया है। समस्त भाजनलोक आलयविज्ञान का 'बहिर्धा आलम्बन' है। भाजन का तात्पर्य 'पात्र' से है। वह पात्र, जिसमें सभी जीव निवास करते हैं। इस तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसमें पाये जानेवाले तत्सम्बद्ध सभी बाह्य धर्म 'भाजनलोक' कहलाते हैं। यथा—पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्ष, घट, पट आदि सब इसमें संगृहीत होते हैं।

सभी आलयविज्ञानों के उपर्युक्त सभी आलम्बन होने चाहिये—यह अनिवार्य नहीं है। क्योंकि अरूपधातु के जीवों के आलयविज्ञान के आलम्बन रूपी धर्म कथमपि नहीं हो सकते। वहाँ केवल वासनायें ही उनके आलयविज्ञानों का आलम्बन होती हैं। इस विषय में अधिक स्पष्टता की जरूरत है; किन्तु इसका यहाँ अवसर नहीं है। अतः आगे इसके प्रसङ्ग में हम इसका विस्तार पूर्वक प्रतिपादन करेंगे तथा परिशिष्ट में भी एतद्विषयक विवेचन किया जायगा[1]।

आलयविज्ञान के आलम्बनों का स्वरूप-परिचय करा देने के बाद अब उस हेतु का प्रदर्शन किया जाता है, जिसकी वजह से आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है।

अपरिच्छिन्न आलम्बन और आकार होने का हेतु—

अस्यालम्बनस्यातिसूक्ष्मत्वात्—इस टीका की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि आलयविज्ञान के उपर्युक्त सभी आलम्बन अतिसूक्ष्म होते हैं और इसीलिये आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है। किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि आलयविज्ञान के आलम्बन स्वयं अतिसूक्ष्म (अपरिच्छिन्न) नहीं हैं; अपितु आलयविज्ञान जब इन्द्रिय आदि आलम्बनों का आलम्बन करता है, तब वह अत्यन्त सूक्ष्मरूप से आलम्बन करता है। अर्थात् अपने आलम्बनों में आलयविज्ञान की अत्यन्त सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है। फलतः 'अतिसूक्ष्म' यह आलम्बन का विशेषण न होकर आलयविज्ञान की आलम्बनीकरण

---

१. द्रष्टव्य—परिशिष्ट—१ (कारिका ७-८-९ और उसकी व्याख्या)।

४४ असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।

असंविदितक[1] उपादिर्यस्मिन्, असंविदितका च स्थानविज्ञप्तिर्यस्मिन् तद् आलयविज्ञानम् असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकम्। उपादानम् उपादिः। स पुनरात्मादिविकल्पवासना रूपादिधर्मविकल्पवासना च। तत्सद्भावाद् आलयविज्ञानेन आत्मादिविकल्पो रूपादिविकल्पश्च कार्यत्वेनोपात्त इति[2] तद्वासना आत्मादिविकल्पानां रूपादिविकल्पानां चोपादिरित्युच्यते। सोऽस्मिन् 'इदं तद्' इति प्रतिसंवेदनाकारेणासंविदित इत्यतस्तदसंविदितकोपादीत्युच्यते।

वह आलयविज्ञान असंविदितकोपादि और असंविदितस्थानविज्ञप्तिक है। जिस (आलयविज्ञान) में उपादि असंविदित है तथा जिस (आलयविज्ञान) में स्थानविज्ञप्ति असंविदित है, उस आलयविज्ञान को 'असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिक' कहते हैं। उपादान (ही) उपादि है। वह (उपादि) आत्मादिविकल्पवासना और रूपादिधर्मविकल्पवासना है। उस वासना के सद्भाव से आलयविज्ञान के द्वारा आत्मा आदि विकल्प और रूप-आदि विकल्प कार्यरूप से गृहीत (उपात्त) होते हैं, इसलिये वह वासना आत्मा आदि विकल्पों तथा रूप आदि विकल्पों की 'उपादि' कहलाती है। वह (उपादि) इस (आलयविज्ञान) में 'यह वह है'—इस प्रकार के ज्ञान के आकार से असंविदित है, इसलिये वह (आलयविज्ञान) 'असंविदितकोपादि' कहलाता है।

प्रक्रिया का विशेषण है। इसी प्रकार 'अपरिच्छिन्न' यह भी आलम्बन का विशेषण न होकर आलम्बनीकरण प्रक्रिया का ही विशेषण है।

आलयविज्ञान के त्रिविध आलम्बनों में से इन्द्रियरूप एवं भाजनलोक तो अतिसूक्ष्म हैं ही नहीं—यह अत्यन्त स्पष्ट है, वासना को यदि कोई सूक्ष्म कहे तो उसमें अवश्य किञ्चित् तथ्य है; फिर भी परम्परा के अनुसार 'सूक्ष्म' और 'अपरिच्छिन्न'—ये आलम्बन के विशेषण नहीं माने गये हैं; अपितु क्रियाविशेषण ही माने गये हैं। यह बात आचार्यों की टीकाओं के अवलोकन से सिद्ध होती है[3]।

४४. आलयविज्ञान की आलम्बनीकरण प्रक्रिया अर्थात् आलम्बन करने का प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये वह (आलयविज्ञान) 'असंविदितकोपादि' एवं 'असंविदितस्थानविज्ञप्तिक' कहलाता है।

---

१. इति। असंविदितकः—स०।

२. नास्ति—स०।

३. द्र०—आचार्य चोंखा पा का आलयविज्ञानमूल तथा स्वभाष्य, जिसे ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

४५. आश्रयोपादानं[1] चोपादिः। आश्रय आत्मभावः साधिष्ठानम् इन्द्रियरूपं नाम च। तस्य पुनर्यदुपादानम् उपगमनम् एकयोगक्षेमत्वेन तदुपादिः। तत्र कामरूपधात्वोर्द्वयोर्नामरूपयोरुपादानम्[2]। आरूप्यधातौ तु रूपवीतरागत्वाद् रूपविपाका-

आश्रय का उपादान भी 'उपादि' है। आश्रय आत्मभाव है, (वह) साधिष्ठान इन्द्रियरूप और नाम है। उसका जो एक योगक्षेमत्वेन उपादान अर्थात् उपगमन है, वह 'उपादि' है। वहाँ कामधातु और रूपधातु में नाम और रूप दोनों का उपादान होता है। आरूप्यधातु में तो रूप से वीतरागिता होने से रूपविपाक की अभिनिर्वृत्ति न होने के कारण

यहाँ क्रमशः 'उपादि' क्या है ? असंविदितत्व क्या है ? स्थान क्या है, उसकी विज्ञप्ति क्या है तथा उसमें असंविदितत्व क्या है ? इत्यादि बातें दिखलायी जा रही हैं—

उपादि—

उपादानम् उपादिः—उपर्युक्त अध्यात्म उपादान को 'उपादि' कहते हैं। आत्मा को ग्रहण करनेवाली कल्पना (आत्मदृष्टि) द्वारा आलयविज्ञान में आत्मा की वासना स्थापित की जाती है। रूप आदि धर्मों को 'ये बाह्यार्थत्वेन सत् हैं'—इस प्रकार ग्रहण करनेवाली कल्पना (धर्मात्मदृष्टि) द्वारा आलयविज्ञान में धर्मात्मवासना स्थापित की जाती है। उन वासनाओं को यहाँ 'उपादि' यह संज्ञा प्रदान की गयी है; क्योंकि आलयविज्ञान में उन वासनाओं के होने की वज़ह से आत्मकल्पना और बाह्यार्थकल्पना की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वे वासनायें आत्मकल्पना और बाह्यार्थकल्पना का आकर्षण करती हैं। इसलिये वे 'उपादि' कहलाती हैं।

असंविदितकोपादि—

सोऽस्मिन् 'इदं तद्' इति०—उपर्युक्त उपादि अर्थात् दोनों प्रकार की वासनायें यद्यपि आलयविज्ञान की आलम्बन हैं; तथापि वह उनका प्रतिसंवेदन नहीं कर पाता। अर्थात् वह (आलयविज्ञान) ऐसा निश्चय नहीं कर पाता कि 'ये वासनायें हैं', 'ये इस प्रकार की हैं'—इत्यादि। और न तो वह उनके पश्चाद्भावी निश्चय का ही आकर्षण कर पाता है।

द्वितीय उपादि—

४५. आश्रयोपादानं चोपादिः—आश्रय का उपादान द्वितीय उपादि है। आश्रय का तात्पर्य आत्मभाव से है। अर्थात् जीवित शरीर से है। इसमें अपने-अपने अधिष्ठानों के साथ इन्द्रियरूप और नाम का ग्रहण होता है। अधिष्ठान के साथ इन्द्रियरूप रूपस्कन्ध है तथा नाम का तात्पर्य रूपस्कन्ध से अतिरिक्त अवशिष्ट चार स्कन्धों से है। अर्थात् वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध,

---

१. अथवा आश्रयोपा०—स०।
२. ०द्वयोरुपादानम्—स०।

नभिनिर्वृत्तेर्नामोपादानमेव[1]। किन्तु वासनावस्थमेव तत्र रूपं न विपाकावस्थम्। तत्पुनरुपादानम् इदन्तया प्रतिसंवेदयितुमशक्यमित्यतोऽसंविदित इत्युच्यते।

केवल नाम का ही उपादान होता है। फिर भी वहाँ (आरूप्यधातु में) रूप वासनावस्थ (तो) होता ही है, विपाकावस्थ नहीं होता। वह उपादान भी 'यह वह है'—इस प्रकार (इदन्तया) जानने में अशक्य है, इसलिये 'असंविदित' कहा जाता है।

संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध 'नाम' हैं। इस प्रकार यहाँ पाँचों स्कन्ध 'आश्रय' द्वारा गृहीत होते हैं।

तस्य पुनर्यदुपादानम्०—उन पांचों स्कन्धों की सहोत्पाद और सहविनाश के रूप में (एक योगक्षेमत्वेन) जो सहप्रवृत्ति (उपगमन) है, वही 'उपादि' है। उपादान और उपगमन समानार्थक हैं। फलतः यहाँ 'उपादि' का तात्पर्य साथ-साथ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पाँच स्कन्धों की सहप्रवृत्ति है।

उत्पाद और विनाश की दृष्टि से पाँचों स्कन्धों का साथ-साथ रहना यहाँ साधारणतया कहा गया है। विशेषरूप से तो तीनों धातुओं में उनकी अलग-अलग व्यवस्था होती है।

तत्र कामरूपधात्वोर्द्वयोर्नामरूप०—कामधातु और रूपधातु में रूपस्कन्ध और नामस्कन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध) साथ-साथ प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् परस्पर (एक दूसरे की) सहायता करते हुए स्थित रहते हैं। जैसे तिपाई के तीनों पैर (पाद) स्थित रहने के लिये परस्पर (एक दूसरे की) सहायता करते हैं, उसी प्रकार कामधातु और रूपधातु में पाँचों स्कन्ध परस्पर उपकार करते हुए स्थित रहते हैं तथा उनका साथ ही उत्पाद होता है और साथ ही विनाश होता हैं।

अरूपधातु के पुद्गल चूँकि रूपराग से रहित होते हैं, इसलिये वहाँ (अरूपधातु में) रूपस्कन्ध अभिनिर्वृत्त (निष्पन्न) नहीं होता, केवल वेदना आदि चार नामस्कन्ध ही साथ-साथ उत्पन्न और नष्ट होते हुए सहप्रवृत्त होते हैं।

यद्यपि अरूपधातु में रूप नहीं होते, तथापि वहाँ रूप की कारणभूत वासना विद्यमान होती है, जो परिपक्व होने पर रूप के रूप में परिणत होती है। किन्तु उस वासना का परिपाक अरूपधातु में नहीं होता। जब वह वासना परिपाकाभिमुख होती है, तब अरूपधातुस्थ पुद्गल को नीचे की दो धातुओं में जन्मग्रहण करना होता है।

तत्पुनरुपादानम् इदन्तया०—आलयविज्ञान उस आश्रयोपादि का भी 'यह वह है', 'यह इस प्रकार है'—इत्यादि रूप से निश्चय नहीं कर पाता, इसलिये वह (आश्रयोपादि) असंविदित कही जाती है।

---

१. ०त्तेश्चतुर्नामो०—स०।

४६. स्थानविज्ञप्तिर्भाजनलोकसंनिवेशविज्ञप्तिः। साऽप्यपरिच्छिन्नालम्बनाकारप्रवृत्तत्वाद् असंविदितेत्युच्यते।

भाजनलोक के सन्निवेश (संस्थान) की विज्ञप्ति 'स्थानविज्ञप्ति' है। वह भी अपरिच्छिन्न आलम्बन और अपरिच्छिन्न आकार के रूप में प्रवृत्त होती है, इसलिये 'असंविदित' कहलाती है।

---

४६. स्थानविज्ञप्ति—

स्थानविज्ञप्तिर्भाजनलोक०—आलयविज्ञान स्थानविज्ञप्ति का असंवेदी होता है। पहले कहा गया है कि आलयविज्ञान के आलम्बनों में भाजन-लोक भी आता है। पर्वत, समुद्र, वृक्ष, नदी, घट, पट आदि समस्त भाजनलोकगत पदार्थ, जो कि विज्ञप्ति के विषय होते हैं; वे 'स्थानविज्ञप्ति' कहलाते हैं।

असंविदित स्थानविज्ञप्ति—

साऽप्यपरिच्छिन्नालम्बनाकार०—समस्त भाजनलोक यद्यपि आलयविज्ञान का आलम्बन होता है; तथापि आलयविज्ञान में उसका स्पष्ट (परिच्छिन्न) प्रतिभास नहीं होता। फलतः वह भाजन-लोक का 'यह वह है, यह इस प्रकार का है'—ऐसा निश्चय भी नहीं कर पाता। अर्थात् आलयविज्ञान को भाजनलोक का परिच्छिन्न प्रतिभास नहीं होता और (आलयविज्ञान) उस (भाजनलोक) का इदन्तया परिच्छेद नहीं कर पाता। इसलिये आलयविज्ञान जब भाजनलोक के प्रति प्रवृत्त होता है, तब अपरिच्छिन्नाकारत्वेन प्रवृत्त होता है।

निष्कर्ष—आलयविज्ञान के आलम्बन द्विविध होते हैं, यथा—उपादि और स्थान। उपादि भी दो प्रकार की होती है, यथा—वासनोपादि और आश्रयोपादि। स्थानविज्ञप्ति का तात्पर्य भाजनलोक से है। ये सब आलम्बन आलयविज्ञान को असंविदित होते हैं। अतः आलयविज्ञान 'असंविदितकोपादि' एवं 'असंविदितस्थानविज्ञप्तिक' कहलाता है। 'असंविदित' इस शब्द से आलयविज्ञान की प्रवृत्ति का आकार निर्दिष्ट किया गया है। आलयविज्ञान में यद्यपि इन सब आलम्बनों का आभास होता है; तथापि आलयविज्ञान उन सब का इदन्तया निश्चय नहीं कर पाता। जिस प्रकार चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों को घट, पट आदि विषयों का परिच्छिन्न प्रतिभास होता है और वे उनका परिच्छिन्नरूप से (इदन्तया) ग्रहण करते हैं, उस प्रकार आलयविज्ञान नहीं कर पाता। फलतः आलयविज्ञान एक मुख्य विज्ञान होते हुये भी अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है। यह स्थिति आगमानुसारी विज्ञानवादियों की अपनी विशेषता है। अन्य बौद्धसिद्धान्तवादियों के दिमाग में इसका आना अत्यन्त असम्भव है।

४७. कथं विज्ञानम् अपरिच्छिन्नालम्बनाकारं भविष्यतीति ?

अन्यविज्ञानवादिनामपि निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु तुल्यमेतत्। न च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु विज्ञानं नैवास्तीति शक्यते प्रतिपत्तुम्, युक्तिविरोधात् सूत्रविरोधाच्चेति[1]।

विज्ञान कैसे अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार होगा ?

अन्यविज्ञानवादियों के मत में भी निरोधसमापत्ति आदि की अवस्था में यह (आक्षेप) समान है। निरोधसमापत्ति आदि की अवस्था में विज्ञान नहीं होता, ऐसा तो माना नहीं जा सकता; क्योंकि ऐसा मानना युक्ति से विरुद्ध है और सूत्रों (के अभिप्राय) से भी विरुद्ध है।

---

४७. पूर्वपक्ष (सौत्रान्तिक)—

कथं विज्ञानम् अपरिच्छिन्नालम्ब०—आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार विज्ञान के अस्तित्व में कोई विश्वास ही नहीं कर सकता। जो विज्ञान होता है, वह सर्वदा और सर्वथा विषयों के आकार से आकारित होता है और प्रतिपत्ति (जानना)-स्वरूप होता है। वह निश्चितरूप से अपने विषय का परिच्छेद करता है। इसलिये आप (विज्ञानवादियों) के आलयविज्ञान का अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार होना सर्वथा अयुक्त है ?

सिद्धान्तवादी—

अन्यविज्ञानवादिनामपि तुल्यमेतत्—जो सिद्धान्तवादी (सौत्रान्तिक आदि) छह विज्ञानों को ही मानते हैं और आलयविज्ञान का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, उनके मत में भी निरोधसमापत्ति तो होती ही है। उन समापत्तियों की अवस्था के मनोविज्ञान को उन्हें भी अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में जो दोष वे हम पर लगाते हैं, वह (दोष) समानरूप से उन पर भी लागू होता है।

स्पष्टीकरण—बात यह है कि जो सौत्रान्तिक आदि सिद्धान्तवादी आलयविज्ञान नहीं मानते, उनके यहाँ भी निरोधसमापत्ति और असंज्ञी समापत्ति की अवस्था होती है। वे इन समापत्तियों की अवस्था में मनोविज्ञान की स्थिति मानते हैं। वह मनोविज्ञान स्थूल मनोविज्ञान नहीं होता; अपितु अतिसूक्ष्म होता है। स्थूल और सूक्ष्म का भेद यह है कि जो मनोविज्ञान विषयों का स्पष्टतया परिच्छेद करता है, वह 'स्थूल' कहलाता है तथा जो मनोविज्ञान विषयों का आलम्बन करते हुए भी उनका स्पष्टतया परिच्छेद नहीं कर पाता वह 'सूक्ष्म' कहलाता है। सौत्रान्तिक आदि उस अवस्था के मनोविज्ञान को निरालम्बन तो मानते नहीं हैं तथा सूक्ष्म

---

१. नास्ति—स०।

होने की वजह से उसके द्वारा आलम्बनों का स्पष्ट परिच्छेद भी नहीं मानते। ऐसी स्थिति में उनका विज्ञान भी अपरिछिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार हो जाता है। फलतः जो आक्षेप वे आलयविज्ञानवादियों पर लगाते हैं, वह उलट कर उनके सिर पर भी चढ़ जाता है।

यदि पूर्वपक्षी कहें कि निरोधसमापत्ति आदि की अवस्था में कोई विज्ञान होता ही नहीं, तो इसे भी अयुक्त दिखलाने के लिये टीकाकार आगे कहते हैं—

न च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु०—निरोधसमापत्ति और असंज्ञी समापत्ति की अवस्था में विज्ञानों का एकदम अभाव मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर युक्ति और आगम दोनों से विरोध होता है, यथा—

युक्तिविरोध—यदि निरोधसमापत्ति और असंज्ञी समापत्ति की अवस्था में विज्ञान का सर्वथा अभाव माना जायगा, तो उन समापत्तियों से उठते समय विज्ञान का पुनः प्रादुर्भाव कैसे होगा? अर्थात् नहीं हो सकेगा। क्योंकि विज्ञान का उपादानहेतु सजातीय विज्ञान ही होता है। शरीर, इन्द्रिय आदि उसके उपादान हेतु कथमपि नहीं हो सकते।[1] आपके यहाँ विज्ञान का सर्वथा अभाव है, फलतः समापत्ति से व्युत्थान की अवस्था में विज्ञान का पुनः उत्पाद अशक्य होगा।

पुनश्च—आपके मत में यह भी स्वीकृत नहीं है कि वासना विज्ञान के रूप में परिणत होती है। फलतः निरोधसमापत्ति आदि की अवस्था में जिस विज्ञान का उच्छेद हो गया है, उसका उस समापत्ति से उठते समय भी उच्छेद ही रह जायगा। विना उपादानभूत सजातीय विज्ञान के आगन्तुक विज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है; अन्यथा भौतिकवादियों को पूर्वापर जन्म सिद्ध करने के लिये हेतु देना असम्भव हो जायगा। अर्थात् भौतिकवादी जो पुनर्जन्म का निषेध करते हैं, उन्हें कोई युक्ति नहीं दी जा सकेगी। पुनर्जन्मवादियों की पुनर्जन्म सिद्ध करने की यही प्रधान युक्ति है कि 'उपादानभूत सजातीय विज्ञान ही विज्ञान का उपादान होता है'। आप के अनुसार मानने पर यह युक्ति देना असम्भव हो जायगा।

विचारणीय—सौत्रान्तिक मानते हैं कि निरोधसमापत्ति की अवस्था में स्थूल विज्ञानों का निरोध हो जाता है; किन्तु सूक्ष्म मनोविज्ञान उपस्थित रहता है। धर्मकीर्ति आदि न्यायानुसारी विज्ञानवादी तथा सभी स्वातन्त्रिक माध्यमिक भी इसी प्रकार मानते हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिक तो यहाँ तक मानते हैं कि निरोधसमापत्ति भी एक ज्ञानविशेष ही है, जिसका आलम्बन शून्यता होता है। इस विषय का चन्द्रकीर्ति ने अपने मध्यमकावतार में

---

1. द्र०—प्राणापानेन्द्रियधियां देहादेव न केवलात्।
स्वजातिनिरपेक्षाणां जन्म जन्मपरिग्रहे॥
प्र० वा० (प्रमाणसिद्धि-परिच्छेद) का० ३७, पृ० २०।
प्रमाणवार्तिक में इस विषय का प्रतिपादन यहाँ से लेकर आगे १२६ का० तक विस्तारपूर्वक किया गया है। विशेष जिज्ञासु को वहीं अवलोकन करना चाहिये।

४८. तत्रालयाख्यं विज्ञानमित्युक्तम् । विज्ञानं चावश्यं चैत्तैः सम्प्रयुक्तमित्यतो वक्तव्यं कतमैः कतिभिश्च तच्चैत्तैः[1] सम्प्रयुज्यते । तथा किं तैः सर्वदा सम्प्रयुज्यते, उत नेत्यत आह—

सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् ॥३॥

इति । सदेति यावदालयविज्ञानं तावदेभिः स्पर्शमनस्कारवेदनासंज्ञाचेतनाख्यैः पञ्चभिः सर्वत्रगैर्धर्मैरन्वितम् । वेदनं[2] वित् ।

वहाँ 'आलय' नामक (एक) विज्ञान है—यह कह दिया गया । विज्ञान अवश्य चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है, इसलिये (आपको) कहना चाहिये कि (वह) कौन और कितने चैतसिकों से हमेशा सम्प्रयुक्त होता है । तथा (यह भी कहना चाहिये कि) वह उनसे सर्वदा सम्प्रयुक्त रहता है, या नहीं ? इसलिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार, वित् (वेदना), संज्ञा और चेतना चैतसिकों से सर्वदा अन्वित रहता है । 'सदा' का तात्पर्य है, जब तक आलयविज्ञान प्रवृत्त होता है, तब तक वह इन स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना नामक पाँच सर्वत्रग चैतसिक धर्मों से अन्वित रहता है । (कारिकास्थ) वित् का तात्पर्य वेदना से है ।

सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है । फलतः ऊपर जो यह कहा गया है—"न च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु विज्ञानं नैवास्तीति शक्यते प्रतिपत्तुम्"—इस वचन के पूर्वपक्ष में उपर्युक्त सौत्रान्तिक आदि कथमपि नहीं हो सकते । वैभाषिकों में कुछ सिद्धान्तवादी ही इस वचन के पूर्वपक्ष में हो सकते हैं ।

आगमविरोध—धर्मदायाद सूत्र में उक्त है कि विज्ञान का देह से संक्रमण नहीं होता[3] ।

४८. तत्रालयाख्यं विज्ञानम्०—आलयविज्ञान एक चित्त है । अतः उसका चैतसिकों के साथ अवश्य सम्प्रयोग होना चाहिये । यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि उसके साथ कौन और कितने चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं ? क्या वे उससे सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं या कभी कभी सम्प्रयुक्त होते हैं ? इसका उत्तर देते हुये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञा०—यूँ चैतसिकों की संख्या कुल ५१ हैं; किन्तु आलयविज्ञान चूँकि अव्याकृत है, इसलिये उन ५१ चैतसिकों में से ११ कुशल चैतसिक उससे सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते । चूँकि आलयविज्ञान अनिवृत है, अतः ६ मूल

---

१. चैत्तैः सदा०—अ० ।

२. वेदना–ब० ।

३. आचार्य विनीतदेव ने इस स्थल की व्याख्या करते हुये धर्मदायाद सूत्र का उल्लेख किया है । संस्कृत में हमें यह सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ । पालित्रिपिटक में भी इस नाम का सूत्र है, किन्तु उसमें इस विषय की कोई चर्चा नहीं है ।

४९. तत्र स्पर्शस्त्रिकसन्निपाते इन्द्रियविकारपरिच्छेदः, वेदनासंनिश्रयकर्मकः। इन्द्रियविषयविज्ञानानि त्रीण्येव त्रिकम्, तस्य कार्यकारणभावेन समवस्थानं त्रिकसन्निपातः। तस्मिन् सति तत्समकालमेवेन्द्रियस्य सुखदुःखादिवेदनानुकूलो यो विकारस्तेन सदृशो विषयस्य सुखादिवेदनीयाकारपरिच्छेदो यः, स स्पर्शः। इन्द्रियं पुनर्येन विशेषेण सुखदुःखादिहेतुत्वं प्रतिपद्यते, स तस्य विकारः। स्पर्शः पुनरिन्द्रियविकारसादृश्येनेन्द्रियं स्पृशति, इन्द्रियेण वा स्पृश्यत इति स्पर्श उच्यते। अत एव विषयविकारपरिच्छेदात्मकोऽपीन्द्रियविकारपरिच्छेद उक्तः। वेदनासंनिश्रयत्वमस्य कर्म। एवं ह्युक्तं सूत्रे–'सुखवेदनीयं स्पर्शं प्रतीत्योत्पद्यते सुखं वेदितमि' ति विस्तरः।

वहाँ (पाँच सर्वत्रग चैतसिकों में) त्रिकसन्निपात होने पर जो इन्द्रियों के विकार का परिच्छेद होता है, वह 'स्पर्श' है। वेदना को आश्रय देना, इसका कर्म है। इन्द्रिय, विषय और विज्ञान--इन तीनों को 'त्रिक' कहते हैं, उनकी कार्यकारणभाव से सहस्थिति 'त्रिकसन्निपात' कहलाती है। त्रिकसन्निपात होने पर उसी समय इन्द्रियों का जो सुख, दुःख आदि वेदनाओं के अनुकूल विकार है और उसी के समान विषय का जो सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय आदि आकार का परिच्छेद है, वह स्पर्श है। इन्द्रिय जिस वैशिष्ट्य (गुण) के कारण सुख, दुःख आदि के हेतुभाव को प्राप्त होती है; वह (वैशिष्ट्य) ही उस (इन्द्रिय) का विकार है। स्पर्श (उस) इन्द्रियविकार की समानता से इन्द्रिय का स्पर्श करता है; अथवा इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श किया जाता है, इसलिये 'स्पर्श' कहलाता है। इसीलिये (स्पर्श) विषयविकार का परिच्छेद करनेवाला होने पर भी इन्द्रियविकार का परिच्छेद करनेवाला कहा गया है। वेदना को आश्रय देना इसका कर्म है। इसी प्रकार सूत्र में भी कहा गया है—'सुखवेदनीय स्पर्श की अपेक्षा करके सुख वेदना उत्पन्न होती है'—इत्यादि अत्यधिक विस्तार है।

क्लेश और २० उपक्लेश—इस तरह ये २६ चैतसिक भी उससे सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। आलयविज्ञान अपने आलम्बनों का स्पष्टतया परिच्छेद नहीं कर पाता, अतः ५ विनियत चैतसिक भी उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। आधार का अभाव होने से वितर्क आदि ४ अनियत चैतसिक भी उससे सम्प्रयुक्त नहीं होते। फलतः ५ सर्वत्रग (स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना) चैतसिक ही उस (आलयविज्ञान) के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं।

कारिका में प्रयुक्त 'वित्' शब्द का अभिप्राय वेदना चैतसिक से है। शेष चैतसिक अपने नामों से प्रसिद्ध हैं।

४९. (१) स्पर्श—

तत्र स्पर्शस्त्रिकसन्निपाते०—इन्द्रिय, विषय और विज्ञान—इन तीनों का सन्निपात होने पर जो चैतसिक इन्द्रियविकार का परिच्छेद करता है, वह 'स्पर्श' कहलाता है।

वेदनासंनिश्रयकर्मकः—यह स्पर्श चैतसिक वेदना को आश्रय प्रदान करता है।

इन्द्रियविषयविज्ञानानि त्रीण्येव०—चक्षु आदि इन्द्रिय, रूप आदि विषय, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान—इन्हें 'त्रिक' कहते हैं। उन तीनों की कार्यकारणभाव से स्थिति 'त्रिकसन्निपात' कहलाती है। इन तीनों में इन्द्रिय कारण है तथा विषय और विज्ञान उसके कार्य हैं।

तस्मिन् सति तत्समकालमेव०—उपर्युक्त त्रिकसन्निपात के होने पर इन्द्रिय आदि के विकार का परिच्छेद करनेवाला स्पर्श चैतसिक प्रादुर्भूत होता है। जिस प्रकार इन्द्रिय के सम्मुख विषय के आने पर इन्द्रिय सुख, दुःख आदि का कारण हो जाती है और उसी (इन्द्रिय) के अनुकूल सुख, दुःख आदि की अनुभूति भी होती है, इसी प्रकार विषय भी इन्द्रिय के सामने आने पर सुख, दुःख आदि का कारण बन जाता है, और उसी (विषय) के अनुकूल सुख, दुःख आदि की अनुभूति होती है। स्पर्श इस प्रक्रिया का परिच्छेद करता (जानता) है।

इन्द्रियं पुनर्येन विशेषेण०--इस वचन द्वारा इन्द्रियविकार का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। जिस विशेषता (गुण) से युक्त होने पर इन्द्रिय सुख, दुःख आदि का हेतु होती है, उस विशेषता को 'इन्द्रियविकार' कहते हैं।

स्पर्शः पुनरिन्द्रियविकारसादृश्येन०—स्पर्श चैतसिक इन्द्रियविकार के सदृश ही सुख, दुःख आदि का हेतु है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है, मानों यह चैतसिक इन्द्रिय का स्पर्श करता है। अथवा इन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जाता है। इसलिये इसे 'स्पर्श' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इन्द्रियविकार से सुख, दुःख आदि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार स्पर्श चैतसिक से भी सुख आदि का उत्पाद होता है, इसलिये ऐसा लगता है, मानों स्पर्श चैतसिक और इन्द्रियविकार आपस में मिलकर कार्य कर रहे हों।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि स्पर्श चैतसिक तो विषयविकार का परिच्छेद करता है, वह इन्द्रियविकार का परिच्छेद तो कर नहीं सकता; क्योंकि इन्द्रियविकार का परिच्छेद करने के लिये उसे इन्द्रिय को विषय बनाना पड़ेगा और इन्द्रिय कभी भी स्पर्श चैतसिक का आलम्बन नहीं होती। ऐसी स्थिति में स्पर्श चैतसिक द्वारा 'इन्द्रियविकार' का परिच्छेद करना कहाँ तक उचित है ?

समाधान—

अत एव विषयविकारपरिच्छेदात्मकोऽपि—यद्यपि स्पर्श चैतसिक विषय के विकार का ही परिच्छेद करता है; तथापि चूँकि इन्द्रियविकार के सदृश ही इसका कृत्य है, इसलिये इसे इन्द्रियविकार का परिच्छेदक कहा गया है।

५०. मनस्कारश्चेतस आभोगः। आभुजनमाभोगः, आलम्बने येन चितमभिमुखीक्रियते। स पुनरालम्बने चित्तधारणकर्मा। चित्तधारणं पुनस्तत्रैवालम्बने पुनः पुनश्चित्तस्यावर्जनम्। एतच्च कर्म चित्तसन्ततेरालम्बननियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तम्, न तु यः प्रतिचित्तक्षणम्; तस्य हि प्रतिक्षणमेव व्यापारो न क्षणान्तरे।

मनस्कार चित्त का आभोग है। आभुजन (झुकाव) आभोग है, जिसके द्वारा चित्त आलम्बन में अभिमुख किया जाता है। वह (मनस्कार) आलम्बन में चित्त को धारण करनेवाला है। चित्तधारण का तात्पर्य उसी (एक ही) आलम्बन में चित्त का पुनः पुनः आवर्जन है। यह (चित्त धारण) कर्म चित्तसन्तति के आलम्बननियम (की दृष्टि) से विशिष्ट मनस्कार की अपेक्षा करके कहा गया है, न कि जो (मनस्कार) प्रति चित्तक्षण में होता है (उसकी दृष्टि से कहा गया है), क्योंकि (प्रतिचित्तक्षण में होनेबाले) उस (मनस्कार) का तो प्रति (एक एक) क्षण में ही व्यापार होता है। दूसरे क्षण में नहीं।

स्पर्श का कृत्य—

वेदनासंनिश्रयत्वमस्य कर्म—वेदना चैतसिक का आश्रय होना ही इसका कृत्य है। इस प्रकार के स्पर्श चैतसिक का सूत्रों में बहुशः उल्लेख उपलब्ध होता है। यथा—'सुखवेदनीयं स्पर्शं प्रतीत्योत्पद्यते सुखं वेदितम्'—इत्यादि।

इन्द्रिय, विषय और विज्ञान इन तीनों के उपस्थित होने पर स्पर्श चैतसिक उत्पन्न होता है। यह विषयविकार का परिच्छेद अर्थात् अवबोध करता है। यह विज्ञान और विषय के बीच सम्बन्ध (सामीप्य) स्थापित करता है। इसी की वज़ह से सुख, दुःख आदि वेदना चैतसिक उत्पन्न होते हैं।

५०. (२) मनस्कार—

मनस्कारश्चेतस आभोगः०—चित्त को विषय में प्रवृत्त करनेवाले चैतसिक को 'मनस्कार' कहते हैं। आलम्बन में चित्त को अभिमुख करना इसका कृत्य है। यह चित्त को विषय से विमुख नहीं होने देता। अर्थात् चित्त को एक ही आलम्बन में लगाये रखता है। यह चित्त को आलम्बन में पुनः पुनः धारण करता है।

यह विदित है कि चैतसिक चित्त से सम्प्रयुक्त होते हैं; चित्त के साथ उत्पन्न होते हैं और उसी के साथ विनष्ट हो जाते हैं[1]। मनस्कार भी एक चैतसिक है। वह भी चित्त के साथ

1. द्र०—एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका।
चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता॥ —अभि० सं० २:१, पृ० ९५।
तथा अभिधर्मकोश (द्वितीयकोशस्थान) कारिका ३४, पृ० १३१।

५१. वेदना अनुभवस्वभावा। सा पुनर्विषयस्याह्लादकपरितापकतदुभयाकारविविक्तस्वरूपसाक्षात्करणभेदात् त्रिधा भवति—सुखा, दुःखा, अदुःखासुखा च।

एवं त्वन्ये मन्यन्ते—"शुभाशुभानां कर्मणां फलविपाकं प्रत्यनुभवन्त्यनेनेत्यनुभवः।" तत्र शुभानां कर्मणां सुखोऽनुभवः फलविपाकः। अशुभानां दुःखः। उभयेषामदुःखासुखः।

अत्र चालयविज्ञानमेव शुभाशुभकर्मविपाकः। तत्सम्प्रयुक्तैवोपेक्षा परमार्थतः

वेदना अनुभवस्वभाव है। वह विषय के आह्लादक, परितापक और तदुभयाकारविविक्त (अर्थात् आह्लादक और परितापक आकारों से रहित) स्वरूप का साक्षात्कार करने के भेद से तीन प्रकार की होती है, यथा—सुख, दुःख और अदुःखासुख।

कुछ लोग इस प्रकार मानते हैं—शुभ और अशुभ कर्मों के फलविपाक का जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है, वह 'अनुभव' है। वहाँ (अन्य वादियों के मत में) शुभ कर्मों का फलविपाक सुख अनुभव है। अशुभ कर्मों का फलविपाक दुःख अनुभव है। तथा दोनों का अदुःखासुख अनुभव है।

यहाँ (विज्ञानवादियों के मत में) तो आलयविज्ञान ही शुभाशुभ कर्मों का विपाक है

ही उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है। चित्त क्षणिक है, अतः मनस्कार भी क्षणिक है। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जो मनस्कार चित्त के साथ ही उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, वह चित्त को एक ही आलम्बन में कैसे पुनः पुनः धारण कर सकता है?

समाधान—

एतच्च कर्म चित्तसन्ततेरालम्बन०—चित्त को आलम्बन में अनेक क्षणों तक धारण करना, यह (चित्तधारण) कर्म प्रत्येक चित्त की दृष्टि से नहीं है; अपितु चित्तसन्तति की दृष्टि से है; क्योंकि चित्तसन्तति ही आलम्बन में अनेक क्षणों तक प्रवृत्त हो सकती है, एक चित्त नहीं। इसलिये प्रतिचित्त (एक एक चित्त) के साथ उत्पन्न होनेवाले साधारण मनस्कार का यह (चित्तधारण) कृत्य नहीं है; अपितु यह एक विशिष्ट मनस्कार का कृत्य है। विशिष्ट मनस्कार का तात्पर्य ध्यानभावना में लगे हुये योगियों के मनस्कार से है। ध्यानभावना के बल से ऐसे विशिष्ट मनस्कार का उत्पाद होता है, जो एक ही आलम्बन में चित्तप्रवाह को लम्बे समय तक स्थापित रखने में समर्थ होता है। साधारण मनस्कार, जो प्रतिक्षण उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, उसके द्वारा ऐसा किया जाना सम्भव नहीं है। वह चित्त को आलम्बन में केवल स्थितमात्र कर सकता है।

५१. (३) वेदना—

वेदना अनुभवस्वभावा—सुख आदि का अनुभव करनेवाला चैतसिक 'वेदना'

शुभाशुभानां कर्मणां फलविपाकः। सुखदुःखयोस्तु कुशलाकुशलकर्मविपाकजत्वाद् विपाकोपचारः। तत्र सुखोऽनुभवः, यस्मिन्नुत्पन्नेऽवियोगेच्छा, निरुद्धे च पुनः संयोगेच्छा जायते। दुःखोऽनुभवः, यस्मिन्नुत्पन्ने वियोगेच्छा, निरुद्धे च पुनरसंयोगेच्छा। अदुःखासुखः, यस्मिन्नुत्पन्ने निरुद्धे चोभयं न जायते।

और तत्सम्प्रयुक्त उपेक्षा वेदना ही परमार्थ (प्रधान)-रूप से शुभाशुभ कर्मों का फलविपाक है। कुशल, अकुशल कर्मों के विपाक से उत्पन्न होने के कारण सुख, दुःख में तो विपाक का उपचारमात्र होता है। वहाँ (त्रिविध अनुभवों में) जिसके उत्पन्न होने पर वियोग की इच्छा नहीं होती तथा निरुद्ध हो जाने पर फिर संयोग की इच्छा होती है, वह 'सुखानुभव' है। जिसके उत्पन्न होने पर वियोग की इच्छा होती है तथा निरुद्ध हो जाने पर फिर संयोग की इच्छा नहीं होती, वह 'दुःखानुभव' है। जिसके उत्पन्न और निरुद्ध होने पर दोनों प्रकार की इच्छायें नहीं होतीं, वह 'अदुःखासुखानुभव' है।

कहलाता है। इष्ट, अनिष्ट और मध्यस्थ विषय के भेद से वेदना भी तीन प्रकार की है, यथा—सुख, दुःख और अदुःखासुख। उनमें से इष्ट विषय का अनुभव करनेवाली वेदना 'सुख', अनिष्ट विषय का अनुभव करनेवाली वेदना 'दुःख' तथा मध्यस्थ विषय का अनुभव करनेवाली वेदना 'अदुःखासुख' है।

एवं त्वन्ये मन्यन्ते ०--आलयविज्ञान को नहीं माननेवाले अन्य बौद्ध सिद्धान्तवादियों का कथन है कि वेदना उस विपाक का अनुभव करती है, जो शुभ, अशुभ कर्मों का फल है। शुभ कर्मों का फल सुख है। अशुभ कर्मों का फल दुःख है तथा अव्याकृत कर्मों का फल 'अदुःखासुख' है। इन विपाकों (फलों) का अनुभव करनेवाला चैतसिक 'वेदना' कहलाता है।

सिद्धान्तपक्ष—

अत्र चालयविज्ञाममेव ०--आलयविज्ञानवादी बौद्ध सुख आदि को विपाक नहीं मानते; क्योंकि उनके मत में आलयविज्ञान ही केवल विपाक होता है और वही शुभ, अशुभ कर्मों का विपाक है। आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त उपेक्षा वेदना ही शुभ, अशुभ कर्मों के असली फलविपाक का अनुभव करनेवाली वेदना है। सुख और दुःख असली विपाक नहीं हैं; अपितु वे विपाक से उत्पन्न हैं, जो विपाक कुशल, अकुशल कर्मों का फल है। अर्थात् कुशल, अकुशल कर्मों का विपाक सपरिवार आलविज्ञान ही है। उससे सुख, दुःख आदि का अनुभव करनेवाली वेदनायें उत्पन्न होती हैं। फलतः सुख, दुःख आदि में 'विपाक' शब्द का व्यवहार औपचारिक ही है।

५२. संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम्। विषय आलम्बनम्। निमित्तं तद्विशेषो नीलपीताद्यालम्बनव्यवस्थाकारणम्। तस्योद्ग्रहणं निरूपणं 'नीलमेतत्, न पीतमि' ति।

विषय के निमित्तों का उद्ग्रहण 'संज्ञा' चैतसिक है। विषय आलम्बन को कहते हैं। निमित्त आलम्बन के उस विशेष को कहते हैं, जो नील, पीत आदि आलम्बन की व्यवस्था का कारण होता है। 'यह नील है, पीत नहीं' इस प्रकार का निरूपण उस निमित्त का उद्ग्रहण है।

स्वरूप—

तत्र सुखोऽनुभवः, यस्मिन्नुत्पन्ने०—जिसके उत्पन्न होने पर जीव उससे वियोग नहीं चाहते; अपितु ऐसा चाहते हैं कि इससे हमारा संयोग बना रहे। जब उससे वियोग हो जाता है, तब फिर ऐसा चाहने लगते हैं कि इससे हमारा पुनः संयोग हो जाय। इस प्रकार की अनुभूति को 'सुख' कहते हैं। इससे विपरीत वेदना 'दुःख' है। जिसके उत्पन्न होने पर या न होने पर न तो वियोगेच्छा होती है और न अवियोगेच्छा होती है, इसे 'उपेक्षा वेदना' कहते हैं।

ज्ञातव्य—सांख्य आदि कुछ दार्शनिक विषय को ही सुखात्मक या दुःखात्मक मानते हैं तथा वे उन्हें (सुख, दुःख को) अचेतन या जड मानते हैं। किन्तु बौद्धों में उन्हें कोई भी ऐसा मानने के लिये तैयार नहीं है। वे (बौद्ध) मानते हैं कि सुख और दुःख विषयगत धर्म नहीं हैं; अपितु वे ज्ञानविशेष हैं और विषयी हैं। इस विषय में सूक्ष्म विचार अपेक्षित है और अधिक वक्तव्य है, इसलिये हम यहाँ दिङ्मात्र का निर्देश करके विरत होते हैं।[1]

५२. (४) संज्ञा—

संज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम्०—विषय के निमित्त का ग्रहण करनेवाला चैतसिक 'संज्ञा' है। विषय का तात्पर्य उसके आलम्बन से है। तथा निमित्त का तात्पर्य उस आलम्बन के विशेषों से है, यथा—नील, पीत आदि। नील, पीत आदि विशेषों का ग्रहण इस चैतसिक के द्वारा होता है। जिस अंश में नील का ग्रहण होता है, उसी अंश में पीत का ग्रहण नहीं होता। इसलिये प्रत्येक विशेषों का पृथक्-पृथक् ग्रहण इसका कृत्य है।

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिए द्र०—

कश्चिद् बहिःस्थितानेव सुखादीनप्रचेतनान्।
आह्यानाह न तस्यापि सकृद्युक्तो द्वयग्रहः॥

प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०), २६८ का०, पृ० १८०।

५३. चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा, यस्यां सत्यामालम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द[1] इव भवति, अयस्कान्तवशाद् अयःप्रस्यन्दवत्[1]।

चेतना चित्त का अभिसंस्कार है, यह मन की (एक प्रकार की ऐसी) चेष्टा है, जिसके होने पर आलम्बन के प्रति चित्त का प्रस्यन्द (वेग के साथ गमन) की तरह होता है, जैसे—अयस्कान्त (चुम्बक) की वज़ह से लौह का प्रस्यन्द होता है।

यहाँ यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि आलयविज्ञान तो अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार है। वह आलम्बन का स्पष्टतया परिच्छेद नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में उसके साथ संज्ञा चैतसिक का रहना कैसे सम्भव है ? क्योंकि इस चैतसिक के द्वारा आलम्बन के नील, पीत आदि विशेषों का पृथक् पृथक् (असम्मिश्रितरूप से) ग्रहण होता है ?

समाधान—संज्ञा चैतसिक के आलयविज्ञान के साथ होनेमात्र से वह (आलयविज्ञान) परिच्छिन्नालम्बन एवं परिच्छिन्नाकार नहीं हो सकता। हमने ऊपर कहा है कि आलयविज्ञान अपने विषय के बारे में 'यह वह है, यह वह नहीं है, यह इस प्रकार का है'—इत्यादि निश्चय नहीं कर पाता तथा न तो उसकी वज़ह से पश्चाद्वर्ती निश्चय ही आकृष्ट हो पाता है, इसलिये वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार है[2]। संज्ञा चैतसिक का 'जहाँ नील है, वहाँ नील का ही ग्रहण करना तथा जहाँ पीत है, वहाँ पीत का ही ग्रहण करना' मात्र इतना ही कृत्य है, इतना कृत्य तो सभी चित्तों के साथ होना चाहिये। फलतः आलयविज्ञान के साथ संज्ञा चैतसिक के सम्प्रयुक्त होने में कोई विरोध नहीं है।

५३. (५) चेतना—

चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा०—चित्त के अभिसंस्कार अर्थात् चित्त को विषय की ओर प्रेरित करनेवाले चैतसिक को 'चेतना' कहते हैं। इस चैतसिक की वज़ह से ही चित्त विषय की ओर आकृष्ट होता है। यह उसी प्रकार चित्त का आकर्षण करता है, जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) मणि लौह का आकर्षण करती है।

चित्त और चैतसिक परस्पर सहयोग करते हुये ही कृत्य करते हैं। उपर्युक्त स्पर्श आदि चैतसिक जो कृत्य करते हैं, उन कृत्यों को उनसे सम्प्रयुक्त चित्त भी करते हैं; किन्तु वे कृत्य उन उन चैतसिकों के अपने मुख्य कृत्य हैं, वे चित्त के प्रधान कार्य नहीं हैं। जैसे—चेतना का कार्य विषय की ओर आकर्षण है। चेतना के आकृष्ट होने पर उस (चेतना) के साथ जितने चित्त और चैतसिक रहते हैं, वे सब विषय की ओर आकृष्ट होते हैं। इस तरह चित्त और चैतसिकों के साथ-साथ कृत्य करने पर भी उनके अपने अपने मुख्य कार्य होते हैं और उन मुख्य कार्यों की दृष्टि से ही चैतसिकों की पृथक् व्यवस्था होती है।

---

१. प्रस्पन्द०—ब०।

२. द्र०—त्रिं० ४२, पृ० १४०।

५४. वेदना त्रिविधा—सुखा, दुःखा, अदुःखासुखा च। धर्माश्चतुःप्रकाराः—कुशला अकुशला अनिवृताव्याकृता निवृताव्याकृताश्च। तत्रालयविज्ञाने 'विद्' इति सामान्योपदेशेन न विज्ञायते, तिसृणां वेदनानां कतमा वेदना ? तथा तदपि किं कुशलमकुशलमनिवृताव्याकृतं निवृताव्याकृतमिति न विज्ञायते ? इत्यत आह—

उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत् ।

५५. तत्रेत्यालयविज्ञानमेव[1] प्रकृतत्वात् सम्बध्यते। उपेक्षैवालयविज्ञाने

वेदना तीन प्रकार की हैं, यथा—सुख, दुःख और अदुःखासुख। धर्म चार प्रकार के होते हैं, यथा—कुशल, अकुशल, अनिवृताव्याकृत और निवृताव्याकृत। वहाँ आलयविज्ञान (से सम्प्रयुक्त चैतसिकों) में 'वित्' इस सामान्य निर्देश से यह नहीं ज्ञात होता कि तीन वेदनाओं में से कौन वेदना आलयविज्ञान में सम्प्रयुक्त होती है ? तथा वह आलयविज्ञान भी क्या कुशल है, अकुशल है, अनिवृताव्याकृत है या निवृताव्याकृत है—ऐसा ज्ञात नहीं होता ? अतः आचार्य (वसुबन्धु ऐसी जिज्ञासा के उत्तर में) कहते हैं—

आलयविज्ञान में उपेक्षा वेदना होती है और वह (आलयविज्ञान) अनिवृताव्याकृत होता है।

'तत्र' का तात्पर्य आलयविज्ञान से है; क्योंकि वही प्रकृत (प्रसङ्गप्राप्त) होने से यहाँ सम्बद्ध होता है। आलयविज्ञान में न सुख वेदना होती है, न दुःख; अपितु उपेक्षा

---

५४. वेदना त्रिविधा—सुखा०—वेदनायें तीन होती हैं, यथा—सुख, दुःख और अदुःखासुख अर्थात् उपेक्षा। ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान में सदा 'वित्' अर्थात् वेदना चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है[2]। 'वेदना' इस सामान्य वचन से यह स्पष्ट नहीं होता कि इन तीन वेदनाओं में से कौन-सी वेदना आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त होती है ?

धर्म चार प्रकार के होते हैं, यथा—कुशल, अकुशल, अनिवृताव्याकृत और निवृताव्याकृत। इन्हीं चार में सभी धर्म संगृहीत हो जाते हैं। आलयविज्ञान इन चार में से किस प्रकार का है—यह भी अभी तक ज्ञात नहीं हो सका ?

इन जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) कहते हैं—

आलयविज्ञान में उपर्युक्त तीन वेदनाओं में से उपेक्षा वेदना होती है तथा आलयविज्ञान उपर्युक्त चार धर्मों में से अनिवृताव्याकृत है।

५५. तत्रेत्यालयविज्ञानमेव ०—आलयविज्ञान के साथ न तो सुख वेदना होती है और न दुःख वेदना। उसके साथ तो सर्वदा उपेक्षा वेदना ही होती है; क्योंकि सुख

---

१. इति। तत्रे०—स०।

२. द्र०—त्रिं० ४८, पृ० १४१।

वेदना, न सुखा, न दुःखा; तयोः परिच्छिन्नालम्बनाकारत्वात्, रागद्वेषानुशयितत्वाच्च[१]।

अनिवृताव्याकृतं च तत्। आलयविज्ञानमिति प्रकृतम्। तत्रानिवृतग्रहणं निवृतव्यवच्छेदार्थम्। अव्याकृतग्रहणं कुशलाकुशलव्यवच्छेदार्थम्। मनोभूमिकैरागन्तुकैरुपक्लेशैरनावृतत्वादनिवृतम्। विपाकत्वाद् विपाकं प्रति कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणादव्याकृतम्।

वेदना ही होती है; क्योंकि सुख और दुःख वेदनायें परिच्छिन्नालम्बन और परिच्छिन्नाकार होती हैं। क्योंकि उनमें राग और द्वेष अनुशयन करते हैं।

वह आलयविज्ञान अनिवृताव्याकृत होता है। 'तत्' शब्द से आलयविज्ञान ही सम्बद्ध होता है; क्योंकि वही यहाँ प्रसङ्गप्राप्त है। वहाँ (आलयविज्ञान के लक्षण में) 'अनिवृत' शब्द का ग्रहण 'निवृत' को हटाने के लिये है तथा 'अव्याकृत' का ग्रहण कुशल, अकुशल धर्मों को हटाने के लिये है। मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशों से अनावृत होने से (आलयविज्ञान) 'अनिवृत' है। आलयविज्ञान विपाक है और विपाक होने से उसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह कुशल है या अकुशल, इसलिये वह 'अव्याकृत' है।

वेदना और दुःख वेदना सर्वथा परिच्छिन्नालम्बन और परिच्छिन्नाकार होती हैं। अर्थात् सुख और दुःख वेदनाओं के आलम्बन और आकार अत्यन्त स्पष्ट होते हैं। आलयविज्ञान के आलम्बन और आकार इनसे बिलकुल विपरीत होते हैं। अर्थात् वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है। फलतः सुख और दुःख वेदनायें आलयविज्ञान के साथ कथमपि सम्प्रयुक्त नहीं हो सकतीं।

रागद्वेषानुशयितत्वाच्च—सुख और दुःख में राग और द्वेष अनुशयन करते हैं तथा आलयविज्ञान के साथ राग और द्वेष सम्प्रयुक्त नहीं होते; क्योंकि वह अनिवृत (अक्लिष्ट) और अव्याकृत है। अतः विपरीतस्वभाव होने से सुख और दुःख वेदनायें आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकतीं।

किन्तु 'रागद्वेषानुशयितत्वात्'—इस वाक्य के बारे में कुछ विचारणीय है। स्थिरमति के इस टीकावाक्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आलयविज्ञान में सुख, दुःख वेदनाओं के सम्प्रयुक्त न होने में यह एक हेतु दिया गया है। किन्तु आचार्य विनीतदेव (इस टीका की टीका करनेवाले आचार्य) ने इसका खण्डन किया है। उनका कथन है—"जो लोग यह मानते हैं कि राग, द्वेष से अनुशयित होने से सुख और दुःख वेदनायें आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होतीं, उनका यह मत अत्यन्त असम्बद्ध है। क्योंकि राग और द्वेष के

---

१. नास्ति—स०।

५६. तथा स्पर्शादयः

यथा आलयविज्ञानमेकान्तेन विपाकोऽपरिच्छिन्नालम्बनाकारं सदा स्पर्शादिभिरन्वितम्, तत्र चोपेक्षैव वेदनाऽनिवृताव्याकृतं च, तथा स्पर्शादयोऽप्येकान्तेन

उसी प्रकार (आलयविज्ञान की तरह) स्पर्श आदि (तत्सम्प्रयुक्त) चैतसिक भी होते हैं।

जिस प्रकार आलयविज्ञान एकान्तरूप से विपाक होता है, अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार होता है, सर्वदा स्पर्श आदि चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है, उसमें उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त होती है तथा वह अनिवृताव्याकृत होता है, उसी प्रकार स्पर्श आदि

अनुशयन करने से सुख और दुःख वेदनाओं का आलयविज्ञान में सम्प्रयुक्त न होना—यह असिद्ध हेतु है। अर्थात् इस हेतु में 'असिद्ध' नामक दोष है। क्योंकि सभी सुख और दुःखों में राग-द्वेष अनुशयन नहीं करते। कुशल सुख, अव्याकृत सुख और अनास्रव सुख भी होते हैं। उसी प्रकार दुःखों में भी कुशल और अव्याकृत होते हैं। ये (उपर्युक्त) सभी सुख और दुःख राग द्वेष से सम्प्रयुक्त नहीं होते। अर्थात् इनमें राग, द्वेष अनुशयन नहीं करते। फलतः 'रागद्वेषानुशयितत्व' सभी सुख, दुःखों से सम्बद्ध नहीं है।"

आचार्य विनीतदेव की इस अनुटीका को देखने से यह स्पष्ट नहीं होता कि उपर्युक्त वाक्य आचार्य स्थिरमति का है या अन्य किसी आचार्य का है। इसलिये विद्वानों को इस विषय में विचार करना चाहिये।

अनिवृताव्याकृतं च तत्०—'अनिवृत' कहने से निवृत का व्यवच्छेद होता है तथा अव्याकृत कहने से कुशल, अकुशल का व्यवच्छेद होता है। आलयविज्ञान कुशल इसलिये नहीं होता, चूँकि अकुशल अवस्था में भी उसका अस्तित्व होता है। इसी तरह अकुशल इसलिये नहीं होता चूँकि कुशलचित्तावस्था में भी उसका अस्तित्व होता है।

अनिवृत होने में हेतु—

मनोभूमिकैरागन्तुकैरुपक्लेशैरनावृत०—वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) उपक्लेश, जो कि आगन्तुक हैं और मानसिक हैं, उनसे यह (आलयविज्ञान) आवृत नहीं है, इसलिये इसे 'अनिवृत' कहते हैं।

अव्याकृत होने में हेतु—

विपाकत्वाद् विपाकं प्रति०—आलयविज्ञान कुशल, अकुशल का विपाक है। विपाकस्वरूप होने से वह स्वयं कुशल या अकुशल नहीं होता। कुशल या अकुशल के रूप में उसका व्याख्यान न किया जा सकने के कारण उसे 'अव्याकृत' कहते हैं।

५६. तथा स्पर्शादयः—आलयविज्ञान के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह सब

विपाका एव, अपरिच्छिन्नालम्बनाकाराश्च। आत्मानं हित्वा इतरैश्चतुर्भिरालयविज्ञानेन च नित्यमनुगतास्तेषु चोपेक्षैव वेदना अनिवृताव्याकृताश्चालयविज्ञानवत्। न हि विपाकेन सम्प्रयुक्तानामविपाकत्वम्, अपरिच्छिन्नालम्बनाकारेण च परिच्छिन्नालम्बनाकारत्वं सम्भवति। एवमन्यत्रापि वाच्यम्।

५७. किं पुनस्तद् आलयविज्ञानमेकमभिन्नम् आसंसारमनुवर्तते, उत सन्तानेन ?

न हि तदेकमभिन्नमनुवर्तते, क्षणिकत्वात्। किं तर्हि ?—

तत्सम्प्रयुक्त (५ सर्वत्रग) चैतसिक भी विपाक होते हैं तथा अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार होते हैं। अपने (स्वयं) को छोड़कर अवशिष्ट चार चैतसिक और आलयविज्ञान से सर्वदा अनुगत (सम्प्रयुक्त) होते हैं, उनमें उपेक्षा वेदना ही होती है, तथा वे आलयविज्ञान को ही भाँति अनिवृताव्याकृत भी होते हैं। विपाक से सम्प्रयुक्त धर्मों में 'अविपाकत्व' तथा अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार से सम्प्रयुक्त धर्मों में परिच्छिन्नालम्बनत्व और परिच्छिन्नाकारत्व होना सम्भव नहीं है। इसी तरह अन्य (चित्तों से सम्प्रयुक्त चैतसिकों) के बारे में भी कहना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

क्या वह आलयविज्ञान एक और अभिन्न (ही) संसारपर्यन्त प्रवृत्त होता रहता है या सन्तान के रूप में ? क्षणिक होने से वह एक और अभिन्न रूप में प्रवृत्त नहीं होता। तो कैसे प्रवृत्त होता है ?

उसके साथ सम्प्रयुक्त चैतसिकों के बारे में भी जानना चाहिये। आलयविज्ञान जिस प्रकार एकान्तरूप से विपाक होता है, अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार होता है, सर्वदा स्पर्श आदि पाँच चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है, उसमें सर्वदा उपेक्षा वेदना ही होती है तथा वह अनिवृताव्याकृत होता है, ठीक उसी प्रकार उसके साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक भी एकान्तरूप से विपाक होते हैं, अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार होते हैं, स्वयं को छोड़कर अन्य चार चैतसिक एवं आलयविज्ञान से नित्य सम्प्रयुक्त होते हैं, उनमें उपेक्षा वेदना होती है तथा वे भी अनिवृताव्याकृत होते हैं। क्योंकि—

न हि विपाकेन सम्प्रयुक्तानाम्०—विपाकस्वभाव धर्मों के साथ सम्प्रयुक्त धर्मों का अविपाकस्वभाव होना सम्भव नहीं है तथा अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार धर्मों के साथ सम्प्रयुक्त धर्मों का परिच्छिन्नालम्बन और परिच्छिन्नाकार होना सम्भव नहीं है।

आलयविज्ञान चूंकि अनिवृत और अव्याकृत है, इसलिये उसके साथ सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि चैतसिक भी अनिवृत और अव्याकृत ही होते हैं। वे कुशल या अकुशल कभी भी नहीं हो सकते। निष्कर्ष यह है कि चित्त जिस स्वभाव का होता है, उसके साथ सम्प्रयुक्त चैतसिकों को भी उसी स्वभाव का होना चाहिये। इसी तरह अन्य चित्त और उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिकों के बारे में जानना चाहिये।

५७. किं पुनस्तद् आलयविज्ञानम्०—जो यह नहीं जानते कि आलयविज्ञान

तच्च वर्तते स्रोतसौघवत् ॥ ४ ॥

तच्चेत्यालयविज्ञानमेव[1] सम्बध्यते। तत्र स्रोतो हेतुफलयोर्नैरन्तर्येण प्रवृत्तिः। उदकसमूहस्य पूर्वापरभागाविच्छेदेन प्रवाह ओघ इत्युच्यते। यथा ह्योघस्तृणकाष्ठगोमयादीन् आकर्षयन् गच्छति, एवमालयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यानेञ्ज्यकर्मवासनाऽनुगतं स्पर्शमनस्कारादीन् आकर्षयत् स्रोतसाऽऽसंसारमव्युपरतं प्रवर्तत इति।

अविच्छिन्न जलप्रवाह (ओघ) की भाँति वह नैरन्तर्येण (विना विराम के) प्रवृत्त होता रहता है।

(कारिकास्थ) 'तत्' शब्द द्वारा आलयविज्ञान ही सम्बद्ध होता है। वहाँ 'स्रोतस्' का तात्पर्य हेतु और फल की निरन्तर प्रवृत्ति से है। पूर्वभाग और अपरभाग का विच्छेद न होते हुये उदकसमूह का जो प्रवाह है, वह 'ओघ' कहलाता है। जिस प्रकार ओघ तिनके, लकड़ी और गोबर आदि को खींचते हुए चलता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी कुशल, अकुशल और आनेञ्ज्य कर्मों की वासनाओं से युक्त रहता हुआ स्पर्श, मनस्कार आदि चैतसिकों को साथ खींचता हुआ निरन्तर संसारपर्यन्त बिना विराम के प्रवृत्त होता रहता है।

नित्य है या अनित्य, वे इस प्रकार का प्रश्न पूछ सकते हैं कि क्या एक ही आलयविज्ञान संसार-समाप्तिपर्यन्त प्रवृत्त होता रहता है या क्षणिक प्रवाह के रूप में यावत्-संसार प्रवृत्त होता है ?

सिद्धान्तपक्ष—

न हि तदेकमभिन्नमनुवर्तते०—एक ही आलयविज्ञान संसार की समाप्ति तक प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि आलयविज्ञान क्षणिक होता है। आलयविज्ञान की धारा (सन्तति) में अनेक क्षण होते हैं। प्रत्येक क्षण अपने समय में ही विद्यमान होता है, दूसरे क्षण में विनष्ट हो जाता है। इसलिये एक (एक क्षण में होनेवाला) ही आलयविज्ञान संसार की समाप्ति-पर्यन्त प्रवृत्त नहीं होता।

आलयविज्ञान की प्रवृत्ति का स्वरूप—

तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्—एक ही आलयविज्ञान यावत्-संसार प्रवृत्त नहीं होता; अपितु वह उसी प्रकार धारावाहिक रूप से संसारसमाप्तिपर्यन्त प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार जलौघ (बाढ़) धारावाहिक रूप से समुद्रपर्यन्त जाता है। पूर्व और अपर (पश्चात्) क्षणों का कार्यकारणरूप से निरन्तर प्रवृत्त होना 'धारा' कहलाता है, उस धारा की भाँति आलयविज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

तत्र स्रोतो हेतुफलयोर्नैरन्तर्येण०—जब जलसमूह बहता है, तब वहाँ पूर्वक्षण कारण होता है और अपरक्षण कार्य होता है। उन दोनों क्षणों के अव्यवहितरूप से प्रवृत्त होते रहने के कारण उसमें 'नैरन्तर्य' आता है।

---

१. इति। तच्चे०—स०।

यथा ह्योघस्तृणकाष्ठगोमयादीन्०—जिस प्रकार जलौघ (बाढ़) अपने साथ तृण, काष्ठ, गोबर आदि को लेकर बहता चलता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी पुण्य, अपुण्य और आनेञ्ज्य कर्मों की वासनाओं को लेकर बहता रहता है। स्पर्श, मनस्कार आदि सम्प्रयुक्त चैतसिकों के साथ वह तब तक प्रवृत्त होता रहता है, जब तक संसार समाप्त (व्युपरत) नहीं हो जाता। अर्थात् जब तक मोक्ष नहीं होता।

आलयविज्ञान की इस प्रकार की प्रवृत्ति का स्वरूप त्रिंशिका (प्रस्तुत ग्रन्थ) और उसकी टीकाओं में अत्यन्त स्पष्ट है। उनके सम्यग् अवलोकन से उसके स्वरूप के बारे में किसी तरह का सन्देह अवशिष्ट नहीं रह जाता। फिर भी बहुत लोगों के मन में यह सन्देह है कि विज्ञानवादी आलयविज्ञान को नित्य मानते हैं। यहाँ ऐसा कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता, जिससे यह सिद्ध हो कि आलयविज्ञान नित्य है। जब तक आलयविज्ञान को एक विज्ञान माना जायगा, तब तक उसे अवश्य अनित्य मानना पड़ेगा। फलतः आलयविज्ञान को नित्य मानना, उसे शुद्ध मानना तथा परमार्थ सत्य मानना यह सब विज्ञानवादी आचार्यों के मन्तव्य से साक्षात् विरुद्ध है।

लङ्कावतारसूत्र आदि में ऐसा अवश्य उपलब्ध होता है कि आलयविज्ञान एक स्थिर-विज्ञान है और वह यावत्-संसार नित्यरूप से प्रवृत्त होता है; किन्तु इसका अभिप्राय यह बिलकुल नहीं है कि आलयविज्ञान नित्य है। बल्कि इसका अभिप्राय सन्तान की स्थिरता से है। अर्थात् धारावाहिकरूप से निरन्तर प्रवृत्त होते रहने से है। इसी दृष्टि से आलय-विज्ञान स्थिरविज्ञान कहलाता है।

आर्य असङ्ग और वसुबन्धु आदि ने भी आलयविज्ञान का इसी रूप में प्रतिपादन किया है। क्षणिक होने पर भी अस्थिर और स्थिर ये भेद हो सकते हैं। मेघसमूह के भीतर चमकनेवाली विद्युत् अत्यन्त शीघ्रता से विलुप्त हो जाती है, उसकी कोई धारा आगे नहीं चलती, इसलिये वह स्पष्टतया अस्थिर प्रतीत होती हैं; किन्तु घट, स्तम्भ आदि की धारा आगे चलती रहती है, इसलिये वे स्थिर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षणिक वस्तुओं में भी अस्थिर और स्थिर ये भेद होते ही हैं। ठीक उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान आदि प्रवृत्तिविज्ञान अस्थिर कहलाते हैं; क्योंकि वे निरन्तर प्रवृत्त नहीं होते। अर्थात् उनकी धारा लगातार लम्बे समय तक प्रवृत्त नहीं होती; अपितु वे कदाचित् कारणसमूह के उपस्थित होने पर उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाते हैं। आलयविज्ञान ऐसा नहीं है। वह अनादिकाल से प्रवृत्त हो रहा है और जब तक संसार की समाप्ति नहीं होगी अर्थात् मोक्ष नहीं होगा, तब तक निरन्तर प्रवृत्त होता रहेगा। चक्षुर्विज्ञान आदि की अपेक्षा चूँकि वह अधिक स्थिर है, इसलिये 'स्थिरविज्ञान' कहलाता है।

क्षणिक होने और धारावाहिकरूप से प्रवृत्त होने में कोई विरोध नहीं है। क्षणभङ्ग-स्वभाव होने पर भी वस्तु की धारावाहिक प्रवृत्ति हो सकती है—यह बौद्धों के विचार की

५८. तस्यैवं स्रोतसा प्रवृत्तस्य कस्यामवस्थायां व्यावृत्तिः ? इत्याह—

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे

निरन्तर प्रवृत्त इस प्रकार के आलयविज्ञान की निवृत्ति किस अवस्था में होती है ? इस पर आचार्य कहते हैं—

उस आलयविज्ञान की निवृत्ति अर्हत्त्व प्राप्त होने पर होती है।

विशेषता है। क्षणिकता के बारे में विचार करने पर प्रारम्भ में बहुत लोगों को एक प्रकार की अव्यवस्था का अनुभव होता है। क्षणभंगुरता को स्थापना की जाने पर उन्हें वस्तु की धारा उचित प्रतीत नहीं होती तथा वस्तु की धारा मानने पर उसका क्षणभङ्गस्वभाव उचित प्रतीत नहीं होता—यही विचारों की सीमायें है। किन्तु युक्तिपूर्वक पुनः पुनः गहन चिन्तन करने पर कदाचित् ऐसा समय उपस्थित होता है, जब उन्हें वस्तु की धारा और उसके क्षणभङ्गस्वभाव में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता। इतना ही नहीं, अपितु उन्हें यही उचित प्रतीत होता है, साथ ही किसी तरह की अव्यवस्था का भी अनुभव नहीं होता। विचारों के ये दो छोर सभी विचारों में उपलब्ध होते हैं।

विज्ञानवाद के बारे में यदि विचार किया जाता है, तो आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि यदि बाह्यार्थ न माने जायंगे, तो रूप आदि धर्म अलीक हो जायँगे। यदि रूप आदि का अस्तित्व स्वीकार किया जायगा, तो विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध न हो सकेगी। किन्तु युक्तिपूर्वक ठीक ठीक विचार करते रहने पर एक ऐसा समय आता है, जब ऐसा प्रतीत होने लगता है कि रूप आदि का अस्तित्व मानने पर हो विज्ञप्तिमात्रता सिद्ध हो सकती है तथा बाह्यार्थ न मानने पर ही रूप आदि की सम्यग् व्यवस्था हो सकती है।

इसी प्रकार आत्मा को न मानने पर ऐसा लगता है कि कोई व्यक्ति (जीव) ही न हो सकेगा तथा यदि व्यक्ति या जीव स्वीकार किया जायगा, तो आत्मा भी मानना पड़ेगा; किन्तु सूक्ष्म विचार करने से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और ऐसा भलीभाँति मालूम होने लगता है कि यदि गन्ता (जानेवाला), आगन्ता (आनेवाला), मन्ता (विचार करनेवाला) आदि कोई व्यक्ति है, तो नित्य आत्मा नहीं ही होना चाहिये। नैरात्म्य होने पर ही व्यक्ति, जीव, कर्ता, भोक्ता आदि सभी की सम्यग् व्यवस्था हो सकती है।

५८. तस्यैवं स्रोतसा प्रवृत्तस्य०—जो आलयविज्ञान यावद्-संसार निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है, उसकी व्यावृत्ति कब होती है ?

समाधान—

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे—साधारणतया आलयविज्ञान, जो उपर्युक्त लक्षणों से युक्त है, अर्हद्-अवस्था में निरुद्ध हो जाता है तथा अष्टमभूमि प्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्व की अवस्था में भी निरुद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से '**तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे**' कहा गया है।

किं पुनरर्हत्त्वम् ? यद्योगादर्हन्नित्युच्यते। कस्य पुनर्योगादर्हन्नित्युच्यते ? क्षयज्ञानानुत्पादज्ञानलाभात्। तस्यां ह्यवस्थायामालयविज्ञानाश्रितदौष्ठुल्यनिरवशेषप्रहाणाद् आलयविज्ञानं व्यावृत्तं भवति। सैव चार्हदवस्था।

अर्हत्त्व क्या है ? जिसके योग से पुद्गल 'अर्हन्' कहलाता है। किसके योग से पुद्गल अर्हन् कहलाता है ? क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान के लाभ से। उस अवस्था में आलयविज्ञान में आश्रित (समस्त) दौष्ठुल्यों का निरवशेष प्रहाण हो जाता है, फलतः आलयविज्ञान निवृत्त हो जाता है और वही अर्हद्-अवस्था होती है।

विशेष—ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान के दो अंश होते हैं, यथा—१. विपाक और २. वासना। उनमें से विपाक निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में विद्यमान नहीं रहता। तथा दशम भूमि की वज्रोपमसमाधि के अनन्तर भी विद्यमान नहीं रहता। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त कभी भी किसी भी अवस्था में उसका अभाव नहीं होता। अर्थात् इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओं में उसकी प्रवृत्ति होती रहती है। पुद्गल जब किसी जन्म में अर्हत्त्व अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब भी अर्हत्त्व प्राप्त होते ही उस के विपाकविज्ञान की निवृत्ति नहीं हो जाती; अपितु जब तक वह जीवित रहता है, तब तक उसका उस जन्म का विपाकविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है। जब वह मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् निरुपधिशेष निर्वाण को प्राप्त करता है, तभी उसके विपाकविज्ञान की निवृत्ति होती है। क्योंकि वह विपाक उसके पूर्वकृत कर्मों का विपाक है और विपाक का स्वरूप यावज्जीवन चलनेवाला होता है। यही बात बोधिसत्त्व की वज्रोपमसमाधि तक भी लागू है।

आलयविज्ञान का दूसरा अंश, जो वासना है, वह अर्हत्त्व प्राप्त होते ही समाप्त हो जाता है। तथा अष्टमभूमिप्राप्त बोधिसत्त्व, जो 'अवैवर्तिक' कहलाता है, उसकी सन्तति (जीवनसन्तति) में भी वह अंश (वासना) नहीं रहता।

क्षयज्ञानानुत्पादज्ञानलाभात्०—क्लेशों के क्षयज्ञान और उनके अनुत्पादज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर पुद्गल 'अर्हत्' कहलाने लगता है। उस अवस्था में उसके सकल दौष्ठुल्य (क्लेश) निरवशेष प्रहीण हो जाते हैं। फलतः उस समय आलयविज्ञान, जो क्लेश और कर्मों की वासनाओं का आगार है, निवृत्त हो जाता है।

ऊपर कहा गया है कि समस्त सांक्लेशिक धर्म कार्यरूपेण आलयविज्ञान से सम्बद्ध रहते हैं और आलयविज्ञान उन सब में कारणरूपेण सम्बद्ध रहता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान आलयविज्ञान के प्रति आत्मदृष्टि रखता है, अतः वह उस (आलयविज्ञान) से आत्मदृष्ट्या सम्बद्ध रहता है[1]। इन सब कारणों की वजह से विपाकविज्ञान को 'आलयविज्ञान' यह संज्ञा प्राप्त होती है। जब क्लिष्ट मनोविज्ञान समाप्त हो जाता है, तब उपर्युक्त कारणों के विद्यमान

---

१. द्र० — ०त्रि ४०, पृ० १२७

न रहने से विपाकविज्ञान आलयविज्ञान नहीं रहता। अर्थात् विपाकविज्ञान की 'आलयविज्ञान' संज्ञा समाप्त हो जाती है; फिर भी विपाकविज्ञान उस अवस्था में भी विद्यमान रहता है।

हमने पहले कहा है कि विपाकविज्ञान को आलयविज्ञान कहते हैं। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि जो विपाकविज्ञान होता है, वह अवश्य आलयविज्ञान भी होता है। वस्तुस्थिति यह है कि जो आलयविज्ञान होता है, वह अवश्य विपाकविज्ञान होता है; किन्तु जो विपाकविज्ञान होता है, वह आलयविज्ञान होता भी है और नहीं भी होता। फलतः सोपधिशेष अर्हत् की अवस्था में तथा अष्टमभूमिप्राप्त अवैवर्तिक बोधिसत्त्व की अवस्था में यद्यपि आलयविज्ञान नहीं होता; तथापि विपाकविज्ञान विद्यमान रहता है। हमने ऊपर कहा भी है कि विपाकविज्ञान की निवृत्ति निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में होती है तथा महायान को वज्रोपमसमाधि के पश्चात् की अवस्था में होती है।

इस विज्ञानवाद (आगमानुयायी) के अनुसार श्रावक या प्रत्येकबुद्ध जब निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त करते हैं, तब उनके विपाकविज्ञान का निरोध हो जाता है। इस अवस्था में चूंकि उनका ज्ञानप्रवाह आगे नहीं चलता, इसलिये उनका पुनर्जन्म नहीं होता। उस समय उनकी केवल ऐसी धर्मधातु (निर्वाणधातु) में अवस्थिति रहती है, जिसमें समस्त संस्कृत धर्मों की प्रवृत्ति का विच्छेद रहता है तथा जो (धर्मधातु) सर्वप्रपञ्चोपशम है। लेकिन इस प्रकार की निर्वाणधातु और महायान की निर्वाणधातु में बहुत अन्तर (फर्क) है।

श्रावक और प्रत्येकबुद्ध जब निर्वाणधातु को प्राप्त हो जाते हैं तब उस (निर्वाणधातु की प्राप्ति) के पश्चात् उस निर्वाणधातु से ऐसे निर्माण आदि काय उत्थित नहीं होते, जिनसे समस्त जीवों का कल्याण किया जा सके; क्योंकि उन्होंने (श्रावक और प्रत्येकबुद्ध ने) परार्थ के लिये मार्ग का अभ्यास नहीं किया है। बोधिसत्त्व जब निर्वाणधातु को प्राप्त करते हैं, तो उस निर्वाणधातु में स्थित रहते हुए ही उस (निर्वाणधातु) से वे ऐसे कायों के रूप में उत्थित होते हैं, जो सकल जगत् का कल्याण करते हैं, जिन्हें 'सम्भोगकाय' 'निर्माणकाय' आदि कहते हैं।

वैभाषिक लोगों की मान्यता है कि निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में सभी संस्कृत धर्मों से विच्छेद हो जाता है और उनका वह विच्छेद 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहलाता है। वह (अप्रतिसंख्यानिरोध) यद्यपि असंस्कृत होता है; तथापि वह द्रव्यसत् होता है।

सौत्रान्तिक लोग निरुपधिशेष निर्वाण को प्रसज्यप्रतिषेधस्वरूप (अभावस्वरूप) मानते हैं। वह (निरुपधिशेष निर्वाण) समस्त संस्कृत धर्मों का निरोधमात्र है; क्योंकि वे (सौत्रान्तिक) उसे सभी (पाँचों) स्कन्धों से वियुक्त मानते हैं और असंस्कृत को द्रव्यसत् नहीं मानते, जैसा कि वैभाषिक मानते हैं। वे दोनों (वैभाषिक और सौत्रान्तिक) सूत्रों का अभिप्राय यही समझते हैं।

आगमानुसारी विज्ञानवादी यह मानते हैं कि निरुपधिशेष निर्वाण समस्त जड और चेतन की प्रवृत्ति से उपशम है। इसलिये उस अवस्था में सुख वेदना नहीं होती; किन्तु इस

५६. उक्तः सविभङ्गो[1] विपाकपरिणामः। इदानीं मननाख्यं द्वितीयपरिणाममाह—तदाश्रित्य प्रवर्तत इति विस्तरः।

अपने विभागों के साथ विपाकपरिणाम का व्याख्यान कर दिया गया। अब 'मनन' नामक द्वितीय परिणाम कहा जा रहा है—'तदाश्रित्य प्रवर्तते' (आलयविज्ञान का आश्रय करके प्रवृत्त होता है)—इत्यादि द्वारा आगे उस का विस्तार है।

प्रकार का सुख होता है, जो दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है। इस प्रकार वे निरुपधिशेष निर्वाण को प्रसज्यप्रतिषेध (अभाव)-मात्र नहीं मानते, जैसा सौत्रान्तिक मानते हैं तथा वे उसे द्रव्यसत् भी नहीं मानते, जैसा वैभाषिक मानते हैं; अपितु वे उसे नित्य, सत् मानते हैं।

इन (आगमानुसारी विज्ञानवादियों) के मत में कोई श्रावक या प्रत्येकबुद्ध साधनावस्था में अपने मार्ग को छोड़कर महायानमार्ग में प्रविष्ट हो सकते हैं; किन्तु निरुपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति से पूर्व ही वे ऐसा कर सकते हैं, बाद में नहीं; क्योंकि उनके मत में निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में चित्त-चैतसिकों की प्रवृत्ति नहीं होती। इनके अनुसार निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त करना ही श्रावक का अन्तिम लक्ष्य है। यही प्रत्येकबुद्ध का भी लक्ष्य होता है। बोधिसत्त्व का अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्त करना होता है। इसीलिये आगमानुयायी विज्ञानवादी 'त्रियानवादी' कहलाते हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति, दिङ्नाग आदि न्यायानुसारी विज्ञानवादी तथा समस्त माध्यमिक एकयानवादी होते हैं; क्योंकि वे श्रावक और प्रत्येकबुद्ध का निरुपधिशेष निर्वाणधातु में प्रवेश के बाद भी महायान में प्रवेश मानते हैं। केवल प्रवेश ही नहीं; अपितु वे महायान में उनका प्रवेश अनिवार्य मानते हैं। इसलिये उनके मत में निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में चित्त-चैत्तों की प्रवृत्ति निरुद्ध नहीं होती।

इतना ही नहीं, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि के तर्कों से प्रभावित होकर पश्चाद्वर्ती अनेक सौत्रान्तिक भी एकयानवादी हो गये, जिनसे हम 'युक्त्यनुसारी सौत्रान्तिक' के नाम से परिचित हैं।

द्वितीय परिणाम क्लिष्ट मनोविज्ञान

५६. उक्तः सविभङ्गो विपाकपरि०—प्रथम परिणाम उसके भेद, प्रभेदों के साथ सविस्तर स्पष्टतया प्रतिपादित कर दिया गया है।

अब द्वितीय परिणाम का स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है, जो मननात्मक है। क्लिष्ट मनोविज्ञान एक विज्ञान है, इसलिये उसका आश्रय और आलम्बन होना आवश्यक

---

1. सविभागो—ब०।

तत्र यथा चक्षुरादिविज्ञानानां चक्षुरादय आश्रयत्वेन, रूपादयश्चालम्बनत्वेन प्रसिद्धाः, नैवं क्लिष्टस्य मनस आश्रय आलम्बनं वा प्रसिद्धम्। न च विज्ञानम् आश्रयालम्बननिरपेक्षं युज्यत इत्यतः क्लिष्टस्य मनस आश्रयालम्बनप्रतिपादनार्थम्, निरुक्तिप्रतिपादनार्थं चाह—

तदाश्रित्य प्रवर्तते।
तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम् ॥ ५ ॥

तदाश्रित्य[1] प्रवर्तत इति तच्छब्देनालयविज्ञानमभिसम्बध्यते। तद्वासनाश्रयो ह्यालयविज्ञानमतस्तदाश्रित्य प्रवर्तते, सन्तानेनोत्पद्यत इत्यर्थः।

वहाँ (द्वितीय परिणाम के वर्णनप्रसङ्ग में) चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों के जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र आदि आश्रय के रूप में तथा रूप, शब्द आदि आलम्बन के रूप में प्रसिद्ध हैं, उस प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान के आश्रय और आलम्बन प्रसिद्ध नहीं हैं। आश्रय और आलम्बन से निरपेक्ष विज्ञान तो युक्त नहीं है, अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान के आश्रय और आलम्बन का प्रतिपादन करने के लिये तथा उसकी निरुक्ति का प्रतिपादन करने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) कहते हैं—

आलयविज्ञान का आश्रय करके और उसी (आलयविज्ञान) को आलम्बन बनाकर मननालक्षण 'मनस्' नामक विज्ञान प्रवृत्त होता है।

'तदाश्रित्य प्रवर्तते' इसमें कथित 'तत्' शब्द द्वारा आलयविज्ञान सम्बद्ध होता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान की वासना का आश्रय आलयविज्ञान ही है, इसलिये वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) आलयविज्ञान का आश्रय करके ही प्रवृत्त होता है। अर्थात् सन्तान के रूप में उत्पन्न होता है।

है। जो विज्ञान होता है, उसका आश्रय एवं आलम्बन अवश्य होता है। निराश्रय और निरालम्बन विज्ञान का होना असम्भव है। जिस प्रकार लोक में चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों के आश्रय और आलम्बन प्रसिद्ध हैं, यथा—चक्षुर्विज्ञान का चक्षुरिन्द्रिय आश्रय है, रूप आलम्बन है, इसी तरह अन्य विज्ञानों के भी आश्रय और आलम्बन प्रसिद्ध हैं, उस प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान के आश्रय और आलम्बन प्रसिद्ध नहीं हैं, अतः उसके आश्रय, आलम्बन, आकार और सम्प्रयुक्त चैतसिक आदि का यहाँ क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

आश्रय का निरूपण—

तदाश्रित्य प्रवर्तते०—उपर्युक्त आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आश्रय है। उस (आलयविज्ञान) का आश्रय लेकर ही वह प्रवृत्त होता है। आलयविज्ञान क्लिष्ट

---

1. इति। तदा०—स०।

अथवा यस्मिन् धातौभूमौ वाऽऽलयविज्ञानं विपाकस्तदपि क्लिष्टं मनस्तद्धातुकं तद्भूमिकं चेति तत्प्रतिबद्धवृत्तित्वात् तदाश्रित्य प्रवर्तते।

अथवा आलयविज्ञान नामक विपाक जिस धातु और जिस भूमि में उत्पन्न होता है, वह क्लिष्ट मनोविज्ञान भी उसी धातु और उसी भूमि का होता है। इस प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान की प्रवृत्ति आलयविज्ञान से प्रतिबद्ध होने के कारण यह कहा गया है कि 'क्लिष्टमनोविज्ञान आलयविज्ञान का आश्रय करके प्रवृत्त होता है'।

मनोविज्ञान का आश्रय इसलिये है; क्योंकि वह क्लिष्ट मनोविज्ञान की वासना का निवासस्थान है। तात्पर्य यह है कि आलयविज्ञान एक समुद्र की भाँति है और क्लिष्ट मनोविज्ञान उस समुद्र से उद्भूत तरङ्ग की भाँति है[1]। जिस प्रकार तरङ्ग समुद्र से उद्भूत होकर समुद्र में ही विलीन हो जाती है, उस प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान भी आलयविज्ञान से उद्भूत होकर उसी में विलीन हो जाया करता है। जब विलीन होता है, तब वह वासना के रूप में परिणत हो जाता है और वह वासना आलयविज्ञान में ही स्थित रहती है। वही वासना समय आने पर फिर क्लिष्ट मनोविज्ञान के रूप में आविर्भूत हो जाता है। यही कारण है कि आलयविज्ञान क्लिष्ट मनोविज्ञान का आश्रय कहा गया है। इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान संसार की समाप्तिपर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त नहीं होता। वह समाहित मार्ग आदि की अवस्था में निरुद्ध हो जाया करता है। इसकी चर्चा आगे की जायगी।

प्रकारान्तर से आश्रयनिरूपण

अथ वा यस्मिन् धातौ भूमौ वा०—आलयविज्ञान जिस धातु एवं जिस भूमि का होता है, उसी धातु और भूमि का क्लिष्ट मनोविज्ञान भी होता है। आलयविज्ञान यदि कामभूमि का होगा, तो क्लिष्ट मनोविज्ञान भी कामधातु का ही होगा। रूप और अरूप धातु के बारे में भी यही समझना चाहिये। इसी तरह आलयविज्ञान यदि प्रथम ध्यान भूमि का होगा, तो क्लिष्ट मनोविज्ञान भी उसी भूमि का होगा। भवाग्रभूमि तक यही नियम लागू होता है। इस प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान आलयविज्ञान से सम्बद्ध रहता है। यही वह दूसरा कारण है, जिसकी वजह से आलयविज्ञान क्लिष्ट मनोविज्ञान का आश्रय कहा गया है।

---

१. तु०—तरङ्गा ह्युदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानः प्रवर्तते॥—लङ्का० २ : ९९–१०० पृ० ४६।

६०. तदालम्बमिति आलयविज्ञानालम्बनमेव; सत्कायदृष्ट्यादिभिः सम्प्रयोगाद् 'अहम्, ममे' त्यालयविज्ञानालम्बनत्वात् ।

कथं पुनर्यत एव चित्तादुत्पद्यते तदेवालम्बनं भवति[1] ?

यथा तदनिच्छतां केषांचित् कस्यांचिदवस्थायां यत एव चित्ताद् मनोविज्ञानमुत्पद्यते, तदालम्बनमेव तदुत्पद्यते ।

'तदालम्बम्' का तात्पर्य है, आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन है। क्योंकि सत्कायदृष्टि आदि चैतसिकों से सम्प्रयोग होने के कारण वह आलयविज्ञान को ही 'अहम, मम' इत्यादि रूप से आलम्बन बनाता है।

जिस चित्त (आलयविज्ञान) से वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) उत्पन्न होता है, उसे ही वह कैसे आलम्बन बना सकता है ?

जिस प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान को न माननेवाले कुछ लोगों के मत में किसी अवस्था में जिस चित्त से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही वह (मनोविज्ञान) आलम्बन बनाकर उत्पन्न होता है।

---

६०. आलम्बननिरूपण—

तदालम्बमिति आलयविज्ञानालम्ब०—आलयविज्ञान ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन है; क्योंकि सत्कायदृष्टि आदि से सम्प्रयुक्त होने के कारण आलयविज्ञान को वह 'अहम्' 'मम' इत्यादि के रूप में आलम्बन करता है।

कथं पुनर्यत एव चित्तादुत्प०—यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ऊपर आलयविज्ञान को क्लिष्ट मनोविज्ञान का आश्रय कहा गया है; फिर उसी को यहाँ क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन कहा गया है। आश्रय का अर्थ 'हेतु' है। ऐसी स्थिति में किसी चित्त द्वारा अपने हेतु को ही आलम्बन बनाना कहाँ तक सम्भव है ?

समाधान—

यथा तदनिच्छतां केषांचित्०—यह तर्क न केवल विज्ञानवादी को ही बाधा पहुँचाता है; अपितु अन्यवादियों को भी बाधा पहुँचायगा, जो क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं मानते। क्योंकि उनके मत में भी कुछ मनोविज्ञान निरुद्ध होते है और तत्समनन्तर दूसरे मनोविज्ञान उत्पन्न होते हैं। वहाँ प्रथम (निरुध्यमान) मनोविज्ञान दूसरे (उत्पद्यमान) मनोविज्ञान का समनन्तर-प्रत्यय होता है। वह समनन्तर-प्रत्यय उस द्वितीय मनोविज्ञान का आश्रय भी होता है और आलम्बन भी होता है। फलतः जिस प्रकार मनोविज्ञान अपने आश्रय का आलम्बन करता है, उसी प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान भी अपने आश्रय का आलम्बन कर सकता है।

---

१. तद् भवति—ब०।

६१. मनोनाम विज्ञानमिति मन इति नाम आख्या यस्य विज्ञानस्य, तद् आलयविज्ञानमाश्रित्य प्रवर्तते, तदालम्बनं च। मनोनाम इत्यनेन आलयविज्ञानात् प्रवृत्तिविज्ञानाच्च व्यवच्छिनत्ति।

तत्पुनः किं स्वभावम् ? इत्याह—मननात्मकमिति। एवं मननात्मकत्वात् मन इत्युच्यते नैरुक्तेन विधिना।

६२. विज्ञानस्वरूपत्वादवश्यं तच्चैत्तैः सम्प्रयुज्यते। इदं तु न ज्ञायते कतमैस्तच्चैत्तैः कियद्भिः कियन्तं कालं वा सम्प्रयुज्यते ? इत्यत आह—

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा।

'मनस्' यह नाम अर्थात् आख्या, जिस विज्ञान की है, उसे 'मनस्' नामक विज्ञान अर्थात् 'मनोविज्ञान' कहते हैं। वह आलयविज्ञान का आश्रय करके प्रवृत्त होता है और आलयविज्ञान का ही आलम्बन करता है। "'मनस्' नामक" इस कथन से इसका आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों से व्यवच्छेद किया गया है।

वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) किस स्वभाव का है ? इस पर आचार्य कहते हैं—'वह मननात्मक है'। इस प्रकार मननात्मक होने से नैरुक्त विधि से वह 'मनस्' कहलाता है।

(क्लिष्ट मनोविज्ञान के) विज्ञानस्वरूप होने से वह अवश्य चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है; किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि वह कौन और कितने चैतसिकों से कितने समय तक सम्प्रयुक्त होता है ? इस बारे में आचार्य कहते हैं—

(वह) निवृताव्याकृत चार क्लेशों से सदा सम्प्रयुक्त होता है।

---

६१. **मनोनाम विज्ञानमिति०**—उपर्युक्त क्लिष्ट मनोविज्ञान, जो अपने आश्रय को ही आलम्बन बनाकर उत्पन्न होता है, वह 'मनस्' भी कहलाता हैं। यह आलयविज्ञान से ही उत्पन्न होता है और उसे ही आलम्बन भी बनाना है। 'मनस्' कहने से उसका आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों से भेद दिखलाया गया है। इस तरह वह आलयविज्ञान से भी पृथक् है और छह प्रवृत्तिविज्ञानों से भी पृथक् होता है।

आकारनिरूपण—

तत्पुनः किं स्वभावम् ? इत्याह०—कारिका में उल्लिखित 'मननात्मकम्' इस शब्द द्वारा क्लिष्ट मनोविज्ञान का आकार (स्वभाव) प्रदर्शित किया गया है। 'अहंकार', 'ममकार' ही इसका आकार है। इस वजह से इसके आलम्बनों में घट, पट आदि पदार्थ नहीं आते। यह आलयविज्ञान को ही आलम्बन बनाकर उसे 'अहम्, मम'—इत्यादि रूप से ग्रहण करता है।

६२. **विज्ञानस्वरूपत्वादवश्यम्०**—क्लिष्ट मनोविज्ञान क्योंकि एक विज्ञान है और विज्ञान के साथ चैतसिक अवश्य सम्प्रयुक्त होते हैं, इसलिये इसके साथ भी चैतसिकों का

चैत्ता[1] हि द्विप्रकाराः—क्लेशास्तदन्ये च। तदन्येभ्यो व्यवच्छेदार्थमाह—'क्लेशैरि' ति। क्लेशा अपि षट्, न च तैः सम्प्रयुज्यतेऽतः 'चतुर्भिरि' त्याह। 'सहितमि' ति सम्प्रयुक्तम्। क्लेशा अपि द्विविधाः—अकुशला निवृताव्याकृताश्च। अकुशलेभ्यो विशेषार्थमाह—'निवृताव्याकृतैरि' ति। न हि निवृतेन विज्ञानेन अकुशलानां सम्प्रयोगः सम्भवति। निवृताः क्लिष्टत्वात्। अव्याकृताः कुशलाकुशलत्वेनाव्याकरणात्। 'सदे' ति सर्वकालम्। यावदस्ति[2] तावत्तैः सम्प्रयुक्तम्।

चैतसिक दो प्रकार के हैं, यथा—क्लेश और क्लेश से भिन्न। क्लेश से भिन्न चैतसिकों से भेद करने के लिये 'क्लेशैः' कहा। क्लेश भी छह होते हैं, उन सब से क्लिष्ट मनोविज्ञान सम्प्रयुक्त नहीं होता, इसलिये 'चतुर्भिः' (चार से)—यह कहा। 'सहित' का तात्पर्य सम्प्रयुक्त से है। क्लेश भी दो प्रकार के होते हैं, यथा—अकुशल और निवृताव्याकृत। अकुशलों से भेद करने के लिये 'निवृताव्याकृतैः' (निवृताव्याकृतों से)—ऐसा कहा। निवृत (क्लिष्ट) विज्ञान से अकुशल चैतसिकों का सम्प्रयोग सम्भव नहीं है। क्लिष्ट होने से निवृत हैं। कुशल और अकुशल के रूप में उनका व्याख्यान नहीं किया जा सकता, अतः 'अव्याकृत' हैं। 'सदा' का तात्पर्य सब समय से है। जब तक क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है, तब तक वह इन चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है।

सम्प्रयुक्त होना आवश्यक है; किन्तु इससे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक ज्ञात नहीं हैं, अतः उन्हें दिखलाने के लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

सम्प्रयुक्त चैतसिक-निरूपण—

क्लेशैश्चतुर्भिः सहितम्०—क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृताव्याकृत चार क्लेशों से सर्वदा सम्प्रयुक्त रहता है। चैतसिक दो प्रकार के होते हैं, यथा—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। अक्लिष्ट चैतसिक क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। केवल क्लिष्ट चैतसिक ही उसके साथ सम्प्रयुक्त हो सकते हैं। प्रधान (मूल) क्लेश छह होते हैं और उनके अंगभूत क्लेश (उपक्लेश) बीस होते हैं। इन सबका वर्णन तृतीय विज्ञानपरिणाम के अवसर पर आगे किया जायगा। सभी मूल छह क्लेश इस क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपितु उनमें से केवल चार ही इसके साथ सम्प्रयुक्त होते हैं। क्लेशों में भी दो तरह के क्लेश उपलब्ध होते हैं, यथा—अकुशल क्लेश एवं निवृताव्याकृत क्लेश। उनमें से अकुशल क्लेश क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते; क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान अव्याकृत है और अव्याकृत के साथ अकुशलों का सम्प्रयोग नहीं हो सकता। क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृताव्याकृत है, अतः अनिवृत और अकुशल चैतसिक उस के साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। निवृत का तात्पर्य क्लेशों से दूषित (क्लिष्ट) होने से है। अव्याकृत का तात्पर्य ऐसे धर्मों से है, जिनकी

---

१. इति। चैत्ता—स०।

२. यावत्तदस्ति—ब०।

६३. सामान्यनिर्देशाद् विशेषतो न ज्ञायन्त इति विशेषतो निर्दिशति—

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः ॥६॥

उपादानस्कन्धेष्वात्मेति[1] दर्शनमात्मदृष्टिः, सत्कायदृष्टिरित्यर्थः। मोहोऽज्ञानम्, आत्मन्यज्ञानमात्ममोहः। आत्मविषये मान आत्ममानः, अस्मिमान इत्यर्थः। आत्मनि स्नेह आत्मस्नेहः[2], आत्मप्रेमेत्यर्थः।

६४. तत्रालयस्वरूपे संमूढः सन्नालयविज्ञाने आत्मदृष्टिमुत्पादयति। आत्म-

सामान्यतया निर्देश कर देने से (वे चैतसिक) विशेषरूप से ज्ञात नहीं हो रहे हैं, अतः आचार्य उनका विशेषरूप से निर्देश कर रहे हैं—

आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान और आत्मस्नेह नामक (चार) चैतसिकों से क्लिष्ट मनोविज्ञान का सम्प्रयोग होता है।

उपादान स्कन्धों में 'आत्मा' देखना 'आत्मदृष्टि' है, सत्कायदृष्टि इसका अर्थ है। मोह अज्ञान को कहते हैं, आत्मविषयक अज्ञान 'आत्ममोह' है। आत्मविषयक मान 'आत्ममान' है, अस्मिमान इसका अर्थ है। आत्मविषयक स्नेह 'आत्मस्नेह' है, आत्मप्रेम इसका अर्थ है।

यहाँ आलयविज्ञान के स्वरूप में संमूढ होता हुआ पुरुष उस आलयविज्ञान में आत्मदृष्टि का उत्पाद करता है। आत्मदर्शन से जो (एक प्रकार की) चित्त की उन्नति होती है, वह

गणना कुशल और अकुशल दोनों में नहीं होती। चार क्लेश क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सर्वदा सम्प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् जब तक क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त होता है, तब तक वे उसके साथ अवश्य सम्प्रयुक्त रहते हैं।

६३. सामान्यनिर्देशाद् विशेषतो न०—ऊपर केवल इतना ही कहा गया है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ चार क्लिष्ट चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं; किन्तु इतने से उनका स्पष्ट परिज्ञान नहीं होता। अतः उन चारों का परिचय देने के लिये आचार्य कहते हैं—

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्म०—आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान और आत्मस्नेह—ये चार चैतसिक क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सदा सम्प्रयुक्त होते हैं। साधारणतया इन चारों का स्वरूप निम्न प्रकार का है—

पाँच स्कन्धों को आत्मरूपेण ग्रहण करनेवाली बुद्धि 'आत्मदृष्टि' है, इसे सत्कायदृष्टि भी कहते हैं। अज्ञान को मोह कहते हैं, आत्मा के बारे में मोह 'आत्ममोह' है। आत्मा का अभिनिवेश करनेवाला चैतसिक 'आत्ममान' है, इसे 'अहंमान' भी कहते हैं। आत्मा के प्रति प्रेम करनेवाला चैतसिक 'आत्मस्नेह' कहलाता है, इसे 'आत्मप्रीति' कहते हैं।

६४. तत्रालयस्वरूपे संमूढः०—ऊपर उन चार चैतसिकों का सामान्य निरूपण

---

१. इति। उपा०–स०।
२. नास्ति—अ०।

दर्शनाद् या चित्तस्योन्नतिः सोऽस्मिमानः। एतस्मिंस्त्रये सति आत्माभिमते वस्तुनि योऽभिष्वङ्गः, स आत्मस्नेहः।

आह च—

अविद्यया चात्मदृष्ट्या चास्मिमानेन तृष्णया।
एभिश्चतुर्भिः संक्लिष्टं मननालक्षणं मनः॥
विपर्यासनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सदैव यत्[1]।
कुशलाव्याकृते चित्ते सदाऽहङ्कारकारणम्॥

एते हि—

आत्ममोहादयः क्लेशा मनोवन्नवभूमिकाः।

अस्मिमान है। इन तीनों (आत्ममोह, आत्मदृष्टि और अस्मिमान) के होने पर आत्माभिमत वस्तु में जो आसक्ति होती है, वह आत्मस्नेह है।

कहा भी गया है—

मननालक्षण जो मन है, वह अविद्या (आत्ममोह), आत्मदृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (आत्मस्नेह)—इन चार चैतसिकों से युक्त होता है। जो क्लिष्ट मनस् सदा विपर्यास का निमित्त होता है, वह कुशल और अव्याकृत चित्तों में (भी) हमेशा अहंकार का कारण होता है।

ये—

आत्ममोह आदि क्लेश क्लिष्ट मनोविज्ञान की ही भाँति सभी ९ भूमियों में होते हैं।

किया गया है, अब विशेषरूप से उन चारों का परिचय दिया जा रहा है, जो क्लिष्ट मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त होते हैं—

आलयविज्ञान का स्वरूप यद्यपि अनित्य है; तथापि आत्मदृष्टि उसके उस अनित्य स्वरूप को समझ नहीं पाती। उलटे उसे (आलयविज्ञान को) नित्य, शाश्वत, कूटस्थ, स्वतन्त्र आत्मा समझती है। यही कारण है कि उसे 'आत्मदृष्टि' कहते हैं। उसके साथ जो अज्ञान है, वही 'आत्ममोह' है। आलयविज्ञान पाँच स्कन्धों में विज्ञानस्कन्ध है। उस विज्ञानस्कन्ध को आलम्बन बनाकर, जो आत्मदृष्टि होती है, उसे सत्कायदृष्टि भी कहते हैं। जब आत्मदृष्टि उत्पन्न हो जाती है, तब 'अहंमान' (अस्मिमान) का होना भी स्वाभाविक हो जाता है। सत्कायदृष्टि, आत्ममोह और अस्मिमान—इन तीनों के उत्पन्न हो जाने पर यह भी स्वाभाविक है कि उस 'अहम्' के प्रति प्रेम या अनुराग उत्पन्न हो।

उपर्युक्त सभी बातों का उपसंहार करते हुये टीकाकार आचार्य स्थिरमति आर्य असंग का संग्रहवाक्य उद्धृत करते हैं—

---

1. तत्—ब०।

६५. इह च सामान्येनाभिधानान्न ज्ञायते किं स्वभूमिकैरेव सम्प्रयुज्यते, उतान्यभूमिकैरपि ? इत्यत आह—

यहाँ सामान्यरूप से कहा गया है, इसलिये यह ज्ञात नहीं हो रहा है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वभूमिक क्लेशों से ही सम्प्रयुक्त होता है अथवा अन्य भूमि के क्लेशों से भी सम्प्रयुक्त होता है ? इस पर आचार्य कहते हैं—

अविद्यया चात्मदृष्ट्या चास्मिमानेन०—क्लिष्ट मनस् अर्थात् क्लिष्ट मनोविज्ञान चार क्लेशों से संक्लिष्ट होता है, यथा—अविद्या (आत्ममोह), आत्मदृष्टि, अस्मिमान तथा तृष्णा अर्थात् आत्मस्नेह ।

विपर्यासनिमित्तं तु०—इत्यादि द्वितीय कारिका द्वारा क्लिष्ट मनोविज्ञान को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है । यथा—क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वदा विपर्यस्त मति (विपरीत बुद्धि) का निमित्त अर्थात् हेतु होता है । यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न हो तो कुशल और अव्याकृत चित्त की अवस्था में 'अहंदृष्टि' न हो सकेगी । जब पुद्गल दान देता है, उस समय वह 'मैं दान दे रहा हूँ'—ऐसा समझता रहता है । यह कुशल चित्त की अवस्था है, साथ ही दाता में आत्मदृष्टि भी विद्यमान होती है । यही आत्मदृष्टि यहाँ विपर्यस्त बुद्धि है और यह क्लिष्ट मनोविज्ञान से उत्पन्न है ।

तात्पर्य यह है कि कुशल और अव्याकृत चित्त की अवस्था में भी आत्मदृष्टि देखी जाती है, इससे छह प्रवृत्तिविज्ञानों से भिन्न क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है ।

एते हि—

आत्ममोहादयः क्लेशाः ०—आत्ममोह आदि ये सब चारों क्लेश मनोविज्ञान की भाँति सभी ९ भूमियों में होते हैं ।

कामभूमि, चार रूपी ध्यानभूमि और चार अरूपी ध्यानभूमि—ये ९ भूमियाँ हैं ।

रूप और अरूप भूमियों में भी क्लिष्ट मनोविज्ञान अनुस्यूत रहता है और उसके साथ उपर्युक्त चार चैतसिक भी सदा सम्प्रयुक्त रहते हैं ।

६५. इह च सामान्येनाभिधानात् ०—यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्लिष्ट मनोविज्ञान तो ९ भूमियों में होता है; किन्तु यह समझ में नहीं आ रहा है कि जो व्यक्ति कामधातु में उत्पन्न है, उसकी सन्तान में विद्यमान जो क्लिष्ट मनोविज्ञान है; वह कामभूमि का ही होगा या रूप, अरूप भूमि का भी होगा । साथ ही उससे सम्प्रयुक्त चैतसिक भी उसी कामभूमि के ही होंगे या रूप अरूप भूमि के भी होंगे ?

यत्रजस्तन्मयैः

इति। यत्र जातो यत्रजः। 'तन्मयैरि'ति यत्र धातौ भूमौ वा जातस्तद्धातुकैः तद्भूमिकैरेव च[1] सम्प्रयुज्यते, नान्यधातुकैरन्यभूमिकैर्वा।

६६. किं पुनश्चतुर्भिरेव क्लेशैः सम्प्रयुज्यते ? न, इत्याह—

अन्यैः स्पर्शाद्यैश्च

सम्प्रयुज्यत इति सम्बध्यते। 'च' शब्दः समुच्चयार्थः। 'स्पर्शाद्यैरि' ति स्पर्शमनस्कारवेदनासंज्ञाचेतनाभिः। एते हि पञ्च धर्माः सर्वत्रगत्वात् सर्वविज्ञानैः

जिस (भूमि या धातु) में क्लिष्ट मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, वहीं के क्लेशों से युक्त होता है।

जहाँ उत्पन्न होता है, उसे 'यत्रजः' कहते हैं। 'तन्मयैः' का तात्पर्य है—जिस धातु या भूमि में क्लिष्ट मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उसी धातु या भूमि के क्लेशों से ही वह सम्प्रयुक्त होता है, अन्य धातु या भूमि के क्लेशों से सम्प्रयुक्त नहीं होता।

क्या क्लिष्ट मनोविज्ञान चार ही क्लेशों के सम्प्रयुक्त होता है ? आचार्य कहते हैं कि नहीं,

अन्य स्पर्श आदि चैतसिकों से भी

'सम्प्रयुक्त होता है'—यह सम्बद्ध होता है। 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। 'स्पर्शाद्यैः' का तात्पर्य है—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना चैतसिकों से भी सम्प्रयुक्त होता है। ये स्पर्श आदि पाँच धर्म सर्वत्रग होने से सभी चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं। इन चैतसिकों

इस सन्देह के निराकरण के लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

यत्रजस्तन्मयैः—

जो व्यक्ति जिस धातु या भूमि में उत्पन्न होता है, उसका मनोविज्ञान भी उसी धातु या भूमि का होता है। उदाहरणार्थ यदि पुद्गल कामभूमि में उत्पन्न हुआ है, तो उसका क्लिष्ट मनोविज्ञान भी कामभूमि का ही होगा। यही नियम रूप और अरूप भूमियों में लागू होता है। साथ ही उस क्लिष्ट मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त चैतसिक भी उसी धातु या भूमि के होते हैं, जिस धातु या भूमि का क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है। अर्थात् कामभूमि के क्लिष्ट मनोविज्ञान से कामभूमि के ही आत्ममोह आदि क्लेश सम्प्रयुक्त होंगे। उसका अन्य भूमि के क्लेशों से कभी सम्प्रयोग नहीं हो सकता। कामभूमि में उत्पन्न सत्त्व रूपी और अरूपी ध्यान तो प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु उनका क्लिष्ट मनोविज्ञान कामभूमि का ही होता है। यही न्याय भवाग्रभूमि तक लागू है।

६६. किं पुनश्चतुर्भिरेव०—प्रश्न है, क्या क्लिष्ट मनोविज्ञान उपर्युक्त आत्मदृष्टि आदि चार चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है ?

---

१. वा--ब०।

सम्प्रयुज्यन्ते। एतैरपि यत्र जातस्तन्मयैरेव सम्प्रयुज्यते, नान्यधातुभूमिकैः।

अथवा 'अन्यैरि' ति मूलविज्ञानसम्प्रयुक्तेभ्यो व्यवच्छेदार्थम्। मूलविज्ञाने ह्यनिवृताव्याकृताः स्पर्शादयः, क्लिष्टे तु मनसि मनोवत् निवृताव्याकृताः।

से (सम्प्रयुक्त होने में भी नियम है कि) जिस धातु या भूमि का क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है, उसी धातु या भूमि के इन स्पर्श आदि चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होता है, अन्य धातु या भूमि के स्पर्श आदि से नहीं।

अथवा 'अन्यैः' यह शब्द आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि से व्यवच्छेद के लिये है। आलयविज्ञान में सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि अनिवृताव्याकृत हैं, क्लिष्ट मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि तो क्लिष्ट मनोविज्ञान की भाँति निवृताव्याकृत होते हैं।

समाधान—

अन्यैः स्पर्शाद्यैश्च—उपर्युक्त आत्मदृष्टि आदि चार चैतसिक ही क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपि तु स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना—ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक भी उससे सम्प्रयुक्त होते हैं। क्योंकि ये पाँच चैतसिक सर्वत्रग चैतसिक हैं, इसलिये सभी चित्तों (विज्ञानों) से सम्प्रयुक्त होते हैं। क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले ये स्पर्श आदि पांच सर्वत्रग चैतसिक भी क्लिष्ट मनोविज्ञान की तरह उसी धातु या भूमि के होते हैं, जहाँ व्यक्ति उत्पन्न होता है। अर्थात् जिस धातु या भूमि का क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है।

अथवा 'अन्यैरि' ति मूलविज्ञान०—कारिकास्थ 'अन्यैः' शब्द का व्याख्यान प्रकारान्तर से भी किया जा सकता है। ऊपर के व्याख्यान में 'अन्य' का तात्पर्य आत्मदृष्टि आदि क्लेशों से भिन्न स्पर्श आदि पाँच सर्वत्रग चैतसिकों से था। इस दूसरे व्याख्यान में 'अन्य' का तात्पर्य आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि चैतसिकों से अन्य (भिन्न) स्पर्श आदि चैतसिकों से है। अर्थात् आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले स्पर्श आदि चैतसिक भिन्न है और क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले स्पर्श आदि चैतसिक भिन्न हैं। इस व्याख्यान के अनुसार 'अन्य' शब्द आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त चैतसिकों से व्यवच्छेद के लिये है, यथा—आलयविज्ञान के साथ जो स्पर्श आदि पांच सर्वत्रग चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं, वे अनिवृताव्याकृत होते हैं तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले पांच स्पर्श आदि सर्वत्रग चैतसिक क्लिष्ट मनोविज्ञान की भाँति निवृताव्याकृत होते हैं।

विचारणीय—विज्ञानवादी और माध्यमिक रूप और अरूप भूमि में भी राग आदि बहुविध क्लेश मानते हैं। राग आदि क्लेशों का मूल मोह या अविद्या है, इसलिये इन भूमियों में भी आत्मदृष्टि विद्यमान होती हैं। आत्मदृष्टि ही संसार का मूल है। जब तक इस (आत्मदृष्टि) की निवृत्ति न होगी, तब तक निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति असम्भव है। आत्मदृष्टि की निवृत्ति होने पर समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है। और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

६७. यदि तत् क्लिष्टं मनः कुशलक्लिष्टाव्याकृतावस्थास्वविशेषेण प्रवर्तते, न तस्य तर्हि निवृत्तिरस्ति। अनिवृत्ते च तस्मिन् कुतो मोक्ष इति कथं न मोक्षाभावः प्रसज्यते ? न प्रसज्यते यस्मात्—

अर्हतो न तत्।

न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च ॥७॥

यदि वह क्लिष्ट मनोविज्ञान कुशल, क्लिष्ट एवं अव्याकृत (सभी) अवस्थाओं में सामान्यरूप से प्रवृत्त होता रहता है, तो उसकी (कभी) निवृत्ति नहीं होगी। उसके निवृत्त न होने पर कैसे मोक्ष होगा, इस प्रकार (आपके मत में) कैसे मोक्ष के अभाव का प्रसङ्ग न होगा ? (मोक्षाभाव का) प्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि—

अर्हत् की सन्तान में, निरोधसमापत्ति में और लोकोत्तर मार्ग में वह नहीं होता।

विशेषतः आगमानुसारी विज्ञानवादी रूप और अरूप भूमि में क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व मानते हैं। वह आलयविज्ञान का आलम्बन करके उसका आत्मत्वेन ग्रहण करता रहता है। इसलिये आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान और आत्मस्नेह—ये चारों क्लेश भी वहाँ (रूप, अरूप भूमि में) विद्यमान होते हैं। यदि रूप, अरूप भूमि में आत्मदृष्टि न मानी जायगी, तो वहाँ रहनेवाले सभी सत्त्व (आत्मदृष्टि न होने से) अर्हत् हो जायँगे। क्योंकि अनादिकाल से जीवों में आत्मदृष्टि सहज है। इसलिये जब तक उस आत्मदृष्टि का प्रतिपक्षभूत नैरात्म्यज्ञान उदित नहीं होता, तब उसका उन्मूलन असम्भव है। जो व्यक्ति भवाग्र में उत्पन्न है, या अन्य भूमि में उत्पन्न है, उसमें आत्मदृष्टि के न होने में एकमात्र कारण यही हो सकता है कि उसको लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त हैं; अन्यथा लौकिक मार्गों से तो उसे (आत्मदृष्टि को) किञ्चित् भी बाधा नहीं पहुँचायी जा सकती। इसलिये जो लोग रूप, अरूप भूमियों में आत्मदृष्टि आदि क्लेश नहीं मानते, उन्हें यह अवश्य कहना पड़ेगा कि रूप, अरूप भूमि के सत्त्वों ने लोकोत्तर मार्ग द्वारा उनका प्रहाण कर दिया है। ऐसी स्थिति में उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि वहाँ के सभी सत्त्व अर्हत् हैं।

६७. क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति—

यदि तत् क्लिष्टं मनः कुशल०—विज्ञानवादी मानते हैं कि कुशल, अकुशल, क्लिष्ट, अव्याकृत आदि सभी अवस्थाओं में क्लिष्ट मनोविज्ञान सतत प्रवृत्त होता रहता है। जैसे—कुशलचित्त की अवस्था में दान देते समय, शील का पालन करते समय, ध्यान की अवस्था आदि सभी अवस्थाओं में वह प्रवृत्त होता रहता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है

६८. अर्हतस्तावदशेषक्लेशप्रहाणात् क्लिष्टं मनो नैवास्ति। तद्धि भावाग्रिक-भावनाप्रहातव्यक्लेशवद् अर्हत्त्वप्राप्त्याऽऽनन्तर्यमार्गेणैव प्रहीयते। तद् अन्यक्लेशवद् अर्हत्त्वावस्थायां नैव विद्यते।

अर्हत् के क्योंकि समस्त क्लेश प्रहीण हो जाते हैं, अतः (उसकी सन्तान में) क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं ही होता। वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) भवाग्रभूमि के भावनाप्रहातव्य क्लेशों की भाँति अर्हत्त्व की प्राप्ति से (अर्हत्-मार्ग के) आनन्तर्यमार्ग के द्वारा ही प्रहीण हो जाता है। (इस तरह) वह अन्य क्लेशों की भाँति अर्हत् की अवस्था में नहीं ही होता।

कि यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान कुशल, अव्याकृत आदि सभी अवस्थाओं में प्रवृत्त होता है, तो उसकी कभी निवृत्ति न हो सकेगी और जब तक वह निवृत्त न होगा, तब तक मोक्ष भी न हो सकेगा। फलतः आपके यहाँ समस्त जीवों की मुक्ति असम्भव हो जायगी ?

सिद्धान्त पक्ष—

न प्रसज्यते…लोकोत्तरे न च—क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति की दो सीमायें हैं, एक अस्थायी (तात्कालिक) और दूसरी स्थायी (आत्यन्तिक)। निरोधसमापत्ति की अवस्था और आर्यों के समाहितज्ञान की अवस्था—इन दो अवस्थाओं में क्लिष्ट मनोविज्ञान अस्थायी रूप से निवृत्त होता है। अस्थायी रूप से निवृत्त होने का तात्पर्य है कि इन दोनों अवस्थाओं से उत्थित होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान पुनः प्रवृत्त होने लगता है। इन दोनों अवस्थाओं का निर्देश आचार्य वसुबन्धु ने '**न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च**' के द्वारा किया है।

अर्हत् की अवस्था या अशैक्ष मार्ग की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान हमेशा हमेशा के लिये निवृत्त हो जाता है। अर्थात् वह पुनः कभी प्रवृत्त नहीं होता। यह क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति की स्थायी सीमा है।

६८. अर्हत् की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान इसलिये प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि उस समय अर्हत् पुद्गल की सन्तान में स्थित समस्त क्लेशों का प्रहाण हो जाया करता है। वज्रोपम समाधि द्वारा मृदु भावाग्रिक भावनाप्रहातव्य क्लेशों का जिस प्रकार प्रहाण होता है, उसी प्रकार क्लिष्ट मनोविज्ञान का भी प्रहाण हो जाता है। अर्थात् क्लिष्ट मनोविज्ञान यद्यपि क्लेश नहीं है; क्योंकि वह विज्ञान हैं, क्लेश तो चैतसिक होते हैं; तथापि चूंकि उसके साथ सम्प्रयुक्त आत्मदृष्टि आदि चैतसिकों का प्रहाण हो जाता है, इसलिये वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) भी अर्हत् की अवस्था में प्रवृत्त नहीं होता। अर्थात् कारण की विकलता से उसका पुनः उत्पाद नहीं होता।

६९. आकिञ्चन्यायतनवीतरागस्याप्यनागामिनो निरोधसमापत्तिलाभिनो मार्गबलेन निरोधसमापत्तेर्लभ्यत्वात् मार्गवन्निरोधसमापत्त्यवस्थायामपि निरुध्यते। निरोधाच्च व्युत्थितस्य पुनरालयविज्ञानादेव प्रवर्तते।

७०. मार्गे लोकोत्तरे न चेति लोकोत्तरग्रहणं लौकिकव्यवच्छेदार्थम्। लौकिके तु मार्गे क्लिष्टं मनः प्रवर्तत एव। नैरात्म्यदर्शनस्यात्मदर्शनप्रतिपक्षत्वान्न लोकोत्तर-

आकिंचन्यायतन भूमि से वीतराग, निरोधसमापत्ति के लाभी अनागामी को भी क्योंकि निरोधसमापत्ति की प्राप्ति मार्गबल से होती है, इसलिये मार्गावस्था की भाँति निरोधसमापत्ति की अवस्था में भी (क्लिष्ट मनोविज्ञान) निरुद्ध हो जाता है। निरोधसमापत्ति से व्युत्थित (पुद्गल) की सन्तान में आलयविज्ञान से ही वह पुनः प्रवृत्त हो जाता है।

'मार्गे लोकोत्तरे न च'—इसमें 'लोकोत्तर' शब्द का ग्रहण लौकिक मार्ग के व्यवच्छेद के लिये है। लौकिक मार्ग में तो क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त ही होता है। नैरात्म्यदर्शन के आत्मदर्शन का प्रतिपक्ष होने से लोकोत्तर मार्ग में वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) प्रवृत्त होने

---

६९. आकिंचन्यायतनवीतरागस्य०—जो अनागामी आकिंचन्यायतन भूमि के राग से रहित है, साथ ही निरोधसमापत्ति को भी प्राप्त करने में समर्थ है, वह जब निरोधसमापत्ति में स्थित होता है, उस समय उसकी सन्तान में क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता। क्योंकि लोकोत्तर मार्ग द्वारा ही निरोधसमापत्ति में स्थित हुआ जाता है तथा निरोधसमापत्ति की अवस्था में सभी स्थूल विज्ञान निरुद्ध हो जाते हैं। उस समय केवल वही विज्ञान रह सकता है, जो अपरिच्छिन्नालम्बन और अपरिच्छिन्नाकार हो। क्लिष्ट मनोविज्ञान वैसा नहीं है। वह तो परिच्छिन्नालम्बन और परिच्छिन्नाकार है, इसलिये उस (निरोधसमापत्ति की) अवस्था में वह प्रवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु आलयविज्ञान में उसकी वासना विद्यमान रहती है, जो उस (क्लिष्ट मनोविज्ञान) की पुनरुत्पत्ति में समर्थ होती है। फलतः निरोधसमापत्ति से व्युत्थित होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान पहले की ही भाँति पुनः प्रवृत्त होने लगता है।

यहाँ अनागामी का उल्लेख उदाहरणमात्र है। प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्त्व आदि कोई भी पुद्गल, जो निरोधसमापत्ति में स्थित हैं, उनमें क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त नहीं होता।

७०. मार्गे लोकोत्तरे न चेति ०—पृथग्जन के मार्ग को 'लौकिक मार्ग' कहते हैं। आर्यों के समाहित ज्ञान को 'लोकोत्तर मार्ग' कहते हैं। बुद्ध-अवस्था से पूर्ववर्ती आर्यों के पृष्ठलब्ध ज्ञान को भी, जो संवृत्यालम्बन होता है 'लौकिक मार्ग' ही कहते हैं। अत एव लोकोत्तर मार्ग द्वारा आर्यों के समाहित ज्ञान का ही ग्रहण होता है, जो ज्ञान नैरात्म्य का साक्षात् द्रष्टा होता है। उस (आर्यों के समाहित ज्ञान की) अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान इसलिये प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि वह ज्ञान नैरात्म्य का साक्षात् द्रष्टा होता है और

मार्गे प्रवर्तितुमुत्सहते[1]। विपक्षप्रतिपक्षयोरयौगपद्यात्[2] लोकोत्तरमार्गे तन्निरुध्यते। तस्मादपि व्युत्थितस्य पुनरालयविज्ञानादेवोत्पद्यते।

द्वितीयः परिणामोऽयम्

उद्दिष्टो निर्दिष्टश्चेति निगमयति।

का उत्साह नहीं करता। विपक्ष और प्रतिपक्ष का अयुगपद्भाव होने से लोकोत्तर मार्ग में वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) निरुद्ध हो जाता है। लोकोत्तर मार्ग से भी व्युत्थित पुद्गल की सन्तति में वह (क्लिष्ट मनोविज्ञान) आलयविज्ञान से ही पुनः उत्पन्न हो जाता है।

यह द्वितीय परिणाम है।

जिसका उद्देश किया गया था, उसका निर्देश कर दिया गया, इसलिये आचार्य यहाँ उपसंहार (निगमन) करते हैं।

आत्मदृष्टि का प्रतिपक्ष होता है। प्रतिपक्ष और विपक्ष (आत्मदृष्टि) का युगपत्-अवस्थान उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार सूर्य और अन्धकार युगपद् अवस्थित नहीं हो सकते। इससे यह स्पष्ट होता है कि लौकिक मार्ग की अवस्था में (अशैक्ष मार्ग को छोड़कर) क्लिष्ट मनोविज्ञान होता है। इस विषय में अत्यधिक वक्तव्य है, विस्तारभय से उसे यहाँ न कह कर 'आलयविज्ञान' नामक परिशिष्ट में इस विषय पर विशेष विचार किया जायगा।

ऊपर कहे गये आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति के बारे में यह जानना आवश्यक है कि निवृत्ति से क्या तात्पर्य है। अर्थात् निवृत्ति का स्वरूप क्या है ?

आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान दोनों निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में सर्वथा निरुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि हमने ऊपर कहा है कि 'निरुपधिशेष निर्वाण के समय कोई भी संस्कृत धर्म अवशिष्ट नहीं होते और चित्तसन्तति भी नहीं चलती[3]। किन्तु सोपधिशेष निर्वाण की अवस्था में अर्हत् के पास चित्तसन्तति होती है; फिर भी उसकी चित्तसन्तति में आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होते। क्योंकि जिन कारणों से आलयविज्ञान स्थापित होता है, वे कारण अर्हत् में सर्वथा निरुद्ध हो जाते हैं। उन कारणों में क्लिष्ट मनोविज्ञान ही प्रमुख है, जो अर्हत् की सन्तान में सर्वथा निरुद्ध हो चुका रहता है।

अवैवर्तिक बोधिसत्त्व और बुद्ध की अवस्था में यद्यपि क्लिष्ट मनोविज्ञान और आलयविज्ञान सर्वदा के लिये निरुद्ध हो जाते हैं; तथापि जैसे दीपक बुझता है, वैसे निवृत्त (निरुद्ध)

---

१. ० मुत्सहेत—अ०।

२. ० पक्षयोर् यौग ०—अ०।

३. यह केवल आगमानुसारी विज्ञानवादियों का मत है। युक्ति-अनुसारी दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि तो निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में भी चित्तसन्तति मानते हैं। पर आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान को तो वे कभी नहीं मानते।

७१. द्वितीयपरिणामानन्तरं तृतीयपरिणामो वक्तव्य इत्यत आह—

तृतीयः षड्विधस्य या ।

विषयस्योपलब्धिः सा

तृतीयो विज्ञानपरिणाम इति वाक्यशेषः। 'षड्विधस्ये'ति षट्प्रकारस्य रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य-धर्मात्मकस्य विषयस्य या उपलब्धिर्ग्रहणं प्रतिपत्तिरित्यर्थः।

७२. सा पुनः किं कुशला, अकुशला, अव्याकृतेत्यत आह—

द्वितीय परिणाम (क्लिष्ट मनोविज्ञान के प्रतिपादन) के अनन्तर तृतीय परिणाम कहना चाहिये इसलिये आचार्य ने कहा--

छह प्रकार के विषयों की जो उपलब्धि (ज्ञान) है, वह तीसरा 'विज्ञानपरिणाम है'—यह वाक्यशेष है। षड्विध का तात्पर्य रूप, शब्द गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म स्वरूप छह प्रकार के विषयों से है, उनकी जो उपलब्धि अर्थात् ग्रहण या प्रतिपत्ति है, (वह तीसरा विज्ञानपरिणाम है)।

वह (षड्विध विषयोपलब्धि) क्या कुशल होती है, अकुशल होती है या अव्याकृत होती है ? इस (जिज्ञासा का समाधान करने के) लिए आचार्य ने कहा--

---

नहीं होते; अपितु आलयविज्ञान आलयविज्ञान के रूप में न रह कर दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है और क्लिष्ट मनोविज्ञान भी दूसरे ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है[1]।

उपसंहार—

द्वितीयः परिणामोऽयम् ०—उपर्युक्त क्लिष्टमनोविज्ञान द्वितीय परिणाम है। उसका सभेद-प्रभेद स्पष्टता के साथ प्रतिपादन कर दिया गया है।

तृतीय परिणाम प्रवृत्तिविज्ञान

७१. रूप आदि छह प्रकार के विषय होते हैं। इसलिये उनको जाननेवाले छह प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान भी होते हैं; यथा—चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान। इन विज्ञानों के विषय क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म हैं। हम यों कह सकते हैं कि जो विज्ञान रूप आदि छह विषयों का यथायोग्य आलम्बन करते हैं, वे 'प्रवृत्तिविज्ञान' हैं।

७२. प्रश्न है वे प्रवृत्तिविज्ञान कुशल होते हैं, अकुशल होते हैं या अव्याकृत होते हैं ?

---

१. एतद्-विषयक स्पष्ट परिज्ञान के लिये द्रष्टव्य—त्रिं० २६-३० का० और उसकी व्याख्या।

कुशलाऽकुशलाऽद्वया ॥८॥

कुशलाऽकुशलाऽद्वयेत्यव्याकृताऽपि। अलोभाद्वेषामोहैः सम्प्रयुक्ता कुशला, लोभद्वेषमोहैः सम्प्रयुक्ता अकुशला, कुशलाकुशलैरसम्प्रयुक्ता अद्वया, न कुशला नाकुशलेत्यर्थः।

७३. सा पुनः कीदृशैश्चैतसिकैः सम्प्रयुज्यते, कियन्तो वा तत्सम्प्रयोगिणश्चैतसिकाः? इत्यत आह—

वह कुशल, अकुशल और अद्वय होती है।

वह कुशल, अकुशल और अद्वय अर्थात् अव्याकृत भी होती है। अलोभ, अद्वेष और अमोह चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होने पर वह कुशल होती है। लोभ, द्वेष और मोह चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होने पर अकुशल होती है तथा कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चैतसिकों से सम्प्रयुक्त न होने पर अद्वय होती है अर्थात् कुशल और अकुशल दोनों नहीं होती।

वह (षड्विध विषयोपलब्धि) किस प्रकार के चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होती है? अथवा उससे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक कितने हैं? इसे दिखाने के लिये आचार्य ने कहा—

कुशलाकुशलाऽद्वया—छह प्रवृत्तिविज्ञानों में से प्रत्येक विज्ञान त्रिविध होता है, यथा—कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत। 'अद्वय' का तात्पर्य यहाँ अव्याकृत से है। छहो विज्ञान जब अलोभ आदि कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब 'कुशल' कहलाते हैं। जब लोभ आदि अकुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब 'अकुशल' कहलाते हैं। तथा जब वे न तो कुशल चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं; और न अकुशल चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होते हैं; अपितु अन्यविध चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब वे 'अव्याकृत' कहलाते है।

विज्ञानवाद के अनुसार चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियज विज्ञानों में भी कुशल, अकुशल आदि भेद होते हैं। स्थविरवाद एवं वैभाषिकों के मत में इन्द्रियज विज्ञान एकान्तरूप से अव्याकृत ही होते हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार भी इन्द्रियज विज्ञान एवं स्वसंवेदन सर्वदा अव्याकृत होते हैं[1]।

७३. विज्ञानों के साथ अनेक चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। इन प्रवृत्तिविज्ञानों के साथ कितने और कौन चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं, इसे समझाने के लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

---

१. स्थविरवादी मत के अनुसार इन्द्रियज विज्ञान एकान्तरूप से कुशल, अकुशल के विपाक होते हैं। अतः वे कुशल और अकुशल न होकर अव्याकृत ही होते हैं। द्र०—अभि० स० १ : ८-९, पृ० ४३-४८।

सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैश्चैतसैरसौ ।
सम्प्रयुक्ता तथा क्लेशैरुपक्लेशैस्त्रिवेदना ॥९॥

७४. य[1] एते सर्वत्रगा[2] उद्दिष्टास्ते न विज्ञायन्त इत्यतस्तत्प्रदर्शनार्थमाह—

आद्याः स्पर्शादयः

आदौ निर्दिष्टत्वाद् आद्याः, सर्वत्रगा इत्यर्थः । तथाहि—

'सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम्'

इति प्रथमतो निर्दिष्टाः[3] । स्पर्श एषामादिरिति स्पर्शादयः । ते पुनः स्पर्शमनस्कारादयः पञ्च धर्माः सर्वं चित्तमनुगच्छन्तीति सर्वत्रगाः । तथा ह्येते आलयविज्ञाने, क्लिष्टे मनसि, प्रवृत्तिविज्ञानेषु चाविशेषेण[4] प्रवर्तन्ते ।

वह सर्वत्रग, विनियत, कुशल, मूल क्लेश और उपक्लेश नामक चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होती है । तथा वह त्रिवेदना अर्थात् तीनो वेदनाओं से भी सम्प्रयुक्त होती है ।

(उपर्युक्त कारिका में) जो ये सर्वत्रग कहे गये हैं, वे ज्ञात नहीं हैं, अतः उन्हें प्रदर्शित करने के लिये आचार्य ने कहा—

आदि में होनेवाले स्पर्श आदि ।

आदि में निर्दिष्ट होने के कारण वे 'आद्य' कहलाते हैं और वे ही 'सर्वत्रग' हैं—ऐसा जानना चाहिये । जैसे—'स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना से सदा अन्वित है'—इत्यादि प्रकार से सर्व प्रथम कहे गये हैं । इन (पाँचों) में स्पर्श सबसे आदि में हैं, इसलिये वे 'स्पर्शादि' कहलाते हैं । वे स्पर्श, मनस्कार आदि पाँच धर्म सभी चित्तों का अनुगमन करते हैं, इसलिये 'सर्वत्रग' भी कहलाते हैं । जैसे—ये (पाँचों चैतसिक) आलयविज्ञान में, क्लिष्ट मनस् में तथा प्रवृत्तिविज्ञानों में समानरूप से प्रवृत्त होते हैं ।

सर्वत्रग आदि प्रायः सभी चैतसिक इन विज्ञानों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं । चैतसिकों की कुल संख्या ५१ होती है, यथा—सर्वत्रग ५, विनियत ५, कुशल ११, क्लेश (मूल क्लेश) ६, उपक्लेश २० तथा अनियत या अन्यप्रवृत्त ४ ।

सर्वत्रग चैतसिक—

७४. ऊपर कुल ५१ चैतसिकों को ६ वर्गों में विभक्त किया गया है । उनमें से यहाँ प्रथम वर्ग (अर्थात् सर्वत्रग) दिखलाया जा रहा है—

---

१. इति । ये–स० ।
२. सर्वत्रगादयः—ब० ।
३. द्र०—त्रिं० ४८, पृ० १४१ ।
४. च विशेषेण—अ० ।

७५. विनियतानधिकृत्याह--

छन्दाधिमोक्षस्मृतयः सह ।
समाधिधीभ्यां नियताः

विशेषे[1] नियतत्वाद् विनियताः । एषां हि विशेष एव विषयो न सर्वः ।

७६. तत्र छन्दोऽभिप्रेते वस्तुन्यभिलाषः । अभिप्रेते वस्तुन्यभिलाष इति प्रतिनियतविषयत्वं ज्ञापितं भवति, अनभिप्रेते छन्दाभावात् । दर्शनश्रवणादि-क्रियाविषयत्वेन यदभिमतं वस्तु तदभिप्रेतम् ।

विनियत चैतसिकों के बारे में कहा जा रहा है—छन्द; अधिमोक्ष और स्मृति चैतसिक समाधि एवं प्रज्ञा के साथ 'विनियत' कहलाते हैं ।

विशेष में नियत होने के कारण ये 'विनियत' कहे जाते हैं । इन चैतसिकों का विषय 'विशेष' ही होता है, सर्व अर्थात् सामान्य इनका विषय नहीं होता ।

वहाँ (विनियत चैतसिकों में) अभिप्रेत (इष्ट) वस्तु में अभिलाष 'छन्द' है । 'अभिप्रेत वस्तु में अभिलाष'—इस वाक्यांश द्वारा इस चैतसिक का प्रतिनियत विषयत्व ज्ञापित होता है; क्योंकि अनभिप्रेत (अनिष्ट) वस्तु में छन्द (अभिलाष) का अभाव होता है । दर्शन, श्रवण आदि क्रियाओं के विषय के रूप में जो वस्तु अभिमत है, वह 'अभिप्रेत' है ।

पहले कहा जा चुका है कि स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा एवं चेतना—ये पाँच चैतसिक 'सर्वत्रग' कहलाते हैं[2] । इन्हें सर्वत्रग इसलिये कहते हैं; क्योंकि ये आलयविज्ञान-पर्यन्त सभी विज्ञानों में सम्प्रयुक्त होते हैं । इनका स्वरूप भी आलयविज्ञान के वर्णन के अवसर पर यथावत् प्रदर्शित कर दिया गया है[3] ।

विनियत चैतसिक—

७५. पाँच सर्वत्रग चैतसिकों के अनन्तर पाँच विनियत चैतसिकों का वर्णन किया जा रहा है । विनियत चैतसिक पाँच हैं, यथा—छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ।

ये पाँचों चैतसिक अपने विषय के किसी विशेष का ग्रहण करते हुये उसका निश्चय करते हैं, इसलिये 'विनियत' कहलाते हैं । ये अपने विषय के सभी प्रकारों का निश्चय नहीं कर पाते; अपितु किसी विशेष धर्म का ही निश्चय करते हैं ।

विनियत चैतसिकों का स्वरूप—

७६. (क) छन्द—अपने इष्ट (अभिप्रेत) विषय के प्रति अभिलाष 'छन्द' है । यह अपनी रुचि के विषय की ओर ही आकृष्ट होता है । जो रुचि का विषय नहीं होता, उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता ।

---

१. इति । विशेषे—स० ।

२. द्र०—त्रिं०, ४८, पृ० १४३ ।

३. द्र०—त्रिं०, ४९-५३, पृ० १५०-१५६ ।

तत्र दर्शनश्रवणादिप्रार्थना छन्दः। स च वीर्यारम्भसंनिश्रयदानकर्मकः।

७७. अधिमोक्षो निश्चिते वस्तुनि तथैवावधारणम्। 'निश्चित'-ग्रहणम्, अनिश्चितप्रतिषेधार्थम्। युक्तित आप्तोपदेशतो वा यद् वस्तु असंदिग्धम्, तन्निश्चितम्। येनैवाकारेण तन्निश्चितम् अनित्यदुःखाद्याकारेण, तेनैवाकारेण तस्य वस्तुनश्चेतस्यभिनिवेशनम्, 'एवमेतन्नान्यथा'—इत्यवधारणमधिमोक्षः। स चासंहार्यतादानकर्मकः। अधिमुक्तिप्रधानो हि स्वसिद्धान्तात् परप्रवादिभिरपहर्तुं न शक्यते।

अथवा—दर्शन, श्रवण आदि की प्रार्थना अर्थात् अभिलाष 'छन्द' है।

वह (छन्द) वीर्य चैतसिक के उत्पाद के लिये 'आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

निश्चित वस्तु में उसी प्रकार का अवधारण 'अधिमोक्ष' है। (लक्षण में) 'निश्चित' शब्द का ग्रहण अनिश्चित के प्रतिषेध के लिये है। युक्ति और आगम से जो वस्तु असंदिग्ध है, वह (यहाँ) निश्चित (शब्द से अभिप्रेत) है। अनित्य दुःख आदि जिस भी आकार (स्वरूप) से वह वस्तु निश्चित है, उसी आकार से उस वस्तु का चित्त में अभिनिवेश करना—'यह इसी प्रकार है, दूसरे प्रकार से नहीं है'—इस प्रकार का अवधारण 'अधिमोक्ष' कहलाता है। वह (अधिमोक्ष) 'असंहार्यता देना'—इस कर्मवाला है। अधिमुक्तिप्रधान पुरुष अपने सिद्धान्त से परवादियों द्वारा अपहृत (विचलित) नहीं किया जा सकता।

दर्शन (देखना), श्रवण (सुनना) आदि क्रियाओं के विषय के रूप में अभिमत वस्तु 'अभिप्रेत' कहलाती है।

तत्र दर्शनश्रवणादिप्रार्थना छन्द :—आचार्य स्थिरमति छन्द की दूसरी व्याख्या करते हुये कहते हैं—वहाँ दर्शन, श्रवण आदि की अभिलाषा भी छन्द है।

स च वीर्यारम्भ ०—वीर्य को आश्रय प्रदान करना इस (छन्द) का कृत्य है। अर्थात् यह वीर्य का हेतु है[1]।

७७. (ख) अधिमोक्ष—जो वस्तु प्रमाण द्वारा जिस प्रकार निश्चित है, अपने मन में उसी प्रकार का दृढ़ निश्चय 'अधिमोक्ष' है। जिसका प्रमाणों द्वारा निश्चय नहीं हुआ है, उसके प्रति अधिमोक्ष नहीं हुआ करता। प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्तागम द्वारा जिस वस्तु का असंदिग्ध निश्चय हुआ है, वही वस्तु अधिमोक्ष का विषय हो सकती है। प्रमाणों द्वारा

---

१. विशेष ज्ञान के लिये द्र०—अभि० स० २:२, पृ० १२०; अभि० को० २:२४ पृ० १२१–१२२; प० दी०, पृ० ७८; वि० प्र० वृ०, पृ० ६६; विभ० अ०, पृ० २१२।

७८. स्मृतिः संस्तुते वस्तुन्यसंप्रमोषश्चेतसोऽभिलपनता। संस्तुतं वस्तु पूर्वानुभूतम्। आलम्बनग्रहणाविप्रणाशकारणत्वाद् असंप्रमोषः। पूर्वगृहीतस्य वस्तुनः पुनः पुनरालम्बनाकारस्मरणम् अभिलपनता। अभिलपनमेवाभिलपनता। सा पुनरविक्षेपकर्मिका। आलम्बनाभिलपने सति चित्तस्य आलम्बनान्तरे आकारान्तरे वा विक्षेपाभावाद् अविक्षेपकर्मिका।

स्मृति पूर्व परिचित वस्तु में असम्प्रमोष एवं चित्त की अभिलपनता है। 'संस्तुत' का तात्पर्य पूर्वानुभूत वस्तु से है। आलम्बन का ग्रहण एवं अविप्रणाश का कारण होने से 'असम्प्रमोष' (कहा गया) है। पूर्वगृहीत वस्तु के आलम्बनाकार का पुनः पुनः स्मरण 'अभिलपनता' है। अभिलपन ही अभिलपनता है। वह (स्मृति) अविक्षेप कर्म करनेवाली है। आलम्बन के स्मृत रहने पर चित्त का दूसरे आलम्बन में या दूसरे आकार में विक्षेप न होने से स्मृति 'अविक्षेपकर्मिका' अर्थात् अविक्षेप करनेवाली कही गयी है।

निश्चित अनित्यता, दुःखता आदि को आलम्बन (विषय) बनाकर 'यह ऐसी ही है, अन्यथा नहीं'—ऐसा अवधारण 'अधिमोक्ष' कहलाता है।

अपने सिद्धान्तों से च्युत न होने देना—इस (अधिमोक्ष) का कृत्य है। तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में अधिमोक्ष होता है, उसे परवादियों द्वारा अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं किया जा सकता।

अवधारण का तात्पर्य मान्यता, अभिनिवेश, आग्रह या विश्वास से है। कभी कभी लोगों में गलत या अन्ध आग्रह भी देखा जाता है; किन्तु वह अधिमोक्ष नहीं है; क्योंकि उसका विषय युक्ति और प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होता। युक्ति और प्रमाणों द्वारा आनीत अवधारण का विषय पहले से ही युक्ति और प्रमाणों द्वारा निश्चित होता है और यही 'अधिमोक्ष' कहलाता है[1]।

७८. (ग) स्मृति—पूर्व परिचित विषय का अविस्मरण 'स्मृति' है। पूर्व अनुभूत विषय को 'संस्तुत' कहते हैं। स्मृति का तात्पर्य 'अविस्मृति' भी है। आलम्बन को पकड़े रहना और उसे नष्ट नहीं होने देना 'असम्प्रमोष' का अर्थ है। पहले से गृहीत वस्तु के आकार को पुनः पुनः याद करना 'अभिलपन' है। अर्थात् स्मृति गृहीत वस्तु के आकार को मन में कहते रहने की तरह है।

आलम्बन से चित्त को विक्षिप्त न होने देना, अर्थात् गृहीत आलम्बन से चित्त को विचलित न होने देना—इसका कृत्य है। पूर्व गृहीत आलम्बन को भूल कर या छोड़ कर दूसरे

---

१. तु०—अभि० स० २:३ पृ० ११६; अभि० को० २:२४ पृ० १२१-१२२; वि० प्र० वृ०, पृ० ७०; स्फु०, पृ० १२८; अट्ठ०, पृ० १०१; विसु०, पृ० ३२५।

७९. समाधिरुपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। उपपरीक्ष्यं वस्तु गुणतो दोषतो वा। एकाग्रता एकालम्बनता। ज्ञानसंनिश्रयदानकर्मकः, समाहिते चित्ते यथाभूतपरिज्ञानात्।

८०. धीः प्रज्ञा। साऽप्युपपरीक्ष्य एव वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा वेति। प्रविचिनोतीति प्रविचयः, यः सम्यक् मिथ्या वा सङ्कीर्णस्वसामान्यलक्षणेष्विव धर्मेषु विवेकावबोधः। युक्तिर्योगः, स पुनराप्तोपदेशोऽनुमानं प्रत्यक्षं च। तेन त्रिप्रकारेण योगेन यो जनितः, स योगविहितः। स पुनः श्रुतमयश्चिन्तामयो

उपपरीक्ष्य वस्तु में चित्त की एकाग्रता 'समाधि' है। उपपरीक्ष्य वस्तु वह है, जिसकी गुण या दोष की दृष्टि से परीक्षा की जाती है। एकाग्रता का तात्पर्य 'एकालम्बनता' से है। समाहित चित्त की अवस्था में ही यथार्थ ज्ञान होने से समाधि 'ज्ञान को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाली कही गयी है।

धी 'प्रज्ञा' को कहते हैं। वह (प्रज्ञा) भी उपपरीक्ष्य वस्तु में ही योगविहित, अयोगविहित या अन्यथाविहित प्रविचय है। (असंकीर्णरूप से) चयन करनेवाला धर्म (पदार्थ) 'प्रविचय' है, जो जिनमें स्वलक्षण और सामान्यलक्षण मिश्रित हैं, ऐसे धर्मों में असंकीर्णरूप से सम्यक् अथवा मिथ्या अवबोध है। योग का तात्पर्य 'युक्ति' से है, वह (योग) आप्तोपदेश, अनुमान और प्रत्यक्ष है। उस त्रिविध योग से जो जनित है, वह 'योगविहित प्रविचय' है। वह

आलम्बन में या उसके दूसरे आकार में चित्त का चले जाना 'विक्षेप' कहलाता है। स्मृति पूर्व गृहीत आलम्बन को भूलने नहीं देती, इसलिये 'अविक्षेपकर्मिका' कहलाती है[1]।

७९. (घ) समाधि—परीक्षा करने योग्य वस्तु के प्रति चित्त की एकाग्रता 'समाधि' है। जिस वस्तु में गुण अथवा दोष की परीक्षा की जाती है, उसे 'उपपरीक्ष्य वस्तु' कहते हैं। निरोधसत्य शान्तस्वरूप है, क्लेशाभावस्वरूप है—इत्यादि गुण की दृष्टि से परीक्षा है तथा दुःखसत्य अनित्य है, पीडादायक है,—इत्यादि दोष की दृष्टि से परीक्षा है। एक ही आलम्बन में चित्त का स्थिर रहना 'एकाग्रता' है।

ज्ञान का उत्पाद करना—समाधि का कृत्य है। क्योंकि समाहित अर्थात् एकाग्र चित्त की अवस्था में ही वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होता है[2]।

८०. (ङ) धी—धी का तात्पर्य 'प्रज्ञा' से है। परीक्षा करने योग्य वस्तुओं का प्रविचय 'प्रज्ञा' कहलाता है। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण विषयों का सम्यक् अथवा मिथ्या

---

१. तु०—अभि० स० २.५ पृ० १४७; अभि० को० २:२४ पृ० १२१-१२२; वि० प्र० वृ०, पृ० ६१; स्फु०, पृ० १२७; अभि० मृ०, पृ० १२३।

२. द्र०—धर्मसंगीतावुक्तम्—"समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति।"—बोधि०, पृ० १६९। तु०—अभि० स० २:२ पृ० १०६; स्फु०, पृ० १२८; वि० प्र० वृ०, पृ० ७०।

भावनामयश्च। तत्राप्तवचनप्रामाण्याद् योऽवबोधः स श्रुतमयः, युक्तिनिध्यानजश्चिन्तामयः, समाधिजो भावनामयः।

अयोगोऽनाप्तोपदेशोऽनुमानाभासो मिथ्याप्रणिहितश्च समाधिः, तेनायोगेन जनितोऽयोगविहितः।

उपपत्तिप्रतिलम्भिको[1] लौकिकव्यवहारावबोधश्च न योगविहितो नायोगविहितः।

एषा च संशयव्यावर्तनकर्मिका। संशयव्यावर्तनं प्रज्ञया धर्मान् प्रविचिन्वतो निश्चयलाभादिति।

योग फिर श्रुतमय, चिन्तामय एवं भावनामय है। वहाँ (इन में) आप्तवचन के प्रामाण्य से जो अवबोध होता है, वह 'श्रुतमय' है। युक्ति और चिन्तन से उत्पन्न अवबोध 'चिन्तामय' है तथा समाधि से उत्पन्न अवबोध 'भावनामय' है।

अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास एवं मिथ्याप्रणिहित समाधि 'अयोग' है, उस अयोग से जनित अवबोध 'अयोगविहित प्रविचय' है।

सहज प्राप्त एवं लौकिक व्यवहार से उत्पन्न अवबोध न योगविहित है और न अयोगविहित है। यह प्रज्ञा 'संशय को हटाना'—इस कर्मवाली है।

प्रज्ञा द्वारा धर्मों का प्रविचय करनेवाले को निश्चय का लाभ होता है, अतः संशय का व्यावर्तन (अपगमन) होता है।

अवबोध 'प्रविचय' है। वह तीन प्रकार का होता है, यथा—योगविहित, अयोगविहित एवं अन्यथाविहित। योग का अर्थ युक्ति है। आप्तोपदेश, अनुमान एवं प्रत्यक्ष—योग के तीन प्रकार हैं। इन तीनों की वजह से उत्पन्न अवबोध 'योगविहित प्रविचय' कहलाता है। श्रुतमय, चिन्तामय एवं भावनामय भेद से योगविहित प्रविचय तीन प्रकार का होता है। आप्तवचन को प्रमाण मानकर उत्पन्न अवबोध 'श्रुतमय' है। युक्ति और चिन्तन के बल से उत्पन्न अवबोध 'चिन्तामय' है तथा समाधि के बल से उत्पन्न अवबोध 'भावनामय' है।

अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास एवं मिथ्याप्रणिहित समाधि—ये तीनों 'अयोग' हैं। इनसे जनित प्रविचय 'अयोगविहित प्रविचय' है।

उपर्युक्त योगविहित एवं अयोगविहित प्रविचयों से भिन्न जन्मतः प्राप्त या लौकिक व्यवहार से उत्पन्न अवबोध 'अन्यथाविहित प्रविचय' है।

यह प्रज्ञा संशय को दूर करती है अतः सन्देहनिवारण ही इसका कृत्य है। क्योंकि प्रज्ञा से ही वस्तु का निश्चय होता है तथा निश्चय होते ही संशय दूर हो जाया करता है[2]।

---

१. ० प्राति०—ब०।

२. तु०—अभि० स० २ : ७ पृ० १७४; स्फु०, पृ० १२७; अभि० समु०, पृ० ६; बोधि०, पृ० १६८।

८१. एते हि पञ्च धर्माः परस्परं व्यतिरिच्यापि प्रवर्तन्ते[1]। एवं यत्राधिमोक्ष-स्तत्र नावश्यमितरैरपि भवितव्यम्। एवं सर्वत्र वाच्यम्।

८२. उक्ता विनियताः। तदनन्तरोद्दिष्टास्त्विदानीं कुशला वक्तव्या इत्यत आह—

ये पाँच (विनियत चैतसिक) धर्म एक दूसरे से पृथक् होकर भी प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार जहाँ अधिमोक्ष होता है, वहाँ अन्य चैतसिकों का भी अवश्य प्रवृत्त होना जरूरी नहीं है। इस तरह सभी जगह (सभी चैतसिकों के बारे में)—कहना चाहिये।

विनियत चैतसिक कह दिये गये। उनके बाद उद्दिष्ट कुशल चैतसिक अब कहे जाने चाहिये, इसलिये आचार्य वसुबन्धु ने कहा—

---

८१. जिस प्रकार वेदना आदि ५ सर्वत्रग चैतसिक हमेशा साथ ही साथ प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार क्या विनियत चैतसिक भी एकसाथ प्रवृत्त होते हैं ?

यह आवश्यक नहीं है। ये अलग-अलग भी प्रवृत्त हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि जहाँ छन्द हो, वहाँ अन्य विनियत चैतसिक भी अवश्य हों। कहीं छन्द होता है, कही अधिमोक्ष होता है; क्योंकि अभिप्रेत, निश्चित, परिचित एवं उपपरीक्ष्य आदि वस्तुयें भिन्न भिन्न होती हैं। फलतः छन्द आदि ५ विनियत पृथक् पृथक् चैतसिक सिद्ध होते हैं। अर्थात् वे पृथक् पृथक् हेतुओं से उत्पन्न होते हैं और भिन्न भिन्न काल में अवस्थित रहते हैं। जहाँ अभिप्रेत वस्तु नहीं होती, वहाँ छन्द नहीं होता। उसी प्रकार निश्चित वस्तु के विना अधिमोक्ष नहीं होता, परिचित (अनुभूत) वस्तु के विना स्मृति तथा उपपरीक्ष्य वस्तु के विना समाधि और प्रज्ञा चैतसिक नहीं होते।

वैभाषिकों के अनुसार जहाँ छन्द होता है, वहाँ अन्य विनियत चैतसिक भी निःसन्देह हुआ करते हैं। इतना ही नहीं; अपितु उनका कहना है कि उपर्युक्त पाँच सर्वत्रग और पाँच विनियत—ये दस चैतसिक समस्त चित्तों के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं[2]।

यह मत कितना सदोष है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है; फिर भी एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा रहा है—किसी अनागत (भविष्य में उत्पन्न होनेवाली) वस्तु के प्रति छन्द तो हो सकता है; किन्तु उसमें स्मृति कथमपि नहीं हो सकती, इत्यादि।

कुशल चैतसिक—

८२. कुशल चैतसिक कुल ११ होते हैं, यथा—श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष,

---

१. व्यावर्तन्ते—म०।

२. द्र०—अभि० को २:२४ पृ० १२१; समाधि को स्थविरवादी भी सर्वचित्तसाधारण चैतसिक मानते हैं, द्र०—अभि० स०, २:२ पृ० ६१।

श्रद्धाऽथ ह्रीरपत्रपा ।। १० ।।
अलोभादित्रयं वीर्यं प्रश्रब्धिः साप्रमादिका ।
अहिंसा कुशला:

एते[1] एकादश धर्मा इति वाक्यशेषः ।

८३. तत्र श्रद्धा कर्म-फल-सत्य-रत्नेष्वभिसम्प्रत्ययः प्रसादश्चेतसोऽभिलाषः । श्रद्धा हि त्रिधा प्रवर्तते—सति वस्तुनि गुणवत्यगुणवति वा सम्प्रत्ययाकारा, सति गुणवति च प्रसादाकारा, सति गुणवति च प्राप्तुमुत्पादयितुं वा शक्येऽभिलाषाकारा । चेतसः प्रसाद इति—श्रद्धा हि चित्तकालुष्यवैरोधिकीत्यतस्तत्सम्प्रयोगे

विनियत के अनन्तर श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा और अहिंसा—कुशल चैतसिक हैं ।

यहाँ 'ये ११ धर्म'—यह वाक्यशेष है ।

वहाँ (कुशल चैतसिकों में) श्रद्धा कर्म, फल, सत्य एवं रत्न के प्रति विश्वास, चित्त की निर्मलता एवं अभिलाष है । श्रद्धा तीन प्रकार से प्रवृत्त होती है, यथा—वस्तु गुणवान् हो या अगुणवान् उसके प्रति विश्वासरूप, गुणवान् वस्तु होने पर प्रसादरूप, वस्तु के गुणवान् होने पर यदि उसका प्राप्त करना अथवा उत्पन्न करना शक्य है, तो उसके प्रति अभिलाषरूप । श्रद्धा 'चित्त का प्रसाद' कही जाती है; क्योंकि श्रद्धा चित्त के कालुष्य की विरोधिनी है, अतः श्रद्धा से सम्प्रयोग होने पर चित्त श्रद्धा की वजह से क्लेश और उपक्लेश-

---

अमोह, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा और अहिंसा । मूल में कथित 'साप्रमादिका' शब्द से अप्रमाद के साथ रहनेवाली उपेक्षा का ही यहाँ ग्रहण होगा, इसके कारण का आगे यथा स्थान निर्देश किया जायगा[2] ।

कुशल चैतसिकों का स्वरूप—

८३. (१) श्रद्धा—कुशल-अकुशल कर्म, इष्ट-अनिष्ट फल, दुःख, समुदय, निरोध एवं मार्ग नामक चार आर्य सत्य, बुद्ध, धर्म एवं संघ नामक त्रिरत्न आदि श्रद्धा के विषय होते हैं । इन विषयों के प्रति विश्वास, प्रसाद एवं अभिलाष 'श्रद्धा' है । फलतः श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, यथा—१. वस्तु चाहे गुणयुक्त हो, चाहे गुणरहित, उसके प्रति अत्यधिक विश्वास 'सम्प्रत्ययाकारा' या 'विश्वासात्मिका' श्रद्धा है । २. गुणवान् वस्तु के प्रति चित्त की स्वच्छता, 'प्रसादाकारा' या 'प्रसादात्मिका' श्रद्धा है तथा ३. वस्तु गुणयुक्त है और वह प्राप्त करने योग्य या उत्पन्न करने योग्य भी है, तो उसे प्राप्त करने या उत्पन्न करने की जो अभिलाष

---

१. इति । एते—स० ।
२. द्र०—त्रिं० ११ ।

क्लेशोपक्लेशमलकालुष्यविगमात् चित्तं श्रद्धामागम्य प्रसीदतीति चेतसः प्रसाद उच्यते। सा पुनश्छन्दसंनिश्रयदानकर्मिका।

८४. ह्रीरात्मानं धर्मं वाधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। सद्भिर्गर्हितत्वाद् अनिष्टविपाकत्वाच्च पापमेवावद्यम्। तेनावद्येन कृतेनाकृतेन वा या चित्तस्यावलीनता लज्जा सा ह्रीः। इयं च दुश्चरितसंयमनसंनिश्रयदानकर्मिका[1]।

रूपी कालुष्य और मलों के हट जाने से निर्मल हो जाता है, अतः श्रद्धा 'चित्त का प्रसाद' कही जाती है। वह श्रद्धा 'छन्द को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्म-वाली है।

आत्मा अथवा धर्म को अधिपति करके जो अवद्य से लज्जा होती है, वह 'ह्री' है। सत्पुरुषों द्वारा निन्दित होने के कारण तथा अनिष्ट फल देने के कारण पाप ही 'अवद्य' है। उस किये हुये पाप कर्म से या न किये हुये पापकर्म से जो चित्त का संकोच या लज्जा होती है, वह 'ह्री' है। यह ह्री 'दुश्चरितों से संयम को आश्रय देना'—इस कर्मवाली हैं।

है, वह 'अभिलाषाकारा' या 'अभिलाषात्मिका' श्रद्धा है। 'प्रसाद' का तात्पर्य है—क्लेश या उनकी वासनाओं से रहित होना। इसलिये जिस चित्त के साथ श्रद्धा सम्प्रयुक्त होती है, वह चित्त क्लेश आदि मलों से कभी मलिन नहीं हो पाता।

यह श्रद्धा छन्द को आश्रय प्रदान करती है। अर्थात् श्रद्धा की वजह से छन्द उत्पन्न होता है। अतः श्रद्धा छन्द की पूर्वगामिनी होती है और उसका हेतु होती है[2]।

८४. (२) ह्री—आत्मगौरव या धर्मगौरव की अपेक्षा करके जो पाप करने में लज्जा होती है, वह 'ह्री' है। पाप ही 'अवद्य' है; क्योंकि वह सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है और उसका अनिष्ट विपाक होता है। जब किसी पाप कर्म को करने की मन में इच्छा उत्पन्न होती है, तब ह्रीमान् पुद्गल यह सोचने लगता है—'यह कर्म मुझे नहीं करना चाहिये, यह कर्म मेरे योग्य नहीं है; क्योंकि मैं श्रमण, ब्राह्मण या कुलीन हूँ'—इत्यादि। इस प्रकार सोचकर उस पाप कर्म से लजाना आत्मगौरव की अपेक्षा से 'ह्री' है तथा 'मेरा यह कर्म धर्मविरुद्ध है, धर्मशास्त्र के अनुकुल नहीं है, इसे करने से धर्म नष्ट होगा'—इत्यादि प्रकार से सोचना धर्मगौरव की अपेक्षा से ह्री है। इसीलिये कहा गया है—ह्री अपने और धर्म की अपेक्षा से होती है।

---

१. ०संयम०—अ०।

२. तु०—अभि० सं० २:५ पृ० १४५; अभि० को० भाष्य, पृ० ५५; वि० प्र० वृ०, पृ० ७१; अभि० समु०, पृ० ६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४२; अट्ठ, पृ० ११८।

८५. अपत्राप्यं लोकमधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। 'लोके ह्येतद् गर्हितम्, मां चैवंकर्माणं विदित्वा गर्हिष्यति'—इत्ययशलोकादिभयाद् येन लज्जते। इदमपि दुश्चरितसंयमनसंनिश्रयदानकर्मकम्।

लोक को अधिपति करके जो अवद्य से लज्जा होती है, वह 'अपत्राप्य' है। 'लोक में यह कर्म निन्दित है, मुझे ऐसा कर्म करनेवाला जानकर लोग निन्दा करेंगे'—इस प्रकार अपवाद के भय से जिस (धर्म) के कारण (पुरुष) लज्जित होता है, (वह धर्म 'अपत्राप्य' हैं)। यह अपत्राप्य भी 'दुश्चरितों से संयम को आश्रय देना'—इस कर्मवाला है।

ह्री पाप से संकोचमात्र है। यह पाप कर्म करने से पूर्व तथा कभी कभी बाद में भी होती है[1]।

८५. (३) अपत्राप्य—अपत्राप्य भी पाप से सङ्कोच ही है, किन्तु यह आत्मगौरव या धर्मगौरव की अपेक्षा से नहीं; अपितु लोकगौरव की अपेक्षा से होता है। जब किसी पाप कर्म की ओर प्रवृत्ति होती है, तब अपत्राप्य की वजह से पुरुष ऐसा सोचकर लजाने लगता है कि—'यह कर्म लोक में निन्दित हैं, ऐसा कर्म करने पर लोग मेरी निन्दा करेंगे तथा भारी अपयश होगा'—इत्यादि। इस प्रकार लोक के प्रति गौरव के कारण पाप कर्म से सङ्कोच करना 'अपत्राप्य' है[2]।

ये ह्री और अपत्राप्य ही हैं, जिनकी वजह से लोक में एक प्रकार का नैतिक अनुशासन बना हुआ है। इनके अभाव में सभी प्रकार की मर्यादायें और नैतिक बन्धन टूट कर लोक में अव्यवस्था, विशृंखलता एवं नैतिक संकट उत्पन्न हो सकता है। इसीलिये शास्त्रों में ये दोनों 'शुक्लधर्म' एवं 'लोकपाल' कहे गये हैं[3]।

ये दोनों पाप कर्मों को करने से रोकते है, इसलिये दुश्चरितों से संयम करना—इनका कृत्य है।

---

1. तु०—अभि० स० २:५ पृ० १४६; अभि० को० भाष्य, पृ० ६०; अभि० दी०, पृ० ५१।

2. तु० ०—अभि० स० २:५ पृ० १४६; अभि० को० भाष्य, पृ० ५६; वि० प्र० वृ०, पृ० ७३; अट्ठ०, पृ० १०२–१०४।

3. द्र०—"द्वेमे भिक्खवे! सुक्का धम्मा लोकं पालेन्ति। कतमे द्वे? हिरी च ओत्तप्पं च। इमे चे भिक्खवे! सुक्का द्वे धम्मा लोकं न पालेय्युं, न इध पञ्ञायेथ—माता ति वा, मातुच्छा ति वा, मातुलानीति वा, आचरियभरिया ति वा, गरूनं दारा ति वा; सम्भेदं लोको अगमिस्स—यथा अजेलका, कुक्कुटसूकरा, सोणसिङ्गाला। यस्मा च खो

८६. अलोभो लोभप्रतिपक्षः। लोभो नाम भवे भवोपकरणेषु च याऽऽसक्तिः प्रार्थना च। तत्प्रतिपक्षोऽलोभो भवे भवोपकरणेषु चानासक्तिः वैमुख्यं च। अयं च दुश्चरिताप्रवृत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

८७. अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षो मैत्री। द्वेषो हि सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वाघातः। अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षत्वात् सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वनाघातः। अयमपि दुश्चरिताप्रवृत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

अलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है। भव और भव के उपकरणों के प्रति जो आसक्ति और अभिलाष है, वह 'लोभ' है। उस लोभ का प्रतिपक्षभूत अलोभ भव और भव के उपकरणों के प्रति अनासक्ति और विमुखता है। यह अलोभ 'दुश्चरितों की अप्रवृत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

अद्वेष द्वेष का प्रतिपक्षभूत मैत्री है। सत्त्वों में दुःख और दुःख के कारणभूत धर्मों के विषय में चित्त का आघात अर्थात् चिन्तन 'द्वेष' है। अद्वेष द्वेष का प्रतिपक्ष होने से वह सत्त्वों में दुःख और दुःख के कारणों के विषय में न सोचना है। यह (अद्वेष) भी 'दुश्चरितों की अप्रवृत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

---

८६. (४) अलोभ—यह लोभ का विरोधी या विपरीत धर्म है। संसार और सांसारिक उपकरणों (वस्तुओं) के प्रति जो आसक्ति और अभिलाष है, वह 'लोभ' कहलाता है। अलोभ इस लोभ से विपरीत धर्म है। अर्थात् स्त्री, पुत्र, हस्ती, अश्व, धन आदि के प्रति अनासक्ति एवं अनभिलाष 'अलोभ चैतसिक' है। दान भी इस (अलोभ) के अन्तर्गत ही परिगणित होता है[1]।

८७. (५) अद्वेष—यह द्वेष का विरोधी धर्म है, जिसे हम प्रेम या मैत्री कहते हैं। लोगों को दुःख देने और दुःख के हेतुओं को उत्पन्न करने के बारे में सोचना 'द्वेष' है। जब

भिक्खवे! इमे द्वे सुक्का धम्मा लोकं पालेन्ति, तस्मा पञ्ञायति—माता ति वा, मातुच्छा ति वा, मातुलानी ति वा, आचरियभरिया ति वा, गरूनं दारा ति वा ति।"
—अ० नि०, प्र० भा०, पृ० ४६।

हिरि ओत्तप्पसम्पन्ना सुक्कधम्मसमाहिता।
सन्तो सप्पुरिसा लोके देवधम्मा ति वुच्चरे'ति॥—
खु० नि०, तृ० भा०, (जा०, प्र० भा०) पृ० ४।

1. द्र०—अभि० को० २:२५ पृ० ५५; अभि० स०, पृ० १५१; प० दी०, पृ० ८६; विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० १०४; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३; अभि० सू०, पृ० ६८।

८८. अमोहो मोहप्रतिपक्षः। अयथाभूतसम्प्रतिपत्तिर्मोहः; कर्म-फल-सत्य-रत्नेष्वज्ञानम्। मोहप्रतिपक्षत्वाद् अमोहस्तेष्वेव कर्म-फल-सत्य-रत्नेषु सम्प्रतिपत्तिः। अयमपि दुश्चरिताप्रवृत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

८९. वीर्यं कौसीद्यप्रतिपक्षः[1], कुशले चेतसोऽभ्युत्साहः, न तु क्लिष्टे। क्लिष्टे तूत्साहः कुत्सितत्वात् कौसीद्यमेव। एतच्च कुशलपक्षपरिपूरणपरिनिश्रयकर्मकम्[2]।

अमोह मोह का प्रतिपक्ष है। अयथार्थ (जैसी वस्तु नहीं है, वैसा) जानना 'मोह' है, यह कर्म, फल, सत्य और रत्न के विषय में अज्ञान है। मोह का प्रतिपक्ष होने से अमोह उन्हीं कर्म, फल, सत्य और रत्न के विषय में सम्यग् ज्ञान है। यह (अमोह) भी 'दुश्चरितों को अप्रवृत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

वीर्य कौसीद्य का प्रतिपक्ष है, यह कुशल धर्मों के प्रति चित्त का अभ्युत्साह है, न कि क्लिष्ट धर्मों के प्रति। क्लिष्ट धर्मों के प्रति उत्साह तो कुत्सित होने के कारण कौसीद्य ही है। यह वीर्य 'कुशल पक्षों की परिपूर्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, तब उस द्वेष की वज़ह से स्वयं द्वेष करनेवाले के चित्त में ही आघात (चोट या अशान्ति) अनुभूत होता है, अतः द्वेष चित्त का 'आघात' कहा गया है। इससे विपरीत अद्वेष या मैत्री लोगों को दुःख या दुःख के कारण न पहुँचने देने के लिये सोचना है[3]।

८८. (६) अमोह—अमोह धर्मों के स्वभाव को ठीक ठीक जाननेवाला होता है। यह मोह का विरोधी धर्म है। कुशल-अकुशल कर्म, इष्ट-अनिष्ट फल, चार आर्य सत्य एवं बुद्ध आदि तीन रत्नों के बारे में अज्ञान 'मोह' है। अमोह मोह से विपरीत स्वभाव होने से वह कर्म, फल, सत्य, रत्न आदि के बारे में सम्यक् ज्ञान है[4]।

अलोभ आदि तीनों चैतसिक दुश्चरितों को रोकते हैं, अतः दुश्चरितों की अप्रवृत्ति ही इनका कृत्य है।

८९. (७) वीर्य—कुशल पक्षों के सम्पादन में चित्त का उत्साह 'वीर्य' है। क्लिष्ट (खराब) कर्मों के प्रति उत्साह वीर्य नहीं है; क्योंकि वह कुत्सित (निंद्य) होने से 'कौसीद्य' ही है। एक प्रकार का प्रमाद या आलस्य, जो कुशल कर्मों की सिद्धि में बाधक होता है,

---

१. कौशीद्य०—अ०।

२. ० पक्षपरिनिष्पत्ति०—ब०।

३. तु०—अभि० स०, पृ० १५२; अभि० को० २:२५ पृ० ५५; प० दी०, पृ० ८६; विभा०, पृ० ८४; अट्ठ०, पृ० १०४; विसु०, पृ० ३२४; अभि० सू०, पृ० ६८।

४. अभि० स०, पृ० १७१; अभि० को० २:२४ पृ० ५४; विसु०, ३२४; अट्ठ०, पृ० १०१; विभा०, पृ० ८६; वि० प्र० वृ०, पृ० ७०; अभि० समु०, पृ० ६; स्फु०, पृ० १२७, अभि० सू०, पृ० ६६।

१०. प्रश्रब्धिर्दौष्ठुल्यप्रतिपक्षः, कायचित्तकर्मण्यता। दौष्ठुल्यं कायचित्तयोरकर्मण्यता सांक्लेशिकधर्मबीजानि च, तदपगमे प्रश्रब्धिसद्भावात्।

तत्र कायकर्मण्यता कायस्य स्वकार्येषु[1] लघुसमुत्थानता यतो भवति।

प्रश्रब्धि दौष्ठुल्य की प्रतिपक्ष है तथा वह काय और चित्त की कर्मण्यता है। काय और चित्त की अकर्मण्यता तथा सांक्लेशिक धर्मों के बीज 'दौष्ठुल्य' कहलाते हैं, क्योंकि दौष्ठुल्य के व्यपगत हो जाने पर प्रश्रब्धि का सद्भाव होता है।

वहाँ (लक्षण में) कायकर्मण्यता वह धर्म है, जिसकी वजह से अपने कार्यों में काय की लघुसमुत्थानता (स्फूर्ति) होती है।

'कौसीद्य' कहलाता है[2]। वीर्य इसका विरोधी है। यह एक प्रकार का उत्साहपूर्वक प्रयत्न है, जो कुशल कर्मों के सम्पादन के प्रति होता है।

प्रयत्न अनेक प्रकार के होते हैं। अकुशल कर्मों के सम्पादन में भी लोग अथक परिश्रम करते देखे जाते हैं। इसी तरह कुशल कर्मों का सम्पादन भी लोग सपरिश्रम करते हैं। कुशल कर्मों के सम्पादन में भी दो प्रकार के प्रयत्न देखे जाते हैं। एक तो यह कि कुछ कुशल इस प्रकार किये जाते हैं, जिनके सम्पादन में कोई उत्साह या प्रसन्नता नहीं होती; बल्कि कारणविशेष की वजह से उन्हें करना पड़ता है। ऐसे प्रयत्न जो अनुत्साह पूर्वक किये जाते हैं, 'वीर्य' नहीं हैं। जो कुशल कर्म उत्साह एवं प्रसन्नता पूर्वक किये जाते हैं, उनके लिये किया गया प्रयत्न ही 'वीर्य' है।

वीर्य कुशल कर्मों को पूर्ण करता है, इसलिये 'कुशल कर्मों को पूर्ण करना' ही इसका कृत्य है[3]।

१०. (८) प्रश्रब्धि—काय और चित्त की कर्मण्यता प्रश्रब्धि है। यह दौष्ठुल्य का प्रतिपक्ष है। काय और चित्त की अकर्मण्यता एवं सांसारिक धर्मों के बीज, जिन्हें 'क्लेशवासना' कहते हैं 'दौष्ठुल्य' हैं; क्योंकि दौष्ठुल्य की निवृत्ति होने पर प्रश्रब्धि होती है। शरीर की सभी कर्मों (उठने, बैठने आदि) में लघुता (हल्कापन) 'कायकर्मण्यता' है। कायकर्मण्यता प्राप्त

---

१. स्वकार्थेषु—ब०।

२. कौसीद्य के लिये द्र०—त्रिं० ११८। वि० प्र० वृ०, पृ० ७४; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६१।

३. तु०—अभि० स०, पृ० ११७; अभि० को० २:२५ पृ० ५५; अभि० को० भाष्य, पृ० ५५; स्फु०, पृ० १३०; वि० प्र० वृ०, पृ० ७३; विसु०, पृ० ३२३; अट्ठ०, पृ० ६६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१; मिलि०, पृ० ३८।

चित्तकर्मण्यता सम्यङ्मनसिकारसम्प्रयुक्तस्याह्लादलाघवनिमित्तं यच्चैतसिकं धर्मान्तरं यद्योगात्[1] चित्तमालम्बने प्रवर्ततेऽतस्तच्चित्तकर्मण्यतेत्युच्यते।

कायस्य पुनः स्प्रष्टव्यविशेष एव प्रीत्याहृतः[2] कायप्रश्रब्धिर्वेदितव्या; 'प्रीतमनसः कायः प्रश्रभ्यते'—इति सूत्रे वचनात्। इयं तद्वशेनाश्रयपरावृत्तितोऽशेषक्लेशावरणनिष्कर्षणकर्मिका।

सम्यक् मनसिकार से सम्प्रयुक्त चित्त के आह्लाद और लाघव का निमित्त जो दूसरा चैतसिक धर्म है, वह चित्तकर्मण्यता है, जिसके योग से चित्त आलम्बन में प्रवृत्त होता है, इसलिये वह 'चित्तकर्मण्यता' कहलाता है।

काय का स्पर्शविशेष ही, जो प्रीति के द्वारा आनीत है, उसे 'कायप्रश्रब्धि' जानना चाहिये, क्योंकि 'प्रीति से सम्प्रयुक्त चित्तवाले (पुरुष) का काय प्रश्रब्ध हो जाता है'—ऐसा सूत्र में वचन है। उसकी वजह से आश्रयपरावृत्ति हो जाने के कारण यह (प्रश्रब्धि) 'सम्पूर्ण क्लेशावरणों का प्रहाण करना'—इस कर्मवाली है।

हो जाने पर कभी भी वह शारीरिक थकावट अनुभूत नहीं होती, जो कार्य करने में बाधक होती है। सम्यक् अर्थों का विचार करने में चित्त की लघुता अर्थात् चित्त की यथेच्छ प्रवृत्ति 'चित्तकर्मण्यता' है। चित्तकर्मण्यता प्राप्त हो जाने पर कुशल धर्मों या सम्यक् धर्मों का विचार करने में तथा ध्यान-भावना आदि करने में अत्यन्त आसानी या लघुता प्रतीत होती है।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि काय का हल्कापन (लघुता) तो 'स्पर्श' है और वह (स्पर्श) 'रूप' है। ऐसी स्थिति में वह चैतसिक कैसे हो सकता है?

प्रश्न सही है; किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि केवल काय की कर्मण्यता 'प्रश्रब्धि' नहीं है; अपितु कायकर्मण्यता से युक्त आल्हाद अर्थात् प्रीति ही मुख्यतः 'प्रश्रब्धि' है। तात्पर्य यह है कि कायकर्मण्यता एवं चित्तकर्मण्यता से संगृहीत प्रीति ही 'प्रश्रब्धि' कहलाती है। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये ही आचार्य स्थिरमति ने कहा—कायस्य पुनः स्प्रष्टव्यविशेष एव प्रीत्याहृतः कायप्रश्रब्धिर्वेदितव्या।

कुछ सिद्धान्तवादी प्रश्रब्धि को स्प्रष्टव्यविशेष ही मानते हैं; किन्तु यहाँ ऐसा नहीं माना जाता। सूत्रों में भी अनेक स्थलों पर कहा गया है—'प्रीतमनसः कायः प्रश्रभ्यते'। इससे यह सिद्ध होता है कि मन में प्रीति होने पर काय भी प्रश्रब्ध (प्रीतिजन्य सुख से युक्त) हो जाता है[3]।

---

१. तद्योगात्—ब०।

२. प्रीत्याहृते—ब०।

३. तु०—एत्थ च चित्तपस्सद्धि-आदीहि चित्तमेव पस्सद्धं लहु मुदु कम्मञ्ञं पगुणं उजु च होति; कायपस्सद्धि-आदीहि पन रूपकायो पि। तेनेवेत्थ भगवता धम्मानं दुविधता वुत्ता—विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४६। तु०—अभि० स०, पृ० १५७; अभि० को० भाष्य, पृ० ५५; स्फु०, पृ० १२८; वि० प्र० वृ०, पृ० ७२।

९१ साप्रमादिका। सहाप्रमादेन वर्तत इति साप्रमादिका। का पुनरसौ ? उपेक्षा। कुत एतत् ? एकान्तकुशलत्वात्, सर्वकुशलानां चेह निर्देशाधिकारात् श्रद्धादिवत् साक्षादनिर्देशात्, तद्व्यतिरिक्तान्यकुशलाभावाच्च उपेक्षैव विज्ञायते।

तत्राप्रमादः प्रमादप्रतिपक्षः। अलोभाद् यावद् वीर्यम् अप्रमादः। यैरलोभादीन् निश्रित्य अकुशलान् धर्मान् प्रजहाति, तत्प्रतिपक्षांश्च कुशलान् धर्मान् भावयति, तेऽलोभादयोऽप्रमादः। अत एव प्रमादप्रतिपक्षः, प्रमादस्यातो विपरीतत्वात्। स पुनर्लौकिकलोकोत्तरसम्पत्तिपरिपूरणकर्मकः।

अप्रमाद के साथ जो होती है, उसे 'साप्रमादिका' कहते हैं। वह कौन है ? उपेक्षा। यह क्यों ? एकान्तरूप से कुशल होने से, सभी कुशलों के निर्देश का यहाँ अधिकार होने से, श्रद्धा आदि की तरह साक्षात् अनिर्दिष्ट होने से तथा उपेक्षा से अतिरिक्त अन्य कुशलों का अभाव होने से 'उपेक्षा' ही जानी जाती है।

वहाँ (अप्रमाद और उपेक्षा में) अप्रमाद प्रमाद का प्रतिपक्ष है। अलोभ से लेकर वीर्य पर्यन्त (चार) चैतसिक 'अप्रमाद' हैं। जिनकी वजह से अलोभ आदि का आश्रय करके (पुरुष) अकुशल धर्मों को त्यागता है और उन (अकुशल धर्मों) के प्रतिपक्ष कुशल धर्मों की भावना करता है, वे अलोभ आदि (ही) 'अप्रमाद' हैं। इसीलिये अप्रमाद प्रमाद का प्रतिपक्ष है; क्योंकि प्रमाद इस (अप्रमाद) से विपरीत है। यह (अप्रमाद) 'लौकिक और लोकोत्तर सम्पत्ति को परिपूर्ण करना'—इस कर्मवाला है।

आश्रयपरावृत्ति होकर समस्त क्लेशों का प्रहाण ही प्रश्रब्धि का कृत्य है। आश्रय का तात्पर्य आलयविज्ञान से है। उसका स्वरूप परिवर्तित होकर जब वह (आलयविज्ञान) बुद्ध-धर्मों का आश्रय होने लगता है, तो उस अवस्था को आश्रयपरावृत्ति की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में वे सभी क्लेश एवं क्लेशबीज सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जो सांसारिक अवस्था में आलयविज्ञान पर आश्रित थे। इस विषय की चर्चा आगे विस्तार पूर्वक की जायगी[1]।

९१. (९) अप्रमाद—कारिकागत 'साप्रमादिका' शब्द द्वारा दो चैतसिकों का निर्देश किया गया है, यथा—१. अप्रमाद एवं २. उपेक्षा।

श्रद्धा आदि सभी कुशल चैतसिकों का नामोल्लेखपूर्वक साक्षात् निर्देश कर दिया गया है, केवल उपेक्षा के ही नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। ११ कुशल चैतसिकों में से उपेक्षा चैतसिक ही अवशिष्ट रह गया है, अतः 'सह' शब्द द्वारा उसी का ग्रहण उपयुक्त है। 'साप्रमादिका' द्वारा किसी भी कुशल चैतसिक का ग्रहण हो सकता था; किन्तु सभी अन्य चैतसिक नामतः निर्दिष्ट हैं, केवल उपेक्षा ही बाकी है, फलतः पारिशेष्यात् इस नियम से 'सह' शब्द द्वारा उसी का ग्रहण होता है।

---

१. द्र०—त्रिं० का० २९ की व्याख्या।

६२. उपेक्षा चित्तसमता चित्तप्रशठता चित्तानाभोगता। एभिस्त्रिभिः पदैरुपेक्षाया आदि-मध्यावसानावस्था द्योतिता।

तत्र लय औद्धत्यं वा चेतसो वैषम्यम्, तस्याभावाद् आदौ चित्तसमता। ततोऽनभिसंस्कारेणाप्रयत्नेन समाहितचेतसो यथाभियोगं समस्यैव या प्रवृत्तिः सा

चित्तसमता, चित्तप्रशठता एवं चित्त की अनाभोगता 'उपेक्षा' है। इन (चित्तसमता-आदि) तीन पदों द्वारा उपेक्षा की आदि, मध्य एवं अन्तिम अवस्था द्योतित होती है।

वहाँ लय एवं औद्धत्य चित्त की विषमता है। इस (विषमता) का अभाव हो जाने से प्रारम्भ में चित्तसमता की अवस्था आती है। इसके अनन्तर अनभिसंस्कार अर्थात् विना प्रयत्न के समाहित चित्तवाले (साधक) के सम चित्त की ही जो यथेच्छ प्रवृत्ति है, वह

अप्रमाद का स्वरूप—

तत्राप्रमादः प्रमादप्रतिपक्ष०—कुशल कर्मों की प्रवृत्ति एवं अकुशल कर्मों की निवृत्ति इस (अप्रमाद) के आलम्बन हैं। इन दोनों आलम्बनों के प्रति सतर्कता इसका आकार है। अर्थात् कुशल कर्म भलीभाँति सम्पन्न हो रहे हैं कि नहीं, कहीं उनमें अकुशल का प्रवेश तो नहीं हो रहा है—इत्यादि प्रकार की सतत जागरूकता 'अप्रमाद' है। सम्प्रजन्य इसी के अन्तर्गत आता है।

यह अप्रमाद का प्रतिपक्ष है। अलोभ से लेकर वीर्यपर्यन्त इसकी गति है। इसीलिये 'अलोभाद् यावद् वीर्यम् अप्रमादः'—ऐसा कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अलोभ से लेकर वीर्य तक अप्रमाद का कार्यक्षेत्र है तथा उनके साथ अप्रमाद का होना परमावश्यक भी है। इसीलिये अलोभ से लेकर वीर्य तक के चैतसिक उपचार से 'अप्रमाद' कहे गये हैं।

यह (अप्रमाद) लौकिक और अलौकिक (लोकोत्तर) सभी सम्पत्तियों को पूर्ण करता है। लौकिक ऋद्धियाँ, अभिज्ञायें एवं भवाग्रपर्यन्त समस्त समापत्तियाँ 'लौकिक सम्पत्ति' कहलाती हैं। संसार से विमुक्ति, अनास्रव अभिज्ञा-ऋद्धि और बुद्धत्व—ये 'अलौकिक सम्पत्ति' हैं[1]।

६२. (१०) उपेक्षा—इस उपेक्षा का तात्पर्य उपेक्षा वेदना से नहीं है; अपितु यह वेदना से भिन्न एक स्वतन्त्र चैतसिक है, जिसकी स्थिति ऊँची अवस्था को प्राप्त योगियों में होती है। शमथसिद्धि से पूर्व साधक को समाधि की भिन्न-भिन्न ६ अवस्थाओं से क्रमशः

---

1. तु०—अभि० को० २:२५ पृ० ५५। अप्रमादः कुशलानां धर्माणां भावना। का पुनस्तेभ्योऽन्या भावना? या तेष्ववहितता। चेतस आरक्षेति निकायान्तरीताः सूत्रे पठन्ति।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५५; अभि० दी०, ११३ का०, पृ० ७१; वि० प्र० वृ०, पृ० ७१

चित्तप्रशठता, सा पुनरवस्था लयौद्धत्यशङ्कानुगताऽचिरभावित्वात्। ततो भावना-प्रकर्षगमनात् तद्विपक्षदूरीभावात् तच्छङ्काभावे लयौद्धत्यप्रतिपक्षनिमित्तेष्वाभोगम् अकुर्वतोऽनाभोगावस्था चित्तस्यानाभोगता। इयं च सर्वक्लेशोपक्लेशानवकाश-संनिश्रयदानकर्मिका।

'चित्तप्रशठता' है। अचिर भावित (बहुत अभ्यस्त नहीं) होने से यह अवस्था लय और औद्धत्य की शंका से अनुगत होती है। इसके बाद भावना के प्रकर्षपर्यन्त पहुँच जाने से, उन विपक्षों के हट जाने से, उन (विपक्षों) की शङ्का का अभाव हो जाने पर लय और औद्धत्य के प्रतिपक्ष के निमित्तों में आभोग (मनस्कार) न करते हुए (साधक) की जो अनाभोग (अनभिसंस्कारवाहित्व) अवस्था है, वह 'चित्त की अनाभोगता' (की अवस्था) है।

यह (उपेक्षा) 'सभी क्लेशों और उपक्लेशों को (उत्पन्न होने के लिये) अवसर न देने के लिये आधार प्रदान करना'—इस कर्मवाली है।

गुजरना पड़ता है। ९वीं चित्त अवस्था में पहुँचने पर एक तरह से शमथ सिद्ध होता है[1]। ९वीं अवस्था से ही उपेक्षा का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में चित्त में एक प्रकार की समता का आविर्भाव होता है, जो (समता) लय[2] एवं औद्धत्य[3] से विरहित होती है। यह

---

१. ९ चित्त-अवस्थायें ये हैं, यथा—चित्तस्थापन, चित्तप्रवाहसंस्थापन, चित्तप्रतिहरण, चित्तोपस्थापन, चित्तदमन, चित्तशमन, चित्तव्युपशमन, चित्तैकोतीकरण, एवं समाधान। कहा भी गया है—

"निबध्यालम्बने चित्तं तत्प्रवेधं न विक्षिपेत्।
अवगम्याशु विक्षेपं तस्मिन् प्रतिहरेत् पुनः॥
प्रत्यात्मं संक्षिपेच्चित्तमुपर्युपरि बुद्धिमान्।
ततश्च रमयेच्चित्तं समाधौ गुणदर्शनात्॥
अरतिं शमयेत्तस्मिन् विक्षेपदोषदर्शनात्।
अभिध्यादौर्मनस्यादीन् व्युत्थितान् शमयेत्तथा॥
ततश्च साभिसंस्कारां चित्ते स्वरसवाहिताम्।
लभेतानभिसंस्कारात् तदभ्यासात् पुनर्यतिः॥"—द्र०—

महायानसूत्रालङ्कार (अववादानुशासनी विभाग), ११-१४ का०, पृ० ६०।

२. इसे निमग्नता भी कहते हैं। यह एक समाधि का दोष है। इसकी वज़ह से साधक आलम्बन में डूब सा जाता है। यह निद्रा की तरह की अवस्था है। इससे आगे की प्रगति रुक जाती है। सम्प्रजन्य द्वारा इसका प्रहाण किया जाता है।

३. औद्धत्य चित्त की चंचलता है। इसके कारण चित्त एक आलम्बन में स्थिर नहीं रह पाता।

चित्तसमता प्रथम अवस्था की उपेक्षा है। इसके बाद चित्त आलम्बन में स्वतः विना प्रयत्न के प्रवृत्त होने लगता है। यह चित्तप्रशठता की अवस्था उपेक्षा की दूसरी (मध्य) अवस्था है। यह उपर्युक्त ९वीं अवस्था के अन्तिम भाग से शुरु होती है। तदनन्तर समाधि के बहुलतया अभ्यस्त हो जाने पर चित्त में एक अनाभोगता की अवस्था का उत्पाद होता है, जो विना अभिसंस्कार (प्रयत्न) के आलम्बन में चित्त की यथेच्छ प्रवृत्ति (स्वरसवाहिता) है। यह चित्तानाभोगता उपेक्षा की तीसरी (अन्तिम) अवस्था है।

प्रशठता और अनाभोगता में यह अन्तर (फर्क) है कि प्रशठता की अवस्था में चित्तसमता प्राप्त हुये अभी बहुत समय नहीं हुआ है, इसलिये योगी को लय और औद्धत्य आदि विपक्षों के पुनः उत्पाद की बराबर आशङ्का बनी रहती है। अनाभोगता की अवस्था में इस तरह की आशङ्का नहीं होती; क्योंकि लय, औद्धत्य आदि विपक्ष धर्मों के विनष्ट हुये काफी समय बीत चुका है।

चित्तप्रशठता की अवस्था में भी यद्यपि चित्त विना प्रयत्न के स्वतः प्रवृत्त होता रहता है; तथापि योगी को यह बराबर देखते रहना पड़ता है कि कहीं से लय और औद्धत्य आदि का प्रवेश तो नहीं हो रहा है? चित्तानाभोगता की अवस्था में इस प्रकार की शङ्का का उदय न होने से उन (विपक्षों) के बारे में किसी तरह का विचार नहीं किया जाता। यह अन्तिम अनाभोगता की अवस्था शमथ की अवस्था से शुरु होती है।

शमथ से पूर्व अवस्था की समाधियों में प्रीति एवं आह्लाद बहुलतया होते हैं, जो चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न होते हैं। अभ्यास के उत्तरोत्तर बढ़ने पर प्रीति एवं आह्लाद के अंश क्रमशः क्षीण होते जाते हैं और उपेक्षा के अंश शनैः शनैः वृद्धिगत होते रहते हैं। इस अवस्था में चित्त आलम्बन में पहले से अधिक दृढ़ होने लगता है और प्रयत्ननिरपेक्ष होकर स्वतः प्रवृत्त होने लगता है। इस अवस्था की समाधि में किसी तरह की विषमता नहीं रहती। प्रीति या आह्लाद का आधिक्य भी एक प्रकार का वैषम्य ही है। इसी प्रकार चित्त को समाधि में स्थित रखने के लिये प्रयत्न करना एवं लय, औद्धत्य आदि विपक्षों के दूरीकरण के लिये प्रयत्न करना आदि भी वैषम्य के ही सूचक हैं। इन सभी प्रकार की विषमताओं से विरहित होने पर ही शमथ पूर्णतः सिद्ध होता है।

यह उपेक्षा समस्त क्लेशों एवं उपक्लेशों को चित्तसन्तति में उत्पाद का अवसर नहीं देती, अतः उन्हे रोकना ही इसका कृत्य है[1]।

---

१. उपेक्षा के सामान्य स्वरूप के लिये द्र०—अभि० स०, पृ० १५३; अभि० को० भाष्य, पृ० ५५; स्फु०,:पृ० १२१; प० दी०, पृ० ८६; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४७; वि० प्र० वृ०, पृ० ७२; अभि० सू०, ६८।

९३. अविहिंसा विहिंसाप्रतिपक्षः। वधबन्धनादिभिः सत्त्वानाम् अविहेठनम् अविहिंसा, सत्त्वेषु करुणा। कं रुणद्धीति करुणा। कमिति सुखस्याख्या, सुखं रुणद्धीत्यर्थः। कारुणिको हि परदुःखदुःखी भवतीति[1]। इयं चाविहेठनकर्मिका।

अविहिंसा विहिंसा का प्रतिपक्ष है। वध, बन्धन आदि द्वारा सत्त्वों को तकलीफ न देना, 'अविहिंसा' है, यह सत्त्वों के प्रति करुणा है। 'कं रुणद्धि'—यह करुणा (का विग्रह) है। 'कम्' यह सुख का नाम है, तात्पर्य है, जो सुख को रोकती है, वह 'करुणा' है; क्योंकि जो कारुणिक (करुणावान्) होता है, वह दूसरों का दुःख देखकर दुःखी होता है। यह 'अविहेठन' (सन्ताप न पहुँचाना)—इस कर्मवाली है।

---

९३. (११) अविहिंसा—दूसरों का वध करना, उन्हें ताडना देना, बँधवा देना या किसी अन्य प्रकार से उन्हें कष्ट पहुँचाना 'विहिंसा' है। इसके विपरीत वध, बन्धन, ताडन आदि द्वारा किसी को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाकर सब सत्त्वों के प्रति दयाभाव रखना, उन्हें दुःखों से विमुक्ति दिलाना 'अविहिंसा' है। अविहिंसा चैतसिक ही करुणा का परमार्थ स्वरूप है। इस चैतसिक को करुणा इसलिये कहते हैं; क्योंकि यह दूसरों के दुःखों को सहन नहीं कर सकता। यही कारण है कि करुणावान् व्यक्ति सर्वदा दूसरों के दुःखों में स्वयं दुःखी रहता है। उन्हें हटाने के लिये चिन्तित रहता है और इस प्रक्रिया में वह निजी सुख की कभी परवाह नहीं करता।

तात्पर्य यह है कि करुणा चैतसिक दुःखालम्बन होता है। सत्त्वों का दुःख ही इसका आलम्बन है। यह दूसरों को कष्ट पहुँचाने से व्यक्ति को रोकती है, इसलिये अविहेठन ही इसका कृत्य है[2]।

---

१. "परदुक्खे सति साधूनं हदयकम्पनं करोतीति करुणा"— द्र०—अट्ठ०, पृ० १५७।

२. तु०—अभि० स०, पृ० १७१; अभि० को० २:२५, ८:२९ पृ० ५५, ४५२; अभि० दी० ५८८ का०, पृ० ४२७; विभा०, पृ० ८५; प० दी०, पृ० ८९; विसु०, पृ० २१३-२१४। अद्वेषस्वभावा मैत्री, तथा करुणा अद्वेषस्वभावा। कस्तर्हि तयोरप्रमाणयोर्विशेषः? उभयोरद्वेषात्मकत्वेऽपि मैत्री सत्त्वापरित्यागवर्तिनो द्वेषस्य प्रतिपक्षो हर्षाकारप्रवृत्ता च; करुणा ताडनपीडनाभिप्रायवर्तिनो द्वेषस्य प्रतिपक्षो दैन्याकारप्रवृत्ता च—इत्यस्ति विशेषः।—वि० प्र० वृ०, पृ० ४२७।

समाहितो भावयति 'त्रिधातुसत्त्वा विविधकायचित्तदुःखभाजः' इति (तान्) उद्धर्तुकाम एवं भावयन् (तेषाम्) बाह्यक्लेशान् व्यपनेतुं प्रतिबलो भवतीति करुणा नामाप्रमाणं वेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानसम्प्रयुक्तं सम्यग्वाचः सम्यक्कर्मान्तस्योत्थापकमपि न सर्वसंस्कारसम्प्रयुक्तमिति करुणाप्रमाणम्।—अभि० सू०, पृ० ६६।

९४. उक्ता एकादश कुशलाः, तदनन्तरोद्दिष्टास्तु क्लेशा इत्यतस्तानधिकृत्याह—

क्लेशा रागप्रतिघमूढयः ॥११॥
मानदृग्विचिकित्साश्च

इति। रागश्च प्रतिघश्च मूढिश्च रागप्रतिघमूढयः।

९५. तत्र रागो भवभोगयोरध्यवसानं प्रार्थना च। स पुनर्दुःखसंयोजनकर्मकः[1]। दुःखमत्रोपादानस्कन्धास्तेषां[2] कामरूपारूप्यतृष्णावशादभिनिर्वृत्तिः[3]। अतो रागस्य दुःखसंयोजनं[4] कर्म निर्दिश्यते।

एकादश कुशल चैतसिक कह दिये गये। कुशलों के बाद निर्दिष्ट क्लेश चैतसिक अब वक्तव्य हैं, अतः उनका अधिकार करके आचार्य कहते हैं—

राग, प्रतिघ, मोह, मान, दृष्टि और विचिकित्सा—ये छह चैतसिक क्लेश हैं। 'रागप्रतिघमूढयः' यह पद 'रागश्च प्रतिघश्च मूढिश्च' इस प्रकार द्वन्द्व समास करने पर निष्पन्न होता है।

वहाँ (क्लेशों में) भव और भोग के प्रति जो अध्यवसान और प्रार्थना (चाह) है, वह 'राग' है। वह (राग) 'दुःखों से संयोजन करना'—इस कर्मवाला है। यहाँ दुःख का तात्पर्य उपादान स्कन्धों से है; क्योंकि उनकी कामतृष्णा, रूपतृष्णा, एवं आरूप्यतृष्णा की वजह से उत्पत्ति होती है। इसीलिये राग का 'दुःखसंयोजन' यह कर्म निर्दिष्ट किया जाता है।

छह मूल क्लेश चैतसिक—

९४. ११ कुशल चैतसिकों के स्वरूप का प्रतिपादन संक्षेपतः कर दिया गया। उद्देश गाथा में कुशलों के बाद क्लेश चैतसिकों का क्रम आता है। अतः यहाँ क्रमप्राप्त क्लेश चैतसिकों का प्रतिपादन किया जा रहा है। ये ६ होते हैं, यथा—राग, प्रतिघ, मोह (मूढि), मान, दृष्टि एवं विचिकित्सा। आगे उपक्लेश कहे जायँगे, अतः ये मूलक्लेश भी कहे जाते हैं।

क्लेश चैतसिकों का स्वरूप—

९५. (१) राग—संसार और सांसारिक भोगों के प्रति जो अध्यवसान या चाह

---

१. ० संजनन०—ब०।
२. ० दुःखमत्र पञ्चोपादान०—स०।
३. ० निवृत्तिः—ब०।
४. ० संजननं—ब०।

९६. प्रतिघः सत्त्वेष्वाघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता, येनाविष्टः सत्त्वानां वधबन्धनादिकमनर्थं चिन्तयति । स पुनरस्पर्शविहारदुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मकः । स्पर्शः

प्रतिघ सत्त्वों के प्रति आघात और सत्त्वों के प्रति रूक्षचित्तता है, जिससे आविष्ट पुरुष अन्य सत्त्वों का वध, बन्धन आदि अनर्थ करना सोचता रहता है। वह (प्रतिघ) अस्पर्शविहार और दुश्चरितों को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है। स्पर्श सुख को

होती है, वह 'राग' है। प्राप्त (वर्तमान) भोगों के प्रति अध्यवसान होता है। अर्थात् भोगों से अविसंयोगेच्छा अध्यवसान है। अप्राप्त भोगों के प्रति प्रार्थना होती है। अर्थात् अप्राप्त भोगों से संयोग की इच्छा प्रार्थना है। राग समस्त दुःखों का उत्पादक होता है, अतः दुःखोत्पत्ति इसका कृत्य कहा गया है। पाँच उपादान स्कन्ध यहाँ 'दुःख' शब्द से अभिप्रेत हैं, क्योंकि वे त्रिविध दुःखों से सम्पृक्त होते हैं। दुःख तीन प्रकार के होते हैं, यथा—दुःखदुःख, विपरिणाम दुःख एवं संस्कारदुःख।

साधारण जन जिसे दुःख समझते हैं, वह स्थूल दुःख 'दुःखदुःख' है। साधारण जन जिसे सुख समझते हैं, ऐसा सास्रव सुख 'विपरिणाम दुःख' है; क्योंकि यद्यपि वह आपाततः सुख प्रतीत होता है, किन्तु वह शीघ्र ही दुःख में परिणत हो जाता है। कर्म और क्लेशों की वजह से उत्पन्न पाँच या चार स्कन्ध 'संस्कार दुःख' हैं। यह (संस्कार दुःख) नरक से लेकर भवाग्रपर्यन्त व्याप्त होता है[1]। अतः इसे 'व्यापक संस्कारदुःख' भी कहते हैं।

ये सभी उपादान स्कन्ध, जो संस्कार दुःख कहे गये हैं, ये ही सबसे भयङ्कर दुःख हैं। इनका विना प्रहाण किये वास्तविक सुखलाभ असम्भव है। ये उपादानस्कन्ध तृष्णा से उत्पन्न होते हैं। तृष्णा ही 'राग' है। फलतः राग समस्त दुखों का उत्स कहा गया है[2]।

९६. (२) प्रतिघ—दूसरों को आघात पहुँचाने का विचार ही 'प्रतिघ' है। मोटामोटी तौर पर इसके दो प्रकार हो सकते हैं, यथा—दूसरों को चोट पहुँचाने के बारे में

---

१. नरक, प्रेत, और तिर्यक् ये तीन दुर्गतियाँ हैं। मनुष्य, असुर, चातुर्महाराजिक आदि छः कामदेव-ये आठ सुगतियाँ हैं। ब्रह्मकायिक आदि १७ रूपी देव हैं। आकाशानन्त्यायतन आदि चार अरूपी देव होते हैं। चार अरूपी देवों में अन्तिम देव है नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। उनकी भूमि को 'भवाग्र' कहते हैं। क्योंकि समाधि की दृष्टि से वह भव अर्थात् संसार में सबसे ऊँचा स्थान है।

२. द्र०—अभि० स० २ : ४ पृ० १२७; अभि० को० ५ : २०, पृ० २९१; अभि० दी०, पृ० २२०; प० दी०, पृ० ८०; अट्ठ०, पृ० २०१; विसु०, पृ० ३२७।

सुखम्, तेन सहितो विहारः स्पर्शविहारः, न स्पर्शविहारः 'अस्पर्शविहारः' दुःखसहित इत्यर्थः। आघातचित्तस्यावश्यं दौर्मनस्यसमुदाचारात् चित्तं तप्यते। चित्तानुविधानाच्च कायोऽपि तप्यत एवेति सर्वेर्यापथेषु सदुःखसविघातोऽस्पर्शविहारो भवति। प्रतिहतचित्तस्य च न किंचिद् दुश्चरितं विदूर इति प्रतिघोऽस्पर्शविहारदुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मक उक्तः।

९७. मोहोऽपायेषु सुगतौ निर्वाणे तत्प्रतिष्ठापकेषु हेतुषु तेषां चाविपरीते हेतुफलसम्बन्धे यदज्ञानम्। अयं च संक्लेशोत्पत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः।

कहते हैं, उस (सुख) के सहित विहार स्पर्शविहार है। जो स्पर्शविहार नहीं है, वह 'अस्पर्शविहार' है। दुःखसहित विहार इसका तात्पर्य है। आघातचित्तवाले व्यक्ति का चित्त, दौर्मनस्य का उत्पाद हो जाने से अवश्य तप्त हो जाता है। काय चित्त का अनुविधान करता है, अतः चित्त के सन्तप्त होने से काय (शरीर) भी तप्त होता ही है, इस प्रकार सभी ईर्यापथों[1] में (उस व्यक्ति का) सदुःख और सविघात अस्पर्शविहार होता है। प्रतिहतचित्तवाले के (लिये) कोई भी दुश्चरित दूर नहीं होता, फलतः प्रतिघ 'अस्पर्शविहार और दुश्चरितों को आश्रय प्रदान करना इस कर्मवाला' कहा गया है।

अपाय, सुगति, निर्वाण, इनके प्रतिष्ठापक हेतु तथा उनका अविपरीत हेतुफलसम्बन्ध इन विषयों में जो अज्ञान है, वह 'मोह' है। यह (मोह) 'संक्लेशों की उत्पत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

सोचना तथा दूसरों के प्रति कठोर चित्त रखना। इन्हीं के प्रभाव से दूसरों का वध करना, बन्धन करना आदि दुष्कर्म निष्पन्न होते हैं। स्वयं को दुःखी करना या दौर्मनस्य को प्रवृत्त करना—इसका कृत्य है। जब प्रतिघ का उत्पाद होता है, तब स्वयं उस व्यक्ति को ही, जिसके यह उत्पन्न हुआ है, मानसिक बेचैनी उत्पन्न होती है, जिससे मन में एक प्रकार का सन्ताप अनुभूत होता है। जब मन सन्तप्त होता है, तब उसका शरीर भी सन्तप्त हो जाता है; क्योंकि शरीर मन का अनुगामी होता है। फलतः उसके सभी कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार अव्यवस्थित हो जाते हैं। इसे ही 'अस्पर्शविहार' कहा गया है। ऐसी स्थिति में वह कुछ भी अकरणीय कर सकता है, इसीलिये प्रतिघ दुश्चरितों को आश्रय देनेवाला भी कहा गया है[2]।

९७. (३) मोह—दुर्गति एवं सुगति आदि के बारे में अज्ञान ही मोह है। कुशल, अकुशल आदि कर्मों के इष्ट-अनिष्ट आदि फल का ज्ञान अविपरीत ज्ञान है। इसके विपरीत

---

१. ईर्यापथ चार होते हैं, यथा—शयन, आसन, गमन और उत्थान।

२. तु०—अभि० स०, २:४ पृ० १३२; अभि० को०, ५:२० पृ० २६१; अभि० दी०, पृ० ३२०; विसु०, पृ० ३२८; अट्ठ०, पृ० २०८।

तत्र क्लेशकर्मजन्मात्मकस्त्रिविधः संक्लेशः। तस्योत्पत्तिः पूर्वपूर्वसंक्लेशनिमित्त उत्तरोत्तरस्य संक्लेशस्यात्मलाभः। उत्पत्तेः संनिश्रयदानकर्म[1], मूढस्यैव हि मिथ्याज्ञान-संशयरागादिक्लेशपौनर्भविककर्मजन्मनां प्रवृत्तेः[2], नामूढस्येति।

९८. मानः—मानो हि नाम सर्व एव सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण प्रवर्तते। स

वहाँ (कर्म विषयक चर्चा में) संक्लेश त्रिविध है, यथा—क्लेशात्मक, कर्मात्मक एवं जन्मात्मक। उस (संक्लेश) की उत्पत्ति का तात्पर्य पूर्व-पूर्व संक्लेशों की वजह से उत्तर-उत्तर क्लेशों के आत्मलाभ से है। उस उत्पत्ति को आश्रय देना, इस (मोह) का कर्म है; क्योंकि जो मूढ (मोहयुक्त) होता है, उसके (सन्तान में) ही मिथ्याज्ञान, संशय, राग आदि क्लेश, पुनर्भव देनेवाले कर्म और जन्म प्रवृत्त होते हैं, अमूढ के नहीं।

मान—समस्त मान सत्कायदृष्टि का आश्रय करके ही प्रवृत्त होते हैं। चित्त की

कुशल, अकुशल आदि कर्मों के फल के बारे में कुछ न जानना आदि 'मोह' है।

यह मोह समस्त क्लेशों का मूलाधार है। इससे समस्त सांक्लेशिक धर्मों की उत्पत्ति होती है। ये सांक्लेशिक धर्म प्रायः तीन प्रकार के होते हैं, यथा—क्लेशात्मक, कर्मात्मक एवं जन्मात्मक। मोह से सर्वप्रथम राग आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। इनकी वजह से व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होता है। फलस्वरूप उस (व्यक्ति) का संसार में जन्म होता है[3]। इसी क्रम से उसकी संसार में पुनः पुनः प्रवृत्ति होती रहती है। इन त्रिविध सांक्लेशिक धर्मों में से पूर्व-पूर्व हेतु तथा पर पर (पीछे पीछे के) फल होते हैं। इन सांक्लेशिक धर्मों को उत्पन्न होने के लिये आधार प्रदान करना ही इस (मोह) का कृत्य है[4]।

९८. (४) मान—मान सत्कायदृष्टि से उत्पन्न होता है। सबसे पहले स्कन्धों में आत्मोपचार होता है। तदनन्तर उसी को आधार बनाकर पुद्गल में मान का उत्पाद होता है। इस

---

१. ० दानकर्मकमिति--ब०।

२. प्रवृत्तिः--ब०।

३. तु०-- क्लेशास्त्रीणि द्वयं कर्म सप्त वस्तु फलं तथा।
फलहेत्वभिसंक्षेपो द्वयोर्मध्यानुमानतः॥
क्लेशात्क्लेशः क्रिया चैव ततो वस्तु ततः पुनः।
वस्तु क्लेशाश्च जायन्ते भवाङ्गानामयं नयः॥
--अभि० को० ३:२६-२७, पृ० ३१०-३११।

४. तु०--अभि० स० २:४ पृ० १२३; स्फु०, पृ० ३०१; वि० प्र० वृ०, पृ० ७४; अट्ठ०, पृ० २०१; विसु०, पृ० ३२७।

पुनश्चित्तस्योन्नतिलक्षणः ; तथा ह्यात्मात्मीयभावं स्कन्धेष्वध्यारोप्य 'अयमहम्, इदं मम' इत्यात्मानं तेन तेन विशेषेणोन्नमयति, अन्येभ्योऽधिकं मन्यते । स चागौरवदुःखोत्पत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः । अगौरवं गुरुषु गुणवत्सु च पुद्गलेषु स्तब्धता कायवाचोरप्रश्रृतता, दुःखोत्पत्तिः पुनरत्र पुनर्भवोत्पत्तिः ।

स च पुनश्चित्तोन्नतिस्वरूपाभेदेऽपि चित्तोन्नतिनिमित्तभेदात् सप्तधा भिद्यते, मानोऽतिमान इत्येवमादि ।

हीनात् कुलविज्ञानवित्तादिभिः श्रेयानस्मि कुलविज्ञानवित्तादिभिरिति या चित्तस्योन्नतिः, सदृशेन वा कुलादिभिरेव सदृशोऽस्मीति या चित्तस्योन्नतिः स मानः ।

उन्नति मान का लक्षण है । जैसे—आत्मा और आत्मीय भाव को स्कन्धों में आरोपित करके 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार अपने (आत्मा) को उन उन विशेषताओं से उन्नत करता है, अर्थात् अन्य लोगों से अधिक मानता है । वह (मान) 'अगौरव और दुःखोत्पत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है । गुरु (श्रेष्ठ) एवं गुणवान् पुद्गलों के प्रति स्तब्धता तथा काय और वाणी का प्रवृत्त न होना 'अगौरव' है । दुःखोत्पत्ति का तात्पर्य यहाँ पुनर्भव की उत्पत्ति से है ।

'चित्त की उन्नति' इस स्वरूप (लक्षण) से अभिन्न होने पर भी चित्त की उन्नति के निमित्तों के भेद से वह मान सात प्रकार से भिन्न हो जाता है, यथा—मान, अतिमान—इत्यादि ।

मान—कुल, विज्ञान एवं वित्त आदि के द्वारा हीन पुरुष के प्रति 'मैं उससे कुल' विज्ञान, वित्त आदि (की दृष्टि) से श्रेष्ठ हूँ'—इस प्रकार की जो चित्त की उन्नति है, वह अथवा (कुल आदि की दृष्टि से) समान पुरुष के प्रति 'मैं कुल आदि की दृष्टि से ही समान हूँ—(अन्य गुणों में नहीं)' इस प्रकार की जो चित्त की उन्नति है, वह 'मान' है ।

की वजह से वह सोचता है 'मैं बहुत बड़ा पण्डित हूँ, बहुत बड़ा दानी हूँ'—इत्यादि । इस प्रकार सोचनेवाला चैतसिक, जिसकी वजह से चित्त उन्नत (ऊर्ध्ववृत्ति) प्रतीत होता है, अर्थात् जो चित्त की उन्नति (उच्चता)—स्वभाववाला है, 'मान' कहलाता है । इसीलिये यह सत्कायदृष्टि समाश्रित कहा गया है ।

यह (मान) दूसरों के प्रति अगौरव का तथा अपने तईं दुःख का उत्पाद करता है । इसकी वजह से पुद्गल अपने गुरुजन, महान् आचार्य एवं गुणी व्यक्तियों के प्रति आदर नहीं व्यक्त करता । उनके सम्मुख आ जाने पर या तो वह मौन रहता है, ऐंठा रहता है या

अतिमानः—कुलविज्ञानवित्तादिभिः सदृशात् त्यागशीलपौरुषादिभिः श्रेयानस्मि, श्रेयसा वा कुलविद्यादिभिः सदृशोऽस्मि विज्ञानवित्तादिभिरित्ययम् अतिमानः।

श्रेयसः कुलविज्ञानवित्तैरहमेव श्रेयान् कुलविज्ञानवित्तैरिति या चित्तस्योन्नतिरयं मानातिमानः।

अतिमान—कुल, विज्ञान एवं वित्त के द्वारा समान पुरुष के प्रति 'मैं त्याग, शील पौरुष आदि गुणों की दृष्टि से उससे श्रेष्ठ हूँ'; अथवा कुल, विद्या आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ पुद्गल के प्रति 'मैं विज्ञान, वित्त आदि की दृष्टि से उसके समान हूँ'—यह 'अतिमान' है।

मानातिमान—कुल, विज्ञान एवं वित्त आदि के द्वारा श्रेष्ठ के प्रति 'कुल, विज्ञान वित्त आदि के द्वारा उससे मैं ही श्रेष्ठ हूँ'—इस प्रकार की जो चित्त की उन्नति है, वह 'मानातिमान' है।

धृष्टता प्रदर्शित करता है। यहाँ तक कि हाथ जोड़ कर स्वागत वचन का उच्चारण तक नहीं करता। अर्थात् उनके स्वागत के लिये उसके काय और वाणी की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार अगौरव मान का पहला कृत्य है। विशेषतया यह (मान) व्यक्ति के गुणों या योग्यता को आगे नहीं बढ़ने देता, इसकी वजह से पुद्गल जगह जगह अपमानित होता है—इत्यादि अनेक प्रकार के दुःख इस जन्म में तो होते ही हैं; किन्तु मुख्य दुःख इससे यह उत्पन्न होता है कि मानी पुरुष का अवश्य पुनर्भव होता है और उस जन्म में भी हीनता, दरिद्रता, एवं दासता आदि अनेक दुःख होते हैं। यह दुःखोत्पत्ति मान का दूसरा कृत्य है[1]।

---

1. तु०—अभि० स०, २:४, पृ० १३०; विसु०, पृ० ३२७; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१; वि० प्र० वृ०, पृ० २४२, २४७; प० दी०, पृ० ८१। अपि च—

"सेय्योहमस्मीति मानो ति—उत्तमट्ठेन 'अहं सेय्यो' ति एवं उप्पन्नमानो। सदिसोहमस्मीति मानो ति—समसमट्ठेन 'अहं सदिसो' ति एवं उप्पन्नमानो। हीनोहमस्मीति मानो ति—लामकट्ठेन 'अहं हीनो' ति एवं उप्पन्नमानो। एवं सेय्यमानो, सदिसमानो, हीनमानो ति इमे तयो माना तिण्णं जनानं उप्पज्जन्ति। सेय्यस्सापि हि 'अहं सेय्यो, सदिसो, हीनो' ति तयो माना उप्पज्जन्ति, सदिसस्सापि, हीनस्सापि। तत्थ सेय्यस्स सेय्यमानो व याथावमानो, इतरे द्वे अयाथावमाना। सदिसस्स सदिसमानो व...हीनस्स हीनमानो व याथावमानो, इतरे द्वे अयाथावमाना।"—अट्ठ०, पृ० २१६।

अस्मिमानः—पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयरहितेष्वात्मात्मीयाभिनिवेशाद् या चित्तस्योन्नतिः सोऽस्मिमानः।

अभिमानः—अप्राप्त उत्तरे विशेषाधिगमे प्राप्तो मयेति या चित्तस्योन्नतिः सोऽभिमानः।

ऊनमानः—बह्वन्तरविशिष्टात् कुलविद्यादिभिरल्पान्तरहीनोऽस्मि कुलविद्यादिभिरिति या चित्तस्योन्नतिरयम् ऊनमानः।

मिथ्यामानः—अगुणवतो गुणवानस्मीति या चित्तस्योन्नतिः स मिथ्यामानः।

अस्मिमान—आत्मा एवं आत्मीय से रहित पाँच उपादान स्कन्धों में आत्मा एवं आत्मीय का अभिनिवेश करने से जो चित्त की उन्नति होती है वह 'अस्मिमान' है।

अभिमान—कोई श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति न होने पर भी 'मैंने प्राप्त कर लिया है'—इस प्रकार की जो चित्त की उन्नति है, वह 'अभिमान' है।

ऊनमान—कुल, विद्या आदि की दृष्टि से अत्यधिक श्रेष्ठ पुद्गल के प्रति 'कुल, विद्या आदि की दृष्टि से मैं उससे थोड़ा ही हीन हूँ'—इस प्रकार की जो चित्त की उन्नति है, यह 'ऊनमान' है।

मिथ्यामान—अगुणवान् पुद्गल की 'मैं गुणवान् हूँ'—इस प्रकार की जो चित्त की

यद्यपि समस्त मानों का स्वरूप चित्त की उन्नति है और इस दृष्टि से उसमें कोई भेद नहीं है; तथापि इस चित्तोन्नति के निमित्तों (हेतुओं) के भेद से वह (मान) सात प्रकार का हो जाता है, यथा—(क) मान, (ख) अतिमान, (ग) मानातिमान, (घ) अस्मिमान, (ङ) अभिमान, (च) ऊनमान एवं (छ) मिथ्यामान[1]।

(क) **मान**—जाति, विद्या और धन आदि की दृष्टि से अपने से हीन पुद्गल की अपेक्षा स्वयं को उससे उच्च समझनेवाला चैतसिक 'मान' है तथा अपने समान पुद्गल के प्रति भी 'मैं इससे कुछ बातों में ही समान हूँ, अन्य में नहीं'—ऐसा समझनेवाला चैतसिक 'मान' है।

---

१. तु०—

सप्तमानविधास्त्रिभ्यो नव मानविधास्त्रिधा।
त्रिधाऽत्युन्नमनादिभ्यः स्वोत्कर्षाद्यस्ति नास्तिता ॥—

अभि० दी० २७५ का, पृ० २३६।

सप्त माना नवविधास्त्रिभ्यः दृग्भावनाक्षयाः।— अभि० को० ५:१० पृ० २८४-२८५।

अगुणा हि दौःशील्यादयः, ते यस्य विद्यन्ते सोऽगुणवान्, तस्माद् गुणवानस्मीत्यनेन हि दानशीलाद्यभावेऽपि गुणवत्त्वमभ्युपगतं भवतीत्यतो निर्वस्तुकत्वात् मिथ्यामान इत्युच्यते ।

उन्नति है, वह 'मिथ्यामान' है । अगुण का तात्पर्य दौःशील्य आदि से है, वे (अगुण) जिसके हैं, वह 'अगुणवान्' है । इसलिये 'गुणवान्' हूँ'—इससे दान, शील आदि का अभाव होने पर भी गुणवत्ता अभ्युपगत होती है, इस कारण निर्वस्तुक होने से (यह) 'मिथ्यामान' कहलाता है ।

(ख) अतिमान—जाति, विद्या, धन आदि की दृष्टि से जो अपने बराबर हैं, उनकी अपेक्षा अपने को त्याग, शील, बल आदि अन्य गुणों की दृष्टि से श्रेष्ठ समझनेवाला चैतसिक 'अतिमान' है तथा कुल आदि की दृष्टि से अपने से जो श्रेष्ठ हैं, उनके प्रति 'मैं उनके बराबर हूँ'—ऐसा समझनेवाला चैतसिक 'अतिमान' है ।

(ग) मानातिमान—कुल, विद्या, धन आदि की दृष्टि से जो अपने से श्रेष्ठ हैं, उनसे भी अपने को बड़ा समझनेवाला चैतसिक 'मानातिमान' है ।

उपर्युक्त तीनों मानों के लिये यह आवश्यक है कि अपने में कुल, विद्या, धन आदि अवश्य हों । चाहे अल्पमात्रा में ही क्यों न हों, होना अवश्य चाहिये; अन्यथा 'मिथ्यामान' से फर्क न हो सकेगा । ये तीनों मान क्रमशः हीन, मध्यम एवं उच्च कुल आदि की दृष्टि से प्रवृत्त होते हैं ।

(घ) अस्मिमान—पाँच स्कन्धों में या उन स्कन्धों से व्यतिरिक्त आत्मा और आत्मीय नहीं होते; फिर भी पाँच स्कन्धों में आत्मा और आत्मीय का अभिनिवेश हुआ करता है । उस अभिनिवेश के प्रभाव से जीव हमेशा 'अहम्', मम' आदि भावों का ग्रहण करता रहता है । इस प्रकार का 'अहम् मम' आदि अभिनिवेश जो चित्तोन्नति-स्वभाव है, 'अस्मिमान' है । कभी कभी 'अहम्, मम' को लेकर शोक, दुःख, ग्लानि आदि से पीडित होने पर व्यक्ति अपने को अन्य से नीच भी समझने लगता है, जिसमें चित्तोन्नति बिलकुल नहीं होती । इस प्रकार का हीनभाव 'मान' नहीं है । ऐसा कहने में शायद युक्तिविरोध भी न होगा ।

(ङ) अभिमान—उत्तरमनुष्यधर्म जो प्राप्त नहीं हैं, उन्हें प्राप्त समझकर जो चित्तोन्नति होती है, वह 'अभिमान' है । राग, द्वेष, मोह आदि से उत्पन्न जीवों के कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म 'मनुष्यधर्म' हैं । इन अकुशलों के प्रतिपक्षभूत एकान्तकुशल ध्यान, समापत्ति आदि धर्म जो उपर्युक्त 'मनुष्यधर्मों' से श्रेष्ठ हैं, 'उत्तरमनुष्यधर्म' कहलाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष को ध्यान, समापत्ति आदि उत्तरमनुष्यधर्म प्राप्त नहीं हैं, उसका ऐसा कहना या समझना कि 'मैं उत्तरमनुष्यधर्मप्राप्त हूँ' 'अभिमान' है ।

६६. दृगिति सामान्यनिर्देशेऽपि क्लेशाधिकारात् पञ्चैव क्लेशात्मिकाः सत्कायदृष्ट्यादिका दृष्टयः सम्बध्यन्ते, न लौकिकी सम्यग्दृष्टिरनास्रवा। आसां तु क्लिष्टनितीरणाकारत्वाद् अविशेषेऽप्यालम्बनाकारभेदात् परस्परतो भेदः।

दृग् (दृष्टि) इस प्रकार सामान्यनिर्देश करने पर भी क्लेश का अधिकार होने से क्लेशात्मक पाँच सत्कायदृष्टि आदि दृष्टियाँ ही (यहाँ) सम्बद्ध होती हैं, लौकिक सम्यग्दृष्टि, अनास्रव दृष्टि आदि गृहीत नहीं होतीं। इन (दृष्टियों) का 'क्लिष्ट प्रज्ञा' इस आकार से अभेद है, फिर भी आलम्बन एवं आकार का भेद होने से परस्पर भेद होता है।

(च) ऊनमान—कुल, विद्या, धन आदि की दृष्टि से जो मनुष्य अपने से बहुत ज्यादा श्रेष्ठ हैं, उनके बारे में यह सोचना कि 'मैं उनसे थोड़ा ही कम हूँ'—इस प्रकार की चित्तोन्नति 'ऊनमान' है।

(छ) मिथ्यामान—जो व्यक्ति नितान्त निर्गुण, निर्धन या अकुलीन है, उसका अपने को गुणी, धनी या कुलीन आदि समझना 'मिथ्यामान' है। इस प्रकार की चित्तोन्नति मिथ्यामान इसलिये हैं, क्योंकि इसके आलम्बन गुण, धन, कुल आदि उस व्यक्ति में बिलकुल ही नहीं हैं।

६६. (५) दृगिति०—ऊपर क्लिष्ट मनोविज्ञान के वर्णनप्रसङ्ग में दृष्टि के बारे में सामान्य निर्देश किया जा चुका है। यहाँ उसका भेद, प्रभेदों के साथ वर्णन किया जा रहा है--

६ मूल क्लेशों में जो 'दृष्टि' चैतसिक परिगणित है, वह एकान्तेन क्लेशात्मक दृष्टि ही है। साधारणतया सभी दृष्टियाँ क्लेशात्मिका नहीं होतीं, जैसे--लौकिक सम्यक् दृष्टि, अनास्रव दृष्टि आदि क्लेशात्मिका नहीं हैं। यहाँ प्रतिपादित क्लेशात्मिका दृष्टियाँ पाँच प्रकार की हैं। इनमें 'क्लेशयुक्त दर्शन'--इस आकार से कोई भेद नहीं है; क्योंकि यह स्वभाव सभी में समानरूप से व्याप्त है; फिर भी आलम्बन एवं आकार आदि द्वारा इनमें परस्पर भेद हो जाता है। पाँच दृष्टियाँ ये हैं--क. सत्कायदृष्टि, ख. अन्तग्राह-दृष्टि, ग. मिथ्यादृष्टि, घ. दृष्टिपरामर्श, और ङ. शीलव्रतपरामर्श[1]।

---

१. द्र०—अभि० स०, पृ० १२१; अभि० दी० २७० का०, पृ० २३०।

आत्मात्मीयध्रुवोच्छेदनास्तिहीनाग्रदृष्टयः ।
अहेत्वमार्गे तद्दृष्टिरेतास्ता पञ्च दृष्टयः ॥
ईश्वरादिषु नित्यात्मविपर्यासात् प्रवर्तते ।
कारणाभिनिवेशोऽतो दुःखदृग्घेय एव सा ॥ द्र०--

अभि० को० ५ : ७ पृ० २८१। तथा अभि० दी० १६६-१७१ का०, पृ० २२९-२३२।

१००. तत्र सत्कायदृष्टिर्यत्पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयदर्शनम् ।

अन्तग्राहदृष्टिस्तेष्वेव पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयत्वेन गृहीतेषु यदुच्छेदतः शाश्वततो वा दर्शनम् ।

मिथ्यादृष्टिः—यया मिथ्यादृष्ट्या हेतुं वाऽपवदति फलं क्रियां वा सद् वा वस्तु नाशयति, सा सर्वदर्शनपापत्वात् मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते ।

दृष्टिपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वग्रतो विशिष्टतः श्रेष्ठतः परमतश्च यद् दर्शनम् ।

शीलव्रतपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेषु शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च यद् दर्शनम् ।

वहाँ (दृष्टि के भेदों में) पाँच उपादानस्कन्धों में आत्मा और आत्मीय का जो दर्शन है, वह 'सत्काय दृष्टि' है ।

आत्मा और आत्मीय के रूप में गृहीत उन्हीं पाँचों उपादान स्कन्धों में जो उच्छेद-दर्शन या शाश्वत-दर्शन है, वह 'अन्तग्राह दृष्टि' है ।

जिस मिथ्यादृष्टि द्वारा (पुद्गल) हेतु का, फल का या क्रिया का अपवाद करता है, अथवा सत् वस्तु का नाश करता है, वह सभी दृष्टियों में सर्वाधिक पापात्मिका है, इसलिये 'मिथ्यादृष्टि' कहलाती है ।

पाँचों उपादानस्कन्धों को जो अग्र, विशिष्ट, श्रेष्ठ और परम (उत्तम) के रूप में देखना है, वह 'दृष्टिपरामर्श' है ।

पाँच उपादान स्कन्धों के प्रति जो शुद्धि, मुक्ति एवं मार्ग की दृष्टि है, वह 'शीलव्रत-परामर्श' है ।

---

१००. (क) सत्कायदृष्टि--पाँच उपादान स्कन्धों को आत्मा या आत्मीय के रूप में देखना 'सत्कायदृष्टि' है । काय का तात्पर्य समूह से है । विद्यमान पाँच उपादान स्कन्धों का समूह 'सत्काय' है । उसमें आत्मा एवं आत्मीय की दृष्टि रखना 'सत्कायदृष्टि' कहलाती है । इसे 'पुद्गलात्मदृष्टि' भी कहते हैं ।

(ख) अन्तग्राहदृष्टि—उपर्युक्त पाँच उपादान स्कन्धों को आत्मा एवं आत्मीय के रूप में मान लेने के बाद उस आत्मा को शाश्वत समझना या एकदम अलीक (उच्छिन्न) समझना 'अन्तग्राह-दृष्टि' है । अन्तग्राहदृष्टि से पूर्व सत्कायदृष्टि का होना परमावश्यक है ।

तात्पर्य यह है कि सत्कायदृष्टि के द्वारा पाँच उपादान स्कन्धों का आश्रय करके जो 'अहम्, जीव, पुद्गल' आदि व्यवहार होता है, उसे नितान्त अलीक मानना या नित्य, शाश्वत आदि मानना 'अन्तग्राहदृष्टि' है । उच्छेद एक अन्त है तथा शाश्वत दूसरा अन्त । इन अन्तों को ग्रहण करनेवाली दृष्टि 'अन्तग्राहदृष्टि' कहलाती है ।

ज्ञातव्य है कि पाँच स्कन्धों को आत्मा एवं आत्मीय के रूप में देखना 'सत्कायदृष्टि' है तथा यह एक विपरीत (गलत) दृष्टि है । किन्तु जब उन्हें आत्मा मान लिया जाता है,

तो उस मानने के दो प्रकार हो जाते हैं। एक तो यह कि उन स्कन्धों में एक स्वतन्त्र वस्तुसत् आत्मा का आरोप करना, जो (आत्मा) वस्तुतः नहीं होता। दूसरा है, अहम् (मैं हूँ)-मात्र मानना, इस (अहम्) की व्यावहारिक सत्ता होती है। साधारणतया सामान्य जन यह नहीं समझ पाते कि व्यवहारमात्र में सत् 'अहम्' और नितान्त अलीक आत्मा में क्या भेद है ? फलतः कभी वे उसे शाश्वत समझने लगते हैं, जैसे--आत्मवादी तैर्थिक आदि। अथवा कभी वे उसे (अहंमात्र को भी) असत् समझने लगते हैं, यथा--उच्छेदवादी चार्वाक् आदि। यही दोनों दृष्टियाँ 'अन्तग्राहदृष्टि' कहलाती हैं।

(ग) मिथ्यादृष्टि—दुश्चरितों का अनिष्ट फल, सुचरितों का इष्ट फल, पूर्वापर जन्म, माता, पिता एवं गुरु आदि पूज्य जनों की सेवा का उत्तम फल एवं मार्गाभ्यास से अर्हत्त्व की प्राप्ति आदि वस्तुस्थिति है। मिथ्यादृष्टि से प्रभावित व्यक्ति इन सब वस्तुस्थितियों का अपवाद (निषेध) करता है। वह समझता है कि कुशल, अकुशल आदि कर्मों के इष्ट अनिष्ट आदि फल नहीं होते, पुनर्जन्म नहीं होता--इत्यादि। यद्यपि सभी पाँचों दृष्टियाँ पापात्मिका हैं; किन्तु यह मिथ्यादृष्टि उन सबमें गुरुतर है। इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण अकुशल कर्मों में अत्यधिक पापरूपा है।

(घ) दृष्टिपरामर्श—पाँच स्कन्धों को अग्र, श्रेष्ठ, विशिष्ट, उत्तम और निर्मल देखना 'दृष्टिपरामर्श' है। यह विपरीत (गलत) दृष्टि इसलिये है, क्योंकि पञ्च स्कन्ध वस्तुतः दुःखात्मक हैं, सास्रव होने से अत्यन्त अशुद्ध हैं; किन्तु दृष्टिपरामर्श से प्रभावित व्यक्ति उन्हें यथार्थ नहीं समझता।

(ङ) शीलव्रतपरामर्श—पाँच उपादान स्कन्धों के प्रति शुद्धि की; मुक्ति की एवं उनसे निर्वाणप्राप्ति की दृष्टि रखना 'शीलव्रतपरामर्श' है।

आचार्य स्थिरमति की इस स्थल की टीका से ऐसा प्रतीत होता हैं कि पाँच उपादान स्कन्धों में शुद्धि की दृष्टि रखना, मुक्ति की दृष्टि रखना या मार्ग की दृष्टि रखना 'शीलव्रत-परामर्श' है। किन्तु इससे स्थिति स्पष्ट नहीं होती। वस्तुतः होना यह चाहिये कि शुद्धि की दृष्टि से स्नान आदि करना, मुक्ति की दृष्टि से पंचाग्नि तपना आदि तथा उन्हीं (स्नान, पंचाग्नि सेवन आदि) से निर्वाण अर्थात् मोक्ष समझना आदि 'शीलव्रतपरामर्श' है। आचार्य विनीतदेव ने भी ऐसा ही लिखा है कि पापरूपी मलों को स्नान से धोना तथा इसी प्रकार के व्रत, उपवास आदि द्वारा क्लेशों से मुक्ति की इच्छा करना आदि 'दृष्टिपरामर्श' है।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्नान आदि से पापों का प्रक्षालन समझना, पंचाग्निसेवन आदि से मुक्ति मानना तथा तरह तरह से शरीर को कष्ट देने से स्वर्ग की प्राप्ति इत्यादि मानना 'दृष्टिपरामर्श' है[1]।

---

1. तु०—

अहं ममेति या दृष्टिरसौ सत्कायदृक् स्मृता।
तदुच्छेदध्रुवग्राहौ यौ सान्तग्राहदृङ् मता॥

× × ×

१०१. विचिकित्सा कर्मफलसत्यरत्नेषु विमतिः। विविधा मतिर्विमतिः 'स्यान्न स्याद्' इति। प्रज्ञातश्चेयं जात्यन्तरमेवोक्ता।

कर्म, फल, सत्य एवं रत्न आदि विषयों में विमति 'विचिकित्सा' है। विविध (भिन्न-भिन्न प्रकार की) मति 'विमति' है, जैसे—'यह होगा या न होगा' इत्यादि। यह (विचिकित्सा) प्रज्ञा से भिन्न जाति की ही कही गयी है।

---

१०१. (६) विचिकित्सा—कर्म-फल, चार आर्य सत्य या सत्यद्वय एवं त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) आदि के विषय में विमति 'विचिकित्सा' कहलाती है। विमति का तात्पर्य उभय (दो) कोटियों को ग्रहण करनेवाली बुद्धि से है। यह किसी वस्तु की स्थिति को एकान्तरूप से ग्रहण नहीं कर पाती; अपितु दो छोरों के बीच में घूमती (डोलती) रहती है, यथा—यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष है'—इत्यादि। संशय इसका अर्थ है।

प्रज्ञा चैतसिक भी विविध प्रकार की कोटियों का ग्रहण करता है; फिर भी प्रज्ञा से इसका अत्यन्त भेद है। विचिकित्सा (सन्देह) केवल दो कोटियों के बीच में ही घूमती रहती है और वस्तु का निश्चय नहीं कर पाती, इसलिये विचिकित्सा प्रविचय नहीं है। प्रज्ञा

फलहेत्वपवादो यः सा मिथ्यादृष्टिरुच्यते।
ज्ञेयो दृष्टिपरामर्शः हीनवस्तूत्तमग्रहः॥
अहेतावपथे चैव तद्धि शीलव्रताह्वयः।
दुःखभ्रान्त्यपथादानात्तदृष्ट्युत्सार्य एव सः॥—अभि० दी०, पृ० २२९-२५२।

आत्मदृष्टिरात्मीयदृष्टिर्वा सत्कायदृष्टिः। सीदतीति सत्। चयः कायः संघात इत्यर्थः। सच्चायं कायश्चेति सत्कायः पंचोपादानस्कन्धाः। ...सत्काये दृष्टिः सत्कायदृष्टिः। सर्वैव सास्रवालम्बना दृष्टिः सत्काये। आत्मात्मीयदृष्टिरेव तु सत्कायदृष्टिरुक्ता।...यथोक्तम्—"ये केचिद् भिक्षवः श्रमणा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति, सर्वे त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धानि" ति। तस्यैवात्माभिमतस्य वस्तुनो ध्रुवदृष्टिरुच्छेददृष्टिर्वाऽन्तग्राहदृष्टिः; शाश्वतोच्छेदान्त-ग्रहणात्। सति दुःखादिसत्ये नास्तीति दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः। सर्वैव हि विपरीतस्वभावप्रवृत्ता दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः एकैव तूक्ता, अतिशयवत्त्वात् दुर्गन्धक्षतवत्। एषा ह्यपवादिका अन्यास्तु समारोपिकाः। हीने अग्रदृष्टिर्दृष्टिपरामर्शः। किं हीनम्? सर्वं सास्रवम्, आर्यैः प्रहीणत्वात्। तस्याग्रतो ग्रहणं दृष्टिपरामर्शः।...अहेतौ हेतुदृष्टिरमार्गे मार्गदृष्टिः शीलव्रतपरामर्शः, तद्यथा—महेश्वरो न हेतुर्लोकानाम्, तं च हेतुं पश्यति, प्रजापतिमन्यं वा। अग्निजलप्रवेशादयश्च न हेतुः स्वर्गस्य, तांश्च हेतुं पश्यति। शीलव्रतमात्रकं सांख्ययोगज्ञानादयश्च न मार्गो मोक्षस्य तांश्च मार्गं पश्यति। ...इत्येतास्ता पञ्च दृष्टयो वेदितव्याः।—अभि० को० भाष्य, पृ० २८१-२८२।

१०२. उक्ताः षट् क्लेशाः। तदनन्तरोद्दिष्टास्त्विदानीमुपक्लेशा वक्तव्या इत्यत आह—

क्रोधोपनहने पुनः ।
म्रक्षः प्रदाश ईर्ष्याथ मात्सर्यं सह मायया ॥१२॥
शाठ्यं मदो विहिंसा ह्रीरत्रपा स्त्यानमुद्धवः[1] ।
आश्रद्ध्यमथ कौसीद्यं[2] प्रमादो मुषिता स्मृतिः ॥१३॥
विक्षेपोऽसम्प्रजन्यं च

छह मूल क्लेश कह दिये गये। उनके बाद उद्दिष्ट उपक्लेश अब वक्तव्य हैं, इसलिये आचार्य वसुबन्धु ने कहा—

क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, अह्री, अत्रपा, स्त्यान, उद्धव, आश्रद्ध्य, कौसीद्य, प्रमाद, मुषितास्मृति, विक्षेप एवं असम्प्रजन्य (ये २० उपक्लेश हैं)।

वस्तु की सभी कोटियों का निश्चय करती है, इसलिये वह प्रविचय है। फलतः विचिकित्सा प्रज्ञा से स्वभावतः (जातितः) भिन्न सिद्ध होती है[3]।

उपक्लेश चैतसिक

१०२. छह मूल क्लेशों का प्रतिपादन कर देने के अनन्तर अब यहाँ २० उपक्लेशों का प्रतिपादन किया जा रहा है। ये उपक्लेश स्वतन्त्ररूप से क्लेश नहीं होते; अपितु तत्तत् मूल क्लेशों की विशेष विशेष अवस्थायें होते हैं। इनका स्वरूप यथास्थान निर्दिष्ट किया जायगा। २० उपक्लेश ये हैं, यथा—१. क्रोध, २. उपनाह, ३. म्रक्ष, ४. प्रदाश, ५. ईर्ष्या, ६. मात्सर्य, ७. माया, ८. शाठ्य, ९. मद, १०. विहिंसा, ११. अह्री, १२. अत्रपा, १३. स्त्यान, १४. उद्धव, १५. आश्रद्ध्य, १६. कौसीद्य, १७. प्रमाद १८. मुषितास्मृति, १९. विक्षेप एवं २०. असम्प्रजन्य।

---

१. उद्धतः ?—व०।

२. कौशीद्यं—अ०।

३. द्र०—अभि० स० २ : ४ पृ० १४३; अभि० को० ५ : १ पृ० २७७; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०३।

विगता चिकिच्छा ति चिकिच्छितुं दुक्करताय वुत्तं, न सब्बथा विचिकिच्छाय चिकिच्छाभावतो ति तदत्थमत्तं दस्सेति—विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५३। विसु०, पृ० ३२८; अट्ठ०, पृ० २०१।

१०३. तत्र क्रोधो वर्तमानमपकारमागम्य यश्चेतस आघातः। अयं चाघात-स्वरूपत्वात् प्रतिघात् न भिद्यते; किन्त्वस्य प्रतिघस्यावस्थाविशेषे प्रज्ञप्तत्वात् प्रतिघांशिकः। वर्तमानमपकारमागम्य यश्चेतस आघातः सत्त्वासत्त्वविषयो दण्डदानादिसंनिश्रयदानकर्मकश्च स क्रोध इति प्रज्ञप्यते।

वहाँ (उपक्लेशों में) वर्तमान अपकार की अपेक्षा से जो चित्त का आघात होता है, वह 'क्रोध' है। यह (क्रोध) आघात-स्वरूप होने से (पूर्वोक्त) प्रतिघ से भिन्न नहीं है, किन्तु इसके प्रतिघ की अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त होने के कारण (यह) प्रतिघ का ही अंशविशेष है। वर्तमान अपकार की अपेक्षा से सत्त्वविषयक या असत्त्वविषयक जो चित्त का आघात है अथवा 'दण्ड आदि को आश्रयप्रदान करना'—इस कर्मवाला जो चित्त का आघात है, वह (ही) 'क्रोध' प्रज्ञप्त होता है।

उपक्लेश चैतसिकों का स्वरूप—

१०३. (१) क्रोध—दूसरों का अपकार करने की प्रक्रिया के चलते रहते दो तरह के आघात (प्रतिघ) चित्त में उत्पन्न होते हैं—१. अतितीव्र और २. मन्द। अतितीव्र अवस्था के चैतसिक को प्रतिघ कहते हैं तथा मन्द अवस्था के चैतसिक को 'क्रोध' कहते हैं। दूसरों का अपकार करने की क्रिया जब तक निवृत्त नहीं होती, तब तक चाहे सत्त्व हो, चाहे असत्त्व, उन्हें नुकसान पहुँचाने की इच्छा 'क्रोध' है। प्रतिघ का स्वरूप भी यही है; किन्तु उसमें और इसमें फर्क केवल इतना है कि तीव्र अवस्था में वह 'प्रतिघ' कहलाता है तथा कुछ कम अवस्था में वही 'क्रोध' कहलाता है। वस्तुतः यह प्रतिघ के क्षेत्र से बाहर नहीं है, इसीलिये प्रतिघ की अवस्थाविशेष में ही उपचरित है। इस क्रोध की वजह से अन्य सत्त्वों (प्राणियों) को दण्ड दिया जाता है तथा विष, शस्त्र आदि के प्रयोग द्वारा विविध प्रकार से उन्हें हानि पहुँचाई जाती है। कभी-कभी अचेतन (असत्त्व) वस्तुओं के प्रति भी क्रोध होते देखा जाता है, जिसकी वजह से लोग घर के सामान तोड़-फोड़ देते हैं। इसलिये यह दण्ड आदि देने का आधार होता है और यही इसका कृत्य है[1]।

---

१. तु०—अभि० को० २:२७ पृ० ५७; ५:४८-४६ पृ० ३१२-३१३।

व्यापादविहिंसावर्जितः सत्त्वासत्त्वयोराघातः क्रोधः। —अभि० को० भाष्य, पृ० ३१२। अभि० दी०, ११५ का०, पृ० ७५।

अनत्थं मे अचरीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरतीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरिस्सतीति आघातो जायति; पियस्स मे मनापस्स अनत्थं अचरि···प०··· अनत्थं चरति···प०···अनत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति; अप्पियस्स मे अमनापस्स अत्थं अचरि···प०··· अत्थं चरति···प०···अत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति; अट्ठाने पन आघातो जायति। —ध० स०, पृ० २४१।

१०४. उपनाहो वैरानुबन्धः। क्रोधादूर्ध्वम् 'ममानेनेदमपकृतम्' इत्यस्य वैरात्मकस्यानुशयस्यानुत्सर्गः प्रबन्धेन प्रवर्तनमुपनाहः। अयं चाक्षान्तिसंनिश्रयदान-कर्मकः। अक्षान्तिरपकारामर्षणं प्रत्यपकारचिकीर्षा च। अयमपि क्रोधवत् अद्वेषा-वस्थाविशेषे प्रज्ञप्यते, अतः प्रज्ञप्तिसन्नेव वेदितव्यः।

वैर का अनुबन्ध 'उपनाह' है। क्रोध के बाद 'इसने मेरा यह अपकार किया' इस प्रकार के वैरात्मक अनुशय का अनुत्सर्ग अर्थात् वैर का धारा के रूप में चलते रहना 'उपनाह' है। यह (उपनाह) 'अक्षान्ति को आश्रय प्रदान करना'--इस कर्मवाला है। अपकार को न सहना एवं प्रत्यपकार करने की इच्छा 'अक्षान्ति' है। यह (उपनाह) भी क्रोध के ही समान द्वेष की अवस्था विशेष में ही प्रज्ञप्त है, अतः इसे प्रज्ञप्तिसत् ही जानना चाहिये।

---

१०४. (२) उपनाह—क्रोध या प्रतिघ प्रायः तभी होता है, जब कोई हमारा अपमान करता है या किसी तरह का नुकसान करता है। उस अपमान या नुकसान की वजह से हमें क्रोध या प्रतिघ होता है। उस क्रोध के शान्त हो जाने पर उपनाह की अवस्था आती है। किसी के प्रति उत्पन्न वैरभाव को मन में गाँठ बाँध कर रखना ही 'उपनाह' है। उपनाह से प्रभावित व्यक्ति सोचता है 'हम इतने बड़े आदमी हैं, इतने प्रभावशाली हैं और इसने हमारा अपमान किया या निन्दा की, हम इसे कभी भूल नहीं सकते, अवश्य इसका बदला लेंगे, यदि बदला न लिया तो हम आदमी नहीं हैं'--इत्यादि। इस (उपनाह) की धारा काफी लम्बे समय तक चलती रहती है। यह अक्षान्ति (असहिष्णुता) को आश्रय प्रदान करता है, इसलिये अक्षान्ति ही इसका कृत्य है।

जिस प्रकार क्रोध प्रतिघ की अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त है, उसी प्रकार यह भी प्रतिघ की धाराविशेष में प्रज्ञप्त है। वस्तुतः यह भी प्रतिघ के क्षेत्र से बाहर नहीं है[1]।

अट्ठाने पन आघातो ति अकारणे कोपो। एकच्चो हि देवो अतिवस्सतीति कुप्पति, न वस्सतीति कुप्पति, सुरियो तप्पतीति कुप्पति, न तप्पतीति कुप्पति, वाते वायन्ते पि कुप्पति, अवायन्ते पि कुप्पति, सम्मज्जितुं असक्कोन्तो बोधिपण्णानं कुप्पति, चीवरं पारुपितुं असक्कोन्तो वातस्स कुप्पति, उपक्खलित्वा खाणुकस्स कुप्पतीति इदं सन्धाय वुत्तं—अट्ठाने पन आघातो जायतीति —अट्ठ०, पृ० २०२।

1. तु०—आघातवस्तुबहुलीकार उपनाहः।—अभि० को० भा०, पृ० ३१३। अभि० दी०, ११५ का०, पृ० ७५। वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७।

१०५. म्रक्ष आत्मनोऽवद्यप्रच्छादना। छन्दद्वेषभयादीन्निराकृत्य काले तद्धितैषिणा चोदकेन तत् त्वमेवंकारीत्यनुयुक्तस्य मोहांशिक्यवद्यप्रच्छादना म्रक्षः। मोहांशिकत्वं तु म्रक्षस्य प्रच्छादनाकारत्वात्। अयं च कौकृत्यास्पर्शसंनिश्रयदानकर्मकः[1]। धर्मतैषा यदवद्यं प्रच्छादयतः कौकृत्यमुत्पद्यते, कौकृत्याच्चावश्यं दौर्मनस्येन सम्प्रयोगादस्पर्शविहार इति।

अपने पाप को छिपाना 'म्रक्ष' है। छन्द, द्वेष, भय आदि को हटाकर समय पर उसके हितैषी प्रश्नकर्ता के द्वारा 'क्या तुम इस प्रकार का कर्म करनेवाले हो?' ऐसा पूछने पर उस पूछे जानेवाले व्यक्ति की मोहांशिकी पापप्रच्छादना 'म्रक्ष' है। म्रक्ष का मोहांशिक होना, तो 'छिपाना' इस आकार की वज़ह से है। यह (म्रक्ष) 'कौकृत्य और अस्पर्शविहार को आश्रय प्रदान करना' इस कर्मवाला है। यह धर्मता है कि पाप छिपानेवाले को कौकृत्य होता है और कौकृत्य का अवश्य दौर्मनस्य से सम्प्रयोग होता है, इसलिये अस्पर्शविहार होता है।

---

१०५. (३) म्रक्ष—अपने दोषों को छिपानेवाला चैतसिक 'म्रक्ष' कहलाता है। जो अगमनीय स्थान आदि में गमन करता है या कोई अन्य दुश्चरित कर्म करता है, तो वह उसे छिपाना चाहता है। जब उसके दुश्चरित उससे सम्बन्धित किसी श्रेष्ठ पुरुष को मालूम हो जाते हैं तो सर्वप्रथम वह महापुरुष द्वेष, भय हटाकर उसे शिक्षा देना चाहता है। समय आने पर उसके पास जाकर वह उससे कहता है 'तुमने क्या इस प्रकार का कर्म किया है? यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है' इत्यादि। किन्तु वह दुराचारी व्यक्ति मोह (अज्ञान) के वशीभूत होकर उस दुश्चरित से अपना सम्बन्ध अस्वीकार करता है। इस प्रकार का दुश्चरित को छिपानेवाला चैतसिक 'म्रक्ष' कहलाता है। यह चैतसिक मोह के अंश में ही प्रज्ञप्त है। यह कौकृत्य (पश्चात्ताप) एवं अस्पर्शविहार को आधार प्रदान करता है।

यह स्वाभाविक है कि जब कोई पुरुष अपने पापों को छिपाता है, तो कालान्तर में उसे अवश्य पश्चात्ताप होता है। कौकृत्य अवश्य दौर्मनस्य वेदना से सम्प्रयुक्त होता है, फलतः वह (छिपाने वाला) व्यक्ति सुख और शान्तिपूर्वक नहीं रह पाता। यही 'अस्पर्शविहार' है। इस प्रकार कौकृत्य और अस्पर्शविहार ये दो इस (म्रक्ष) के कृत्य हैं[2]।

---

१. कौकृत्यास्पर्शविहार०—ब०।

२. तु०—अवद्यप्रच्छादनं म्रक्षः।—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१२। अभि० दी०, ३७३ का०, पृ० ३०८। अवद्यं छादयतः चित्ताक्षेपो म्रक्षः, चित्तं म्रक्षयतीति म्रक्षः।—वि० प्र० वृ०, पृ० ३०८।

१०६. प्रदाशश्चण्डवचोदाशिता। चण्डं वचः प्रगाढं पारुष्यम्, मर्मघट्टनयोगेन दशनशीलो दाशी, तद्भावो दाशिता, अयं च भावप्रत्ययः स्वार्थिकः। चण्डेन वचसा प्रदशतीति चण्डवचोदाशिता। अयं च क्रोधोपनाहपूर्वकश्चेतस आघातस्वभाव इति प्रतिघांशिक एव, न द्रव्यतो भिद्यते। अयं च वाग्दुश्चरितप्रसवकर्मकः, अस्पर्शविहारकर्मकश्च, तद्वतः पुद्गलस्य दुःखसंवासत्वात्।

१०७. ईर्ष्या परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोषः। लाभसत्काराध्यवसितस्य लाभसत्कारकुलशीलश्रुतादीन् गुणविशेषान् परस्योपलभ्य द्वेषांशिकोऽमर्षकृतश्चेतसो

कठोर वचन द्वारा डँसना (काटना) 'प्रदाश' है। चण्ड वचन अत्यन्त कठोर वचन को कहते हैं। मर्म में आघात पहुँचाने के द्वारा दशनस्वभाव 'दाशी' है, उसका भाव 'दाशिता' है, यह भावप्रत्यय स्वार्थ में हुआ है। कठोर वचन द्वारा जो काटता है, वह 'चण्डवचोदाशिता' है। क्रोध और उपनाह पूर्वक यह (प्रदाश) चित्त को आघात पहुँचाने के स्वभाववाला है, इसलिये प्रतिघ का ही अंशभूत है, (उस प्रतिघ से यह) द्रव्यतः भिन्न नहीं है। यह वाग्दुश्चरित का उत्पाद करनेवाला और अस्पर्शविहार कर्मवाला है; क्योंकि प्रदाश से युक्त पुद्गल का संवास दुःखद होता है।

दूसरों की सम्पत्ति (खुशहाली) को देखकर, जो चित्त में व्यारोष (विद्वेष) होता है, वह ईर्ष्या है। (अपने) लाभ एवं सत्कार आदि के प्रति आसक्त पुरुष का दूसरे के लाभ, सत्कार, कुल, शील (चारित्र्य) एवं पाण्डित्य आदि गुणविशेषों को प्राप्त (देख, सुन या सोच) कर द्वेष का अंशभूत और असहिष्णुता का उत्पादक जो चित्त का व्यारोष (डाह)

---

१०६. (४) प्रदाश—अत्यन्त कठोर वचन द्वारा आघात पहुँचानेवाला चैतसिक 'प्रदाश' कहलाता है। किसी का कटु वचन कहकर अपमान करना, उसके दोषों को उसीके सम्मुख कहना या जनसमाज में उनकी खुले-आम तीखी आलोचना करना और इस ढंग से कहना, जिससे उसके मर्म पर चोट पहुँचे 'प्रदाश' का स्वभाव है। यह काटने जैसे अर्थात् डंक मारने जैसे स्वभाववाला होता है। यह क्रोध एवं उपनाह से उत्पन्न होता है, इसलिये प्रतिघ के अंश में ही प्रज्ञप्त है। वस्तुतः यह प्रतिघ के क्षेत्र से बाहर नहीं है। यह (प्रदाश) वाग्दुश्चरित को उत्पन्न करता है, अतः वाग्दुश्चरित का उत्पाद एवं अस्पर्शविहार—ये दो इसके कृत्य हैं। अस्पर्शविहार इसका कृत्य इसलिये हैं, क्योंकि प्रदाश से प्रभावित व्यक्ति के साथ किसी अन्य व्यक्ति का रहना बड़ा मुश्किल है। यह दोनों (स्वयं और साथी) को सुख (चैन) से नहीं रहने देता, इसलिये दोनों के लिये अस्पर्शविहार का जनक है[1]।

१०७. (५) ईर्ष्या—दूसरों के ऐश्वर्य, आदर, शील एवं पाण्डित्य आदि गुणों को

---

1. तु०—सावद्यवस्तुदृढग्राहिता प्रदाशः, येन न्यायसंज्ञप्तिं न गृह्णाति।—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१३; अभि० दी०, पृ० ३०६। वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७।

व्यारोष ईर्ष्या। स्वमाश्रयं व्याप्य रोषो व्यारोषः। दौर्मनस्यसम्प्रयोगात् तत्पूर्वकश्चास्पर्शविहार इति दौर्मनस्यास्पर्शविहारकर्मिकोच्यते।

१०८. मात्सर्यं दानविरोधी चेतस आग्रहः। उपात्तं वस्तु धर्मामिषकौशलात्मकम्। येन पूजानुग्रहकाम्ययाऽर्थिनेऽनर्थिने वा दीयते तद् दानम्, तस्मिन् सति दानाभावात् तद्विरोधीत्युच्यते। लाभसत्काराध्यवसितस्य जीवितोपकरणेषु रागांशिकश्चेतस आग्रहोऽपरित्यागेच्छा मात्सर्यम्। इदं चासंलेखसंनिश्रयदानकर्मकम्। असंलेखः पुनर्मात्सर्येणानुपयुज्यमानानामप्युपकरणानां संचयाद् वेदितव्यः।

होता है, वह 'ईर्ष्या' कहलाती है। अपने को अर्थात् आश्रय (चित्त) को व्याप्त करके जो रोष होता है, उसे 'व्यारोष' कहते हैं। ईर्ष्या दौर्मनस्य से सम्प्रयुक्त होती है और दौर्मनस्यपूर्वक अस्पर्शविहार होता है, इसलिये दौर्मनस्य एवं अस्पर्शविहार इन (दो) कर्मों को करनेवाला यह कहा जाता है।

मात्सर्य दान का विरोधी चित्त का आग्रह (अपरित्याग की इच्छा) है। अर्जित वस्तु धर्म और कल्याण के लिये होती है। जिसके द्वारा पूजा और अनुग्रह की इच्छा से याचक या अयाचक को (कोई वस्तु) दी जाती है, वह 'दान' है। उस दान (के क्षण) के उपस्थित होने पर (मात्सर्य की वजह से) दान का अभाव हो जाने से (यह) उस दान का विरोधी कहा जाता है। लाभ और सत्कार आदि के प्रति आसक्त व्यक्ति का जीवन के उपकरणों के प्रति राग का अंशभूत, जो चित्त का आग्रह अर्थात् अपरित्यागेच्छा होती है, वह 'मात्सर्य' कहलाती है। यह (मात्सर्य) 'असंलेख को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है। मात्सर्य की वजह से अनुपयुक्त उपकरणों का भी संचय किया जाता है, इस अर्थ में 'असंलेख' जानना चाहिये।

आलम्बन बनाकर चित्त में जो एक प्रकार की असहिष्णुता या डाह होती है, वह ईर्ष्या' है। यह अपने ऐश्वर्य, लाभ, सत्कार आदि के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण उत्पन्न होती है। यह अपने मन को भी दु:खी बनाती है और अस्पर्शविहार को भी उत्पन्न करती है, अतः दौर्मनस्य एवं अस्पर्शविहार का उत्पाद इसका कृत्य है। असहिष्णुतास्वभाव होने से यह द्वेष का ही अंश है। वस्तुतः यह द्वेष के क्षेत्र से बाहर नहीं है[१]।

१०८. (६) मात्सर्य—चित्त की वह आसक्ति, जो दान की विरोधी होती है,

---

१. तु०—अभि० स०, पृ० १३४; अट्ठ, पृ० २०८; विसु०, पृ० ३२८, विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५२।

सा हि परेसं पकतिया लद्धसम्पत्तिं दिस्वा वा सुत्वा वा न सहति, तस्सा सम्पत्तिया विपत्तिं इच्छति, आकङ्खति; 'असुको इदं नाम लभिस्सती' ति सुत्वापि न

'मात्सर्य' कहलाती है। धर्म, धन एवं विद्या आदि इसके आलम्बन होते हैं। इन वस्तुओं के प्रति कंजूसी का भाव ही 'मात्सर्य' है। अर्थात् इनके दान का विरोध करना इसका स्वभाव है। धर्म, धन, विद्या आदि, जो स्वयं द्वारा उपार्जित हैं, उन्हें पूजा के लिये या दूसरों के हित के लिये त्यागना, दान का स्वभाव है। मात्सर्य का स्वभाव इससे एकदम विपरीत है। फलतः इसके होने पर दान होना नितान्त असम्भव है।

मात्सर्य की प्रकारान्तर से व्याख्या करते हुए आचार्य स्थिरमति कहते हैं--

लाभसत्काराध्यवसितस्य—अपने जीवन के उपकरणों के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने के कारण उन उपकरणों को पकड़े रखने की इच्छा अर्थात् उनके अपरित्याग की इच्छा 'मात्सर्य' है। यह लाभ, सत्कार आदि के प्रति होनेवाली तीव्र आसक्ति से उत्पन्न होता है। इसकी वज़ह से अनुपयोगी वस्तुओं का भी संग्रह किया जाता है। प्रायः मात्सर्य से प्रभावित व्यक्ति ऐसी वस्तुओं का भी संग्रह करते हुए देखे जाते हैं और वे उन्हें किसी को नहीं देते जो एकदम अनुपयोगी होती हैं, इसे ही 'असंलेख' कहते हैं। इस असंलेख को आधार प्रदान करना, इसका कृत्य है। यह राग के अंश में ही प्रज्ञप्त है। वस्तुतः यह राग के क्षेत्र से बाहर नहीं है[1]।

सहति, तस्स अलाभं इच्छति, आकङ्खति। तस्मा 'सा परसम्पत्तीनं उस्सूयनलक्खणा' ति वुत्तं—प० दी०, पृ० ८१।

परसम्पत्त्यमर्षणमीर्ष्या—वि० प्र० वृ०, पृ० ३०८। परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोष ईर्ष्या--अभि० को० भाष्य, पृ० ३१२। अभि० दी०, पृ० ३०८।

1. तु०—अभि० स०, पृ० १३४, "मम एव इदं गुणजातं वा वत्थु वा होतु, मा अञ्ञस्सा ति एवं अत्तनो सम्पत्तिहेतु अविप्फारिकतावसेन चरति पवत्ततीति मच्छरं, तथा पवत्तं चित्तं, मच्छरस्स भावो मच्छरियं। —प० दी०, पृ० ८१।

मच्छरयोगे मच्छरीति पवत्तमानं मच्छरिसद्दं गहेत्वा आह--'मच्छरभावो मच्छरियं' ति; निरुत्तिनयेन पन 'मा इदं अच्छरियं अञ्ञेसं होतु मय्हमेव होतू' ति मच्छरियं ति पोराणा। --विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५२।

स्ववस्तुन्याग्रहो मात्सर्यम्, मत्तो मा सरेदिति निरुक्तिः। --वि० प्र० वृ०, पृ० ३०१।

धर्मामिषकौशलप्रदानविरोधी चित्ताग्रहो मात्सर्यम्—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१२।

१०९. माया परवञ्चना, या अभूतार्थसंदर्शनता। लाभसत्काराध्यवसितस्य परवञ्चनाभिप्रायेणान्यथावस्थितस्य शीलादेरर्थस्यान्यथा प्रकाशना। इयं च सहिताभ्यां रागमोहाभ्याम् अभूतान् गुणान् प्रकाशयतस्तयोः समुदितयोः प्रज्ञप्यत इति क्रोधादिवत् प्रज्ञप्तित एव, न द्रव्यत इति मिथ्याजीवसंनिश्रयदानकर्मिका।

माया परवञ्चना है, जो अभूत (अविद्यमान) अर्थ का दिखलाना है। लाभ, सत्कार आदि के प्रति आसक्त पुरुष का दूसरों को ठगने के अभिप्राय से दूसरे प्रकार से अवस्थित शील (चारित्र्य) आदि अर्थों का दूसरे प्रकार से दिखलाना (माया है)। यह (माया) सम्मिलित राग और मोह की वजह से (अपने में) अविद्यमान गुणों को प्रकाशित करनेवाले पुरुष के उन समुदित राग और मोह में ही प्रज्ञप्त होती है। इसलिये क्रोध आदि की भाँति यह प्रज्ञप्तितः ही है, द्रव्यसत् नहीं है। इस प्रकार यह मिथ्या आजीव को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाली है।

---

१०९. (७) माया—अपने शील, कुल, विद्या आदि की स्थिति यद्यपि अच्छी (उच्च) नहीं है; फिर भी लाभ, सत्कार आदि के प्रति अत्यधिक लालसा की वजह से लोगों को ठगने या धोखा देने के लिये अपने शील, कुल आदि को अन्यथा अर्थात् ऊँचा दिखलानेवाला चैतसिक 'माया' है। अपने लाभ, सत्कार आदि के प्रति अत्यन्त आसक्तिवश लोगों को ठगने का विचार इसका आसन्न हेतु है। माया से प्रभावित व्यक्ति स्वयं दुःशील होने पर भी अपने को सुशील दिखलाता है। नीच कुलोत्पन्न होने पर भी अपने को कुलीन प्रदर्शित करता है। विद्या से हीन होने पर भी अपने को बड़ा पण्डित दिखलाने की चेष्टा करता है। माया चैतसिक से युक्त पुरुष में उपर्युक्त शील, कुल, विद्या आदि का सर्वथा अभाव होना आवश्यक नहीं है; किन्तु जिस ऊँचाई से वह उन्हें प्रदर्शित करता है, वस्तुतः वे उतने श्रेष्ठ नहीं होते; अपितु हीन होते हैं। यह राग और मोह में प्रज्ञप्त है। इसलिये वस्तुतः यह राग और द्वेष से स्वतन्त्र चैतसिक नहीं है। यह मिथ्या आजीव का उत्पाद करता है, अतः मिथ्या आजीव ही इसका कृत्य है[1]।

---

1. तु०—तत्र परवञ्चना माया।—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१३; अभि० को० ५.४९ पृ० ३१३। अभि० दी ३७२ का०, पृ० ३०६। पराभिसन्धानाय मिथ्योपदर्शनकारी परवञ्चना माया।—वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७। विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५; विभ०, पृ० ४१७।

११०. शाठ्यं स्वदोषप्रच्छादनोपायसंगृहीतं चेतसः कौटिल्यम्। स्वदोषप्रच्छादनोपायः परव्यामोहनम्। तत्पुनरन्येनान्यत् प्रतिसरन् विक्षिपति, अपरिस्फुटं वा[1] प्रतिपद्यते। अत एव शाठ्यं म्रक्षाद् भिद्यते। स हि स्फुटमेव प्रच्छादयति, न काक्वा। इदमपि लाभसत्काराध्यवसितोपायाभ्यां रागमोहाभ्यां स्वदोषप्रच्छादनार्थं परव्यामोहनाय प्रवर्तते। तयोरेव सहितयोः प्रज्ञप्यते। इदं च सम्यगववादलाभपरिपन्थिकर्मकम्[2]। सम्यगववादस्य यो लाभो योनिशोमनसिकारस्तस्यान्तरायं करोति।

अपने दोषों को छिपाने के उपायों से संगृहीत चित्त का कौटिल्य 'शाठ्य' है। अपने दोषों को छिपाने का उपाय दूसरों को मोहित करना है। यह (शाठ्य) अन्य से अन्य में घूमता हुआ विक्षिप्त होता है या अस्पष्टता को प्राप्त होता है। इसलिये शाठ्य म्रक्ष नामक चैतसिक से भिन्न होता है। वह (म्रक्ष) स्पष्ट (सीधे) ही अपने दोषों को छिपाता है, किसी व्याज से नहीं। यह (शाठ्य) भी लाभ और सत्कार में अध्यवसित राग और मोह आश्रित उपाय की वजह से अपने दोषों को छिपानेके लिये और दूसरों में व्यामोह उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्त होता है तथा राग और मोह के समुदाय में ही प्रज्ञप्त होता है। यह (शाठ्य) 'सम्यक् अववाद के लाभ में विघ्न करना'—इस कर्मवाला है। सम्यक् अववाद का जो लाभ योनिशोमनस्कार है, उसमें यह विघ्न करता है।

---

११०. (८) शाठ्य—अपने दुश्चरितों को छिपाने का उपाय करनेवाला चैतसिक 'शाठ्य' है। शाठ्य से प्रभावित व्यक्ति अपने दोषों को छिपाने के लिये अनेक तरह के उपाय रचता है। कभी-कभी वह बेबुनियाद बातें करता है, बहानेबाजी करता है तथा अस्पष्ट गोलमोल जबाब देता है। इन उपायों से वह दूसरों में व्यामोह उत्पन्न करता है। यद्यपि म्रक्ष चैतसिक भी अपने दोषों को छिपाता है; किन्तु यह उससे सर्वथा भिन्न चैतसिक है। म्रक्ष से प्रभावित व्यक्ति पूछने पर अपने दोषों को साफ अस्वीकार कर देता है, बहाने या चालाकी से अस्वीकार नहीं करता; जबकि शाठ्य से युक्त पुरुष उन्हें (दोषों को) सीधे इन्कार नहीं करता; अपितु बात को इधर से उधर घुमाता है, गोलमोल उत्तर देता है। अर्थात् बातें छिपाने में उपायों का आश्रयण करता है। यह चैतसिक (शाठ्य) भी राग और मोह के अंश में ही प्रज्ञप्त है। वस्तुतः यह राग और मोह के क्षेत्र से बाहर स्वतन्त्र चैतसिक नहीं है। यह सम्यक् उपदेश की प्राप्ति में बाधक है; क्योंकि सम्यक् उपदेश की पात्रता के

---

१. च—ब०।

२. ०परिपन्थ०—अ०।

१११. मदः स्वसम्पत्तौ रक्तस्योद्धर्षश्चेतसः पर्यादानम्। कुलारोग्ययौवनबलरूपैश्वर्यबुद्धिमेधाप्रकर्षः स्वसम्पत्तिः। उद्धर्षो हर्षविशेषः। येन हर्षविशेषेण चित्तमस्वतन्त्रीक्रियते तेन तदात्मतन्त्रीकरणात् पर्यात्तं भवतीत्येतदुक्तं चेतसः पर्यादानमिति। अयं च सर्वक्लेशोपक्लेशसंनिश्रयदानकर्मकः।

स्वसम्पत्ति के प्रति आसक्त चित्त का हर्षविशेष या चित्त का पर्यादान (संनिरोध) 'मद' है। कुल, आरोग्य, यौवन, बल, रूप, ऐश्वर्य, बुद्धि और मेधा का प्रकर्ष 'स्वसम्पत्ति' है। उद्धर्ष 'हर्षविशेष' का नाम है। जिस हर्षविशेष द्वारा चित्त अस्वतन्त्र किया जाता है, उस (हर्षविशेष) के द्वारा अपने वश में कर लिया जाने के कारण वह चित्त संनिरुद्ध हो जाता है। इसीलिये (मद को) 'चेतसः पर्यादानम्' (चित्त का अवरोध) कहा गया है।

लिये चित्त की ऋजुता आवश्यक होती है। सीधा-साधा चित्त ही सम्यक् उपदेश का पात्र होता है तथा ऐसा चित्त ही उपदेश के अनुकूल आचरण करने में समर्थ होता है। शाठ्य तो इससे एकदम विपरीत है; क्योंकि यह तो चित्त की कुटिलता है। फलतः यह योनिशोमनसिकार जो सम्यक् अववाद का हेतु है, का विरोधी है[1]।

१११. (६) मद—अपनी सम्पत्ति के प्रति राग की वजह से मन में जो एक प्रकार की हर्षानुभूति होती है, वह 'मद' है। कुल, आरोग्य, यौवन आदि 'स्वसम्पत्ति' हैं। उनके प्रति आसक्ति के कारण हर्ष का उत्पाद होता है। उस हर्ष के कारण चित्त पर नियन्त्रण नहीं रह पाता, अपितु वह उसी के वशीभूत हो जाता है। फलतः कुशलपाक्षिक धर्मों में चित्त की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, इसे ही चित्त का पर्यादान कहते हैं। यह (मद) क्लेश और उपक्लेशों का उत्पाद करता है। इसलिये समस्त क्लेशों और उपक्लेशों को उत्पन्न होने के लिये आश्रय (आधार) प्रदान करना—इस का कृत्य है। यह भी राग और मोह के अंश में ही प्रज्ञप्त है। अर्थात् राग और मोह की ही अवस्थाविशेष है। वस्तुतः उनके क्षेत्र से बाहर नहीं है[2]।

---

१. तु०—अभि० को० ५:४१ पृ० ३१३; चित्तकौटिल्यं शाठ्यं येन यथाभूतं नाविष्करोति विक्षिपत्यपरिस्फुटं वा प्रतिपद्यते।—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१३; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५; विभ०, पृ० ४२७।

२. तु०—

मदः स्वधर्मे रक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः।—अभि० को० २ : ३३, पृ० ६१। मदस्तु स्वधर्मेष्वेव रक्तस्य यच्चेतसः पर्यादानम्, यथा मद्यज एवं रागजः। सम्प्रहर्षणाविशेषो मद इत्यपरे।—अभि० को० भाष्य, पृ० ६१; अभि० दी० ३७३ का०, पृ० ३०६; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७।

११२. विहिंसा सत्त्वविहेठना। विविधैर्वधबन्धनताडनतर्जनादिभिः सत्त्वानां हिंसा विहिंसा। विहेठ्यन्तेऽनया सत्त्वा वधबन्धनादिभिर्दुःखदौर्मनस्योत्पादनादिति सर्वसत्त्वविहेठना। सा पुनः प्रतिघांशिकी निर्घृणता सत्त्वेषु चित्तरूक्षता सत्त्वविहेठन-कर्मिका विहिंसेत्युच्यते।

११३. आह्रीक्यं स्वयमवद्येनालज्जा। तस्मिन् कर्मण्यात्मानमयोग्यं मन्य-मानस्यापि यावद् येनालज्जा, साऽऽह्रीक्यं ह्रीविपक्षभूतम्।

सत्त्वों को कष्ट पहुँचाना 'विहिंसा' है। विविध प्रकार से वध, बन्धन, ताडन, तर्जन आदि द्वारा सत्त्वों की हिंसा 'विहिंसा' कहलाती है। वध, बन्धन आदि द्वारा दुःख और दौर्मनस्य का उत्पाद करने से जिसके कारण प्राणी पीडित किये जाते हैं, वह 'सत्त्वविहेठना' है। प्रतिघ की अंशभूत, निर्दयता, सत्त्वों के प्रति कठोरचित्तता और सत्त्वविहेठन कर्मवाली वह 'विहिंसा' कही जाती है।

स्वयं (अपनी अपेक्षा से) पाप कर्मों से न लजाना 'आह्रीक्य' है। उस कर्म (विशेष) में अपने को अयोग्य माननेवाले (व्यक्ति) की भी जब तक उस कर्म से अलज्जा है, (तब तक) वह आह्रीक्य ही है, (जो) ह्री (लज्जा) का विपक्षभूत (चैतसिक धर्म) है।

---

११२. (१०) विहिंसा—दूसरों को विविध प्रकार से पीडित करनेवाला चैतसिक 'विहिंसा' है। वध (जान से मारना), बन्धन, ताडन, तर्जन (फटकारना या धमकी देना) आदि द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाना, इसका अर्थ है। यह (विहिंसा चैतसिक) प्रतिघ का ही अवस्थाविशेष है। निर्दयता, कठोरचित्तता आदि लोक में इसके अन्य नाम हैं। सत्त्वविहेठन इसका कृत्य है। अर्थात् लोगों को कष्ट पहुँचाना इसका कर्म है। विहिंसा होने के लिये दूसरों को कष्ट पहुँचाने का विचार पहले आवश्यक है। इस तरह के विचार के विना यदि लोगों को कष्ट हो जाता है, तो वह 'विहिंसा' नहीं है[१]।

११३. (११) आह्रीक्य—अपने गुणों के गौरव की, अपने कुल के गौरव की, धर्म के गौरव की अपेक्षा न कर बुरे (निन्दित) कर्मों से न लजाना 'आह्रीक्य' है। 'यह पाप कर्म मेरे करने लायक नहीं है, अर्थात् इस कर्म के सम्पादन का मुझमें सामर्थ्य नहीं है'—ऐसा जानते हुये भी यदि उस कर्म से स्वयं में लज्जा की अनुभूति नहीं है, तो वह 'आह्रीक्य' ही है। पहले कहा गया है कि अपने गौरव और धर्म के गौरव की अपेक्षा से 'ह्री' होती है[२],

---

१. तु०—अभि० को० ५ : ५०, पृ० ३३१। विहेठनं विहिंसा, येन प्रहारपारुष्यादिभिः परान् विहेठयते।—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१३; अभि० दी०, पृ० ३०६; वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७।

२. द्र०—त्रिंशिका ८४, पृ० १४१।

११४. अनपत्राप्यं परतोऽवद्येनालज्जा। लोकशास्त्रविरुद्धमेतन्मया क्रियत इत्येवमवगच्छतोऽपि या तया पापक्रिययाऽलज्जा, साऽपत्राप्यविपक्षभूतम् अनपत्राप्यम्।

एतच्च द्वयमपि सर्वक्लेशोपक्लेशसाहाय्यकर्मकम्। रागद्वेषमोहप्रकारेषु सर्वासत्कार्यप्रभवहेतुषु रागद्वेषयोरयौगपद्याद् यथासम्भवं प्रज्ञप्यते, न तु स्वतन्त्रमस्ति।

दूसरों (की अपेक्षा) से पाप कर्मों से न लजाना 'अनपत्राप्य' है। 'लोक और शास्त्र से विरुद्ध कर्म मैं कर रहा हूँ'—ऐसा जाननेवाले (व्यक्ति) की भी जो उस पाप क्रिया से अलज्जा है, वह 'अनपत्राप्य' है, जो अपत्राप्य का विपक्षभूत (चैतसिक धर्म) है।

ये दोनों (आह्रीक्य और अनपत्राप्य) 'समस्त क्लेशों और उपक्लेशों की सहायता करना'—इस कर्मवाले हैं। राग, द्वेष और मोह के प्रकारों में, जो समस्त असत् कर्मों के उत्पाद के हेतु हैं, राग और द्वेष का अयौगपद्य (एक साथ न रहना) होने से यथासम्भव (किसी एक में) प्रज्ञप्त होते हैं, (इनसे भिन्न ये कोई) स्वतन्त्र चैतसिक नहीं हैं।

उसी प्रकार 'अह्री' को भी समझना चाहिये। अर्थात् यह भी आत्मा और धर्म की अपेक्षा से व्यवस्थापित होती है। याने अपनी और धर्म की अपेक्षा न कर पाप कर्मों से न लजाना 'आह्रीक्य' है[1]।

११४. (१२) अनपत्राप्य—दूसरों (लोक) के प्रति गौरव की अपेक्षा न कर पाप कर्मों से न लजाना 'अनपत्राप्य' कहलाता है। पहले कहा गया है कि लोक (श्रेष्ठ जनों) के प्रति गौरव की अपेक्षा से 'अपत्राप्य' होता है[2]। उसी प्रकार 'अनपत्राप्य' को भी समझना चाहिये। अर्थात् यह भी लोक की अपेक्षा से ही व्यवस्थापित होता है। याने लोकगौरव की अपेक्षा न कर पाप कर्मों से न लजाना 'अनपत्राप्य' है। जैसे—इस अनपत्राप्य से प्रभावित व्यक्ति कोई बुरा कर्म करते समय यह न सोचेगा कि 'यह कर्म लोक में निन्दित है, इसे करने

---

१. तु०—अभि० स०, पृ० १२५; विसु०, पृ० ३२६; अट्ठ०, पृ० २०१।

अह्रीरगुरुता—अभि० को० २ : ३२ पृ० ५६। गुणेषु गुणवत्सु चागौरवता अप्रतीशता अभयमवशवर्तिता आह्रीक्यं गौरवप्रतिद्वन्द्वो धर्मः।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५९।

तत्राह्रीक्यं ह्रीविपक्षभूतो धर्मः ""अकार्यं कुर्वाणस्यालज्जा स्वात्मनोऽह्रीः।—वि० प्र० वृ०, पृ० ७५।

२. द्र०—त्रिं० ८५ पृ० १९१।

११५. स्त्यानं चित्तस्याकर्मण्यता स्तैमित्यम् स्तिमितस्य भावः स्तैमित्यम्, यद्योगात्[1] चित्तं जडीभवति, स्तिमितं भवति, नालम्बनं प्रतिपत्तुं समुत्सहते। एतच्च सर्वक्लेशोपक्लेशसाहाय्यदानकर्मकम्। मोहांशे प्रज्ञप्तत्वाच्च मोहांशिकमेव, न पृथग् विद्यते।

चित्त की अकर्मण्यता या स्तैमित्य 'स्त्यान' है। स्तिमित का भाव 'स्तैमित्य' है, जिसके योग से चित्त जडीभूत होता है, स्तिमित होता है तथा आलम्बन के ग्रहण में उत्साह-सम्पन्न नहीं होता। यह (स्त्यान) मोह के अंश में प्रज्ञप्त होने से मोहांशिक ही है, उस (मोह) से पृथक् नहीं है।

से मेरी लोक में बदनामी होगी या यह कर्म धर्मशास्त्र से विरुद्ध है'—इत्यादि। शास्त्र का तात्पर्य यहाँ नीतिशास्त्र या लौकिक शास्त्रों से है[2]।

उपर्युक्त आह्रीक्य 'ह्री' का तथा यह अनपत्राप्य 'अपत्राप्य' का विपक्षभूत धर्म है। ह्री और अपत्राप्य का कृत्य 'दुश्चरितों से संयमन करना' कहा गया है[3]। इन दोनों का कृत्य उससे विपरीत समस्त क्लेशों और उपक्लेशों के उत्पाद में सहायता करना है।

ये दोनों चैतसिक राग, द्वेष एवं मोह के अवस्थाविशेष में ही प्रज्ञप्त होते हैं। किन्तु स्थिति यह है कि किसी एक ही आलम्बन के प्रति व्यक्ति में राग और द्वेष दोनों एक साथ (युगपद्) नहीं हो सकते। फलतः कभी (जब राग का समुदाचार होता है, तब) ये राग की विशेष अवस्था में प्रज्ञप्त होते हैं तथा कभी (जब द्वेष का समुदाचार होता है, तब) ये द्वेष की विशेष अवस्था में प्रज्ञप्त होते हैं। अर्थात् अवस्थानुसार इन्हें यथायोग्य जानना चाहिये[4]।

११५. (१३) स्त्यान—चित्त की उस अकर्मण्यता को 'स्त्यान' कहते हैं, जो आलम्बन के प्रति चित्तमन्दता उत्पन्न करती है। जिसके योग से चित्त जडवत् प्रतीत होता

---

१. तद्योगात्—ब०।

२. तु०—अवद्ये भयादर्शित्वमत्रपा—अभि० को० २ : ३२ पृ० ५९। अवद्यं नाम यद् विगर्हितं सद्भिः। तत्राभयदर्शिताऽनपत्राप्यम्। भयमत्रानिष्टं फलम्, भीयतेऽस्मादिति।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५९; वि० प्र० वृ०, पृ० ७५।

३. द्र०—त्रिं०, पृ० १९२।

४. तु०—अभि० स०, पृ० १२५; विसु०, पृ० ३२६; अट्ठ०, पृ० २०१।

जिगुच्छति नाहिरीको पापा गूथा व सूकरो।
न भायति अनोत्तप्पी सलभो विय पापका॥

—विभा०, पृ० ४३।

११६. औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः। व्युपशमो हि शमथः, तद्विरुद्धोऽव्युपशमः।

चित्त का अव्युपशम 'औद्धत्य' है। व्युपशम का तात्पर्य 'शमथ' से है, अव्युपशम उस

है। स्त्यान होने पर चित्त न तो आलम्बन को स्पष्टतया देख पाता है और न अन्य आलम्बनों की ओर गतिशील हो पाता है; अपितु गृहीत आलम्बन में ही निमग्न (डूबा) सा बना रहता है। स्त्यानसम्प्रयुक्त चित्त में प्रकाश नहीं के बराबर होता है और वह निष्क्रिय हो जाता है।

अन्य शास्त्रों में एक 'लय' नामक चैतसिक उपलब्ध होता है[1], जिसका स्वभाव करीब-करीब स्त्यान की भाँति ही है। यद्यपि ये दोनों एक ही हैं; फिर भी स्त्यान और लय में किञ्चित् भेद प्रतीत होता है। स्त्यान का अपना कोई निश्चित आलम्बन नहीं होता और न यह समाधि-भावना की प्रक्रिया में उत्पन्न ही होता है। जब कि लय (जिसे 'निमग्न' भी कहते हैं) समाधि-भावना की प्रक्रिया में ही उत्पन्न होता है। जब कोई साधक समाहित होने की चेष्टा करता है, तब यह उसकी चित्त-सन्तति में विघ्न के रूप में उत्पन्न होता है, अतः इसका निश्चित आलम्बन होता है; क्योंकि समाधि का आलम्बन साधक द्वारा निश्चित है। यह (स्त्यान) समस्त क्लेशों और उपक्लेशों के उत्पाद में सहायता प्रदान करता है। यह मोह के अवस्था-विशेष में ही प्रज्ञप्त है। वस्तुतः यह उससे भिन्न नहीं है। अर्थात् मोह के क्षेत्र से बाहर नहीं है[2]।

११६. (१४) औद्धत्य—चित्त की अशान्ति 'औद्धत्य' है। भिन्न भिन्न विषयों के प्रति चित्त के दौड़ने से चित्त में जो एक प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, उससे अशान्ति

---

१. द्र०—महायानसूत्रालङ्कार, पृ० ६१; मध्यान्तविभागभाष्य, पृ० ३०।

२. तु०—अभि० स०, पृ० १४०; विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०६; ध० स०, पृ० २५६।

थियति चित्तं मन्दं मन्दं कत्वा अज्झोत्थरतीति थिनं—प० दी०, पृ० ८४।

अनुस्साहनावसीदनभावेन संहतभावो थिनं—ध० स० मू० टी०, पृ० १२०। विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५०।

अभि० को० २ : २६ पृ० ५६। स्त्यानं कतमत्? या कायगुरुता चित्तगुरुता कायाकर्मण्यता चित्ताकर्मण्यता। कायिकं स्त्यानं चैतसिकं स्त्यानमित्युक्तमभिधर्मे। कथं चैतसिको धर्मः कायिक इत्युच्यते? यथा कायिकी वेदना।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५६। स्त्यानं कायचित्ताकर्मण्यता—वि० प्र० वृ०, पृ ७४; कायाकर्मण्यता स्त्यानं तन्द्रीपर्यायवचनम्, पृ० ३०६।

स पुनरेष रागानुकूलपूर्वंहसितरसित[1]क्रीडिताद्यनुस्मरतश्चेतसोऽव्युपशमहेतुः, शमथ-परिपन्थिकर्मकः[2]।

११७. आश्रयद्धच॑ कर्मफलसत्यरत्नेष्वनभिसम्प्रत्ययः श्रद्धाविपक्षः। श्रद्धा ह्यस्तित्वगुणवत्त्वशक्यत्वेष्वभिसम्प्रत्ययः प्रसादोऽभिलाषश्च यथाक्रमम्। अश्रद्धा तद्विपर्ययेणास्तित्वगुणवत्त्वशक्यत्वेष्वनभिसम्प्रत्ययोऽप्रसादोऽनभिलाषश्च[3]। कौसीद्य-

(शमथ) का विरोधी है। वह यह (औद्धत्य) रागपूर्वक हसित, रसित, क्रीडित आदि पूर्वघटित घटनाओं का स्मरण करनेवाले चित्त के अव्युपशम का हेतु है और शमथ में विघ्न करना' इसका कर्म है।

कर्म, फल, सत्य और रत्न (त्रिरत्न) के प्रति अविश्वास जो श्रद्धा का विपक्षभूत धर्म है, वह 'आश्रद्धच' है। श्रद्धा (वस्तु के) अस्तित्व, गुणवत्त्व एवं शक्यत्व के प्रति क्रमशः सम्प्रत्यय, प्रसाद एवं अभिलाष आकारवाली होती है। इसके विपरीत अश्रद्धा अस्तित्व, गुणवत्त्व एवं शक्यत्व के प्रति अविश्वास, अप्रसाद एवं अनभिलाष आकारवाली है। यह

उत्पन्न होती है। राग का आधिक्य इसके उत्पाद का हेतु है। एक ही आलम्बन में चित्त शान्तिपूर्वक स्थित न रह कर जो इधर-उधर दौड़ता है, उसका कारण पूर्वघटित हँसी-मजाक भोज, क्रीडा आदि घटनाओं की स्मृति ही है। यह शमथ या समाधि में विघ्न का उत्पाद करता है तथा राग के अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त है[4]।

११७. (१५) आश्रद्धच—कर्म-फल, चार आर्यसत्य या सत्यद्वय, बुद्ध आदि त्रिरत्न विषयों में अविश्वास या अप्रसाद 'अश्रद्धा' है। ऊपर श्रद्धा के बारे में जो जो बातें कही गयी हैं[5], अश्रद्धा ठीक उनके विपरीत स्वभाववाली है; क्योंकि यह श्रद्धा का विरोधी

---

१. ० रमित०—ब०।
२. ० परिपन्थ०—अ०।
३. ० प्रत्ययोऽप्रमादो०—अ०।
४. तु०—अभि० स०, पृ० १२६; विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०३।

उद्धरतीति उद्धटं, पासाणपिट्ठे वट्टित्वा विस्सट्ठगेण्डुको विय नानारम्मणेसु विक्खित्त' चित्त', उद्धटस्स पन चित्तस्स उद्धरणाकारप्पवत्तिया पच्चयभूतो धम्मो उद्धच्चं, तं पन वातेरितं जलं विय धजपताका विय च दट्ठब्बं।—प० दी०, पृ० ८०।

अभि० को० २ : २६ पृ ५६। औद्धत्यं पुनश्चेतसोऽव्युपशमः।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५६। औद्धत्यं चित्ताव्युपशमः—वि० प्र० वृ०, पृ० ७४, चित्ताव्युपशान्ति-रौद्धत्यम्—पृ० ३०६।

५. द्रष्टव्य—त्रिंशिका ८३, पृ० १६०।

संनिश्रयदानकर्मकम्। अश्रद्दधानस्य प्रयोगच्छन्दाभावात् कौसीद्यसंनिश्रयदान-कर्मकत्वम्।

११८. कौसीद्यं कुशले चेतसोऽनभ्युत्साहो वीर्यविपक्षः। कुशले कायवाङ्मनः-कर्मणि निद्रापार्श्वशयनसुखमागम्य यो मोहांशिकश्चेतसोऽनभ्युत्साहः। एतच्च कुशलपक्षप्रयोगपरिपन्थिकर्मकम्।

(आश्रद्ध्य) 'कौसीद्य को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है। श्रद्धाहीन पुरुष में प्रयोग और छन्द का अभाव होने से इसका कौसीद्य को आश्रय प्रदान करना, यह कर्म सिद्ध होता है।

कुशल कर्मों के प्रति चित्त का अनुत्साह 'कौसीद्य' है और यह वीर्य का विपक्षभूत धर्म है। कायिक, वाचिक और मानसिक कुशल कर्मों में निद्रा, पार्श्वशयन (लेटना) आदि सुख की अपेक्षा से मोह का अंशभूत, जो चित्त का अनुत्साह है, (वह 'कौसीद्य' कहलाता है।) यह (कौसीद्य) 'कुशलपाक्षिक कर्मों का विरोध करना'—इस कर्मवाला है।

धर्म है। यह कौसीद्य को आश्रय प्रदान करनेवाला धर्म है। इसलिये कौसीद्य का उत्पाद इसका कृत्य है। श्रद्धाहीन पुरुष में क्योंकि किसी तरह के प्रयत्न और अभिलाष का अभाव होता है, इसलिये कौसीद्य का उत्पाद इसका कृत्य सिद्ध होता है। यह मोह के अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त है[1]।

११८. (१९) कौसीद्य—कुशल कर्मों में अनुत्साह 'कौसीद्य' कहलाता है। यह सोने, लेटने आदि में सुख मानता है। यही कारण है कि इससे प्रभावित व्यक्ति में कायिक, वाचिक एवं मानसिक कुशल कर्मों के प्रति उत्साह न होकर अनुत्साह होता है। यह मोह के अवस्थाविशेष में प्रज्ञप्त है। यह सब प्रकार के कुशल कर्मों को करने से व्यक्ति को रोकता है तथा उनकी वृद्धि में बाधक होता है। इसीलिये कुशल कर्मों में विघ्न करना, इसका कृत्य कहा गया है[2]।

---

१. तु०—अभि० को० २ : २६ पृ० ५६। आश्रद्ध्यं चेतसोऽप्रसादः श्रद्धाविपक्षः।—अभि० को० भाष्य०, पृ० ५६। अभि० दी०, ११४ का०, पृ० ७२। आश्रद्ध्यं चित्ताप्रसादः, चित्तकालुष्यमित्यर्थः। गुणेषु गुणवत्सु चासम्प्रत्ययोऽनर्थित्वं च।—
वि० प्र० वृ०, पृ० ७४।

२. तु—अभि० को० २:२६ पृ० ५६। कौशीद्यं चेतसो नाभ्युत्साहो वीर्यविपक्षः।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५६; वि० प्र० वृ०, पृ० ७४; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६१।

११९. प्रमादो यैर्लोभद्वेषमोहकौसीद्यैः क्लेशाद् रागद्वेषमोहादिकात् चित्तं न रक्षति कुशलं च तत्प्रतिपक्षभूतं न भावयति, तेषु लोभद्वेषमोहकौसीद्येषु प्रमादः प्रज्ञप्यते। अयं चाकुशलवृद्धिकुशलपरिहाणिसंनिश्रयदानकर्मकः।

१२०. मुषिता स्मृतिः क्लिष्टा स्मृतिः। क्लिष्टेति क्लेशसम्प्रयुक्ता। इयं च विक्षेपसंनिश्रयदानकर्मिका।

प्रमाद—जिन लोभ, द्वेष, मोह एवं कौसीद्य के कारण पुद्गल राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों से चित्त की रक्षा नहीं करता तथा प्रतिपक्षभूत कुशल की भावना नहीं करता, उन्हीं लोभ, द्वेष, मोह एवं कौसीद्य में प्रमाद प्रज्ञप्त होना है। यह (प्रमाद) 'अकुशल की वृद्धि एवं कुशल की हानि को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

मुषिता स्मृति क्लिष्ट स्मृति को कहते हैं। क्लिष्ट का तात्पर्य क्लेशसम्प्रयुक्त से है। यह (मुषिता स्मृति) 'विक्षेप को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाली है।

---

११९. (१७) प्रमाद—लोभ, द्वेष, आदि की वज़ह से मनुष्य क्लेशों से अपने चित्त की रक्षा नहीं कर पाता तथा उन राग आदि क्लेशों के प्रतिपक्षभूत कुशल धर्मों की भावना द्वारा वृद्धि नहीं कर पाता। अर्थात् अकुशल कर्मों को न करने एवं कुशल धर्मों के सेवन में सतर्क नहीं हो पाता। इस प्रकार की जो असतर्कता है, वह 'प्रमाद' है। यह राग, द्वेष, मोह एवं कौसीद्य के अंशविशेष में यथायोग्य प्रज्ञप्त है। यह अकुशल की वृद्धि एवं कुशल का ह्रास करता है। इसलिये यही इसका कृत्य है[1]।

१२०. (१८) मुषिता स्मृति—मुषिता स्मृति एक प्रकार की स्मृति ही है, जो क्लेशों से सम्प्रयुक्त है। क्लेशों की वज़ह से चित्त दूषित होकर सम्यक् अर्थों को भूल जाता है और विपरीत अर्थों का स्मरण करने लगता है चित्त का यही विकार 'मुषिता स्मृति' है। स्मृति अक्लिष्ट भी होती है, यथा—अकुशल कर्म को करना भूल जाना तथा कुशल कर्मों का करना ही याद रहना, किन्तु यह मुषिता स्मृति नहीं है; अपितु सम्यक् स्मृति है। यह (मुषिता स्मृति) विक्षेप के उत्पाद का आधार प्रदान करती है, अतः विक्षेप का उत्पाद ही इसका कृत्य है। यह राग, द्वेष, मोह आदि सभी मूल क्लेशों के अंश में प्रज्ञप्त है[2]।

---

१. तु०—अभि० को० २:२६ पृ० ५६।

प्रमादः कुशलानां धर्माणामभावनाऽप्रमादविपक्षो धर्मः। —अभि० को० भाष्य, पृ० ५६; अभि० दी०, ११४ का०, पृ० ७३; वि० प्र० वृ, पृ० ७४।

२. वैभाषिकनय में यह स्वतन्त्र चैतसिक नहीं है। अपितु इसका स्मृति में ही अन्तर्भाव किया जाता है, जो (स्मृति) महाभूमिक चैतसिक है; द्रष्टव्य—

१२१. विक्षेपो रागद्वेषमोहांशिकश्चेतसो विसारः । विविधं क्षिप्यतेऽनेन चित्तमिति विक्षेपः । यै रागद्वेषमोहैश्चित्तं समाध्यालम्बनाद् बहिः क्षिप्यते, तेषु यथासम्भवं विक्षेपः प्रज्ञप्यते । एष च वैराग्यपरिपन्थिकर्मकः ।

राग, द्वेष एवं मोह की अंशभूत जो चित्त की इतस्ततः भ्रमणशीलता है, वह 'विक्षेप' है । जिसके द्वारा चित्त विविध आलम्बनों में क्षिप्त किया जाता है, वह 'विक्षेप' है । जिन राग, द्वेष या मोह की वजह से चित्त समाधि के आलम्बन से बाहर (दूसरे आलम्बनों में) क्षिप्त किया जाता है, उन्हीं (राग, द्वेष आदि) में यह विक्षेप यथायोग्य प्रज्ञप्त होता है । यह 'वैराग्य का विरोध'—इस कर्मवाला है ।

---

१२१. (१९) विक्षेप—एक निश्चित आलम्बन में स्थित न रहकर राग आदि क्लेशों की वजह से चित्त का इधर-उधर दौड़ जाना 'विक्षेप' है । यह प्रायः सभी पृथग्जनों की सन्तान में विद्यमान होता है । विशेषतया जब समाहित होने का प्रयास किया जाता है, तब यह अधिक उत्पन्न होता है । अथवा यों कहना चाहिये कि विक्षेप तो सर्वदा होते ही रहते हैं; किन्तु जब समाधि का अभ्यास किया जाता है, तब इससे परिचय होता है, इस लिये उस समय यह अधिक अनुभूत होता है, वैसे अधिक तो इससे पूर्व भी होता ही था । समाधि के अभ्यास की अवस्था में इसकी वजह से चित्त समाधि के आलम्बन से बाहर दूसरे दूसरे आलम्बनों में क्षिप्त हो जाता है । राग, द्वेष एवं मोह इसमें कारण होते हैं, अतः राग, द्वेष एवं मोह के अंश में ही यह यथायोग्य प्रज्ञप्त होता है । विक्षेप चैतसिक जिसकी चित्तसन्तति में विद्यमान है, उस पुरुष का विरक्त होना असम्भव है, अतः यह वैराग्य का विरोधी कहा गया है । अर्थात् वैराग्य के उत्पादन में विघ्न करना, इसका कृत्य है[1] ।

ननु चाभिधर्मे दश क्लेशमहाभूमिका पठ्यन्ते—"आश्रद्धय' कौशीद्यं मुषितस्मृतिता चेतसो विक्षेपः अविद्या असम्प्रजन्यमयोनिशोमनस्कारो मिथ्याधिमोक्ष औद्धत्यं प्रमादश्चे"ति । प्राश्निज्ञो देवानां प्रियो न त्विष्टिज्ञः । का पुनरत्रेष्टिः ? मुषितस्मृतिविक्षेपासम्प्रजन्यायोनिशोमनस्कारमिथ्याधिमोक्षा महाभूमिकत्वाद् न क्लेशमहाभूमिका एवावधार्यन्ते । यथैवामोहः कुशलमहाभूमिको नावधार्यते, प्रज्ञास्वभावत्वात् । स्मृतिरेव हि क्लिष्टा मुषितस्मृतिता । —अभि० को० भाष्य, पृ० ५६; वि० प्र० वृ०, पृ० ७५ ।

1. वैभाषिक मत में विक्षेप समाधि के अन्तर्गत पठित है, यथा—समाधिरेव क्लिष्टो विक्षेप इति—अभि० को० भाष्य, पृ० ५६ वि०; प्र० वृ०, पृ० ७५ ।

१२२. असम्प्रजन्यं क्लेशसम्प्रयुक्ता प्रज्ञा। ययासंविदिता कायवाक्चित्तचर्या अतिक्रमप्रक्रमादिषु वर्तते करणीयाकरणीयाज्ञानात्। एतच्चापत्तिसंनिश्रयदान-कर्मकम्।

१२३. कौकृत्यं मिद्धमेव च।
वितर्कश्च विचारश्चेत्युपक्लेशा द्वये द्विधा[1] ॥ १४ ॥

क्लेशसम्प्रयुक्त प्रज्ञा 'असम्प्रजन्य' है। जिसके कारण कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान न होने से सम्यक्तया अज्ञात काय, वाक् और चित्त की चर्या अतिक्रम (मर्यादा का उल्लंघन एवं प्रक्रम (क्रम का उल्लंघन) आदि में प्रवृत्त हो जाती है। यह (असम्प्रजन्य) 'आपत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं विचार (ये चार) चैतसिक अनियत या अन्यथाप्रवृत्त हैं। कौकृत्य एवं मिद्ध तथा वितर्क एवं विचार ये दोनों द्विक द्विधा हैं (अर्थात् क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों हैं)।

---

१२२. (२०) असम्प्रजन्य—क्लिष्ट प्रज्ञा 'असम्प्रजन्य' कहलाती है। गमन-आगमन आदि कायिक कर्म, बोलना आदि वाचिक कर्म तथा सोचना विचारना आदि मानसिक कर्मों में से जो प्रज्ञा कर्त्तव्य क्या हैं? अकर्त्तव्य क्या हैं? इत्यादि नहीं जानती; फिर भी उन क्रियाओं का सञ्चालन करती है, इस तरह की प्रज्ञा 'असम्प्रजन्य' है। यह (असम्प्रजन्य) यद्यपि एक प्रकार की प्रज्ञा होने से प्रविचय है; किन्तु क्लेशों से सम्प्रयुक्त होने के कारण सम्यक् कर्त्तव्यों का निर्धारण नहीं कर पाता, उलटे अकर्त्तव्य कर्मों में व्यक्ति को प्रवृत्त कर देता है। यह भी मोह आदि क्लेशों के अंश में ही प्रज्ञप्त है। कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य आदि का परिज्ञान न होने के कारण व्यक्ति का इससे पतन ही होता है, इसलिये 'आपत्ति को आश्रय प्रदान करना'—इसका कृत्य है[2]।

अनियत या अन्यथाप्रवृत्त चैतसिक—

१२३. अनियत चैतसिकों की संख्या चार है, यथा—कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं

---

१. ० इति—स०।

२. द्र०— असम्प्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावितम्।
सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृतावतिष्ठते॥
अनेके श्रुतवन्तोऽपि श्राद्धा यत्नपरा अपि।
असम्प्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः॥
असम्प्रजन्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा।
उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गतिम्॥
बोधि०, ५:२५-२७ पृ० ५७।

१२४. कौकृत्यं चेतसो विप्रतिसारः। कुत्सितं कृतमिति कुकृतम्, तद्भावः

चित्त का विप्रतिसार (पश्चात्ताप) कौकृत्य है। कुत्सित कृत (कर्म) को 'कुकृत'

विचार। आचार्य वसुबन्धु ने अपनी मूल त्रिंशिका में यद्यपि 'अनियत' इस नाम से चैतसिकों का पृथक् वर्गीकरण नहीं किया है तथा आचार्य स्थिरमति ने भी अपनी टीका में २० उपक्लेशों के साथ उनके सातत्य में ही इनका भी वर्णन कर दिया है; तथापि इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इन्हें भी उपक्लेश मानकर उपक्लेशों की संख्या २४ मानी जाय; क्योंकि ये निश्चितरूप से क्लेश ही नहीं हैं। इन (चारों) का अपना स्वरूप अनियत है। जब ये क्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब क्लिष्ट तथा जब अक्लिष्ट चित्तों से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब अक्लिष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार कुशल चित्तों के साथ कुशल, अकुशल चित्तों के साथ अकुशल तथा अव्याकृत चित्तों के साथ अव्याकृत होते हैं। इनका अपना स्वरूप क्लिष्ट नहीं है, इसीलिये आचार्य वसुबन्धु ने स्वयं 'द्वये द्विधा' कहा[1]। यही अभिप्राय आचार्य गुणमति आदि ने भी प्रकाशित किया है।

इस चौदहवीं कारिका में "विचारश्चेत्युपक्लेशाः" इस तरह 'उपक्लेश' शब्द जो विचार के बाद पठित है, प्रतीत होता है, आचार्य ने ऐसा शायद छन्द (कारिका) के अनुरोध से किया है। वस्तुतः इसे (उपक्लेश शब्द को) "विक्षेपोऽसम्प्रजन्यं चेत्युपक्लेशाः" इस तरह असम्प्रजन्य के ही ठीक बाद में आना चाहिये था।

अथवा—आचार्य का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि यद्यपि कौकृत्य आदि चारों चैतसिकों का अपना स्वरूप क्लेशात्मक नहीं है; तथापि वे एकान्तरूप से अक्लिष्ट भी नहीं हैं। कभी-कभी वे क्लिष्ट भी होते हैं। इस बात को दिखलाने के लिये शायद उन्होंने 'उपक्लेश' शब्द को विचार के अन्त में रखा है।

अनियत चैतसिकों का स्वरूप—

१२४. (क) कौकृत्य—'कौकृत्य' शब्द का तात्पर्य कुकृतभाव से है; किन्तु यहाँ कौकृत्य से एक चैतसिक धर्म का ग्रहण होता है, जिसका स्वरूप कुकृत-सम्बन्धी चित्त का

---

1. तु०—अन्येऽपि चानियताः सन्ति, वितर्कविचारकौकृत्यमिद्धादयः।—अभि० को० भाष्य, पृ० १५७।

स्थविरवादियों के अनुसार अनियत चेतसिकों की संख्या ६ है। इन्हें 'प्रकीर्णक' कहते हैं, यथा—वितक्को विचारो अधिमोक्खो वीरियं पीति छन्दो चाति छ इमे चेतसिका पकिण्णका नाम—अभि० स० २ : ३ पृ० १११।

कौकृत्यम्। इह तु कुकृतविषयश्चेतसो विलेखः कौकृत्यम्, चैतसिकाधिकारात्। एतच्च चित्तस्थितिपरिपन्थिकर्मकम्[1]।

१२५. मिद्धम् अस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसंक्षेपः। वृत्तिरालम्बने प्रवृत्तिः। साऽस्वतन्त्रा चेतसो यतो भवति, तन्मिद्धम्। कायचित्तसन्धारणासमर्था वा वृत्ति-

कहते हैं, उसका भाव 'कौकृत्य' है। यहाँ तो चैतसिकों का अधिकार होने से कुकृतविषयक चित्त का विलेख 'कौकृत्य' कहा गया है। यह (कौकृत्य) चित्त के स्थैर्य में बाधा डालना'—इस कर्मवाला है।

अस्वतन्त्र वृत्तिवाले चित्त का अभिसंक्षेप 'मिद्ध' है। वृत्ति का तात्पर्य आलम्बन में प्रवृत्ति है। आलम्बन में चित्त की वह प्रवृत्ति, जिसके बल से अस्वतन्त्र हो जाती है, वह 'मिद्ध' है। अथवा जिसकी वज़ह से काय एवं चित्त के सन्धारण में चित्त की वृत्ति असमर्थ

विप्रतिसार है। इस प्रकार यहाँ स्थान का स्थानी में अतिदेश हुआ है। कृत दुश्चरित एवं अकृत सुचरित इसके आलम्बन होते हैं। जब कुशल न करके अथवा अकुशल करके संताप होता है, तब कौकृत्य कुशल होता है तथा जब अकुशल न करके या कुशल करके सन्ताप होता है, तब कौकृत्य अकुशल होता है। इसके साथ दौर्मनस्य का होना स्वाभाविक है। यह चित्त की स्थिरता का विनाश करता है, इसलिये समाधि में विघ्न डालना, इसका कृत्य है[2]।

१२५. (ख) मिद्ध—बाह्य आलम्बनों में प्रवृत्त होने की चित्त की स्वतन्त्रता, जिसके बल से अवरुद्ध हो जाती है, वह चैतसिक धर्म 'मिद्ध' कहलाता है।

---

१. चित्तस्थित०—अ०।

२. तु—तत्थ कतमं कुक्कुच्चं ? अकप्पिये कप्पियसञ्ञिता, कप्पिये अकप्पियसञ्ञिता, अवज्जे वज्जसञ्ञिता, वज्जे अवज्जसञ्ञिता—यं एवरूपं कुक्कुच्चं कुक्कुच्चायना कुक्कुच्चायितत्तं चेतसो विप्पटिसारो मनोविलेखो—इदं वुच्चति कुक्कुच्चं।—ध० स०, पृ० २५१; अट्ठ०, पृ० ३०४; विसु०, पृ० ३२८; अभि० स०, पृ० १३७-१४०।

किमिदं कौकृत्यं नाम ? कुकृतस्य भावः कौकृत्यम्। इह तु पुनः कौकृत्यालम्बनो धर्मः कौकृत्यमुच्यते चेतसो विप्रतिसारः। तद्यथा—शून्यतालम्बनं विमोक्षमुखं शून्यतेत्युच्यते, अशुभालम्बनश्चालोभोऽशुभ इति। लोकेऽपि दृष्टः स्थानेन स्थानिनामतिदेशः 'सर्वो ग्राम आगतः, सर्वो देश आगतः' इति। स्थानभूतं च कौकृत्यं विप्रतिसारस्य। फले वा हेतूपचारोऽयम्, यथोक्तम्—'षडिमानि स्पर्शायतनानि पौराणं कर्म वेदितव्यमि'ति। यत्तर्हि अकृतालम्बनं तत्कथं कौकृत्यम् ? अकृतेऽपि कृताख्या भवति—न मया साधु कृतं यन्न कृतमिति। कतमत् कौकृत्यं कुशलम् ? यत् कुशलमकृत्वा तप्यते, अकुशलं च कृत्वा। विपर्ययादकुशलं कौकृत्यम्। तदेतदुभयमप्युभयात्मकम्।—अभि० को० भाष्य, पृ० ५७-५८। वि० प्र० वृ०, पृ० ३०१।

श्चेतसोऽस्वतन्त्रा[1] सा यतो भवति, तन्मिद्धम्। अभिसंक्षेपश्चेतसश्चक्षुरादीन्द्रियद्वारेणाप्रवृत्तिः। एतच्च मोहांशे प्रज्ञपनात् मोहांशिकम्, कृत्यातिपत्तिसंनिश्रयदानकर्मकं च।

१२६. वितर्कः पर्येषको मनोजल्पः प्रज्ञाचेतनाविशेषः। पर्येषकः 'किमेतद्'—इति निरूपणाकारप्रवृत्तः। मनसो जल्पो मनोजल्पः, जल्प इव जल्पः, जल्पोऽर्थ-

और अस्वतन्त्र हो जाती है, वह मिद्ध है। चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारों से चित्त की अप्रवृत्ति 'अभिसंक्षेप' है। यह (मिद्ध) मोह के अंश में प्रज्ञप्त होने से मोहांशिक है तथा 'कृत्यातिक्रमण को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाला है।

पर्येषक मनोजल्प 'वितर्क' है, जो प्रज्ञाविशेष और चेतनाविशेष है। 'यह क्या है'—इस प्रकार निरूपण आकार से प्रवृत्त 'पर्येषक' (मनोजल्प) है। मन का जल्प 'मनोजल्प' कहलाता है, जल्प की तरह होने से इसे 'जल्प' कहते हैं, जल्प का तात्पर्य अर्थ (विषय) के

अथवा—जिसके बल से चित्त की प्रवृत्ति काय एवं चित्त के सन्धारण में असमर्थ हो जाती है और इस कर्म में उसकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती, वह चैतसिक 'मिद्ध' है।

अभिसंक्षेप का तात्पर्य चित्त के संकुचित होने से है। यह स्त्यान से भिन्न एक स्वतन्त्र चैतसिक है। यह मोह के अंशविशेष में ही प्रज्ञप्त है। यह कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्मों के अतिक्रमण में सहायता प्रदान करता है; क्योंकि मिद्ध की वज़ह से व्यक्ति निद्रा के वशीभूत हो जाता है। तथा जब वह निद्रित हो जाता है, तो उसकी सारी चेष्टायें अवरुद्ध हो जाती है और वह निष्क्रिय हो जाता है[2]।

१२६. (ग) वितर्क—विषयविशेष का निरूपण करने के लिये उत्पन्न मनोजल्प 'वितर्क' है। यह मनोजल्प प्रज्ञा और चेतना विशेष की वज़ह से उत्पन्न होता है। जब किसी व्यक्ति को घट शब्द द्वारा घटविषयक बोध कराया जाता है, तब उस व्यक्ति में 'यह घट है'—

---

१. ऽस्वतन्त्रता—अ०।

२. तु०—मेधति चेतसिके धम्मे अकम्मञ्ञभूते करवा विहिंसतीति मिद्धं।—प० दी०, पृ० ८४। अभि० स०, पृ० १४१-१४३; विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०६, ३००-३०१; विभा०, पृ० ८३।

कायसन्धारणासमर्थश्चित्ताभिसंक्षेपो मिद्धम्।—अभि० को० भाष्य, पृ० ३१२; अभि० को० ५ : ४७ पृ० ३१२।

कायचित्ताकर्मण्यता मिद्धं चित्ताभिसंक्षेपः स्वप्नाख्यः स तु क्लिष्ट एव पर्यवस्थानम्।—त्रि० प्र० वृ०, पृ० ३०४; अभि० समु०, पृ० १०।

कथनम्। चेतनाप्रज्ञाविशेष इति—चेतनायाश्चित्तपरिस्पन्दात्मकत्वात्, प्रज्ञायाश्च गुणदोषविवेकाकारत्वात्, तद्वशेन चित्तप्रवृत्तेः। कदाचित् चित्तचेतनयोर्वितर्कप्रज्ञप्तिः, कदाचित् प्रज्ञाचेतसोर्यथाक्रमम् अनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोः।

अथवा चेतनाप्रज्ञयोरेव वितर्कप्रज्ञप्तिः, तद्वशेन चित्तस्य तथाप्रवृत्तत्वात्। स एव चित्तस्यौदारिकता। औदारिकतेति स्थूलता, वस्तुमात्रपर्येषणाकारत्वात्। एष च नयो विचारेऽपि द्रष्टव्यः।

कथन से है। चेतना के चित्त के परिस्पन्दस्वभाववाली होने से तथा प्रज्ञा के गुण-दोष विवेचन आकारवाली होने से तथा इन की वज़ह से चित्त के प्रवृत्त होने से वितर्क चेतनाविशेष या प्रज्ञाविशेष कहलाता है। यथाक्रम अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था में कभी चित्त और चेतना में वितर्कप्रज्ञप्ति होती है तथा कभी प्रज्ञा और चित्त में वितर्कप्रज्ञप्ति होती है।

अथवा—चेतना और प्रज्ञा में ही वितर्कप्रज्ञप्ति होती है; क्योंकि इन्हीं की वज़ह से चित्त उस प्रकार प्रवृत्त होता है। वह (वितर्क) ही चित्त की औदारिकता है। औदारिकता का तात्पर्य स्थूलता से है; क्योंकि वह वस्तुमात्र का पर्येषण आकारवाला होता है। यही न्याय विचार (चैतसिक) के बारे में भी जानना चाहिये।

इस प्रकार की एक घटविषयक कल्पना का उत्पाद होता है। घट शब्द द्वारा घट विषय का जितना और जिस प्रकार का ग्रहण होता है, उतना और उस प्रकार का ग्रहण इस कल्पना द्वारा भी होता है। इसलिये जल्प के समान होने से घट कल्पना भी जल्प शब्द द्वारा अभिहित की गयी है।

चेतना चित्त को विषय की ओर प्रेरित करती है तथा प्रज्ञा उसके गुण और दोष का विवेचन करती है। इन दोनों की वज़ह से चित्त विषय में प्रवृत्त हुआ करता है। इसीलिये वितर्क कभी चित्त और चेतना के अंश में प्रज्ञप्त होता है तथा कभी प्रज्ञा और चित्त के अंश में प्रज्ञप्त होता है।

इस व्याख्यान से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी चित्त एवं चेतना का एक देश वितर्क होता है तथा कभी चित्त एवं प्रज्ञा का एक देश वितर्क होता है; किन्तु चित्त का एक देश कभी वितर्क नहीं हो सकता; क्योंकि चित्त विज्ञान है और वितर्क चैतसिक है।

इस सन्देह का निराकरण और उपर्युक्त वचन का स्पष्टीकरण करने के लिये आचार्य स्थिरमति व्याख्यानान्तर करते हुये कहते हैं—

अथवा प्रज्ञा और चेतना में ही वितर्क प्रज्ञप्त होता है, चित्त में नहीं। उपर्युक्त वचन का यही अभिप्राय युक्तिसंगत भी है; क्योंकि प्रज्ञा और चेतना द्वारा चित्त विषय में प्रवृत्त

१२७. विचारोऽपि हि चेतनाप्रज्ञाविशेषात्मकः प्रत्यवेक्षको मनोजल्प एव, 'इदं तद्' इति पूर्वाधिगतनिरूपणात्। अत एव च चित्तसूक्ष्मतेत्युच्यते।

एतौ च स्पर्शास्पर्शविहारसंनिश्रयदानकर्मकौ। अनयोश्चौदारिकसूक्ष्मतया व्यवस्थापनात् पृथक्करणम्।

विचार भी चेतनाविशेषात्मक एवं प्रज्ञाविशेषात्मक प्रत्यवेक्षक मनोजल्प ही है; क्योंकि (यह) 'यह वह है' इस प्रकार पूर्व अधिगत विषय का निरूपण करता है। इसीलिये (यह) चित्तसूक्ष्मता कहलाता है।

ये दोनों 'स्पर्शविहार और अस्पर्शविहार को आश्रय प्रदान करना'—इस कर्मवाले हैं। इन दोनों का औदार्य और सूक्ष्मता द्वारा व्यवस्थापन होने से पृथक्-करण होता है।

होता है और चित्त के विषय में प्रवृत्त होने से वितर्क उत्पन्न होता है। चित्त केवल वितर्क का आधार है। इसलिये चेतना और प्रज्ञा की विशेष अवस्था 'वितर्क' मानी जा सकती है।

स्थूलतया विषय का निरूपण वितर्क का स्वरूप है, यथा—'यह घट है पट नहीं, या 'यह पट है, स्तम्भ नहीं' इत्यादि[1]।

१२७. (घ) विचार—उपर्युक्त (वितर्क के अवसर पर प्रतिपादित) मनोजल्प का सूक्ष्मरूप ही 'विचार' कहलाता है, यथा—'यह घट नील है, सुन्दर है' इत्यादि। वितर्क की अवस्था में विषय का स्थूलरूप से ही अवबोध होता है, उसके विशेषों का परिज्ञान नहीं होता; किन्तु विचार की अवस्था में आलम्बन के स्थूल स्वरूप से अधिक उसके सूक्ष्म विशेषों का भी परिचय होता है।

वितर्क और विचार दोनों एक ही धारा एवं एक ही जाति के हैं। फर्क केवल इतना है कि वितर्क स्थूल होता है और विचार सूक्ष्म[2]।

---

१. तु०—अभि० स०, पृ० १११—११४; विसु०, पृ० ९५; अट्ठ०, पृ० ९४।

२. तु०—"वितर्कविचारौ औदार्यसूक्ष्मते"—अभि० को० २-३३ पृ० १३६। "वितर्को नाम चित्तौदार्यलक्षणः संकल्पद्वितीयनामा, विषयनिमित्तप्रकारविकल्पी संज्ञापवनोद्धतवृत्तिः, औदारिकपञ्चविज्ञानकायप्रवृत्तिहेतुः। विचारस्तु चित्तसौक्ष्म्यलक्षणो मनोविज्ञानप्रवृत्त्यनुकूलः।"— वि० प्र० वृ०, पृ० ८१। "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, सूक्ष्मो विचारः।"—यो० सू० १ : १७ पर व्या० भा०, ३२।

"चित्तौदारिकता वितर्कः। चित्तसूक्ष्मता विचारः। कथं पुनरनयोरेकत्र चित्ते योगः? केचिदाहुः—यथाऽप्सु निष्ठ्यूतं सर्पिः सूर्यरश्मिभिरुपरिष्टात् स्पृष्टं नातिश्यायते नातिविलीयते, एवं वितर्कविचारयोगाच्चित्तं नातिसूक्ष्मं भवति, नात्यौदारिकमित्युभयोरपि तत्रास्ति व्यापारः।"—अभि० को० भाष्य, पृ० ६०—६१।

१२८. द्वये द्विधेति—द्वयं च द्वयं च द्वये, ते पुनः कौकृत्यमिद्धे वितर्कविचारौ च। एते च चत्वारो धर्मा द्विधा क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च। तत्राकुशलमकृत्वा कुशलं च कृत्वा यश्चेतसो विलेखः, तत् संक्लिष्टं कौकृत्यम्; यत्कुशलमकृत्वा तत् कौकृत्यमक्लिष्टम्। मिद्धमपि क्लिष्टचित्ताविद्धं क्लिष्टचित्तसम्प्रयुक्तं च क्लिष्टम्; अक्लिष्टचित्ताविद्धम् अक्लिष्टचित्तसम्प्रयुक्तं चाक्लिष्टम्।

कामव्यापादविहिंसादिवितर्काः क्लिष्टाः नैष्क्रम्यादिवितर्का अक्लिष्टाः। एवं

दो द्विक दो प्रकार के हैं, यथा—द्वय और द्वय ये दो द्वय हैं, वे इस प्रकार हैं, कौकृत्य और मिद्ध (एक द्वय) तथा वितर्क और विचार (दूसरा द्वय)। ये चारों धर्म द्विधा हैं, अर्थात् क्लिष्ट भी हैं और अक्लिष्ट भी। वहाँ (इस विषय में) अकुशल को न कर तथा कुशल को कर के, जो चित्त का पश्चात्ताप होता है, वह क्लिष्ट कौकृत्य है; जो कुशल को न करके पश्चात्ताप होता है, वह अक्लिष्ट कौकृत्य है। मिद्ध भी (जो) क्लिष्ट चित्त से आविद्ध है एवं क्लिष्ट चित्त से सम्प्रयुक्त है, वह क्लिष्ट है तथा (जो) अक्लिष्ट चित्त से आविद्ध है एवं अक्लिष्ट चित्त से सम्प्रयुक्त है, वह अक्लिष्ट है।

काम, व्यापाद, विहिंसा आदि (से सम्बद्ध) वितर्क क्लिष्ट हैं तथा नैष्क्रम्य (वैराग्य) आदि (से सम्बद्ध) वितर्क अक्लिष्ट है। इसी प्रकार दूसरे के नाश का उपाय सोचनेवाला

इन दोनों में से प्रत्येक चैतसिक स्पर्शविहार और अस्पर्शविहार को आश्रय प्रदान करता है। जब ये शुभ विषय में प्रवृत होते हैं, तब स्पर्शविहार का तथा जब अशुभ विषय में प्रवृत्त होते हैं, तब अस्पर्शविहार का उत्पाद करते हैं।

१२८. कौकृत्य और मिद्ध (मिल कर) एक द्वय है तथा वितर्क और विचार (मिलकर) दूसरा द्वय है। ये दोनों द्वय क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से द्विविध हैं, यथा—किसी प्राणी की जान बचाकर या दान देकर अथवा इसी तरह के अन्य कुशल कर्म करके 'यह मैंने ठीक नहीं किया, जो उसकी जान बचायी या दान कर दिया' इत्यादि प्रकार से यदि बाद में पश्चात्ताप होता है, तो इस प्रकार का पश्चात्ताप 'क्लिष्ट कौकृत्य' कहलाता

"अत्र पूर्वाचार्या आहुः—'वितर्कः कतमः? चेतनां वा निश्रित्य प्रज्ञां वा पर्येषको मनोजल्पोऽनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोर्यथाक्रमं सा च चित्तस्यौदारिकता। विचारः कतमः? चेतनां वा निश्रित्य प्रज्ञां वा प्रत्यवेक्षको मनोजल्पोऽनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोर्यथाक्रमं सा च चित्तसूक्ष्मतेति। अस्मिन् पक्षे वितर्कविचारावेकस्वभावौ समुदायरूपौ पर्यायवर्तिनौ पर्येषणप्रत्यवेक्षणाकारमात्रेण भिन्नाविष्येते। तत्रोदाहरणं केचिदीहते; तद्यथा—बहुषु घटेष्ववस्थितेषु कोऽत्र दृढः को जर्जर इति मुष्टिनाभिघनतो य ऊहः स वितर्कः, इयन्तो जर्जरा दृढा वेति यद्न्ते ग्रहणं स विचार इति"—स्फु०, पृ० १४०।

परोपघातोपायविचारः क्लिष्टः, परानुग्रहोपायविचारोऽक्लिष्टः। तत्र ये कौकृत्यमिद्ध-वितर्कविचाराः क्लिष्टाः त एवोपक्लेशाः, नेतरे।

विचार क्लिष्ट है तथा दूसरों पर अनुग्रह का उपाय सोचनेवाला विचार अक्लिष्ट है। वहाँ (इन अनियतों में) जो कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क एवं विचार क्लिष्ट हैं, वे ही उपक्लेश हैं, अन्य (जो क्लिष्ट नहीं हैं, वे) नहीं।

है तथा यह 'अकुशल कौकृत्य' भी है। इसी प्रकार किसी को जान से न मारकर या इसी तरह अन्य अकुशल कर्म न करके 'मैंने यह ठीक नहीं किया, जो उसे जान से नहीं मारा' इत्यादि प्रकार से यदि बाद में पश्चात्ताप होता है, तो इस प्रकार का पश्चात्ताप भी 'क्लिष्ट कौकृत्य' कहलाता है और यह 'अकुशल कौकृत्य' भी है। इसके विपरीत किसी मरते हुये की जान न बचाकर या दान न देकर अथवा इसी तरह के अन्य कुशल कर्म न करके 'मैंने यह ठीक नहीं किया, जो उसकी जान न बचायी या दान नहीं दिया'—इत्यादि प्रकार से यदि बाद में पश्चात्ताप होता है, तो इस प्रकार का पश्चात्ताप 'अक्लिष्ट कौकृत्य' कहलाता है तथा यह 'कुशल कौकृत्य' भी है।

निद्रा से पूर्व की अवस्था में यदि त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म एवं संघ) के प्रति श्रद्धा का उत्पाद होता है या चित्त में दान देने का संकल्प होता है अथवा इसी तरह के अन्य कुशल चित्तों का उत्पाद होता है और इन कुशल चित्तों की वर्तमानता में ही नींद आ जाती है, तो इस प्रकार का मिद्ध (नींद) 'अक्लिष्ट मिद्ध' कहलाता है तथा यह 'कुशल मिद्ध' भी है। इसके विपरीत यदि निद्रा से पूर्व की अवस्था में चित्त में किसी को जान से मारने, चोरी करने या इसी तरह के अन्य अकुशल कर्म करने का विचार उत्पन्न होता है और उन विचारों के विद्यमान रहते नींद आ जाती है, तो इस प्रकार का मिद्ध 'क्लिष्ट मिद्ध' कहलाता है तथा यह 'अकुशल मिद्ध' भी है। कुशल और अकुशल चित्त से भिन्न चित्त से सम्प्रयुक्त मिद्ध 'अव्याकृत मिद्ध' होता है। इसीलिये उत्तम कोटि के साधक योगी मिद्ध को मार्गीकृत करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे उनकी नींद भी व्यर्थ न जाने पाय।

कामवस्तुओं की चाह, किसी को कष्ट या हानि पहुँचाना, किसी का वध करना इत्यादि विषयों के प्रति उत्पन्न वितर्क 'क्लिष्ट वितर्क' कहलाता है तथा यह 'अकुशल वितर्क' भी है। इसके विपरीत नैष्क्रम्य आदि मोक्षपाक्षिक धर्मों के प्रति उत्पन्न वितर्क 'अक्लिष्ट वितर्क' कहलाता है तथा यह 'कुशल वितर्क' भी है।

इसी प्रकार दूसरों को नुकसान पहुँचाने आदि के लिये प्रवृत्त सूक्ष्म चिन्तन 'क्लिष्ट या अकुशल विचार' है तथा दूसरों के कल्याण और उसके उपाय आदि के विषय में उत्पन्न सूक्ष्म चिन्तन 'अक्लिष्ट या कुशल विचार' है।

१२६. तत्र यथा रूपशब्दाद्युपलब्धिः षट्प्रकारा यथासम्भवं सर्वैश्चैतसिकैः सम्प्रयुज्यते—सर्वत्रगैर्विनियतैः कुशलैः क्लेशैरुपक्लेशैश्च; एवं त्रिवेदना; तिसृभिश्च वेदनाभिः सम्प्रयुज्यते—सुखया दुःखया अदुःखासुखया च, सौमनस्यदौर्मनस्योपेक्षास्थानीयेषु रूपादिषु तदुत्पत्तेः; कुशला अकुशला अव्याकृता च।

वहाँ जिस प्रकार रूप, शब्द आदि की छह प्रकार की उपलब्धि (छह प्रवृत्तिविज्ञान) यथायोग्य सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेश और उपक्लेश नामक सभी चैतसिकों से सम्प्रयुक्त होती है; उसी प्रकार सुख, दुःख एवं अदुःखासुख नामक तीन वेदनाओं से भी सम्प्रयुक्त होती है; क्योंकि सौमनस्य, दौर्मनस्य एवं उपेक्षा के आलम्बनभूत रूप आदि में ही उनकी उत्पत्ति होती है, इस तरह वह (षड्विध रूप आदि की उपलब्धि) त्रिवेदना (तीनों वेदनाओंवाली) भी है तथा वह कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत भी है।

फलतः यहाँ जो कौकृत्य, वितर्क आदि क्लिष्ट हैं, वे ही उपक्लेशों में संगृहीत होते हैं। जो कौकृत्य, वितर्क आदि अक्लिष्ट होते हैं, वे कभी भी उपक्लेश नहीं होते।

ये चारों चैतसिक अपने सहचारी कुशल, अकुशल या अव्याकृत चित्तों के वश से कुशल, क्लिष्ट आदि हो जाते हैं। अर्थात् सम्प्रयुक्त चित्तों की वजह से अन्य अन्य प्रकार से प्रवृत्त होते हैं, अतः ये 'अन्यथाप्रवृत्त' कहलाते हैं तथा इनका स्वभाव नियत न होने से 'अनियत' भी कहलाते हैं।

यहाँ तक ५१ चैतसिकों का वर्णन अति संक्षेप से किया गया है। विस्तार के लिये अभिधर्मसमुच्चय, उसकी टीकायें और अनुटीकायें तथा पञ्चस्कन्धप्रकरण, उसकी टीकायें और अनुटीकायें आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

उपसंहार

१२६. रूप को आलम्बन बनानेवाला चक्षुर्विज्ञान, शब्द का आलम्बन करनेवाला श्रोत्रविज्ञान आदि छह प्रवृत्तिविज्ञान उपर्युक्त सभी ५१ चैतसिकों से यथासम्भव सम्प्रयुक्त होते हैं। 'यथासम्भव' का तात्पर्य यह है कि सभी ५१ चैतसिक किसी एक विज्ञान से सम्प्रयुक्त नहीं होते; अपितु कुछ किसी विज्ञान से कुछ किसी विज्ञान से सम्प्रयुक्त होते हैं; किन्तु छहों प्रवृत्तिविज्ञानों में सभी चैतसिक सम्प्रयुक्त हो जाते हैं। यथा—स्पर्श, मनस्कार, वेदना आदि पाँच सर्वत्रग चैतसिक सभी छह विज्ञानों से सम्प्रयुक्त होते हैं। छन्द, अधिमोक्ष आदि पाँच विनियत चैतसिक केवल मनोविज्ञान के साथ ही सम्प्रयुक्त होते हैं, चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रिय-विज्ञानों के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते। इसी प्रकार ११ कुशल चैतसिक, ६ मूलक्लेश, २० उपक्लेश एवं ४ अनियत (अन्यथाप्रवृत्त) चैतसिक भी केवल मनोविज्ञान के साथ ही सम्प्रयुक्त होते हैं।

सभी बौद्ध सिद्धान्तवादियों के मत में मनोविज्ञान तो कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत तीनों होता है; किन्तु इन आगमानुयायी विज्ञानवादियों के मत में चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रियविज्ञान भी कुशल, अकुशल होते हैं, जबकि उनके साथ श्रद्धा आदि ११ कुशल चैतसिकों में से किसी का भी सम्प्रयोग नहीं होता तथा क्लेश, उपक्लेश आदि चैतसिकों में से भी किसी का सम्प्रयोग नहीं होता।

स्थविरवाद, वैभाषिक आदि सिद्धान्तों के अनुसार कुशल चित्त होने के लिये उसके साथ श्रद्धा आदि कुशल चैतसिकों में से किसी एक का सम्प्रयुक्त होना अनिवार्य है। इसी तरह अकुशल चित्त होने के लिये आह्रीक्य आदि अकुशल चैतसिकों में से किसी एक का सम्प्रयुक्त होना अनिवार्य है।

श्रद्धा आदि चैतसिक एवं आह्रीक्य आदि चैतसिक क्योंकि कल्पनास्वरूप हैं, इसलिये निर्विकल्पक इन्द्रियज विज्ञानों के साथ उन (श्रद्धा, आह्रीक्य आदि कुशल, अकुशल चैतसिकों) का सम्प्रयोग नहीं हो सकता। फलतः वे चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रियविज्ञान कुशल या अकुशल नहीं हो सकते। इसलिये स्थविरवादी, वैभाषिक आदि उन्हें (इन्द्रियविज्ञानों को) एकान्त रूप से अव्याकृत ही मानते हैं[1]।

ऊपर कहा गया है कि आगमानुयायी विज्ञानवादियों के अनुसार चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान भी कुशल, अकुशल माने जाते हैं। श्रद्धा, आह्रीक्य आदि चैतसिकों को ये भी कल्पनास्वरूप ही मानते हैं तथा चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञानों को कल्पनापोढ ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में कुशल चित्त होने के लिये उसके साथ श्रद्धा आदि कुशल चैतसिकों का सम्प्रयुक्त होना तथा अकुशल चित्त होने के लिये उसके साथ आह्रीक्य आदि अकुशल चैतसिकों का सम्प्रयुक्त होना, ये अनिवार्य नहीं मानते।

प्रतीत होता है, इनके मत में जिस व्यक्ति में कुशल चक्षुर्विज्ञान आदि का उत्पाद होता है, उसकी सन्तान में श्रद्धा आदि का होना अनिवार्य है। इसी तरह जिस व्यक्ति में अकुशल चक्षुर्विज्ञान आदि का उत्पाद होता है, उसकी सन्तान में आह्रीक्य आदि का होना अनिवार्य है।

उपर्युक्त इन्द्रियविज्ञानों का कुशल या अकुशल होना तथा उनके साथ श्रद्धा या आह्रीक्य आदि का सम्प्रयुक्त होना या न होना, इत्यादि के बारे में आगमानुयायी विज्ञानवादी शास्त्रों में बहुत स्पष्टता नहीं दिखलायी देती; फिर भी हमने जो ऊपर कहा है, शायद उसमें अयुक्तियुक्तता न होगी। तथापि विद्वानों को इस विषय में ठीक से विचार करना चाहिये।

---

1. द्र०—अभि० स० १ : ८-९, पृ० ४३-४८।

१३०. आलयविज्ञानं तु सर्वत्रगैः पञ्चभिरेव सम्प्रयुज्यते नान्यैः, तत्रोपेक्षैव वेदना अनिवृताव्याकृतं च।

१३१. क्लिष्टं मनः सर्वत्रगैः पञ्चभिश्चतुर्भिश्च क्लेशैरात्ममोहादिभिः। तत्रोपेक्षैव वेदना। निवृताव्याकृतं चेति।

१३२. इदमिदानीं चिन्त्यते—किं पञ्चानां चक्षुर्विज्ञानादीनां युगपदालम्बन-प्रत्ययसांनिध्येऽप्यालयविज्ञानाद् एकस्यैवोत्पत्तिर्भवति, न द्वयोर्न बहूनां वा; यथैके

आलयविज्ञान तो पाँच सर्वत्रग चैतसिकों से ही सम्प्रयुक्त होता है, अन्य चैतसिकों से सम्प्रयुक्त नहीं होता। उसमें उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त होती है तथा वह (आलयविज्ञान) अनिवृताव्याकृत होता है।

क्लिष्ट मन पाँच सर्वत्रग चैतसिकों से तथा आत्ममोह आदि चार क्लेशों से सम्प्रयुक्त होता है। उसमें केवल उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त होती है तथा वह (क्लिष्ट मन) निवृताव्याकृत होता है।

अब यहाँ यह विचार किया जाता है—चक्षुर्विज्ञान आदि पाँचो विज्ञानों के आलम्बन प्रत्यय एकसाथ उपस्थित होने पर भी क्या आलयविज्ञान से एक ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है, दो या बहुत विज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती ? जैसा कि कुछ लोग मानते हैं कि

वेदनायें तीन होती हैं, यथा—दुःख, सुख एवं अदुःखसुख। ये तीनों वेदनायें छहों प्रवृत्तिविज्ञानों के साथ सम्प्रयुक्त होती हैं। मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त सुखा वेदना सौमनस्य तथा दुःखा वेदना दौर्मनस्य कहलाती हैं। ये वेदनायें यथायोग्य अपने रूप आदि हेतुओं से उत्पन्न होती हैं।

चक्षुर्विज्ञान आदि छह प्रवृत्तिविज्ञानों में से प्रत्येक विज्ञान कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत तीनों हो सकता है।

१३०. आलयविज्ञान के साथ ५१ चैतसिकों में से केवल ५ सर्वत्रग चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं, अन्यविध चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होते। त्रिविध वेदनाओं में से इसके साथ केवल उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त होती है। यह आलयविज्ञान और उसके साथ सम्प्रयुक्त सभी चैतसिक अनिवृताव्याकृत ही होते हैं।

१३१. क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ ५१ चैतसिकों में से पाँच सर्वत्रग चैतसिक एवं दृष्टि, मोह आदि चार क्लेश चैतसिक, इस प्रकार केवल ९ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते हैं, अन्य चैतसिक सम्प्रयुक्त नहीं होते। त्रिविध वेदनाओं में से इसके साथ भी केवल उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त होती है। यह क्लिष्ट मनोविज्ञान और इसके साथ सम्प्रयुक्त सभी चैतसिक निवृताव्याकृत ही होते हैं।

१३२. आलयविज्ञान से चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच विज्ञानों की उत्पत्ति के बारे में

मन्यन्ते--न द्वयोर्न बहूनां वा युगपत्समनन्तरप्रत्ययाभावाद् एकस्यैव विज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति। न चैकं विज्ञानं बहूनां समनन्तरप्रत्ययत्वं प्रतिपत्तुमुत्सहते।

उतानियमेन। यद्येकस्यैव प्रत्ययसांनिध्यम् एकमेवोत्पद्यते, एवं द्वयोर्बहूनां वा[1] प्रत्ययसांनिध्ये उत्पत्तिर्भवतीति ?

एक ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है, दो या बहुत विज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि उनके समनन्तर प्रत्यय एकसाथ उपस्थित नहीं होते। न तो एक ही विज्ञान बहुत विज्ञानों का समनन्तर प्रत्यय होने में उत्साह करता है। (अर्थात् बहुतों का समनन्तर प्रत्यय नहीं हो सकता)।

अथवा अनियम से (उत्पाद होता है)। यदि एक ही विज्ञान का प्रत्यय उपस्थित है तो एक ही विज्ञान उत्पन्न होता है, इसी तरह प्रत्यय उपस्थित होने पर दो या बहुत विज्ञानों की उत्पत्ति होती है—ऐसा है ?

आचार्य स्थिरमति यहाँ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। आलयविज्ञान से इन विज्ञानों का उत्पाद युगपद् होता है या क्रमशः ? इसके बारे में अपना (आगमानुयायी विज्ञानवादियों का) मत उपस्थापित करने से पूर्व वे एतद्विषयक द्विविध विचारधारा प्रस्तुत करते हैं—

आलयविज्ञान स्वीकार करने पर एक जीव की सन्तान में युगपद् अनेक विज्ञानों का उत्पाद सम्भव हो जाता है; किन्तु सौत्रान्तिक आदि बाह्यार्थवादी इसे कथमपि सहन नहीं कर सकते; क्योंकि इनके मत में एक बार में एक ही विज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इनके अनुसार किसी भी विज्ञान के उत्पाद के लिये चार प्रत्यय आवश्यक होते हैं, यथा—आलम्बन-प्रत्यय, अधिपति-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय एवं कारण-प्रत्यय। उदाहरणार्थ चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान आदि के उत्पाद में रूप, शब्द आदि विषय आलम्बन-प्रत्यय हैं। चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अधिपति-प्रत्यय हैं। प्रत्येक विज्ञान से समनन्तर पूर्वभावी मनस्कार, जो तत्तद् विषय का ही आलम्बन करते हैं, समनन्तर प्रत्यय होते हैं तथा किसी एक विज्ञान के उत्पाद लिये उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त आलोक, वायु आदि जितने अन्य हेतु अपेक्षित होते हैं वे सब कारण-प्रत्यय के अन्तर्गत संगृहीत होते हैं।[2]

---

१. च—अ०।

२. द्र०—

चत्वारः प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्यः पञ्च हेतवः ॥
चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्नाः समनन्तरः ॥
आलम्बनं सर्वधर्माः कारणाख्योऽधिपः स्मृतः ॥—

अभि० को०, २। ६१-६२ पृ० ९८-१००।

यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विवाद का विषय समनन्तर-प्रत्यय ही है। रूपायतन से लेकर धर्मायतन पर्यन्त छहों आलम्बनों के एकसाथ सामने उपस्थित होने पर भी यदि उनके प्रति मनस्कार न हो तो किसी भी विज्ञान का उत्पाद नहीं हो सकता। रूप आदि छहों विषयों के एकसाथ सम्मुख विद्यमान होने पर भी स्थिति यह है कि छहों विज्ञानों का एकसाथ (युगपद्) उत्पाद असम्भव है; क्योंकि छहों विषयों के प्रति होनेवाले छह मनस्कार कभी भी युगपद् उत्पन्न नहीं होते। इतना ही नहीं दो मनस्कार भी एक साथ नहीं हो सकते। होता यह है कि जब छहों आलम्बन सम्मुख उपस्थित होते हैं, तब उनमें से किसी एक के प्रति पहले मनस्कार उत्पन्न होता है। जिसके प्रति भी मनस्कार होता है, उस मनस्कार के अव्यवहित पश्चात् ही तद्विषयक विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यदि रूप के प्रति मनस्कार होगा तो चक्षुर्विज्ञान, शब्द के प्रति होगा, तो श्रोत्रविज्ञान आदि की उत्पत्ति होती है। इन इन्द्रियविज्ञानों के समनन्तर (अव्यवहित) पश्चात् मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, जो चक्षुविज्ञान आदि से जनित होता है तथा वह उसी विषय को आलम्बन बनाता है, जो चक्षुर्विज्ञान आदि का विषय होता है। इस प्रकार विज्ञानों की उत्पत्ति प्रत्ययों के अनुसार क्रमशः ही होती है।

आलयविज्ञान मानने पर इन लोगों (बाह्यवस्तुवादियों) को यह आपत्ति मालूम होती है कि आलयविज्ञान तो व्यक्ति की सन्तान में यावज्जीवन सर्वदा प्रवृत्त होता ही रहता है और उससे छह प्रवृत्तिविज्ञान भी यदा कदा उत्पन्न होते रहते हैं—ऐसी स्थिति में एक ही व्यक्ति की चित्तसन्तति में एक से अधिक विज्ञानों का सहोत्पाद सम्भव हो जायगा; किन्तु ऐसा होना युक्तियुक्त नहीं है, इसलिये यह व्यवस्था ठीक नहीं है। आलयविज्ञान को सभी विज्ञानों का हेतु मान भी लिया जाय, फिर भी आलम्बन भी तो अनिवार्य हैं ही। आलयविज्ञान और आलम्बनों के होने पर भी आलयविज्ञान से पहले चक्षुर्विज्ञान आदि कोई एक ही विज्ञान उत्पन्न हो सकता है, दो या अनेक नहीं। इन सब पक्षों को समझाने के लिये स्वपक्ष व्यवस्थापित करने से पूर्व आचार्य स्थिरमति प्रश्नोत्तर के रूप में विषय की प्रस्तावना कर रहे हैं—

इदमिदानीं चिन्त्यते०—विज्ञानों की उत्पत्ति के बारे में दो प्रकार की विचारधारायें हो सकती हैं। उनमें से एक तो उपर्युक्त प्रकार की ही है, जिसका अभी-अभी प्रतिपादन किया है, यथा—जिस आलम्बन के प्रति मनस्कार होता है, तद्विषयक विज्ञान पहले उत्पन्न होता है और उस विज्ञान के तुरन्त पीछे तद्विषयक मनोविज्ञान भी उत्पन्न होता है। आलयविज्ञान मान लेने पर भी चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रियविज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं

हो सकते; अपितु उनका उत्पाद क्रमशः ही होता है, जैसा कि अन्य बाह्यवस्तुसद्वादी मानते हैं। इन लोगों के मतानुसार अनेक विज्ञानों का सहोत्पाद असम्भव है; क्योंकि उन अनेक विज्ञानों के उत्पाद के लिये अपेक्षित पूर्वभावी मनस्कार (समनन्तर प्रत्यय) कथमपि युगपद् (एक साथ) उत्पन्न नहीं हो सकते तथा एक ही मनस्कार अनेक विज्ञानों का समनन्तर प्रत्यय भी नहीं हो सकता।

यथैके मन्यन्ते—यहाँ प्रयुक्त 'एके' शब्द द्वारा आचार्य विनीतदेव ने सौत्रान्तिकों की ओर इङ्गित किया है; किन्तु किसी सौत्रान्तिक आचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। आज सौत्रान्तिकों का विपुल साहित्य भी उपलब्ध नहीं है; किन्तु प्रमाणवार्तिक में सौत्रान्तिकों के जो मूलसिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, वे अतिमहत्त्वपूर्ण हैं और पर्याप्त है[1]। उनके अनुसार भी आचार्य विनीतदेव का यह कथन ठीक है, इसलिये यह पूर्वपक्ष निःसन्देह सौत्रान्तिकों का ही है। इस अवसर पर सौत्रान्तिकों को केवल दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है।

ऊपर कहा गया है कि सौत्रान्तिकों के अनुसार चक्षुर्विज्ञान के उत्पाद के लिये रूपमनस्कार का पूर्वगामी होना अनिवार्य है। रूप को देखने की तीव्र इच्छा, जो चित्त को रूपालम्बन के प्रति आकृष्ट करती है 'रूपमनस्कार' कहलाती है। उसी प्रकार शब्दमनस्कार आदि के बारे में भी जानना चाहिये। चूँकि रूपमनस्कार शब्दमनस्कार नहीं होता, इसलिये उस (रूपमनस्कार) से श्रोत्रविज्ञान की उत्पत्ति असम्भव है। इसी तरह रूपमनस्कार से कायविज्ञान तक किसी भी विज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस रूपमनस्कार के साथ एक ही काल में शब्दमनस्कार आदि कोई भी मनस्कार नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही सन्तति में एक ही काल में भिन्न भिन्न दो मनस्कार नहीं हो सकते; अन्यथा सन्ततिभेद हो जायगा। इसीलिये यह पक्ष दृष्टान्त रूप से यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

इस पूरे पक्ष का संक्षिप्त सार इतना ही है कि 'रूप आदि पाँचों आलम्बनों के सम्मुख उपस्थित होने पर क्या आलयविज्ञान से एक ही विज्ञान पहले उत्पन्न होता है? दो या अनेक विज्ञान नहीं हो सकते, जैसा कि सौत्रान्तिक मानते हैं?'—यह विज्ञानवादियों का आपसी विचार है।

---

१. तथैवानुभवे दृष्टं न विकल्पद्वयं सकृत्।
तेन तुल्यकालान्यविज्ञानानुभवो गतः॥
—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परिच्छेद) १७८ का०, पृ० १५४।
इस के आगे तथा पीछे और भी बहुत सी कारिकायें हैं, जिनसे इस विषय में सौत्रान्तिकों की दृष्टि स्पष्ट होती है।

१३३. अत आह—

पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भवः।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले ॥१५॥

पञ्चानामिति[1] चक्षुरादिविज्ञानानां तदनुचरमनोविज्ञानसहितानाम्। पञ्चानां चक्षुरादिविज्ञानानां बीजाश्रयत्वात्, तत उत्पत्तेः, गतिषु जन्मोपादानाच्च आलयविज्ञानं मूलविज्ञानमित्युच्यते। यथाप्रत्ययमुद्भव इति, यस्य यस्य यः प्रत्ययः सन्निहितस्तस्य

इसलिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—पाँचों विज्ञानों का आलयविज्ञान में प्रत्ययों के अनुसार एक साथ या अलग-अलग उत्पाद होता है, जिस प्रकार जल में तरङ्गों का उत्पाद होता है।

'पांचों का'—इसका तात्पर्य है अपने अनुचर मनोविज्ञान के सहित चक्षुर्विज्ञान आदि (पाँचों) विज्ञानों का। चक्षुर्विज्ञान आदि पाँचों विज्ञानों के बीज का आश्रय होने से उस (आलयविज्ञान) से उत्पन्न होने के कारण तथा अनेक गतियों (भवों) में जन्म का उपादान होने के कारण आलयविज्ञान (ही) 'मूलविज्ञान' कहा जाता है। 'प्रत्यय के अनुसार उत्पाद' का तात्पर्य है—जिस जिस विज्ञान का प्रत्यय सन्निहित है, उस उस विज्ञान

इन्द्रियविज्ञानों की उत्पत्ति के बारे में दूसरे प्रकार की विचारधारा इस प्रकार है—

उतानियमेन। यद्येकस्यैव०—यह निश्चित नहीं है कि 'पहले यह विज्ञान होगा, उसके बाद यह विज्ञान उत्पन्न होगा' इत्यादि; फलतः जिस प्रकार की और जिस क्रम से कारणसामग्री सम्मुख विद्यमान होगी, उस प्रकार के विज्ञान की उस क्रम से उत्पत्ति होगी। यदि रूप, शब्द आदि पाँचों आलम्बन सम्मुख विद्यमान हैं और पाँचों इन्द्रियाँ भी निर्दोष हैं, तो पाँचों विज्ञान युगपद् उत्पन्न हो सकते हैं। यदि एक ही आलम्बन सम्मुख उपस्थित है, तो एक ही विज्ञान उत्पन्न होगा। यदि दो आलम्बन सामने उपस्थित होंगे, तो दो विज्ञानों का एक-साथ उत्पाद होगा। यह पक्ष भी विज्ञान के उत्पाद में उपर्युक्त चार प्रत्ययों का होना तो अनिवार्य मानता ही है; किन्तु इनके अनुसार समनन्तर प्रत्यय और कारण प्रत्यय तो जीव की सन्तान में सर्वदा विद्यमान ही रहते हैं (इसका वर्णन आगे किया जायगा[2]), महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आलम्बनप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय एक साथ होते हैं कि नहीं। सौत्रान्तिकों के मत में आलम्बनप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय एक साथ अवश्य ही होते हैं; क्योंकि दोनों प्रत्यय इन्द्रियज ज्ञान के साक्षात् हेतु होते हैं। अर्थात् बीच में और कोई अन्य वस्तु नहीं होती। पर विज्ञानवाद में इस विषय पर विद्वानों को विचार करना नितान्त आवश्यक है।

१३३. उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं में वसुबन्धु आदि विज्ञानवादी आचार्य दूसरी विचारधारा का समर्थन करते हैं। इसलिये उस (दूसरी) विचारधारा को सिद्धान्त के रूप में उपस्थापित करते हुये, वे (आचार्य वसुबन्धु) कहते हैं—

---

१. इति। पञ्चा०—स०।
२. द्र०—त्रिं० १३५, पृ० २५०।

तस्य नियमेनोद्भव आत्मलाभः। सह नवेति युगपत् क्रमेण वा। तरङ्गाणां यथा जल इति, आलयविज्ञानात् प्रवृत्तिविज्ञानानां युगपदयुगपच्चोत्पत्तौ दृष्टान्तः।

१३४. यथोक्तम्—"तद्यथा विशालमते, महत उदकौघस्य वहतः सचेदेकस्य तरङ्गस्योत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवति, एकमेव तरङ्गं प्रवर्तते; सचेद् द्वयोस्त्रयाणां संबहुलानां तरङ्गाणामुत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवति, यावत् संबहुलानि तरङ्गाणि प्रवर्तन्ते। न च तस्योदकौघस्य स्रोतसा वहतः समुच्छित्तिर्भवति, न पर्यनुयोगः

का नियमतः उत्पाद अर्थात् आत्मलाभ। 'एक साथ या एक साथ नहीं अर्थात् अलग-अलग' का तात्पर्य युगपद् या क्रमशः उत्पन्न होने से है। 'जैसे जल में तरङ्गों का' इसका तात्पर्य आलयविज्ञान से प्रवृत्तिविज्ञानों की युगपद् या अयुगपद् (अलग-अलग) उत्पत्ति में दृष्टान्त होने से है।

जैसे (सूत्र में) कहा भी गया है—"जैसे विशालमति, बहते हुये बड़े उदकसमूह के यदि एक तरङ्ग का उत्पत्तिप्रत्यय उपस्थित होता है, तो एक ही तरङ्ग प्रवृत्त होती है। यदि दो, तीन या बहुत तरङ्गों का उत्पत्तिप्रत्यय उपस्थित होता है, तो (दो से लेकर) बहुत तरंगें भी उत्पन्न होती हैं। न तो उस धारा के रूप में बहनेवाले उदकसमूह का समुच्छेद होता है

पञ्चानां मूलविज्ञाने०—चक्षुर्विज्ञान श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान ये पाँच विज्ञान हैं। इनमें से प्रत्येक के बाद मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। 'मूलविज्ञान' आलयविज्ञान का पर्यायवाची है; क्योंकि वह पाँच विज्ञानों सहित समस्त विज्ञानों का बीजाधार है। उसी आधार में जीवों की जन्म, मरण आदि सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ घटित होती हैं और चक्षुर्विज्ञान आदि प्रवृत्तिविज्ञान उसी से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि आलयविज्ञान ही समस्त का आश्रय या हेतु हैं; तथापि विज्ञानों की उत्पत्ति आलम्बनों पर भी निर्भर है। फलतः जैसे जैसे आलम्बन सामने आते जाते हैं, वैसे वैसे आलयविज्ञान से विज्ञानों का उत्पाद होता रहता है। इस प्रकार आलयविज्ञान के आधार पर आलम्बनों की सहायता से पाँचों विज्ञान युगपद् एक साथ) या क्रमशः उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ समुद्र में जैसे जैसे वायु का प्रहार लगता है, वैसे वैसे अनेक तरंगें युगपद् या क्रमशः उत्पन्न होती हैं। इसी उपमा से आलयविज्ञान से प्रवृत्तिविज्ञानों की उत्पत्ति समझनी चाहिये। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में टीकाकार आगे आगम एवं युक्ति दोनों का प्रदर्शन करते हैं।

१३४. क. आगमप्रदर्शन—यह सूत्रवचन आर्य-सन्धि-निर्मोचन के पाँचवें परिच्छेद 'विशालमतिपरिपृच्छा' में उक्त है[1]। इसमें यह दिखलाया गया है कि जिस प्रकार समुद्र

---

1. द्र०—आर्य सन्धिनिर्मोचनसूत्र, विशालमतिपरिपृच्छा, पाँचवा परिच्छेद। तिब्बती कंजूर पृ० सं० २१ (जापानी संस्करण)।

प्रज्ञायते; एवमेव विशालमते, तदोघस्थानीयम् आलयविज्ञानं संनिश्रित्य प्रतिष्ठाय सचेदेकस्य चक्षुर्विज्ञानस्योत्पत्तिप्रत्ययः[1] प्रत्युपस्थितो भवति, एकमेव[2] चक्षुर्विज्ञानं प्रवर्तते; सचेद् द्वयोस्त्रयाणाम्, सचेत् पञ्चानां विज्ञानानामुत्पत्तिप्रत्ययः प्रत्युपस्थितो भवति, सकृद् यावत् पञ्चानां प्रवृत्तिर्भवति । अत्र गाथा—

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो ।
[3]बालान एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः[3] ।। इति ।।

और न तो पर्यनुयोग ही मालूम होता है। उसी प्रकार विशालमति, उस उदकसमूहस्थानीय आलयविज्ञान का आश्रय करके (उसमें) प्रतिष्ठित होकर यदि एक चक्षुर्विज्ञान का उत्पत्तिप्रत्यय उपस्थित होता है, तो एक ही चक्षुर्विज्ञान प्रवृत्त होता है यदि दो का, तीन का, यदि पाँचों विज्ञानों का उत्पत्तिप्रत्यय उपस्थित होता है तो (दो से लेकर) सभी पाँचों विज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति होती है।

यहाँ (इस विषय में एक) गाथा है—

उदकसमूह की भाँति आलयविज्ञान अत्यन्त गम्भीर एवं सूक्ष्म है तथा उसमें समस्त धर्मों के बीज निहित हैं। (भगवान् ने) उसे सामान्य जनों के सम्मुख प्रकाशित नहीं किया है; क्योंकि वे उसे अज्ञानवश कहीं आत्मा न समझ लें।

में अनेक तरंगें होती हैं और वे जैसे जैसे कारण प्राप्त करती हैं, वैसे वैसे उत्पन्न होती हैं। यदि एक ही तरंग का कारण सन्निहित है, तो एक ही तरंग का उत्पाद होता है। यदि दो तरंगों के कारण सन्निहित हैं, तो दो, यदि तीन तरंगों के कारण सन्निहित हैं, तो तीन, यदि बहुत तरंगों के कारण सन्निहित हैं, तो बहुत तरंगों का एक साथ उत्पाद होता है। धारावाहिकरूप में प्रवहमान उस जल-समूह का न कभी एकदम उच्छेद होता है और न ह्रास। उसी प्रकार यदि एक विज्ञान का कारण उपस्थित होता है, उदाहरणार्थ रूप उपस्थित होता है, तो आलयविज्ञान इस आधार से चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि रूप और शब्द दो कारण उपस्थित होते हैं, तो चक्षुर्विज्ञान और श्रोत्रविज्ञान दो विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यदि रूप आदि पाँचो आलम्बन उपस्थित होते हैं, तो पाँचों इन्द्रियविज्ञान सकृद् उत्पन्न होते हैं।

इस सूत्र के आगे-पीछे और भी बहुत कुछ लिखा हुआ है, जिसका सार यह है कि आलयविज्ञान से जब इन्द्रियविज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, तब उन विज्ञानों के साथ

---

१. विज्ञानस्योत्पत्ति०—अ०। २. एवमेव—अ०।

३-३. बाला एषामपि न प्रकाशिते मोऽहैव०—अ०। गाथा के लिये द्र०—आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र, तिब्बती कंजूर, पु० सं० ५०, प० सं० १३ (दगे—दुगे संस्करण)।

मनोविज्ञान का भी उत्पाद होता है, जो (मनोविज्ञान) तत्तद्विषयक ही होता है। आलयविज्ञान से जब केवल एक ही विज्ञान का उत्पाद होता है, यथा--जब चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद होता है, तब उस चक्षुर्विज्ञान के समकाल ही रूपविषयक एक मनोविज्ञान का उत्पाद होता है। जब दो, तीन या पाँचों इन्द्रियविज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, तब उन दो, तीन या पाँचों इन्द्रियविज्ञानों के आलम्बनों का ग्रहण करते हुये एक मनोविज्ञान उन इन्द्रियविज्ञानों के समकाल उत्पन्न होता है।

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो०—यह गाथा भी आर्यसन्धिनिर्मोचन से उद्धृत है[1]। इसका आशय है—आलयविज्ञान (आदानविज्ञान) अत्यन्त गम्भीर एवं सूक्ष्म है। इसमें समस्त धर्मों के बीज (समस्त धर्मों को उत्पन्न करनेवाली वासनायें) अन्तर्निहित होते हैं। अर्थात् यह सर्वबीजक है; क्योंकि यह समस्त बीजों का आधार है। जिस प्रकार महान् उदकसमूह अपने ऊपर आधृत तृण, काष्ठ, गोमय आदि का आश्रय होता है और उन्हें (तृण, काष्ठ आदि को) ले जाते हुये निरन्तर बहते रहता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी समस्त बीजों को ले जाते हुये यावत्संसार निरन्तर प्रवृत्त होते रहता है। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मैंने इसे (आलयविज्ञान को) सामान्य पृथग्जनों के सम्मुख प्रकाशित नहीं किया है; क्योंकि वे उसे आत्मा समझकर मोहित हो सकते हैं। अतः मण्डल में स्थित ऐसे श्रेष्ठ विनेयजनों के सम्मुख ही मैंने उसे प्रकाशित किया है, जो आलयविज्ञान के स्वरूप को यथार्थतः समझ सकने में सक्षम हैं और आत्मदृष्टि में भी पतित न हो सकें।

यह आदानविज्ञान 'गम्भीर' है; क्योंकि यह पृथग्जनों का गोचर नहीं है। यह सूक्ष्म है; क्योंकि वह आर्य श्रावक एवं आर्य प्रत्येकबुद्ध का भी गोचर नहीं है। यह पाँच उपादान स्कन्धों का ग्रहण करता है, इसलिये 'आदानविज्ञान' कहलाता है। समस्त धर्मों के बीजों का यही एकमात्र आश्रय है, इसलिये 'सर्वबीजक' कहलाता है।

इस सूत्र के आधार पर ही आचार्य वसुबन्धु ने इसे (आलयविज्ञान को) 'ओघवत्' कहा है[2]। इतना ही नहीं, यह गाथा आलयविज्ञान के पक्ष में इतनी महत्त्वपूर्ण है कि आगमानुयायी विज्ञानवादी आचार्य अपने शास्त्रों में इसका प्रमाण देना, कभी नहीं भूलते। यों आलयविज्ञान को सिद्ध करने में अन्य अनेकों आगम प्रस्तुत किये गये हैं; तथापि यह उन सबमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. द्र०—आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र, तिब्बती काग्युर पु० सं० ५० प० सं० १३ (स्दे-द्गे संस्करण)।

२. द्र०—"तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्"—त्रिं० का० ४, पृ० १६१।

१३५. न हि विज्ञानप्रतिनियमेन आलम्बनप्रत्ययवत् समनन्तरप्रत्यय इष्यते, सर्वविज्ञानोत्पत्तौ सर्वस्य विज्ञानस्य तत्समनन्तरप्रत्ययत्वाभ्युपगमात् । अत एकस्मादपि समनन्तरप्रत्ययाद् आलम्बनप्रत्ययसांनिध्ये द्वयोर्बहूनां वा[1] विज्ञानानामुत्पत्तिर्न विरुध्यते[2] । किं चात्र कारणं यत् समनन्तरप्रत्ययप्रतिनियमाभावे पञ्चानां च युगपदालम्बनप्रत्ययसांनिध्ये एकेनैवोत्पत्तव्यम्, न पञ्चभिरपीति ? तस्माद् आलम्बनसद्भावे पञ्चानामपि चोत्पत्तिरित्यभ्युपेयम् ।[3]

विज्ञान (की उत्पत्ति) में जिस प्रकार आलम्बन-प्रत्यय प्रतिनियत होता है, उस प्रकार समनन्तर-प्रत्यय इष्ट नहीं है; क्योंकि सब विज्ञानों की उत्पत्ति में सब विज्ञान उनके समनन्तर-प्रत्यय माने गये हैं । इसलिये एक भी समनन्तर-प्रत्यय से आलम्बन-प्रत्ययों का सांनिध्य होने पर दो या बहुत विज्ञानों की उत्पत्ति में विरोध नहीं है । इसमें क्या कारण है कि समनन्तर-प्रत्यय के प्रतिनियम का अभाव होने पर और पाँचों विज्ञानों के आलम्बन-प्रत्ययों का युगपद् सांनिध्य होने पर क्यों एक ही विज्ञान को उत्पन्न होना चाहिये, पाँचों को भी क्यों उत्पन्न नहीं होना चाहिये ? इसलिये आलम्बनप्रत्यय के उपस्थित होने पर पाँचों विज्ञानों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना चाहिये ।

---

१३५. ख. युक्तिप्रदर्शन—सौत्रान्तिक आदि मानते हैं कि चक्षुर्विज्ञान आदि पाँचों विज्ञानों के समनन्तर प्रत्यय भिन्न भिन्न होते हैं, इसलिये उन्हें अनेक विज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति में बाधा प्रतीत होती है; परन्तु यहाँ (विज्ञानवाद में) ऐसा नहीं माना जाता । चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञानों के आलम्बन-प्रत्यय तो अवश्य भिन्न भिन्न होते हैं, यथा— रूप चक्षुर्विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है, शब्द श्रोत्रविज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है, इत्यादि । जो रूप चक्षुर्विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है, वह श्रोत्रविज्ञान का कभी भी आलम्बन-प्रत्यय नहीं हो सकता । श्रोत्रविज्ञान ही नहीं, वह चक्षुर्विज्ञान के अलावा किसी अन्य विज्ञान का भी कथमपि आलम्बन-प्रत्यय नहीं हो सकता । इसी तरह शब्द, गन्ध आदि अन्य आलम्बन-प्रत्ययों के बारे में भी जानना चाहिये । जिस विज्ञान का जो आलम्बन-प्रत्यय निश्चित है, वह अपने निश्चित विज्ञान से अतिरिक्त अन्य किसी विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय नहीं होता । कहने का आशय यह है कि प्रत्येक विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय नियत होता है । किन्तु जिस

---

१. च—अ० ।
२. निरुध्यते—अ० ।
३. अपि उत्पत्ति०—ब० ।

प्रकार का प्रतिनियम आलम्बन-प्रत्ययों में विद्यमान है, वैसा समनन्तर-प्रत्ययों में नहीं है। ऐसा बिलकुल नहीं है कि प्रत्येक विज्ञान का समनन्तर-प्रत्यय नियत हो और जो समनन्तर-प्रत्यय जिस विज्ञान का हो, वह उस विज्ञान से अतिरिक्त किसी अन्य विज्ञान का समनन्तर-प्रत्यय न हो सकता हो। अपितु होता यह है कि एक ही समनन्तर-प्रत्यय पाँचों इन्द्रियविज्ञानों का समनन्तर प्रत्यय हो सकता है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक ही यवबीज से अनेकों (सैकड़ों) यव उत्पन्न हो जाते हैं। समनन्तर-प्रत्यय होने के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि वह तत्तद्विषयाभिलाषाकार (मनस्कार स्वरूप) हो। अर्थात् ऐसा नहीं है कि जो चक्षुर्विज्ञान का समनन्तर प्रत्यय हो, उसे रूपदिदृक्षाकार (रूप देखने की इच्छावाला) अवश्य होना चाहिये। श्रोत्रविज्ञान का समनन्तर प्रत्यय होने के लिये उसे शुश्रूषाकार (शब्द सुनने की इच्छा स्वरूप) अवश्य होना चाहिये, जैसा कि सौत्रान्तिक आदि बाह्यार्थवादी मानते हैं। अपितु कोई भी ज्ञान, जो चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों से समनन्तरपूर्व (अव्यवहित पूर्व) होता हैं और उनकी उत्पत्ति में सहायक होता है, उनका समनन्तर प्रत्यय हो सकता है। उसके लिये रूपाकार या रूपाभिलाषाकार होना आवश्यक नहीं है। अन्यथा (यदि ऐसा न माना जायगा तो) अनेकविध दोष होंगें, यथा—जब रूप आदि पाचों या छहों आलम्बन एक-साथ सम्मुख विद्यमान होंगे और उन छहों के प्रति समानरूप से इच्छायें (मनस्कार) होंगी, तो ऐसी स्थिति में एक भी विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा; क्योंकि एक तो आपके मत में अनेक विज्ञान एक-साथ उत्पन्न नहीं हो सकते, साथ ही आलम्बन-प्रत्यय और समनन्तर-प्रत्यय (मनस्कार) समानरूप से विद्यमान हैं। यदि आप ऐसा कहें कि पाँच या छह आलम्बन तो एक-साथ हो सकते हैं, किन्तु पाँच या छह समनन्तर-प्रत्यय एक-साथ नहीं हो सकते; तो भी आप उपर्युक्त दोष से मुक्त नहीं हो सकते; क्योंकि जब आपके सम्मुख पाँच या छह विषय (आलम्बन) विद्यमान हैं और किसी भी विषय के प्रति अभिलाषा (मनस्कार) नहीं हो रही है, तब मनोरम चित्र और मधुर शब्द आदि के सम्मुख विद्यमान होने पर भी आपको कोई विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में आप अन्धवत् और बधिरवत् हो जायँगे। साथ ही प्रत्यक्ष-विरोध भी है। कहीं ऐसा भी होता है कि कोई सुनना न चाहे, फिर भी यदि उसके सम्मुख बाजे बजाये जायँ; तो उसमें श्रोत्रविज्ञानका उत्पाद न हो। इस तरह समनन्तर प्रत्यय के बारे में सौत्रान्तिक आदि बाह्यार्थवादियों के विचार अयुक्तिसङ्गत सिद्ध होते हैं।

आलयविज्ञान में समस्त विज्ञानों के समनन्तर प्रत्यय नियमितरूप से सदा विद्यमान रहते हैं, जो आलम्बनों के सम्मुख आते ही विज्ञानों का उत्पाद करते हैं। ऐसा न मानने पर

१३६. इदमिदानीं वक्तव्यम्—किं मनोविज्ञानं चक्षुरादिविज्ञानैः सह प्रवर्तते, विना वा[1]; उत नैव ? इत्यत आह—

अब यह कहना चाहिए—क्या मनोविज्ञान चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों के साथ प्रवृत्त होता है या उनके विना प्रवृत्त होता है; अथवा नहीं ही उत्पन्न होता है ? इस पर आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

अर्थात् समनन्तर प्रत्यय के प्रतिनियम का अभाव सिद्ध हो जाने पर पूर्वपक्षी को यह युक्ति दिखलानी होगी कि क्यों पाँचों आलम्बनों के सम्मुख उपस्थित होने पर एक ही विज्ञान का उत्पाद होता है, पाँचों विज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं होते ? वस्तुतः इस दिशा में कोई युक्ति दिखलायी नहीं पड़ती। इसलिये उन्हें यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा कि या तो पाँचों विज्ञानों का उत्पाद एक-साथ होगा या एक भी विज्ञान का उत्पाद नहीं होगा।

उपर्युक्त "पञ्चानां मूलविज्ञाने०"—इत्यादि कारिका द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि आलयविज्ञान समस्त विज्ञानों का आधार है, अर्थात् हेतु है। उसी से समय-समय पर अर्थात् आलम्बन उपस्थित होने पर चक्षुर्विज्ञान आदि पाँचों विज्ञान युगपद् या क्रमशः उत्पन्न होते हैं। जब जब चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच विज्ञान उत्पन्न होते हैं, तब तब तत्समकाल ही मनोविज्ञान भी उत्पन्न होता है, जो (मनोविज्ञान) चक्षुर्विज्ञान आदि के विषय (आलम्बन) का ही आलम्बक होता है। आलयविज्ञान से जब केवल चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, तब रूपविषयक एक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। आलयविज्ञान से जब पाचों विज्ञान एक-साथ उत्पन्न होते हैं, तब भी एक ही मनोविज्ञान उत्पन्न होता है और वह (मनोविज्ञान) पाँचों विज्ञानों के आलम्बनों का ग्रहण करता है। चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों का क्रमशः (अलग-अलग) उत्पन्न होना या युगपद् उत्पन्न होना, एकमात्र आलम्बनों की उपस्थिति पर निर्भर है, आलयविज्ञान में तो समस्त विज्ञानों के उत्पाद की सामर्थ्य सर्वदा विद्यमान रहती ही है। चक्षुर्विज्ञान आदि समस्त विज्ञान आलयविज्ञान से उत्पन्न होकर पुनः आलयविज्ञान में ही विलीन हो जाते हैं। जब वे विलीन होते हैं, तो वासना के रूप में परिणत हो जाते हैं और वह वासना आलयविज्ञान में ही सर्वदा स्थित रहती है। अवसर आने पर अर्थात् वासना का परिपाक होने पर पुनः वह वासना चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार जीवों की चित्तसन्तति (जीवनधारा) हमेशा प्रवृत्त होती रहती है।

१३६. ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान जीवनपर्यन्त सदा प्रवृत्त होता रहता है

---

१. च—अ०।

मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते ।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात् ॥१६॥

इति । सर्वदेति सर्वकालम्, चक्षुरादिविज्ञानैः सह विना वेत्यर्थः । अस्योत्सर्गस्यापवादमारभते—'आसंज्ञिकादृते । समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकाद्' इति ।

मनोविज्ञान हमेशा उत्पन्न होता है, आसंज्ञिक की अवस्था, दो समापत्तियाँ, मिद्ध एवं मूर्च्छा इन (पाँच) अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर (सर्वदा उत्पन्न होता है ।)

'सर्वदा' का तात्पर्य 'हमेशा' से है । अर्थात् चक्षुर्विज्ञान आदि के साथ और विना भी उत्पन्न होता है । इस नियम का अपवाद कहा जा रहा है, यथा—आसंज्ञिक, दो समापत्ति, मिद्ध और मूर्च्छा इन (पाँच) अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर सर्वदा उत्पन्न होता रहता है ।

तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान भी समाहित-अवस्था आदि को छोड़कर हमेशा प्रवृत्त होता रहता है ।[1] इसके बाद अभी-अभी यह भी कहा गया है कि चक्षुर्विज्ञान आदि पाँचों इन्द्रियविज्ञान भी कदाचित् युगपद् उत्पन्न होते हैं तथा कदाचित् क्रमशः उत्पन्न होते हैं ।[2]

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनोविज्ञान, जो आठ प्रकार के विज्ञानों में से छठवाँ है, क्या यावज्जीवन सर्वदा प्रवृत्त होता रहता है या कदाचित् उत्पन्न होता है ? इत्यादि पक्षों का स्पष्टीकरण करने के लिये आचार्य स्थिरमति प्रश्न के रूप में विषय का उपक्रम करते हैं—

इदमिदानीं वक्तव्यम्०—क्या मनोविज्ञान चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञानों के साथ ही उत्पन्न होता है या उनके विना भी उत्पन्न होता है ? अथवा इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा पक्ष है ?

सिद्धान्तपक्ष—

मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदा०—मनोविज्ञान की प्रवृत्ति आसंज्ञिक आदि पाँच अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर सर्वदा होती रहती है। फलतः वह चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रियविज्ञानों के साथ भी उत्पन्न हो सकता है और उनके विना भी उत्पन्न हो सकता है ।

पाँच अचित्तक अवस्थायें ये हैं, यथा—१. आसंज्ञिक देवों की अवस्था, २. आसंज्ञिक समापत्ति की अवस्था, ३. निरोधसमापत्ति की अवस्था ४. मिद्ध (निद्रा) की अवस्था एवं ५. मूर्च्छा (बेहोशी) की अवस्था ।

---

१. द्र०—त्रिं० पृ० १६१ एवं १७७ ।
२. द्र०—त्रिं० पृ० २५२ ।

१३७. तत्रासंज्ञिकम् असंज्ञिसत्त्वेषु देवेषूपपन्नस्य यश्चित्तचैतसिकानां धर्माणां निरोधः।

१३८. समापत्तिद्वयम् असंज्ञिसमापत्तिर्निरोधसमापत्तिश्च।

वहाँ (पाँच अचित्तक अवस्थाओं में) असंज्ञी नामक देवों में उत्पन्न सत्त्व का जो चित्त-चैतसिक धर्मों का निरोध है, वह 'आसंज्ञिक' कहलाता है।

असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति ये दो समापत्तियाँ (समापत्तिद्वय) हैं।

योगाचारभूमि में अचित्तक अवस्थाओं की संख्या छह बतलायी गयी हैं। उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं से अतिरिक्त एक अनुपधिशेषनिर्वाण की अवस्था उसमें सम्मिलित की गयी है और वह परम अचित्तक अवस्था कही गयी है[1]। किन्तु वह किसी व्यक्ति की अवस्था नहीं है, इसलिये उस अवस्था का यहाँ परित्याग कर दिया गया है।

१३७. (क) आसंज्ञिक— कुछ पृथग्जन असंज्ञि-समापत्ति को प्राप्त करते हैं, जिसके फलस्वरूप असंज्ञी देवों में जन्म ग्रहण करते हैं। ये असंज्ञी देव चतुर्थ ध्यानभूमि के देवों में परिगणित होते हैं। चतुर्थ ध्यानभूमि में आठ प्रकार के देव होते हैं, यथा —अनभ्रक, पुण्यप्रसव, बृहत्फल, (और पाँच शुद्धावासिक—) अवृह, अतप, सुदृश, सुदर्शन एवं अकनिष्ठ। इनमें से अनभ्रक, पुण्यप्रसव एवं बृहत्फल—इन तीन भूमियों में पृथग्जनों का भी जन्म होता है। अवृह, अतप, सुदृश, सुदर्शन एवं अकनिष्ठ—इन पाँच शुद्धावास भूमियों में केवल आर्यों का ही जन्म होता है, पृथग्जनों का नहीं। असंज्ञी देव इन आठों में से बृहत्फल देवों के क्षेत्र के एकदेश में रहते हैं, जो (क्षेत्र) बृहत्फल देवों के क्षेत्र से एक योजन की दूरी पर स्थित है और एकान्त स्थान में स्थित है। इन (असंज्ञी) देवों के जीवन में आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान से अतिरिक्त कोई अन्य चित्त, चैतसिक विद्यमान नहीं होते। उन चित्त, चैतसिक धर्मों का निरोध या जो धर्म उन चित्त चैतसिक धर्मों का निरोध करता है, वह 'आसंज्ञिक' है। ये असंज्ञी सत्त्व जब अपनी भूमि से च्युत होने लगते हैं, तब जीवन के अन्तिम क्षण में उनमें केवल च्युतिचित्त उत्पन्न होता है। वहाँ से च्युत होकर वे अवश्य कामधातु में जन्म ग्रहण करते हैं[2]।

१३८. समापत्तिद्वय का तात्पर्य असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति इन दो समापत्तियों से है। अब उनका यहाँ क्रमशः निरूपण किया जा रहा है।

---

1. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० १०९-११० (जापान में प्रकाशित)।

2. तु०—"आसंज्ञिकमसंज्ञिषु। निरोधश्चित्तचैत्तानां विपाकस्ते बृहत्फलाः।—अभि० को० २:४१ पृ० १५२।

तत्रासंज्ञिसमापत्तिस्तृतीयध्यानाद् वीतरागस्य उर्ध्वमवीतरागस्य[1] निःसरण-संज्ञापूर्वकेण मनसिकारेण मनोविज्ञानस्य तत्सम्प्रयुक्तानां च चैत्तानां यो निरोधः, सोऽत्रासंज्ञिसमापत्तिरित्युच्यते। निरुध्यते अनेनेति निरोधः। स पुनः ससम्प्रयोगस्य मनोविज्ञानस्य समुदाचारनिरोधः, आश्रयस्यावस्थाविशेषः। स च समापत्तिचित्ताद् अनन्तरं चित्तान्तरोत्पत्तिविरुद्ध आश्रयः प्राप्यत इति समापत्तिरित्युच्यते।

निरोधसमापत्तिराकिञ्चन्यायतनवीतरागस्य शान्तविहारसंज्ञापूर्वकेण मनसिकारेण ससम्प्रयोगस्य मनोविज्ञानस्य क्लिष्टस्य च मनसो यो निरोधः। इयमप्यसंज्ञिसमापत्तिवद् आश्रयस्यावस्थाविशेषे प्रज्ञप्यते।

असंज्ञिसमापत्ति—वहाँ (दो समापत्तियों में) तृतीय ध्यान से वीतराग और (तृतीयध्यान से) ऊर्ध्व (चतुर्थ आदि ध्यान) के प्रति अवीतराग पुद्गल का मुक्ति-संज्ञापूर्वक मनस्कार के द्वारा जो मनोविज्ञान और उससे सम्प्रयुक्त चैतसिकों का निरोध है, वह 'असंज्ञिसमापत्ति' कहलाता है। जिसके द्वारा निरुद्ध होता है, उसे 'निरोध' कहते हैं। वह ससम्प्रयोग (अर्थात् चैतसिकों के साथ) मनोविज्ञान के समुदाचार (उत्पाद) का निरोध है, जो आश्रय (आलयविज्ञान) की अवस्था विशेष है, समापत्ति चित्त के बाद दूसरे चित्तों की उत्पत्ति से विरुद्ध आश्रय प्राप्त होता है, इसलिये वह (निरोध) 'समापत्ति' कहलाता है।

निरोधसमापत्ति—आकिंचन्यायतन से वीतराग आर्य पुद्गल का शान्तविहार-संज्ञापूर्वक मनस्कार के द्वारा जो ससम्प्रयोग (सचैतसिक) मनोविज्ञान का और क्लिष्ट मन का निरोध है, वह 'निरोधसमापत्ति' कहलाता है। यह (निरोधसमापत्ति) भी असंज्ञि-समापत्ति की भाँति आलयविज्ञान की अवस्थाविशेष में ही प्रज्ञप्त होती है।

(ख) **असंज्ञिसमापत्ति**—असंज्ञी सत्त्वों की समापत्ति या वह समापत्ति, जिसमें संज्ञा नहीं होती 'असंज्ञिसमापत्ति' कहलाती है। पूर्वोक्त आसंज्ञिक की भाँति यह भी चित्त-चैतसिकों का निरोध है[2]। पृथग्जन समाधि का अभ्यास करते करते जब चतुर्थ ध्यान का मौल प्राप्त कर लेते हैं, तब कभी कभी किसी पृथग्जन को दुर्भाग्यवश मिथ्या (विपरीत) कल्पना के कारण ऐसा प्रतीत होने लगता है कि समस्त चित्त, चैतसिक या संज्ञा बन्धन हैं। इसके

---

१. नोर्ध्वमवीत०—अ०।

२. तु०—"तथासंज्ञिसमापत्तिर्ध्यानेऽन्त्ये निःसृतीच्छया।
शुभोपपद्यवेद्यैव नार्यस्यैकाध्विकाप्यते॥"—
अभि० को० २ : ४२ पृ० १५६।

विपरीत जो चित्त-चैतसिकों का निरोध या असंज्ञा है, वही वास्तविक मुक्ति है। इस प्रकार मिथ्या धारणावश वह आसंज्ञिक को मोक्ष मानकर, उसे (मिथ्या मोक्ष को) प्राप्त करने की अभिलाषा से चतुर्थ ध्यान के मौल के आधार पर असंज्ञी समाधि का अभ्यास करने लगता है। फलतः दीर्घकालपर्यन्त वह असंज्ञि-समापत्ति में स्थित रहता है, जिसमें चित्त-चैतसिकों का सर्वथा निरोध हो जाता है और पुद्गल अचेतन सा प्रतीत होता है। इस समापत्ति का स्वरूप ज्ञान या जड दोनों नहीं है; अपितु विप्रयुक्त संस्कार[1] है। इस अवस्था में आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई भी विज्ञान उपस्थित नहीं होता। यह समापत्ति उपपद्यवेदनीय[2] कर्म है। फलतः द्वितीय जन्म में (मृत्यु के बाद) ही पुद्गल असंज्ञी देवों में उत्पन्न हो जाता है। आर्य लोग इस समापत्ति में समापन्न होने का यत्न नहीं करते; क्योंकि वे इसे भयङ्कर विनिपातस्थान (पर्वत के किनारे) की भाँति देखते हैं। वस्तुतः यह ऐसी ही है। पहले भी और आज भी बहुत लोगों में ऐसे विचार पाये जाते हैं कि समाधि की अवस्था में किसी भी विषय का न रहना या किसी भी संज्ञा या वेदना का न रहना अत्युत्तम है। शून्यवत् स्थिति को वे बहुत श्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु यह दृष्टि केवल असंज्ञी देवों में उत्पाद करनेवाली है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। बौद्ध शास्त्रों एवं परम्परा में ऐसी समाधि का सर्वत्र निषेध किया गया है।

(ग) **निरोधसमापत्ति**—जो आर्य आकिंचन्यायतन भूमि से वीतराग होता है अर्थात् भवाग्र मौल का लाभी होता है, वही इस निरोधसमापत्ति में समापन्न हो सकता है। भवाग्र मौल के आधार पर शान्तविहार (दृष्टधर्मनिर्वाण) की इच्छा से आर्य इस समापत्ति में प्रवेश करता है। लौकिक मार्गों द्वारा इस (निरोधसमापत्ति) में स्थित नहीं हुआ जा सकता। इसके लिये पहले अलौकिक मार्गों का प्राप्त होना, नितान्त आवश्यक है। जिस समय निरोध समापत्ति में स्थिति हो जाती है, उस समय आलयविज्ञान से अतिरिक्त कोई भी विज्ञान विद्यमान नहीं होता। फलतः इस अवस्था में निरोध का आधार एकमात्र आलयविज्ञान ही होता है तथा आलयविज्ञान से अतिरिक्त अन्य सात विज्ञानों का सर्वथा निरोध हो जाता है। अतः इसे 'निरोधसमापत्ति' कहते हैं[3]।

---

१. ज्ञान और जड दोनों में जिनका सन्निवेश नहीं होता, ऐसे कुछ धर्म 'विप्रयुक्त संस्कार' कहलाते हैं। द्र०—अभि० को २ : ३५-३६ पृ० ६२।

२. वे कर्म, जिनका अगले जन्म में निश्चित फल होता है 'उपपद्यवेदनीय' कहलाते हैं।

३. तु०—"निरोधाख्या तथैवेयं विहारार्थं भवाग्रजा।
शुभा द्विवेद्याऽनियता चार्यस्याप्या प्रयोगतः ॥"—
अभि० को० २ : ४३ पृ० १५८।

१३९. अचितकं मिद्धम्, गाढमिद्धोपहतत्वाद् आश्रयस्य, तावत्कालं मनोविज्ञानाप्रवृत्तेरचित्तकमित्युच्यते ।

अचित्तक मिद्ध—आश्रय के गाढ मिद्ध से उपहत होने के कारण उतने समय तक मनोविज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः (मिद्ध) अचित्तक कहलाता है ।

उपर्युक्त दोनों समापत्तियाँ प्रज्ञप्तिसत् हैं । ये आलयविज्ञान की अवस्था विशेष में ही प्रज्ञप्त हैं । ऐसा नहीं है कि इनकी द्रव्यसत्ता हो, जैसा कि वैभाषिक लोग मानते हैं । उनके मत में तीनों कालों की द्रव्यसत्ता मानी जाती है, अतः जो चित्त निरुद्ध हो चुके हैं, चित्तों के उस निरोध को भी वे द्रव्यसत् मानते हैं ।

सौत्रान्तिक मत में दोनों समापत्तियों की अवस्था में यद्यपि स्थूल चित्तों का अस्तित्व नहीं माना जाता; तथापि वे लोग उन अवस्थाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । वे कहते हैं कि यदि सूक्ष्म मनोविज्ञान का भी अस्तित्व न माना जायगा, तो व्यक्ति की सन्तति का उच्छेद हो जायगा ।

किन्तु इस आगमानुयायी विज्ञानवाद में इस प्रकार के उच्छेदभय की गुञ्जाइश नहीं है; क्योंकि सब चित्तों का निरोध हो जाने पर भी आलयविज्ञान तो विद्यमान रहता ही है । अतः सन्तति के उच्छेद का कोई भय नहीं है । इसलिये सौत्रान्तिकों की तरह यहाँ मनोविज्ञान का स्थूल, सूक्ष्म आदि भेद नहीं किया जाता ।

उपर्युक्त द्विविध समापत्तियों में से असंज्ञिसमापत्ति में केवल पृथग्जन ही समापन्न हो सकते हैं तथा निरोधसमापत्ति केवल आर्यों का ही विषय है । आर्य बोधिसत्त्व एवं बुद्ध भी यद्यपि इस समापत्ति को प्राप्त होते हैं[1]; तथापि वे कभी भी इस (समापत्ति) में समाहित नहीं होते । बोधिसत्त्व यदि इस समापत्ति में समापन्न हो जायँगे, तो अनन्तानन्त सत्त्वों की हितसिद्धि के उनके प्रयास में अनावश्यक विलम्ब होगा । जितने दिन वे इस समापत्ति में स्थित रहेंगे, उतने दिन उनका जगत्-कल्याण कार्य रुका रहेगा और इसे वे सहन नहीं कर सकते, फलतः वे इस समापत्ति में समापन्न होने की कभी इच्छा नहीं करते । बुद्ध का तो इस समापत्ति में समाहित होने का कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वे सर्वदा और सर्वथा समस्त धर्मों को जानते रहते हैं । फलतः इस समापत्ति में समापन्न होनेवाले पुद्गल निश्चितरूप से आर्य श्रावक और प्रत्येकबुद्ध ही होते हैं ।

१३९. (घ) **मिद्ध**—गहरी नींद की अवस्था में, जिसमें कि स्वप्न तक नहीं दिखलाई

---

१. तु०—"बोधिलभ्या मुनेनं प्राक् चतुस्त्रिंशत्क्षणाप्तितः ।"—अभि० को० २।४४ पृ० १५१ ।

अचित्तिका मूर्च्छा—आगन्तुनाभिघातेन वातपित्तश्लेष्मवैषम्येण वा यदाश्रयवैषम्यं मनोविज्ञानप्रवृत्तिविरुद्धम्, तत्राचित्तिका मूर्च्छोपचर्यते।

एताः पञ्चावस्था वर्जयित्वा तदन्यासु सर्वावस्थासु मनोविज्ञान-प्रवृत्तिर्वेदितव्या।

१४०. एवमासंज्ञिकादिषु मनोविज्ञाने निरुद्धे तदपगमे पुनः कुत उत्पद्यते, यत्तस्य कालक्रिया न भवति ?

तत्पुनरालयविज्ञानादेवोत्पद्यते; तद्धि सर्वविज्ञानबीजकमिति।

अचित्तक मूर्च्छा—आगन्तुक अभिघात अथवा वात, पित्त एवं श्लेष्मा के वैषम्य की वजह से मनोविज्ञान की प्रवृत्ति से विरुद्ध, जो आश्रय की विषमता है, उसी में अचित्तक मूर्च्छा उपचरित होती है।

इन पाँच अवस्थाओं को छोड़कर इनसे भिन्न सभी अवस्थाओं में मनोविज्ञान की प्रवृत्ति (होती है, यह) जानना चाहिये।

इस प्रकार आसंज्ञिक आदि पाँच अवस्थाओं में मनोविज्ञान के निरुद्ध हो जाने पर उन अवस्थाओं के निवृत्त हो जाने पर वह (मनोविज्ञान) फिर कहाँ से उत्पन्न हो जाता है कि उस (व्यक्ति) की कालक्रिया नहीं होती ?

वह (मनोविज्ञान) फिर आलयविज्ञान से ही उत्पन्न हो जाता है; क्योंकि आलय-विज्ञान सर्वबीजक (सभी धर्मों के बीजवाला) है।

पड़ते, उस समय मनोविज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। उस समय केवल आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान ही प्रवृत्त होते हैं।

(ङ) मूर्च्छा—बाहरी चोट आदि से अथवा कारणवश वात, पित्त आदि शरीर की धातुओं के विषम हो जाने से गहरी मूर्च्छा (बेहोशी) आ जाती हैं और उस अवस्था में मनोविज्ञान का निरोध हो जाता है। इस अवस्था में भी आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई भी विज्ञान प्रवृत्त नहीं होता।

उपसंहार—आसंज्ञिक, असंज्ञिसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, मिद्ध और मूर्च्छा इन पाँच अचित्तक अवस्थाओं को छोड़कर व्यक्ति के जीवन में और सभी अवस्थाओं में मनोविज्ञान प्रवृत्त होता रहता है।

१४०. यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आसंज्ञिक आदि उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं में मनोविज्ञान का सर्वथा निरोध हो जाता है, तो फिर उन अवस्थाओं की समाप्ति पर पुनः मनोविज्ञान का उत्पाद कैसे हो जाता है ?

यत्र विज्ञानपरिणामे आत्मधर्मोपचारः, स पुनस्त्रिधेत्युद्दिश्य विस्तरेण त्रिविधोऽपि निर्दिष्टः।

१४१. इदानीम् आत्मधर्मोपचारो यः प्रज्ञप्यते, स विज्ञानपरिणाम एव, न विज्ञानपरिणामात् स[1] पृथगस्ति, आत्मा धर्मा वेति यत् प्रतिज्ञातं तत्प्रसाधनार्थमाह—

जिस विज्ञानपरिणाम में आत्मा और धर्मों का उपचार होता है, 'वह (विज्ञान-परिणाम) तीन प्रकार का है'—ऐसा उद्देश करके उस त्रिविध विज्ञानपरिणाम का भी विस्तारपूर्वक निर्देश कर दिया गया।

अब 'जो आत्मा और धम का उपचार प्रज्ञप्त होता है, वह विज्ञान परिणाम में ही प्रज्ञप्त होता है, विज्ञानपरिणाम से वह पृथक् नहीं है अर्थात् आत्मा या धर्म (विज्ञानपरिणाम से बाहर नहीं हैं)'—ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी, उसे सिद्ध करनेके लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

तत्पुनरालयविज्ञानादेव०—उपर्युक्त प्रश्न कोई जटिल प्रश्न नहीं है, इसका उत्तर अत्यन्त आसान है। अचित्तक अवस्थाओं से उत्थित होने पर आलयविज्ञान से ही पुनः मनोविज्ञान प्रवृत्त हो जाता है। गहरी नींद में जब व्यक्ति एकदम निमग्न हो जाता है, तो उसका मनोविज्ञान निवृत्त हो जाता है तथा वासना के रूप में परिणत होकर आलयविज्ञान में स्थित रहता है। यही वासना अगले मनोविज्ञान का बीज होता है। जागने पर उस वासना से तत्काल मनोविज्ञान पुनः उत्पन्न हो जाता है। निरोधसमापत्ति आदि अन्य अवस्थाओं से व्युत्थित होने पर पुनः मनोविज्ञान की प्रवृत्ति के बारे में भी यही न्याय समझना चाहिये।

यत्र विज्ञानपरिणामे०—'परिणामः स च त्रिधा[2]' के अवसर पर जो यह कहा गया था कि जिस विज्ञानपरिणाम में आत्मा और रूप आदि धर्म प्रज्ञप्त होते हैं, वह विज्ञानपरिणाम तीन प्रकार का होता है, यथा—आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं षड्विध प्रवृत्तिविज्ञान। अपनी उस प्रतिज्ञा के अनुसार त्रिविध विज्ञान परिणाम का यहाँ तक सांगोपांग विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया गया है।

१४१. 'विज्ञानपरिणामेऽसौ[3]'—के अवसर पर यह प्रतिज्ञा की गयी थी कि आत्मा, रूप आदि समस्त धर्म विज्ञान के परिणाममात्र हैं, वे बाह्यार्थत्वेन सत् नहीं है।

---

१. नास्ति—ब०।

२. द्र०—त्रि० १ का०, पृ० १२१।

३. द्र०—त्रि० १ का०, पृ० १५।

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते ।
तेन तन्नास्ति ।

इति । योऽयं विज्ञानपरिणामस्त्रिविधोऽनन्तरमभिहितः सोऽयं विकल्पः । अध्यारोपितार्थाकाराः त्रैधातुकाश्चित्तचैत्ता विकल्प उच्यते । यथोक्तम्—

अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैतास्त्रिधातुकाः ।

इति ।

जो (धर्म, जैसे) कल्पित होता है, (वस्तुतः) वह (वैसा) नहीं है, इसलिये यह विज्ञानपरिणाम 'बिकल्प' है ।

जो यह त्रिविध विज्ञानपरिणाम पहले कहा गया है, वह यह (विज्ञानपरिणाम) 'विकल्प' है । अध्यारोपित अर्थों के आकारवाले त्रैधातुक चित्त एव चैतसिक धर्म 'विकल्प' कहे जाते हैं । जैसा कि कहा भी गया है—

त्रैधातुक चित्त-चैतसिक अभूतपरिकल्प हैं ।

किन्तु वहाँ उस युक्ति का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया गया था कि क्यों बाह्यार्थत्वेन सत् नहीं हैं । अतः अब यहाँ उस प्रतिज्ञा को युक्तियों द्वारा सिद्ध करने का उपक्रम किया जा रहा है—

इदानीम् आत्मधर्मोपचारो०—लोक में जो आत्मा (पुद्गल, व्यक्ति) एवं रूप आदि धर्म दिखलायी पड़ते हैं, वे सबके सब विज्ञान के परिणाम ही हैं । विज्ञान के परिणाम से बाहर उनकी कोई सत्ता नहीं है ।

विज्ञानवाद भी अपने ढङ्ग से एक प्रकार का मध्यमकदर्शन ही है । यह दर्शन भी शाश्वत और उच्छेद इन दो अन्तों से रहित है । विज्ञान से भिन्न (बाह्य) द्रव्य की सत्ता होना—शाश्वतान्त है तथा धर्मों का किसी भी प्रकार का अस्तित्व न मानना—उच्छेदान्त है । अब यहाँ इन दोनों अन्तों का क्रमशः निराकरण किया जा रहा हैं—

शाश्वतान्त (समारोपान्त) का निराकरण—

विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो०—विज्ञान के समस्त परिणाम (अर्थात् समस्त धर्म) विकल्प हैं; क्योंकि ये बाह्यार्थत्वेन कल्पना करनेवाले हैं और स्वयं भी बाह्यार्थत्वेन कल्पित होने योग्य हैं । जिस-जिस विकल्प द्वारा जो-जो कल्पित किये जाते हैं, वे सब वस्तुतः उस प्रकार के नहीं ही होते, जैसे कल्पित किये जाते हैं । अत एव वे सब, जो कल्पित किये जाते हैं, विज्ञप्तिमात्र ही हैं, बाह्यार्थतः नहीं ।

उपर्युक्त त्रिविध परिणामों (विज्ञानों) को या तीनो धातुओं के (त्रैधातुक) समस्त चित्त-चैतसिकों को 'विकल्प' यह संज्ञा प्रदान की गयी है; क्योंकि वे अध्यारोपितार्थाकार होते हैं। अर्थात् बाह्य अर्थों के विना भी उन्हें आरोपित करके अपने (स्वयं) को तदाकारित करते हैं।

तात्पर्य यह है कि विश्व में जो भी चित्त या चैतसिक बाह्यार्थाकार हैं, अर्थात् जिनमें बाह्य अर्थों का प्रतिभास होता है, वे समस्त चित्त-चैतसिक यहाँ 'विकल्प' शब्द द्वारा गृहीत किये गये हैं। आर्यों का समाहित ज्ञान आदि, जिनमें बाह्य अर्थों का प्रतिभास नहीं होता ऐसे ज्ञान यहाँ 'विकल्प' शब्द द्वारा गृहीत नहीं हैं।

प्रस्तुत कारिका का अर्थ आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि आलयविज्ञान आदि तीनों विज्ञानपरिणाम 'विकल्प' शब्द से गृहीत हैं और तीनों को बाह्य अर्थ प्रतिभासित होते हैं; किन्तु इसका अर्थ अत्यन्त गम्भीर, सूक्ष्म एवं विवेचनीय है। यद्यपि यह ठीक है कि तीनों प्रकार के विज्ञानों का यहाँ 'विकल्प' शब्द से ग्रहण किया गया है; तथापि आलयविज्ञान का ग्रहण इसलिये नहीं किया गया है कि उसे भी बाह्यार्थ का प्रतिभास होता है; अपितु उसका ग्रहण इसलिये किया गया है कि वह बाह्यार्थाभास का मुख्य कारण है।

कहने का आशय यह है कि यद्यपि आलयविज्ञान को बाह्यार्थाभास नहीं हुआ करता; क्योंकि वह अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिछिन्नाकार होता है—यह पहले कहा भी गया है[1]; तथापि वही बाह्यार्थाभास का एकमात्र कारण है। अर्थात् उसके विना बाह्यार्थाभास नहीं हो सकता। आलयविज्ञान के ही आधार पर अन्य विज्ञानों की प्रवृत्ति होती है और उन्हें बाह्यार्थ का प्रतिभास होता है। क्योंकि बाह्यार्थाभास में आलयविज्ञान प्रमुखरूप से भाग लेता है, इसी वजह से विज्ञानवादी आचार्यों ने उसे भी विकल्प कहना उचित समझा। क्लिष्ट मनोविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों को तो बाह्यार्थाभास होता ही है, इसमें तो किसी को कोई सन्देह नहीं है। फलतः उन्हें विकल्प कहना तो युक्तिसंगत ही है।

यहाँ विकल्प शब्द का अर्थ ठीक वैसा ही है, जैसा ऊपर प्रतिपादन किया गया है, न कि वैसा है, जैसा अन्य शास्त्रों में उल्लिखित है, यथा—ऐसी प्रतिभासात्मिका प्रतीति, जिसका शब्द के साथ संसर्ग है अथवा जिसमें शब्द के साथ संसर्ग की योग्यता है 'कल्पना' है[2]।

---

१. द्र०—"असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।"—त्रिं० का० ३ और उसकी व्याख्या, पृ० १४३।

२. द्र०—"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना।"—धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दु, सूत्र ५, पृ० ४७।

१४२. तेन त्रिविधेन विकल्पेन आलयविज्ञानक्लिष्टमनःप्रवृत्तिविज्ञानस्वभावेन ससम्प्रयोगेण यद् विकल्प्यते भाजनम् आत्मा स्कन्धधात्वायतनरूपशब्दादिकं वस्तु, तत् नास्तीत्यतः स विज्ञानपरिणामो विकल्प उच्यते, असदालम्बनत्वात् ।

सम्प्रयुक्त चैतसिकों के साथ आलयविज्ञान, क्लिष्ट मन एवं प्रवृत्तिविज्ञान स्वभाववाले त्रिविध विकल्प के द्वारा जो वस्तु विकल्पित होती है, (यथा—) भाजन (अचेतन लोक), आत्मा, स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप या शब्द आदि, वह (सत्) नहीं है, अतः वह विज्ञानपरिणाम 'विकल्प' कहलाता है; क्योंकि उसका आलम्बन असत् होता है ।

उन चित्त-चैतसिकों के द्वारा, जिन्हें यहाँ विकल्प कहा गया है, समस्त धर्म बाह्यार्थत्वेन गृहीत होते हैं या बाह्यार्थत्वेन कल्पित होते हैं। ऐसे वे समस्त धर्म, जो बाह्यार्थत्वेन गृहीत या कल्पित होते हैं, बाह्यार्थतः सत् नहीं होते ।

अथवा—उन चित्त-चैतसिकों द्वारा जो भी धर्म गृहीत होते हैं या कल्पित होते हैं, उनकी सत्ता ठीक वैसे ही नहीं होती, जैसे उन चित्त-चैतसिकों द्वारा उनका ग्रहण किया जाता है । जिस प्रकार उन्होंने ग्रहण किया है, यदि वे धर्म वस्तुतः वैसे ही होते, तो अवश्य वे बाह्यार्थतः सत् होते; क्योंकि उन चित्त-चैतसिकों ने उनका उसी प्रकार ग्रहण किया है। यह बात आचार्य वसुबन्धु ने अपने दूसरे ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्टता के साथ लिखी है, यथा— जो प्रतिभासित होता है, वह परतन्त्र' है तथा जैसा प्रतिभासित होता है, वह 'परिकल्पित' है[1] । फलतः यह सकल जगत् अर्थात् समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं, बाह्य अर्थ बिलकुल नहीं हैं।

समस्त विज्ञान विकल्पात्मक हैं, इसे आगम द्वारा भी प्रमाणित करने के लिये आचार्य स्थिरमति मध्यान्तविभाग शास्त्र से निम्न वचन उद्धृत करते हैं—

अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैतास्त्रिधातुकाः[2] ।

अर्थात् तीनों धातुओं के (त्रैधातक) चित्त और चैतसिक 'अभूतपरिकल्प' हैं। अर्थात् अयथार्थ का ग्रहण करनेवाले हैं।

१४२. आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं छह प्रवृत्तिविज्ञान तथा इनसे सम्प्रयुक्त होनेवाले सभी चैतसिक यहाँ 'विकल्प' कहे गये हैं। इनके द्वारा भाजन[3], सत्त्व आदि जो जो

---

1. द्र०—"यत्ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः ।
प्रत्ययाधीनवृत्तित्वात् कल्पनामात्रभावतः ॥"
—त्रिस्वभावनिर्देश, का० २, पृ० १ ।
2. द्र०—आर्य मैत्रेयनाथ प्रणीत मध्यान्तविभागशास्त्र, लक्षणपरिच्छेद, का० ८, पृ० ६ ।
3. पर्वत, समुद्र, गृह, वन और देश आदि जहाँ जीव रहते हैं अथवा जिनका उपभोग जीव करता है वह 'भाजन लोक' है। सुर, असुर, तथा मनुष्य आदि सभी जीव और उनके शरीर या ज्ञान 'सत्त्व लोक' हैं।

१४३. कथं पुनरेतद् विज्ञायते तदालम्बनम् असदिति ?

यद्धि यस्य कारणम्, तस्मिन् समग्रे चाविरुद्धे च तदुत्पद्यते, नान्यतः। विज्ञानं च माया-गन्धर्वनगर-स्वप्न-तिमिरादावसत्यप्यालम्बने[1] जायते। यदि च विज्ञानस्य आलम्बनप्रतिबद्ध उत्पादः स्याद्, एवं सति मायादिष्वर्थाभावात् न विज्ञानमुत्पद्येत[2]। तस्मात् पूर्वकात् निरुद्धात् तज्जातीयविज्ञानाद् विज्ञानमुत्पद्यते, न बाह्याद् अर्थात्, तस्मिन्नसत्यपि भावात्[3]।

यह (आप) कैसे जानते हैं कि उस (विज्ञान) का आलम्बन असत् है ?

जो जिसका कारण होता है, उस कारण (सामग्री) के समग्र (परिपूर्ण) होने पर और अविरुद्ध होने पर वह (कार्य) उत्पन्न होता है, अन्य (कारण) से नहीं (उत्पन्न होता)। और विज्ञान तो माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न और तिमिर आदि की अवस्था में आलम्बन के न होने पर भी उत्पन्न हो जाता है। यदि विज्ञान का उत्पाद आलम्बन से प्रतिबद्ध होता, तो ऐसी अवस्था में माया आदि की अवस्था में अर्थ का अभाव होने से विज्ञान उत्पन्न न हुआ करता। (किन्तु होता है) इसलिये (यह सिद्ध होता है कि) समानजातीय पूर्व निरुद्ध विज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है, न कि बाह्य अर्थ से; क्योंकि उस (अर्थ) के न होने पर भी (विज्ञान) होता है।

वस्तु बाह्यार्थत्वेन कल्पित की जाती हैं, वे सब बाह्यार्थतः सत् नहीं होतीं। इसी वजह से वे चित्त-चैतसिक धर्म विज्ञप्तिमात्र होते हैं। कल्पना करनेवाले वे सभी चित्त-चैतसिक 'असदालम्बन' भी कहे जाते हैं; क्योंकि वे विना बाह्यसत् आलम्बन के उत्पन्न होते हैं।

ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार चित्त-चैतसिकों द्वारा बाह्यार्थ के रूप में आरोपित धर्म वस्तुतः बाह्यार्थ नहीं हैं, उसी प्रकार स्वयं चित्त-चैतसिक भी बाह्यार्थतः नहीं है; क्योंकि वे भी दूसरे चित्त-चैतसिकों द्वारा बाह्यार्थत्वेन आरोपित होते हैं। फलतः रूप, शब्द आदि धर्म एवं चित्त-चैतसिक धर्म सभी सामान्यरूप से विज्ञप्तिमात्र ही हैं। ऐसा बिलकुल नहीं है कि विकल्प्य वस्तु या उनकी सत्ता बहुत कमजोर हो और कल्पना करनेवाले चित्त-चैतसिक या उनकी सत्ता बड़ी दृढ़ हो। यही कारण है कि विज्ञानवाद के प्रमाणित शास्त्रों में ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध होता हो कि विज्ञानवादी आचार्य रूप आदि धर्मों को शशश्रृङ्गवत् अलीक मानते हैं और केवल विज्ञान को ही वस्तुसत् मानते हैं।

१४३. पूर्वपक्ष—बाह्यार्थवादी पूछते हैं कि यह आप कैसे जानते हैं कि विज्ञान

---

१. °तिमिरादावसत्यालम्बने—अ०।

२. °मुत्पद्यते—अ०।

३. उद्भावात् (?)—ब०।

दृष्टा चाभिन्नेऽप्यर्थे प्रतिपत्तॄणां परस्परविरुद्धा प्रतिपत्तिः। न चैकस्य परस्परविरुद्धानेकात्मकत्वं युज्यते। तस्माद् अध्यारोपितरूपत्वाद् विकल्पस्यालम्बनम् असदिति प्रतिपत्तव्यम्।

तथा अर्थ के अभिन्न (एक) होने पर भी प्रतिपत्ताओं (देखनेवालों) का परस्पर विरुद्ध अनुभव देखा गया है। और एक (अर्थ) का परस्पर विरुद्ध अनेकस्वभाव युक्त नहीं है। इस लिये आरोपितस्वरूप होने से विकल्प का आलम्बन असत् है—यह जानना चाहिये।

विना बाह्यार्थालम्बन के उत्पन्न होता है। अथवा विज्ञानों के आलम्बन बाह्यार्थतः नहीं होते ?

सिद्धान्तपक्ष—

यद्धि यस्य कारणम्, तस्मिन् समग्र०—जो (बाह्यार्थ) जिस विज्ञानका कारण माना जाता है, उससे विज्ञान की उत्पत्ति तभी सम्भव है, जबकि उसकी कारण-सामग्री में अनिवार्य अपेक्षा हो अर्थात् उसके विना कारण-सामग्री परिपूर्ण न होती हो तथा कारण-सामग्री में सम्मिलित होने में उसका किसी तरह का विरोध न हो; किन्तु वास्तविकता यह है कि विज्ञान की हेतु-सामग्री में बाह्य आलम्बन के सांनिध्य की कोई आवश्यकता नहीं है और न तो उसके हेतु-सामग्री में सम्मिलित होने में अविरोध ही है; अपितु विरोध है।

तात्पर्य यह है कि—१. विज्ञान की उत्पत्ति बाह्य अर्थ पर निर्भर नहीं है तथा २. बाह्य अर्थ पर निर्भर होने के पक्ष में विरोध है।

१. विज्ञान की उत्पत्ति बाह्य अर्थ पर निर्भर नहीं—

विज्ञानं च माया-गन्धर्वनगर-स्वप्न०—विज्ञान की उत्पत्ति बाह्यार्थ पर कतई निर्भर नहीं है, इसे समझाने के लिये टीकाकार ने दृष्टान्त के रूप में ऐसी अनेक अवस्थाओं का उल्लेख किया है, जिनमें बाह्यार्थ के विना भी विज्ञान उत्पन्न होते देखे जाते हैं, यथा—बाह्य हस्ती, अश्व आदि के न होने पर भी मन्त्र, औषधि आदि के वश से हस्ती, अश्व आदि का आलम्बन करनेवाला विज्ञान उत्पन्न होता है। नगर के न होने पर भी गन्धर्वों को बड़े बड़े नगर प्रतीत होते हैं। बाह्य वस्तुओं के न होने पर भी स्वप्न में अनेकविध विषयों (पदार्थों) का अनुभव करनेवाले नाना विज्ञान उत्पन्न होते हैं तथा तिमिर आदि से ग्रस्त व्यक्तियों को अनेक असद्भूत पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। यदि विज्ञान के उत्पाद में बाह्य अर्थों की अपरिहार्य अपेक्षा होती, तो उपर्युक्त अवस्थाओं में विज्ञान कथमपि उत्पन्न नहीं होते; किन्तु विज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः सिद्ध होता है कि विज्ञान की उत्पत्ति बाह्यार्थ पर निर्भर नहीं है।

[इस दिशा में आचार्य वसुबन्धु ने सम्पूर्ण विंशति कारिकाओं की रचना की है, अतः इस सम्बन्धी विशेष ज्ञान के लिये 'विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः' का अवलोकन करना चाहिये]

उपसंहार—

तस्मात् पूर्वकात् निरुद्धात् तज्जातीय०—फलतः विज्ञान उस विज्ञान से ही उत्पन्न हुआ करता है, जो अपने सजातीय होता है और जो अपने उत्पाद से पूर्व निरुद्ध हो चुका होता है। अथवा वासनाओं से उसका उत्पाद होता है; बाह्य अर्थों से कभी नहीं।

२. बाह्य अर्थ पर निर्भरता के पक्ष में विरोध—

दृष्टा चाभिन्नेऽप्यर्थे प्रतिपत्तृणां परस्पर०—एक ही वस्तु विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार की प्रतीत होती है, यथा—कोई सुन्दरी कामुक व्यक्ति को अत्यन्त हृदयङ्गम (मनोज्ञ) प्रतीत होती है, वही एक वीतराग योगी को अत्यन्त कुरूप, अपवित्र एवं शवतुल्य प्रतीत होती है तथा काक, गृध्र आदि मांसभक्षी पशु पक्षियों को अपने खाद्य (भोजन) के रूप में प्रतीत होती है। ये प्रतीतियाँ परस्पर अत्यन्त विपरीत हैं। यह व्यवस्था तभी हो सकती है, जब बाह्य अर्थ न माने जायें; क्योंकि एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध तीन (मनोज्ञ, अमनोज्ञ एवं भोज्य) स्वभावों का होना असम्भव है तथा तीनों ही ज्ञान अपनी-अपनी जगह पर सही हैं। यदि बाह्य अर्थ सत्य हैं और उन्हीं के वश से विज्ञान उत्पन्न होते हैं, तो जिस प्रकार के बाह्य अर्थ हैं, उन्हीं के अनुरूप उन्हें (विज्ञानों को) होना चाहिये। यदि बाह्य वस्तु अत्यन्त मनोज्ञ है, तो एकान्तेन उसी प्रकार का ज्ञान, यदि अमनोज्ञ या अपवित्र है, तो निश्चितरूप से उसी प्रकार का ज्ञान, यदि वह वस्तु भोज्य है, तो निश्चय ही उसी प्रकार का ज्ञान सभी प्राणियों को होना चाहिये। एक ही वस्तु में परस्पर विपरीत दो, तीन या अनेक ज्ञानों का होना, नितान्त असंगत है।

यहाँ यह उत्तर भी नहीं दिया जा सकता है कि एक ही वस्तु में सभी स्वभाव विद्यमान हैं; क्योंकि एक ही पदार्थ परस्पर विरुद्ध अनेक स्वभावोंवाला नहीं हो सकता। इस विषये में विंशिका में भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है[1]। आचार्य असंग ने अपने 'महायानसंग्रह' नामक ग्रन्थ में बाह्य अर्थ का निषेध करने के लिए एकमात्र यही प्रधान युक्ति दी है कि एक ही द्रव वस्तु प्रेत को पूय, रक्त आदि के रूप में, मनुष्य को सामान्य जल के रूप में तथा देवताओं को अमृत के रूप में दिखलायी पड़ती है। यह नहीं कहा जा सकता कि देव का ज्ञान सही है तथा प्रेत और मनुष्य का ज्ञान मिथ्या है।

---

१. द्र०—विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, का० ३-४ पृ० २०-२४।

१४४. अनेन तावत् समारोपान्तं परिहृत्य अपवादान्तपरिजिहीर्षया आह—

तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम् ॥१७॥

इति ।

इस (उपर्युक्त) कथन द्वारा समारोपान्त का परिहार करके अब अपवादान्त का परिहार करने की इच्छा से आचार्य (वसुबन्धु) कहते हैं—

इसलिये यह समस्त विज्ञप्तिमात्र है ।

अथवा मनुष्य का ज्ञान सही है तथा प्रेत और देवों का ज्ञान मिथ्या है । अथवा प्रेत का ज्ञान सही है तथा मनुष्य और देवों का ज्ञान मिथ्या है । इसी विधि से समस्त वस्तुओं का ज्ञान हुआ करता है । इससे यही सिद्ध होता है कि बाह्य अर्थों की वजह से नहीं; अपितु आन्तरिक प्रवृत्ति अर्थात् वासना, विज्ञान आदि की प्रवृत्ति से ही समस्त जगत् और उसके व्यापार सम्पन्न होते हैं ।[1]

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि एक ही मनुष्य किसी को मित्र दिखलाई पड़ता है और किसी को शत्रु । एक ही व्यक्ति का शत्रु और मित्र दोनों होना, असम्भव है । किन्तु वैसा दिखलाई अवश्य पड़ता है और तदनुरूप व्यवहार भी होता है । इसलिए शत्रुत्व और मित्रत्व दोनों बाह्यतः सत् नहीं हैं; अपितु आन्तरिक प्रवृत्तिवश वैसी प्रतीति होती है । फलतः बाह्य अर्थ सर्वथा असत् हैं ।[2]

उपसंहार—

तस्माद् अध्यारोपितरूपत्वाद् विकल्प०—इस वचन द्वारा "यद् विकल्प्यते । तेन तन्नास्ति"—इस कारिकांश का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है । इसके द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि विकल्पों के द्वारा जिस-जिस प्रकार के बाह्यार्थ आरोपित किये जाते हैं, वे बाह्यार्थ वस्तुतः उस-उस प्रकार के नहीं होते । अर्थात् बाह्यार्थ नहीं ही होते । बिना ही बाह्यार्थालम्बन के सभी चित्त एवं चैतसिक प्रवृत्त होते हैं । फलतः विज्ञानवाद शाश्वत-अन्त (समारोपान्त) से सर्वथा मुक्त (रहित) है ।

१४४. ऊपर शाश्वत-अन्त या समारोपान्त का निराकरण किया गया है । अब यहाँ उच्छेद-अन्त या अपवादान्त का निराकरण करने के लिये आचार्य कहते हैं—

---

1. द्र०—महायानसंग्रह, तिब्बती तंग्युर, पु० नं० ११२ (जापानी संस्करण) ।

२. द्र०— यदा निष्पन्नतद्भाव इष्टोऽनिष्टोऽपि वा परः ।
विज्ञप्तिहेतुर्विषयस्तस्याश्चानुभवस्तथा ॥
यदीष्टाकार आत्मा स्यादन्यथा वानुभूयते ।
इष्टोऽनिष्टोऽपि वा तेन भवत्यर्थः प्रवेदितः ॥
विद्यमानेपि बाह्येऽर्थे यथानुभवमेव सः ।
निश्चितात्मा स्वरूपेण नानेकात्मत्वदोषतः ॥—

प्र० वा० (प्रत्यक्ष परिच्छेद) ३३८, ३३९-३४० का०, पृ० २०१-२० २।

तेनेति तस्मात्। यस्मात् परिणामात्मकेन विकल्पेन यद् विकल्प्यते, तेन तन्नास्ति; तस्माद् विषयाभावात्। सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्—सर्वमिति त्रैधातुकम् असंस्कृतं च। मात्रशब्दस्तदधिकविषयव्यवच्छेदार्थः। ककारः पादपूरणार्थः।

'तेन' (इसलिये) का तात्पर्य 'तस्मात्' (उस वजह से) है। 'जिस वजह से विज्ञानपरिणामस्वभाव विकल्प के द्वारा जो कल्पित होता है, उस वजह से अर्थात् विषयों का अभाव होने से। समस्त विज्ञप्तिमात्र है—(यहाँ) 'सर्व' का तात्पर्य त्रैधातुक संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्मों से है। 'मात्र' शब्द इन (संस्कृत एवं असंस्कृत) से अधिक धर्मों से व्यवच्छेद के लिये है (विज्ञप्तिमात्रकम् में) 'क'-कार पादपूरण के लिये है।

उच्छेदान्त (अपवादान्त) का निराकरण—

तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्—ऊपर युक्तियों द्वारा यद्यपि बाह्यार्थ का निषेध किया गया है; यथापि उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि समस्त धर्म खपुष्पवत् अलीक हैं; अपितु बाह्यार्थ का निराकरण करने के साथ-साथ यह सिद्ध किया गया है कि समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं।

पहले कहा गया है कि समस्त चित्त-चैतसिक 'विकल्प' हैं;[1] किन्तु विकल्प द्वारा केवल चित्त-चैतसिकों का ही ग्रहण नहीं होता; अपितु रूप आदि संस्कृत धर्म एवं आकाश आदि असंस्कृत धर्म सभी विकल्प द्वारा गृहीत होते हैं। उन्हें (संस्कृत, असंस्कृत धर्मों को) 'विकल्प' इसलिये कहा जाता है; क्योंकि वे विकल्पों के विषय हैं, विकल्पों के परिणाम हैं और विकल्पों के ही ग्राह्यांश हैं तथा उनकी बाह्यतः सत्ता नहीं है।

यहाँ प्रयुक्त 'सर्व' शब्द का तात्पर्य तीनों धातुओं में होनेवाले संस्कृत एवं आकाश आदि असंस्कृत धर्मों से है। ऐसा कोई धर्म नहीं हुआ करता, जो संस्कृत या असंस्कृत न हो, अतः समस्त धर्मों का इन्हीं दो श्रेणियों में संग्रह हो जाता है। यह ठीक है कि बाह्य अर्थों का किंचित् भी अस्तित्व नहीं है; फिर भी रूप आदि धर्म खपुष्पवत् या शशशृङ्गवत् नहीं हैं; अपितु उनका भी एक प्रकार का अस्तित्व होता है और वह अस्तित्व केवल विज्ञान के आधार पर सिद्ध होता है। 'समस्त धर्म चित्तमात्र या विज्ञप्तिमात्र हैं' जब यह कहा जाता है, तो उसका यह अर्थ (मतलब) नहीं हुआ करता कि चित्त से अतिरिक्त कुछ नहीं है; अपितु उसका आशय इतना ही है कि उनकी बाह्यतः सत्ता नहीं है। 'मात्र' शब्द के प्रयोग का यही रहस्य है। आचार्य वसुबन्धु ने भी स्वयं कहा है कि मात्र' शब्द का तात्पर्य केवल

---

1. द्र०—त्रिं० १४१, पृ० २५६-२६०।

बाह्यार्थ के प्रतिषेध से है।[1] इसी आशय की बात उन्होंने आगे फिर दुहरायी है कि धर्मनैरात्म्य का यह अर्थ कभी नहीं है कि धर्म सर्वथा नहीं है; अपितु उसका अर्थ कल्पित धर्मों के न होने मात्र से है[2]। धर्मों का सर्वथा नास्तित्व आचार्य को अभिप्रेत नहीं है।

बाह्यार्थ न मानने पर बाह्यार्थवादी यह आक्षेप देते हैं कि जैसे स्वप्न में विना बाह्यार्थ के विज्ञान उत्पन्न होते हैं, वैसे ही यदि जाग्रत् अवस्था में भी उत्पन्न होते हैं, तो ऐसी स्थिति में स्वप्न में किये हुये शुभ, अशुभ कर्मों का और जाग्रत् अवस्था किये हुये शुभ, अशुभ कर्मों का समान फल क्यों नहीं होता ? इस आक्षेप का समाधान करते हुए आचार्य वसुबन्धु ने कहा कि स्वप्न में क्योंकि चित्त मिद्ध से उपहत होता है और जाग्रत् अवस्था में मिद्ध से उपहत नहीं होता, इसलिये स्वप्न और जाग्रत् अवस्था के कर्मों के फलों में असमानता होती है।[3] अर्थात् स्वप्न अवस्था के कुशल, अकुशल कर्म फल नहीं देते और जाग्रत् अवस्था के कुशल, अकुशल कर्म फल देते हैं। इस तरह यह बात उन्होंने स्वयं स्वीकार की है कि स्वप्न अवस्था और जाग्रत् अवस्था में फर्क होता है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में अनुभूत विषय उस तरह अलीक नहीं होते, जैसे स्वप्न अवस्था के होते हैं। यद्यपि आचार्य ने जहाँ-तहाँ स्वप्न का दृष्टान्त अवश्य दिया है; किन्तु उसका आशय केवल इतना ही है कि जैसे स्वप्न में बाह्यार्थ नहीं होते, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी बाह्यार्थ नहीं होते। इसका यह अभिप्राय कथमपि नहीं है कि जैसे स्वप्न में रूप आदि सर्वथा अलीक होते हैं; वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी वे सर्वथा अलीक होते हैं।

इसे यदि जरा और स्पष्टता के साथ कहा जाय, तो हम यों कह सकते हैं कि स्वप्न अवस्था में बाह्य रूप आदि का भी अस्तित्व नहीं होता और रूप आदि का भी अस्तित्व नहीं होता, जबकि जाग्रत् अवस्था में यद्यपि बाह्य रूप आदि का अस्तित्व नहीं होता; फिर भी रूप आदि का अस्तित्व तो होता है। विज्ञानवादी आचार्यों ने जहाँ-जहाँ स्वप्न का दृष्टान्त दिया है, वहाँ-वहाँ यह विचार करना न्यायसंगत होगा कि दृष्टान्त की कितने अंश में दार्ष्टान्तिक के साथ समता है और कितने अंश में नहीं है। सभी प्रकार से (सर्वांश में) समता रखनेवाला दृष्टान्त तो दुनियाँ में हुआ नहीं करता। यथा—'अमुक व्यक्ति गो है' जब ऐसा कहा जाता है, तब गो के गुणविशेष से, जैसे सरलता, सीधेपन आदि से ही व्यक्ति की समता अभिप्रेत होती है। ऐसा नहीं कि उस व्यक्ति के सींग, पूँछ आदि भी होते हैं।

---

१. "मात्रमित्यर्थप्रतिषेधार्थम्"। द्र०—विंशिका १, पृ० १।
२. "न खलु सर्वथा धर्मो नास्तीत्येवं धर्मनैरात्म्यप्रवेशो भवति, अपितु कल्पितात्मना"। द्र०—विंशिका २४, पृ० ४१।
३. "मिद्धेनोपहतं चित्तं स्वप्ने तेनासमं फलम्"। द्र०—विंशिका ५०, पृ० ६७।

१४५. यदि सर्वं विज्ञप्तिमात्रकमेव, न ततोऽन्यः कर्त्ता करणं चास्ति[1], कथं मूलविज्ञानाद् अनधिष्ठिताद् असति करणे विकल्पाः प्रवर्तन्ते ? इत्याह—

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते ।।१८।।

तत्र[2] सर्वधर्मोत्पादनशक्त्यनुगमात् सर्वबीजम् । विज्ञानमित्यालयविज्ञानम् । विज्ञानं ह्यसर्वबीजमप्यस्तीति[3], अतः सर्वबीजमित्याह । विज्ञानाद् अन्यदपि कैश्चित् प्रधानादि सर्वबीजं कल्प्यत इति विज्ञानमित्याह । अथवा एकपदव्यभिचारेऽपि विशेषणविशेष्यत्वदर्शनात् नायं दोषः । परिणामस्तथा तथा यात्यन्योन्य-

यदि समस्त विज्ञप्तिमात्र ही है, उससे भिन्न कर्त्ता, करण आदि नहीं हैं, तो कैसे अनधिष्ठित मूलविज्ञान से करण के न होने पर (समस्त) विकल्प प्रवृत्त होते हैं ? इस पर आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

आलयविज्ञान सर्वबीजक है। (उसका और अन्य विज्ञानों का) परिणाम अन्योन्य-वश (एक दूसरे की सहायता से) उस उस प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त करता है, जिससे वह वह विकल्प उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ (कारिका में) 'सर्वबीज' इसलिये कहा गया है; क्योंकि वह समस्त धर्मों के उत्पादन की शक्ति से अनुगत है। विज्ञान का तात्पर्य आलयविज्ञान से है। विज्ञान असर्वबीजक भी हीता हैं, इसलिये 'सर्वबीज' कहा गया है। कुछ (तैर्थिक) लोगों द्वारा विज्ञान से भिन्न प्रधान आदि की भी सर्वबीज के रूप में कल्पना की जाती है, अतः 'विज्ञान' कहा गया है। अथवा एकपद में व्यभिचार होने पर भी विशेष्य-विशेषण भाव दिखलाई पड़ता है,—इसलिये यह कोई दोष नहीं है। अन्योन्यवश उस उस प्रकार का परिणाम होता है

उपसंहार—विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त में बाह्यार्थों के न होने से ही रूप आदि समस्त धर्मों की व्यवस्था भलीभाँति हो सकती है। फलतः यह दर्शन समारोपान्त (शाश्वत-अन्त) और अपवादान्त (उच्छेद-अन्त) इन दोनों अन्तों से सर्वथा मुक्त (रहित) है।

१४५. बाह्य अर्थ नहीं हैं, केवल मूलविज्ञान के आधार पर ही सकल जगत् की प्रवृत्ति होती है—ऐसा मानने पर अन्य मतावलम्बियों को स्वभावतः यह सन्देह हो सकता है

---

१. वास्ति—अ० ।
२. इति । तत्र—स० ।
३. ० बीजादप्यस्तीति—अ० ।

वशादिति—पूर्वावस्थातोऽन्यथाभावः परिणामः। तथा तथेति तस्य तस्य विकल्पस्यानन्तरोत्पादनसमर्थावस्था, प्राप्नोतीत्यर्थः। अन्योन्यवशादिति, तथा हि—चक्षुरादिविज्ञानं स्वशक्तिपरिपोषे वर्तमानं शक्तिविशिष्टस्यालयविज्ञान-परिणामस्य निमित्तम्, सोऽपि आलयविज्ञानपरिणामः चक्षुरादिविज्ञानस्य निमित्तं भवति, एवम् अन्योन्यवशाद्। यस्माद् उभयं प्रवर्तते, तस्माद् आलयविज्ञानाद् अन्येनानधिष्ठिताद् अनेकप्रकारो विकल्पः स स जायते। तत्र च वर्तमाने जन्मनि यथालयविज्ञानात् प्रवृत्तिविज्ञानस्योत्पत्तिर्भवति तथाख्यातम्।

(इसमें प्रत्येक पद का अर्थ इस प्रकार है)—परिणाम का तात्पर्य है पूर्व अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था का प्राप्त होना। तथा तथा (उस उस प्रकार) का अर्थ है, उस उस विकल्प की अनन्तरोत्पादनसमर्थ अवस्था, (जिन्हें परिणाम) प्राप्त करता है। अन्योन्यवश का तात्पर्य इस प्रकार है, जैसे—अपनी वासना का परिपोष हो जाने पर वर्तमान चक्षुर्विज्ञान शक्ति-विशिष्ट आलयविज्ञान नामक परिणाम का निमित्त होता है और वह आलयविज्ञान परिणाम भी चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान का निमित्त होता है, इस प्रकार अन्योन्यवश का अर्थ हैं। क्योंकि दोनों (आलयविज्ञान और चक्षुरादिविज्ञान अन्योन्यवश) प्रवृत्त होते हैं, इसलिये दूसरे से अनधिष्ठित आलयविज्ञान से भी अनेक प्रकार के वे वे विकल्प उत्पन्न होते हैं। वहाँ (इस कारिका में) वर्तमान जन्म में जिस प्रकार आलयविज्ञान से प्रवृत्तिविज्ञानों की उत्पत्ति होती है, उस प्रकार कह दिया गया।

कि यदि विज्ञान से अतिरिक्त कोई कर्ता, भोक्ता, आदि नहीं होते, तो केवल अनधिष्ठित मूलविज्ञान से ही विविध प्रकार की जगत्प्रवृत्ति कैसे सम्भव है? आखिर आलयविज्ञान का संचालन भी कौन करता है? इन्हीं सब बातों की ओर आचार्य स्थिरमति निम्न पंक्तियों द्वारा इंगित करते हैं—

यदि सर्वं विज्ञप्तिमात्रकमेव, न ततो०—यदि समस्त जगत् विज्ञान का ही परिणाम है और उस (विज्ञानपरिणाम) से अन्य कोई ईश्वर, प्रधान, आत्मा आदि कर्ता या करण नहीं हैं, तो विना अधिष्ठाता के आलयविज्ञान से ही समस्त विकल्प या सकल जगत् कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

सिद्धान्तपक्ष—

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा०—आलयविज्ञान में समस्त जगत् के बीज निहित होते हैं। सभी विज्ञान और आलयविज्ञान का एक दूसरे की सहायता से उस उस

---

१. ० बीजादप्यस्तीति—अ०।

प्रकार का परिणाम हुआ करता है, (अर्थात् वे परस्पर एक दूसरे के कारण होते हैं) जिससे समस्त जगत् या समस्त विकल्प प्रवृत्त होते हैं। फलतः उन उन अवस्थाओं को प्राप्त करने के लिये विज्ञान को किसी अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं है।

कारिकागत प्रत्येक पद का खुलासा करने के लिये आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

तत्र सर्वधर्मोत्पादनशक्त्यनुगमात्०—आलयविज्ञान सभी धर्मों के बीजों से युक्त है, जो बीज सब धर्मों का उत्पाद करने में समर्थ हैं। फलतः आलयविज्ञान 'सर्वबीज' कहलाता है। चक्षुर्विज्ञान आदि अन्य विज्ञान सर्वबीज नहीं हैं, इसलिये **'सर्वबीजं हि विज्ञानम्'** यहाँ आलयविज्ञान के लिये 'सर्वबीजम्' यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है। कुछ लोग प्रधान (प्रकृति) आदि को भी 'सर्वबीज' मानते हैं और उन्हीं से समस्त धर्मों का उत्पाद मानते हैं, ऐसे लोगों के मत का निराकरण करने के लिये 'विज्ञानम्' यह विशेष्यपद प्रयुक्त किया गया है। यदि केवल 'सर्वबीजम्' इतनामात्र कहते, तो प्रधान आदि के भी संगृहीत हो जाने का भय था तथा यदि केवल 'विज्ञानम्' इतना ही कहते, तो भी चक्षुर्विज्ञान आदि अन्य विज्ञानों के संगृहीत हो जाने की आशंका थी। फलतः 'सर्वबीजं विज्ञानम्' इस प्रकार विशेषणविशेष्य का प्रयोग किया गया है।

अथवा एकपदव्यभिचारेऽपि—यहाँ प्रश्न यह उपस्थित है कि सर्वबीज तो विज्ञान ही होता है। विज्ञानवाद में विज्ञान (आलयविज्ञान) से अतिरिक्त तो कोई सर्वबीज होता नहीं, ऐसी स्थिति में 'सर्वबीजम्' कहने मात्र से काम चल जाता अर्थात् विज्ञान का ग्रहण हो जाता, यहाँ विज्ञान का कथन व्यर्थ है।

इस प्रश्न का एक समाधान तो ऊपर दिया गया है। उसमें यह दिखलाया है कि दोनों पद अत्यन्त आवश्यक है। उनमें से एक के भी अभाव में अतिव्याप्ति दोष होगा। यहाँ आचार्य उस प्रश्न का 'अथवा' शब्द द्वारा एक दूसरे प्रकार का समाधान भी प्रस्तुत कर रहे हैं कि यह मान भी लिया जाय कि यहाँ एक पद में व्यभिचार है। अर्थात् एक पद व्यर्थ है या उसके विना भी काम चल सकता है; फिर भी यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ एक पद में व्यभिचार होने पर भी विशेषण-विशेष्य के रूप में दोनों पदों का प्रयोग होता है। साथ ही उसका अल्प प्रयोजन भी होता है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये—

कहीं कहीं दोनों पदों में व्यभिचार होता है। अर्थात् पृथक् पृथक् प्रत्येक पद अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर पाते, यथा—'नीलम् उत्पलम्'। यहाँ दोनों पदों में व्यभिचारी है; क्योंकि केवल नील कहने से उत्पल का ही बोध नहीं होता; अपितु अन्य अनेक

वस्तुएँ नील होती हैं, जिनका ग्रहण हो सकता है। उसी प्रकार केवल उत्पल कहने से भी नील का ही बोध नहीं होता, क्योंकि रक्त, श्वेत आदि अन्य प्रकार के उत्पल भी होते हैं। इस तरह यहाँ अलग-अलग एक एक पद इष्ट अभिप्राय का प्रकाशन नहीं कर पाते। इस लिये यहाँ उभय पद में व्यभिचार होता है। फलतः पृथक् पृथक् न कहकर विशेषण और विशेष्य दोनों का एक-साथ प्रयोग आवश्यक होता है।

'पृथ्वी द्रव्यम्, जलं द्रव्यम्'—इत्यादि स्थलों में दोनों पदों में व्यभिचार नहीं है; अपितु केवल एक पद में ही व्यभिचार है। जैसे—पृथ्वी या जल कहने से द्रव्य का ग्रहण अवश्य होगा; क्योंकि वे दोनों (पृथ्वी और जल) द्रव्य अवश्य हैं। उनके द्वारा द्रव्य से भिन्न अन्य वस्तु का ग्रहण नहीं होगा। किन्तु केवल द्रव्य कहने से पृथ्वी या जल का ही ग्रहण नहीं होगा; क्योंकि उन दोनों से भिन्न अन्य द्रव्य भी होते हैं; अतः केवल द्रव्य कहने से उनका भी ग्रहण हो सकता है। केवल द्रव्य यह एक पद अभीष्ट अर्थ का प्रकाशन नहीं कर पाता, फलतः यहाँ एक पद में ही व्यभिचार है, दोनों में व्यभिचार नहीं है।

यद्यपि पृथ्वी या जल पद द्वारा द्रव्य का ही ग्रहण होता है; फिर भी केवल पृथ्वी या जल का ही ग्रहण करने के लिये 'पृथ्वी द्रव्यम्' या 'जलं द्रव्यम्' इस तरह दोनों पदों का विशेषण-विशेष्य के रूप में प्रयोग किया जाता है; ठीक उसी प्रकार 'सर्वबीजं विज्ञानम्' यहाँ भी दोनों पदों में व्यभिचार नहीं है; अपितु एक पद में ही व्यभिचार है; क्योंकि 'सर्वबीजम्' यह विज्ञान से भिन्न नहीं है। अर्थात् जो सर्वबीज है, वह विज्ञान अवश्य है। किन्तु केवल 'विज्ञानम्' इतना कहने से सर्वबीज का ही ग्रहण नहीं होता। अर्थात् सभी विज्ञान सर्वबीज नहीं होते। इसी बात को समझाने के लिये 'सर्वबीजम्' और 'विज्ञानम्' इन दोनों पदों का विशेषण-विशेष्य के रूप में प्रयोग किया गया है।

परिणामस्तथा तथा यात्यन्योन्य०—पूर्व अवस्था से भिन्न अवस्था का प्राप्त होना 'परिणाम' है। अर्थात् बीज अवस्था का त्याग कर फल अवस्था को धारण करना 'परिणाम' कहलाता है। आलयविज्ञान के कारण चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान उत्पन्न होते हैं, इसी तरह चक्षुरादिविज्ञान भी आलयविज्ञान के हेतु होते हैं। इस प्रकार दोनों अन्योन्यवश अर्थात् एक दूसरे की सहायता से उत्पन्न होते हैं। चक्षुरादिविज्ञान आलयविज्ञान में वासनायें निक्षिप्त करते हैं, जो वासनायें अनागत काल में पुनः चक्षुरादिविज्ञानों का उत्पाद करती हैं। चक्षुरादिविज्ञानों द्वारा आलयविज्ञान में ऐसी वासनायें भी निक्षिप्त की जाती हैं, जो अनागत आलयविज्ञान का भी उत्पाद करती हैं। आलयविज्ञान उन सर्वविध वासनाओं को धारण करता है, इसलिये वह चक्षुरादिविज्ञानों का हेतु भी होता है।

१४६. इदानीं विज्ञप्तिमात्रे अनागतं जन्म वर्तमानजन्मनिरोधे सति यथा प्रतिसन्धीयते, तत्प्रदर्शयन्नाह—

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह ।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत् ॥१९॥

इति ।

अब विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर वर्तमान जन्म का निरोध होने पर अनागत जन्म का जिस प्रकार प्रतिसन्धान होता है, उसे दिखलाते हुये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों वासनाओं के साथ कर्मवासनायें पूर्व विपाक (आलयविज्ञान) के क्षीण हो जाने पर उस अन्य आलयविज्ञान (विपाक) को उत्पन्न करती हैं ।

एक ही काल में अर्थात् वर्तमान काल में ही विद्यमान आलयविज्ञान और चक्षुरादिविज्ञान परस्पर एक दूसरे के कारण होते हैं। आलयविज्ञान में निहित वासनायें, जो चक्षुरादिविज्ञानों द्वारा ही पूर्वतः (पहले से ही) निक्षित हैं और उनकी हेतु हैं, उन (वासनाओं) का वर्तमान चक्षुरादिविज्ञान परिपोष (पुष्टि) करते हैं । वासनाओं के उस परिपोष से आलयविज्ञान भी सुतरां परिपुष्ट होता है । इस तरह वर्तमान चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञान भी स्वसमानकालिक आलयविज्ञान के निमित्त होते हैं । तथा वर्तमान आलयविज्ञान तो वर्तमान चक्षुरादिविज्ञानों का एकमात्र आश्रय होने से उनका निमित्त है ही । इस प्रकार आलयविज्ञान एवं चक्षुरादिविज्ञान परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हुये अनादिकाल से प्रवृत्त होते चले आ रहे हैं । फलतः आलयविज्ञान का संचालन करने के लिये अन्य किसी ईश्वर, महेश्वर आदि अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं है ।

१४६. ऊपर वर्तमान जन्म की दृष्टि से आलयविज्ञान और अन्यविज्ञानों में जैसे परस्पर कार्यकारणभाव होता है, वह दिखलाया गया है । अब यह प्रतिपादन करना आवश्यक है कि अनागत जन्म में आलयविज्ञान किस तरह प्रवृत्त होता है, किन कारणों से प्रवृत्त होता है तथा कैसे पुनर्जन्म होता है ? इत्यादि । इन्हीं सब बातों को दिखलाने के लिये आचार्य स्थिरमति उपक्रम करते हुये कहते हैं—

इदानीं विज्ञप्तिमात्रे अनागतं जन्म०—विज्ञप्तिमात्रता के आधार पर ही पूर्वापर जन्म की स्थापना होती है । वर्तमान जन्म का निरोध हुये विना पुनर्जन्म होता नहीं; उसका निरोध होने पर ही अगला जन्म हुआ करता है । विज्ञानवाद में आत्मा, ईश्वर, प्रधान आदि होते नहीं और बाह्यार्थों का भी द्रव्यतः अस्तित्व नहीं होता । ऐसी स्थिति में विज्ञप्तिमात्र के आधार पर प्रतिसन्धि का निरूपण करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है । अतः उसका प्रतिपादन करने के लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

कर्मणो वासना ग्राहद्वय०—वर्तमान आलयविज्ञान में अनेक वासनायें निवास करती हैं। उन वासनाओं में से कर्मवासनायें पुनर्जन्म का आक्षेप करने में प्रधान होती हैं। इस कार्य में ग्राह्यवासना और ग्राहकवासना, ये द्विविध वासनायें उन कर्मवासनाओं की सहायता करती हैं। जिस प्रकार हाथ और धनुष आदि मिलकर तीर का प्रक्षेप करते हैं, उसी प्रकार ग्राह्यग्राहकद्वय वासना और कर्मवासना मिलकर पुनर्जन्म सिद्ध करती हैं। फलस्वरूप पुनः पुनः जन्म आविर्भूत होते रहते हैं। पूर्व वासनाओं द्वारा आक्षिप्त विपाकविज्ञान के निरुद्ध होने पर तत्काल दूसरा विपाकविज्ञान उत्पन्न होता है, जो (दूसरा विपाकविज्ञान) दूसरी पूर्व वासनाओं द्वारा आक्षिप्त होता है। वस्तुतः आलयविज्ञान ही जन्म ग्रहण करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। फलतः आत्मा, ईश्वर आदि के न होने पर भी आलयविज्ञान ही प्रतिसन्धि ग्रहण करता है और उस प्रतिसन्धि का कारण कर्मवासना और ग्राह्यग्राहकद्वय वासना आदि होती हैं।

आलयविज्ञान ही वासनाओं का आधार हो सकता है। अन्य कोई भी चित्त, चैतसिक आदि वासना के आधार नहीं हो सकते; क्योंकि वे (चित्त, चैतसिक आदि) स्थिर नहीं होते और आलयविज्ञान यावत्संसार निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। अर्थात् आलयविज्ञान की परम्परा बीच बीच में विच्छिन्न नहीं होती, वह स्थिर विज्ञान है, जब कि अन्य विज्ञानों की सन्तति बीच बीच में विच्छिन्न हो जाया करती है।

वासनाओं का जो आधार होता है, उसे अवश्य अव्याकृत होना चाहिये; क्योंकि अव्याकृत आधार में ही कुशल और अकुशल वासनायें रह सकती हैं। यदि आधार एकान्त कुशल होगा, तो वह कदापि अकुशल वासनाओं का आधार नहीं हो सकेगा। उसी तरह यदि आधार एकान्त अकुशल होगा, तो वह भी कुशल वासनाओं का आधार नहीं हो सकेगा। अव्याकृत आधार ही ऐसा होता है, जो कुशल और अकुशल दोनों प्रकार की वासनाओं के अनुकूल हो सकता है। अतः वही एकमात्र सभी प्रकार की वासनाओं से वासित होने की योग्यता रखता है। जिस प्रकार अत्यधिक सुगन्धयुक्त चन्दनकाष्ठ आदि अन्यविध गन्धों से वासित नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार अत्यन्त उग्र गन्धयुक्त लहसुन प्याज आदि भी अन्यविध गन्धों से वासित नहीं किये जा सकते हैं। जो वस्तु समगन्ध होती है अर्थात् जिसमें न अधिक सुगन्ध होती है और न अधिक दुर्गन्ध, ऐसी वस्तु ही दूसरे प्रकार की गन्धों से वासित की जा सकती है और उसी में वे गन्ध सुरक्षित भी रह सकती हैं। फलतः आलयविज्ञान ही अव्याकृत होने से सभी प्रकार की वासनाओं का आधार हो सकता है।

क्लिष्ट मनोविज्ञान आदि सातों विज्ञान निश्चित रूप से वासना के अवलेपक हैं। ये सातों विज्ञान यथासमय आलयविज्ञान से प्रवृत्त होकर जब निरोधाभिमुख होते हैं, तब वे उस

(आलयविज्ञान) में अपनी अपनी विशेष शक्तियाँ आहित कर देते हैं। वे विशेष शक्तियाँ ही 'वासना' कहलाती हैं। स्थापक (वासना को स्थापित करनेवाले) सातों विज्ञान और स्थाप्य आलयविज्ञान इन्हें अवश्य समकालिक होना चाहिये। भिन्नकालिक स्थाप्य-स्थापकों में अवलेप्य-अवलेपकभाव उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार कल के (नष्ट) शरीर में आज तैल का अवलेप नहीं किया जा सकता।

आलयविज्ञान एकान्तरूप से अवलेप्य हैं। अर्थात् वासना का आधार है। वह कभी भी वासना का स्थापक (अवलेपक) नहीं होता, यह सुनिश्चित है। यदि वह अवलेपक होता, तो फिर अवलेप का आधार कोई दूसरा ही होता; किन्तु ऐसा होना असम्भव नहीं है। अपर क्षण का आलयविज्ञान पूर्व क्षण के आलयविज्ञान का अवलेपक नहीं हो सकता। इसी प्रकार पूर्व क्षण का आलयविज्ञान भी अपर क्षण के आलयविज्ञान का अवलेपक नहीं हो सकता; क्योंकि वे भिन्न भिन्न क्षण में उत्पन्न हैं और अवलेपक होने के लिये यह आवश्यक है कि अवलेपक और अवलेप्य दोनों समानकालिक हों। फलतः आलयविज्ञान वासना का स्थापक सुनिश्चितरूप से नहीं है।

अवलेपक विज्ञान चाहे कुशल हों, अकुशल हों, या अव्याकृत हों, उनके द्वारा अवलिप्यमान वासनायें सर्वथा अव्याकृत ही होती हैं। फिर भी उन (वासनाओं) में यह सामर्थ्य अवश्य निहित होती है कि परिपक्व होने पर वे स्थापकों के अनुरूप ही इष्ट या अनिष्ट फल प्रदान करें। वासनाओं का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है, यथा—षट्क, त्रिक, द्विक, चतुष्क आदि[1]। इन सभी वर्गों की वासनाओं द्वारा समस्त जगत् (सत्त्व और भाजन) का उत्पाद होता है। केवल एक वासना से सकल जगत् का उत्पाद असम्भव है। प्रत्येक धर्म के अपने अपने पृथक् बीज (वासनायें) होते हैं। जब तक ये बीज आलयविज्ञान में स्थित रहते हैं और जब तक उनकी फलावस्था नहीं आती अर्थात् जब तक वे हेतु-अवस्था में रहते हैं, तब तक उनमें विविधता नहीं होती। किन्तु जब उनकी फलावस्था आ जाती है, तब उनके फल में वैविध्य दृष्टिगोचर होने लगता है।

यह उसी प्रकार होता है, जैसे वृक्षविशेष के फलों के गूदे से पहले वस्त्र अवलिप्त कर दिया जाता है; किन्तु उसमें कोई भी रंग दिखलाई नहीं देता। बाद में जब विशेष प्रक्रिया की जाती है, तो समस्त रंग दिखलाई पड़ने लगते हैं।

---

1. द्र०—परिशिष्ट (आलयविज्ञान)।

१४७. पुण्यापुण्यानेञ्ज्यचेतना[1] कर्म। तेन कर्मणा यदनागतात्मभावाभिनिर्वृत्तये[2] आलयविज्ञाने सामर्थ्यमाहितम्, सा कर्मवासना।

पुण्य, अपुण्य एवं आनेंज्य चेतनायें कर्म हैं। उस कर्म के द्वारा जो अनागत जन्म के उत्पाद के लिये आलयविज्ञान में सामर्थ्य आहित किया जाता है, वह 'कर्मवासना' है।

---

१४७. आलयविज्ञान में अनेकविध वासनायें स्थित रहती हैं। उनमें से अनागत जन्म का आक्षेप करनेवाली वासना कर्मवासना है। इस कार्य के निष्पादन में उसकी नित्य सहायक बाह्यार्थवासना होती है। इन द्विविध वासनाओं के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण करने के लिये आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

पुण्य पुण्यानेञ्ज्यचेतना०—जो कर्म सप्त कामसुगतिभूमियों[3] में इष्ट फल प्रदान करते हैं, वे 'पुण्यकर्म' कहलाते हैं। जो कर्म अपाय आदि दुर्गतियों[4] में जन्म प्रदान करते हैं और अनिष्ट फल प्रदान करते हैं, वे 'अपुण्य कर्म' कहलाते हैं। जो कर्म रूप एवं अरूप भूमियों में जन्म देते हैं, वे 'आनेंज्य कर्म' कहलाते हैं। इन समस्त कर्मों की वासनायें आलय-विज्ञान में निहित रहती हैं और वे तब तक स्थित रहती हैं, जब तक कि फल प्रदान नहीं कर देतीं। इन वासनाओं की वज़ह से कृत कर्म निष्फल (व्यर्थ) नहीं होने पाते। ये वासनायें ही 'कर्मवासना' कही जाती हैं।

आलयविज्ञान में त्रिविध वासनायें स्थित होती हैं, यथा—(क) सजातीय-वासना, (ख) अभिलाप-वासना तथा (ग) आत्मदृष्टि-वासना।

(क) सजातीय-वासना—चक्षुर्विज्ञान जब रूप का साक्षात्कार करने के अनन्तर निरुद्ध होता है, तो निरुद्ध होते समय आलयविज्ञान में एक प्रकार की वासना स्थापित करके निरुद्ध होता है। कालान्तर में वह वासना पुनः चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद करती है, जिसे (चक्षुर्विज्ञान को) रूप दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार श्रोत्रविज्ञान आदि अन्य इन्द्रिय-विज्ञानों के बारे में भी जानना चाहिये। इस प्रकार की वासनायें 'सजातीय वासनायें' कहलाती हैं और ये चक्षुर्विज्ञान आदि पञ्च विज्ञानों द्वारा ही स्थापित की जाती हैं।

---

१. ० नेञ्ज० —अ०।

२. यदानागतात्म०—अ०।

३. छः कामदेव और मनुष्य ये सात कामसुगतियाँ हैं।
छः कामदेव इस प्रकार हैं—चातुर्महाराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मितवशवर्तिन्।

४. तिर्यक् (पशु, पक्षि, कीट आदि) प्रेत तथा नरक ये तीन दुर्गतियाँ हैं।

(ख) अभिलाप-वासना—चक्षुर्विज्ञान जिस समय रूप का दर्शन करता है, उस समय मन में एक कल्पना का भी उत्पाद होता है, जो (कल्पना) 'इदं रूपम्' (यह रूप है) —इस प्रकार का अभिनिवेश करती है। वह कल्पना यह जानती है कि सम्मुख स्थित पिण्ड 'रूप' कहलाता है। इस कल्पना द्वारा भी आलयविज्ञान में एक प्रकार की वासना का आधान किया जाता है, जिस (वासना) से भविष्य में पुनः 'रूपकल्पना' का उत्पाद होता है। उस वासना का प्रभाव चक्षुर्विज्ञान पर भी पड़ता है। फलतः जब चक्षुर्विज्ञान में रूप का प्रतिभास होता है, उस समय यह भी प्रतिभास होता है कि रूप रूपशब्द का अभिलाप्य (अभिधेय) है। इन्हीं सब कारणों से उपर्युक्त वासना 'अभिलाप-वासना' कहलाती है और वह निश्चितरूप से कल्पना द्वारा ही प्रक्षिप्त होती है।

(ग) आत्मदृष्टि-वासना—आत्मदृष्टि-वासना दो प्रकार की होती है, यथा—पुद्गलात्मदृष्टि-वासना एवं धर्मात्मदृष्टि-वासना। इनमें से पुद्गलात्मदृष्टि-वासना क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आलयविज्ञान में प्रक्षिप्त होती है तथा धर्मात्मदृष्टि-वासना धर्मात्मदृष्टि द्वारा प्रक्षिप्त होती है। धर्मात्मदृष्टि क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं है; अपितु वह एक प्रकार का मनोविज्ञान ही है। अर्थात् धर्मात्मदृष्टि मनोविज्ञान में संगृहीत होती है। इसे ज्ञेयावरण भी कहते हैं।

क्लिष्ट मनोविज्ञान आलयविज्ञान का आलम्बन कर उसे आत्मतः ग्रहण करता है। वह आलयविज्ञान में एक प्रकार की वासना का भी प्रक्षेप करता है, जिससे कालान्तर में अर्थात् वासना के परिपाक की अवस्था में पुनः क्लिष्ट मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। यही वासना 'पुद्गलात्मदृष्टि-वासना' कहलाती है। धर्मात्मदृष्टि द्वारा समस्त जगत् का बाह्यार्थ के रूप में अभिनिवेश किया जाता है। इसके द्वारा भी आलयविज्ञान में एक प्रकार की वासना का प्रक्षेप किया जाता है, जिससे कालान्तर में पुनः बाह्यार्थदृष्टि का उत्पाद होता है। इसे 'धर्मात्मदृष्टि-वासना' कहते हैं। इसका चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानों पर भी विशेषरूप से प्रभाव पड़ता है, जिसकी वजह से चक्षुरादि विज्ञानों में जिस समय रूप आदि का प्रतिभास होता है, उस समय वे रूप आदि बाह्यार्थत्वेन भी प्रतिभासित होते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की वासनायें आलयविज्ञान में सर्वदा विद्यमान रहती हैं। फलतः जिस समय चक्षुर्विज्ञान में रूप प्रतिभासित होता है, उस समय इन त्रिविध वासनाओं की वज़ह से उस रूपप्रतिभास के तीन अंश होते हैं। जैसे—१. रूपमात्र का प्रतिभास, जो सजातीय वासना के कारण होता है। २. रूप अभिधेय का प्रतिभास, जो अभिलाप वासना के कारण होता है तथा ३. रूप बाह्यार्थ का प्रतिभास, जो आत्मदृष्टि-वासना की वज़ह से होता है।

१४८. ग्राहद्वयम्—ग्राह्यग्राहो ग्राहकग्राहश्च। तत्र विज्ञानात् पृथगेव स्वसन्तानाध्यासितं ग्राह्यमस्तीत्यध्यवसायो ग्राह्यग्राहः। तच्च विज्ञानेन प्रतीयते विज्ञायते गृह्यत इति योऽयं निश्चयः, स ग्राहकग्राहः। पूर्वोत्पन्नग्राह्यग्राहकग्राहाक्षिप्तम् अनागततज्जातीयग्राह्यग्राहकग्राहोत्पत्तिबीजं ग्राहद्वयवासना।

ग्राहद्वय का तात्पर्य ग्राह्य ग्राह एवं ग्राहक ग्राह से है। वहाँ (ग्राहद्वय में) अपनी सन्तान में प्रतिभासित ग्राह्य विज्ञान से पृथक् ही द्रव्य सत् है—इस प्रकार का अध्यवसाय 'ग्राह्यग्राह' कहलाता है। वह ग्राह्य विज्ञान के द्वारा प्रतीत होता है, ज्ञात होता है गृहीत होता है—इस प्रकार का जो निश्चय है, वह 'ग्राहकग्राह' कहलाता है। पूर्वोत्पन्न ग्राह्यग्राह एवं ग्राहकग्राह द्वारा आक्षिप्त, तज्जातीय अनागत ग्राह्यग्राह एवं ग्राहकग्राह की उत्पत्ति का बीज 'ग्राहद्वयवासना' है।

इन तीनों अंशों का स्पष्ट परिज्ञान विज्ञानवाद के सम्यग् अवबोध के लिये परमावश्यक है; अन्यथा जब रूप के बाह्यार्थत्व का निषेध किया जाता है, तो उससे सामान्यतया लोगों को यह भ्रम होने लगता है कि विज्ञानवादी रूप का ही प्रतिषेध करते हैं।

चक्षुर्विज्ञान के उपर्युक्त तीनों प्रतिभास गलत नहीं है; अपितु उनमें से केवल बाह्यार्थाभास ही विपरीत आभास है, अवशिष्ट रूपप्रतिभास एवं रूपाभिधेयप्रतिभास—ये दोनों अंश अविपरीत आभास हैं। फलतः यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षुर्विज्ञान, जिसका कि रूपायतन आलम्बन है, सर्वथा मिथ्या ज्ञान है।

उपर्युक्त तीनों प्रतिभासों में से तीसरा अंश अर्थात् बाह्यार्थाभास ही यहाँ 'ग्राहद्वयवासना' शब्द द्वारा कहा गया है और यही कर्मवासना का मुख्य सहायक है। अर्थात् इसकी सहायता से ही कर्मवासना अनागत जन्मों का आक्षेप करने में समर्थ हो पाती है।

१४८. उपर्युक्त त्रिविध वासनाओं में से आत्मदृष्टि-वासना का एकदेश अर्थात् धर्मात्मदृष्टि वासना का यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है—

ग्राह्यवासना एवं ग्राहकवासना, ये दोनों 'ग्राहद्वयवासना' कहलाती हैं। ग्राह्य विज्ञान से भिन्न, स्वतन्त्र एवं वस्तुसत् धर्म है—ऐसा ग्रहण करनेवाली दृष्टि 'ग्राह्यदृष्टि' है। इसके द्वारा आलयविज्ञान में एक प्रकार की शक्ति का आधान किया जाता है, जो (शक्ति) भविष्य में पुनः उसी प्रकार की दृष्टि का उत्पाद करती है तथा चक्षुर्विज्ञान आदि अन्य विज्ञानों को बाह्य ग्राह्य का आभास भी प्रदान करती है, 'ग्राह्यवासना' कहलाती है। उक्त प्रकार के बाह्य ग्राह्य को ग्रहण करनेवाली जो ग्राह्यदृष्टि है, उसे बाह्यार्थतः ग्रहण

१४९. तत्र कर्मवासनाभेदाद् गतिभेदेनात्मभावभेदः, बीजभेदादंकुरभेदवत्। ग्राहद्वयवासनायास्तु सर्वकर्मवासनानां यथास्वम् आक्षिप्तात्मभावोत्पादने प्रवृत्तानां सहकारित्वं प्रतिपद्यते, तद्यथा—अबादयोऽङ्कुरस्योत्पत्ताविति[1]। एवं न केवलाः कर्मवासना ग्राहद्वयवासनाननुगृहीता[2] विपाकं जनयन्तीत्युक्तं भवति, अत एवाह—ग्राहद्वयवासनया सहेति।

जिस प्रकार बीज के भेद से अंकुर का भेद होता है. उसी प्रकार कर्मवासना और ग्राहद्वयवासना में से कर्मवासना के भेद से गतिभेद[3] होने के कारण आत्मभाव का भेद होता है। जिस प्रकार जल (मिट्टी) आदि अंकुर की उत्पत्ति में सहकारी प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार ग्राहद्वयवासना का तो सभी कर्मवासनाओं के (कार्य में), जो कि अपने-अपने अनुरूप आक्षिप्त आत्मभाव के उत्पाद में प्रवृत्त हैं, सहकारित्व होता है। इस प्रकार ग्राहद्वयवासना से अननुगृहीत केवल कर्मवासनायें विपाक का उत्पाद नहीं करतीं, यह उक्त होता है, इसीलिये (कारिका में आचार्य ने) कहा 'ग्राहद्वयवासनया सह'—अर्थात् ग्राहद्वयवासना के सहयोग से (कर्मवासनायें जन्म का उत्पाद करने में समर्थ होती हैं)।

करनेवाली दृष्टि 'ग्राहकदृष्टि' कहलाती है। इसके द्वारा भी आलयविज्ञान में एक प्रकार की शक्ति की स्थापना की जाती है, जो (शक्ति) कालान्तर में उसी प्रकार की दृष्टि का उत्पाद करती है तथा चक्षुरादि अन्य विज्ञानों को बाह्यार्थभास भी प्रदान करती है 'ग्राहकवासना' कहलाती हैं।

तात्पर्य यह है कि जब पृथग्जन रूप आदि का दर्शन करते हैं, तब उन्हें ऐसा आभास होता है कि ये रूप आदि विज्ञान से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इस प्रकार का आभास 'बाह्य-ग्राह्याभास' कहलाता है। इसके साथ ही उन्हें यह भी निश्चय होता है कि हमारा ज्ञान (बुद्धि) उस प्रकार के रूप आदि का ग्रहण कर रहा है। इस प्रकार का निश्चयज्ञान हो 'ग्राहकदृष्टि' कहलाता है। पूर्वोक्त बाह्य ग्राह्य एवं उस बाह्य का ग्रहण करनेवाला ग्राहक इन दोनों में द्वैत दृष्टि ही 'ग्राह्यग्राहक-दृष्टि' कहलाती है। इस ग्राह्यग्राहकदृष्टि द्वारा भी आलयविज्ञान में एक प्रकार की शक्ति स्थापित की जाती है, जो भविष्य में उसी प्रकार को ग्राह्यग्राहकदृष्टि का उत्पाद करती है, इसे ही 'ग्राहद्वयवासना' कहते हैं।

१४९. उपर्युक्त कर्मवासनाओं के साथ ग्राद्वयवासना का यहाँ सहकार दिखलाया जा रहा है—

---

१. तद्यथार्वादयोऽङ्कुर०—अ०।

२. ग्राहद्वयवासनानुगृहीता—अ०।

३. गतियाँ पाँच होती हैं, यथा—देव, मनुष्य, तिर्यक् प्रेत और नारक। द्र०—

नरकप्रेततिर्यञ्चो मनुष्याः षड् दिवौकसः।

—अभि० को० ३। १ पृ० १११।

१५०. क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्विपाकं जनयन्ति तदिति—पूर्वजन्मोपचितेन कर्मणा य इह विपाकोऽभिनिर्वृत्तस्तस्मिन् क्षीणे इति। आक्षेपकाले पर्यन्तावस्थिते यथाबलं कर्मवासना ग्राहद्वयवासनासहिता उपभुक्ताद् विपाकाद् अन्यद् विपाकं

'पूर्व विपाक के क्षीण होने पर (कर्मवासनायें) अन्य विपाक अर्थात् उस आलयविज्ञान को उत्पन्न करती हैं' इसका तात्पर्य है—पूर्व जन्म में संचित कर्म के द्वारा जो इस जन्म में विपाक उत्पन्न किया गया है, उसके क्षीण होने पर। आक्षेपकाल के पर्यन्त-अवस्थित होने पर (अर्थात् समाप्त होने पर) कर्मवासनायें ग्राहद्वयवासना के सहयोग से अपनी शक्ति के अनुरूप उपभुक्त विपाक से अन्य विपाक का अर्थात् उस आलयविज्ञान का ही उत्पाद

पुण्य, अपुण्य आदि कर्मों की वासनायें मनुष्य आदि गतियों का उत्पाद करती हैं। उनमें से पुण्य कर्म और उनकी वासनाओं के बल से सुगति भूमियों[1] में उत्पाद होता है तथा अपुण्य कर्म और उनकी वासनाओं के द्वारा नरक आदि दुर्गति भूमियों[2] में उत्पाद होता है। जिस प्रकार शालिबीज से शाल्यंकुर का एवं यवबीज से यवांकुर का उत्पाद होता है, उसी प्रकार कर्मवासनाओं के भेद से जन्मभेद होता है। इस तरह सुगति और दुर्गति आदि भूमियों में जन्म का आक्षेप करने में कर्मवासनायें प्रधान हेतु होती हैं। जिस प्रकार शालिबीज और यवबीज आदि के द्वारा शाल्यंकुर और यवांकुर आदि के उत्पाद में जल, मिट्टी आदि सहकारी प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार कर्मवासनाओं के द्वारा जन्म का आक्षेप करने में ग्राहद्वयवासनायें सहकारी प्रत्यय होती हैं।

निष्कर्ष—

एवं न केवला: कर्मवासना ग्राहद्वय०—जिस प्रकार केवल शालिबीज, यवबीज, आदि शाल्यंकुर, यवांकुर आदि का उत्पाद करने में सर्वथा असमर्थ हैं, जल, मिट्टी आदि के सहकारित्व से ही वे अङ्कुरोत्पादन कार्य में समर्थ हो पाते हैं. उसी तरह ग्राहद्वयवासना के सहकार से ही कर्मवासनायें अनागत जन्म का उत्पाद करने में समर्थ हो पाती हैं। इस तरह जन्मोत्पाद में कर्मवासनायें प्रधान हेतु हैं एवं ग्राहद्वयवासनायें सहकारी प्रत्यय हैं।

१५०. ऊपर कहा गया है कि कर्मवासनायें ही विपाक फल प्रदान करती हैं। अर्थात् पूर्व संचित कर्म या उनकी वासनायें अगला जन्म प्रदान करती हैं। आलयविज्ञान

---

१. तद्यथावादयोऽङ्कुर०—अ०।

१. देव, असुर, मनुष्य ये तीन सुगतिभूमियाँ हैं। कभी कभी असुर की गिनती अलग से नहीं की जाती।

२. तिर्यक, प्रेत, नरक ये दुर्गतियाँ हैं।

तादेवालयविज्ञानं जनयन्ति; आलयविज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्य विपाकस्याभावात्। क्षीणे पूर्वविपाक इत्यनेन शाश्वतान्तं परिहरति, अन्यद् विपाकं जनयन्तीत्युच्छेदान्तम्।

करती हैं; क्योंकि आलयविज्ञान से अतिरिक्त अन्य विपाक का अभाव है। 'पूर्वविपाक के क्षीण होने पर' इस कथन द्वारा (आचार्य) शाश्वत अन्त का परिहार करते हैं तथा कर्मवासनायें 'अन्य विपाक का उत्पाद करती हैं' इस वचन द्वारा उच्छेद अन्त का परिहार करते हैं।

ही जन्म ग्रहण करता है। अर्थात् प्रतिसन्धिविज्ञान के रूप में प्रवृत्त होता है और वही धारावाहिकरूप से निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। जिस प्रकार एक बलवान् पुरुष अपने धनुष से बाण का प्रक्षेप करता है, तो उसके शरीर की एक बार की क्रिया से ही वह बाण उस पुरुष के बल के अनुसार लगातार आगे बढ़ता रहता है; ठीक उसी प्रकार कर्मवासनाओं द्वारा प्रक्षिप्त विपाक विज्ञान उन वासनाओं की शक्ति के अनुरूप निरन्तर धारावाहिकरूप से प्रवृत्त होता रहता है।

किसी कर्मविशेष के द्वारा प्रक्षिप्त आलयविज्ञान की गतिशक्ति जब क्षीण होने लगती हैं, तब अन्य कर्मों की वासनायें, जो दूसरे विज्ञानों द्वारा परिपुष्ट कर दी गयी हैं, अगले विपाकविज्ञान का उत्पाद करने में संलग्न हो जाती हैं। फलतः वर्तमान जीवन के समाप्त होते ही उन वासनाओं द्वारा अगले जन्म के आलयविज्ञान का प्रतिसन्धान कर दिया जाता है। इस प्रकार आलयविज्ञान की धारा यावत्संसार निरन्तर (बीच में विना त्रुटित हुए) प्रवृत्त होती रहती है। आलयविज्ञान से अतिरिक्त अन्य विज्ञान इस प्रकार के नहीं है। वे कभी कभी उत्पन्न होते हैं, कभी उत्पन्न नहीं होते, अतः उनकी धारा बीच-बीच में टूट जाती है। इसलिये आलयविज्ञान ही एकमात्र विपाक है, अन्य विज्ञान विपाक नहीं हो सकते। वैभाषिक आदि अन्य मतों में शरीर, चक्षु आदि इन्द्रियाँ ये सब विपाक हैं, किन्तु आगमानुयायी विज्ञानवाद में केवल आलयविज्ञान ही एकमात्र विपाक है।

[आलयविज्ञान में स्थित वासनायें, उन वासनाओं का विभाजन, आलयविज्ञान और वासनाओं का परस्पर सम्बन्ध—इत्यादि बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं; किन्तु इन सब बातों का स्पष्ट प्रतिपादन थोड़े शब्दों में नहीं किया जा सकता। अत एव इस ग्रन्थ के अन्त में हम 'आलयविज्ञान प्रकरण' नामक एक परिशिष्ट का संयोजन कर रहे हैं, जिसमें उपर्युक्त विषयों पर अधिक प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।]

१५१. चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तम् आलयविज्ञानमस्ति, तदेव च सर्वबीजकम्, न चक्षुरादिविज्ञानमिति कुत एतत्? आगमाद् युक्तितश्च। उक्तं हि भगवताऽभिधर्मसूत्रे—

अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा॥

चक्षुरादि विज्ञानों से भिन्न आलयविज्ञान है और वही सर्वबीजक है, चक्षुरादि विज्ञान सर्वबीजक नहीं है, यह कैसे (आप जानते हैं)?

आगम और युक्ति से। भगवान् बुद्ध ने अभिधर्म सूत्र में कहा भी है—

सभी धर्मों का आश्रय (एक) अनादिकालिक धातु है। उसके होने पर ही समस्त गतियाँ होती हैं और निर्वाण का अधिगम भी होता है।

उपसंहार—

क्षीणे पूर्वविपाके इत्यनेन शाश्वता०—आलयविज्ञान नित्य नहीं है। पूर्व कर्मों से आक्षिप्त होने के कारण वह क्षीण हो जाया करता है। फलतः आलयविज्ञान आत्मवादियों की आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अत एव कारिकागत '**क्षीणे पूर्वविपाके**' इस अंश द्वारा शाश्वत-अन्त का परिहार किया गया है।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि जब पूर्व कर्मों द्वारा आक्षिप्त आलयविज्ञान समाप्त हो जाता है, तो फिर अनागत जन्म कैसे होता है?

इस सन्देह का निराकरण आचार्य ने '**अन्यद् विपाकं जनयन्ति**' इस कारिकांश द्वारा किया है। अर्थात् यद्यपि पूर्व कर्मों द्वारा आक्षिप्त आलयविज्ञान विनष्ट हो जाता है, तथापि दूसरे कर्मों द्वारा तत्काल अन्य आलयविज्ञान का आक्षेप कर दिया जाता है। फलतः सन्तति का उच्छेद नहीं हो पाता। इसलिये सन्तति के उच्छेद का भय नहीं है। इस तरह '**अन्यद् विपाकं जनयन्ति**' इसके द्वारा उच्छेद-अन्त का परिहार किया गया है।

१५१. ऊपर आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान के स्वरूप एवं उनकी प्रक्रिया का स्थूल रूप से प्रतिपादन किया गया है। अब यहाँ आगम प्रमाण एवं युक्ति द्वारा आलयविज्ञान की सिद्धि का उपक्रम किया जा रहा है—

पूर्वपक्ष—

चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तम्०—चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों से भिन्न आलयविज्ञान नामक कोई विज्ञान है और वह सर्वबीजक है, इसमें प्रमाण क्या है?

१५२. न चालयविज्ञानमन्तरेण संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा युज्यते। तत्र संसारप्रवृत्तिर्निकायसभागान्तरेषु प्रतिसन्धिबन्धः। निवृत्तिः सोपधिशेषो निरुपधिशेषश्च निर्वाणधातुः।

आलयविज्ञान के विना संसार की प्रवृत्ति एवं संसार से निवृत्ति (दोनों) युक्त नहीं है। संसारप्रवृत्ति का तात्पर्य दूसरे दूसरे निकायसभागों में प्रतिसन्धि होने से है। निवृत्ति का तात्पर्य सोपधिशेष निर्वाणधातु और निरुपधिशेष निर्वाणधातु से है।

सिद्धान्तपक्ष—

आगमाद् युक्तितश्च—आलयविज्ञान को सिद्ध करने के लिये पुष्कल आगमप्रमाण एवं युक्तियाँ हैं।

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक आदि स्वयूथ्य बौद्ध मतावलम्बियों के लिये आगम एवं युक्ति दोनों का प्रयोग किया जाता है तथा अन्य अबौद्ध तैर्थिकों को आलयविज्ञान की स्थिति का बोध कराने के लिये केवल युक्तियाँ प्रदर्शित की जाती हैं।

आगमप्रमाण—योगाचारभूमि की पूर्वटीका में १७ आगमों को उद्धृत करके आलयविज्ञान की सिद्धि की गयी है[1], किन्तु उनमें से यहाँ आचार्य ने केवल अभिधर्मसूत्र का ही उद्धरण किया है। यह केवल उपलक्षणमात्र है, वैसे आलयविज्ञान को सिद्ध करनेवाले अनेक आगम उपलब्ध होते हैं।

अनादिकालिको धातुः सर्वधर्म०—अभिधर्म सूत्र में कहा गया है कि जो धातु अनादि काल से प्रवृत्त है और जो समस्त सांक्लेशिक और वैयवदानिक धर्मों का आश्रय है, वही संसार और निर्वाण दोनों का साधक हेतु है। उसके होने पर ही समस्त जीवों की उत्पत्ति, मृत्यु आदि अवस्थायें उपपन्न हो सकती हैं तथा मार्गाभ्यास करने पर निर्वाण तक प्राप्त किया जा सकता है। यदि इस प्रकार की किसी धातु का अस्तित्व न होगा तो जीवों के समस्त कर्म व्यर्थ (निष्फल) होने लगेंगे, फलतः संसार और निर्वाण कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा। उस प्रकार की धातु केवल आलयविज्ञान ही हो सकता है। अन्य कोई विज्ञान उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता। इससे ज्ञात होता है कि आलयविज्ञान अवश्य होता है और वह सर्वबीजक भी होता है।

१५२. **युक्तिप्रमाण**—योगाचारशास्त्रों में आलयविज्ञान सिद्ध करने के लिये इतनी अधिक युक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं कि उन सबका पूरा पूरा साङ्गोपाङ्ग उल्लेख करना यहाँ

---

1. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० १११ (जापानी संस्करण)।

असम्भव है। फिर भी मोटे-तौर पर इतना निर्देश किया जा सकता है कि महायानसंग्रह[1] में मुख्य पाँच युक्तियाँ, पञ्चस्कन्धप्रकरण[2] में चार युक्तियाँ, योगाचारभूमि की पूर्व टीका[3] में अनेक युक्तियाँ, प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रवृत्ति[4] में अनेक युक्तियाँ तथा विवरणसंग्रह[5] में आठ युक्तियाँ उपलब्ध हैं।

भोटदेशीय विद्वन्मूर्धन्य आचार्य चोंख पा सुमतिकीर्ति ने इन उपर्युक्त समस्त युक्तियों को एकत्रित कर उनका आठ युक्तियों में विभाजन कर दिया है और उनका अपने 'आलयविज्ञान' नामक ग्रन्थ एवं उसके 'स्वभाष्य' में स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। उन आठों युक्तियों का हम इस ग्रन्थ के अन्त में उपनिबद्ध 'आलयविज्ञान' नामक परिशिष्ट में निरूपण करेंगे।

यहाँ केवल उन्हीं दो मुख्य युक्तियों का प्रदर्शन किया जा रहा है, जिनका महायानसंग्रह में भी प्रमुखरूप से उल्लेख किया गया है, यथा—आलयविज्ञान न मानने पर—

१. संसारप्रवृत्ति की अयुक्तता तथा

२. संसारनिवृत्ति की अयुक्तता

इन्हीं दो युक्तियों का टीकाकार आचार्य स्थिरमति भी निम्न पंक्तियों द्वारा प्रतिपादन कर रहे हैं—

न चालयविज्ञानमन्तरेण०—अविद्या की वजह से कर्म निष्पन्न होते हैं और उन कर्मों के फलस्वरूप पुनः प्रतिसन्धि अर्थात् जन्म होता है, जो जन्म उन्हीं कर्मों के अनुरूप होता है, इसे ही 'संसारप्रवृत्ति' कहते हैं।

नैरात्म्यदर्शन से अविद्या का प्रहाण हो जाता है। अविद्या का नाश हो जाने पर उससे उत्पन्न होनेवाले समस्त सास्रव कर्म निर्मूल हो जाते हैं। फलतः उन कर्मों की वजह से होनेवाले पुनर्जन्म निरुद्ध हो जाते हैं, यही 'संसारनिवृत्ति' कहलाती है।

इस संसारनिवृत्ति की स्थूलरूपेण दो अवस्थायें होती हैं, यथा—सोपधिशेष अवस्था एवं निरुपधिशेष अवस्था।

सोपधिशेष अवस्था में यद्यपि समस्त क्लेश विनष्ट हो जाते हैं; फिर भी पूर्व कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त उपादान स्कन्ध अवशिष्ट रहते हैं। निरुपधिशेष अवस्था में क्लेश एवं सास्रव

---

१. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० ११२ (जापानी संस्करण)।
२. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० ११३ (जापानी संस्करण)।
३. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० १११ (जापानी संस्करण)।
४. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० १०४ (जापानी संस्करण)।
५. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० १११ (जापानी संस्करण)।

१५३. तत्रालयविज्ञानाद् अन्यत् संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं न युज्यते। संस्कारप्रत्ययविज्ञानाभावे प्रवृत्तेरप्यभावः संसारस्य। आलयविज्ञानानभ्युपगमे प्रतिसन्धिविज्ञानं वा संस्कारप्रत्ययं परिकल्प्येत, संस्कारभाविता[1] वा षड विज्ञानकायाः।

आलयविज्ञान से अन्य संस्कारप्रत्यय (संस्कार से उत्पन्न होनेवाला) विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कारप्रत्यय विज्ञान का अभाव होने पर संसार की प्रवृत्ति का भी अभाव होगा। आलयविज्ञान न मानने पर या तो प्रतिसन्धिविज्ञान संस्कारप्रत्यय कल्पित होगा अथवा संस्कारभावित छह विज्ञानकाय (संस्कारप्रत्यय कल्पित होंगे)।

उपादानस्कन्ध सभी पूर्णतया विनष्ट हो जाते हैं। बुद्धावस्था भी एक प्रकार की निरुपधिशेष अवस्था ही है। इस अवस्था में भी समस्त आवरण एवं सास्रव उपादानस्कन्ध यद्यपि समूल क्षीण हो जाते हैं; तथापि हैनयानिक निरुपधिशेष अवस्था की अपेक्षा इस निरुपधिशेष अवस्था में कुछ वैशिष्ट्य होता है, यथा—

हैनयानिक निरुपधिशेष अवस्था में कुछ भी संस्कृत धर्म अवशिष्ट नहीं रहते। अर्थात् न चित्तसन्तति अवशिष्ट रहती है और न रूपसन्तति अवशिष्ट रहती है। पुद्गलसन्तति का सर्वथा अवरोध हो जाता है। फलतः उन (परिनिर्वृत्त पुद्गलों) के द्वारा जगत् का किसी भी प्रकार का कल्याण सम्भव नहीं है। जबकि बुद्धावस्था में तीन काय[2] विद्यमान होते हैं, सर्वज्ञ ज्ञान विद्यमान होता है, जिनकी वजह से बुद्ध समस्त जगत् का उद्धार किया करते हैं। इन बातों का आगे सविस्तर प्रतिपादन किया जायगा[3]।

निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त संसारप्रवृत्ति एवं संसारनिवृत्ति तभी उपपन्न हो सकती हैं, जब कि आलयविज्ञान स्वीकार किया जाय।

१५३. ऊपर आलयविज्ञान न मानने पर संसारप्रवृत्ति की अयुक्तता एवं संसारनिवृत्ति की अयुक्तता इन दो युक्तियों की चर्चा की गई है। अब यहाँ उनमें से प्रत्येक युक्ति का पृथक् पृथक् विस्तरशः प्रतिपादन किया जा रहा है—

१. संसार प्रवृत्ति की अयुक्तता—

तत्रालयविज्ञानाद् अन्यत् संस्कार०—समस्त बौद्धों के मत में यह संसारचक्र द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में ही प्रवृत्त होता है। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप,

---

१. ०परिभाविता—ब०।
१. निर्माण काय, सम्भोगकाय एवं धर्मकाय।
३. द्र०—त्रिं० का० २९-३० की व्याख्या।

षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति एवं जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास आदि प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग हैं। इनमें से पूर्व पूर्व अङ्ग कारण हैं तथा उत्तर अङ्ग कार्य हैं, यथा—अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति तथा जाति से जरा-मरण आदि उत्पन्न होते हैं।

यदि ये बारह अंग अतिशीघ्र घटित होंगे, तो भी कम से कम दो जन्मों में परिपूर्ण होते हैं। यदि विलम्ब से घटित होंगे, तो तीन या तीन से अधिक जन्मों में भी घटित हो सकते हैं। दो, तीन या तीन से अधिक जन्मों में इन अंगों का घटित होना, जन्माक्षेपक कर्मों के ऊपर निर्भर करता है। फल देने की दृष्टि से नियत कर्म तीन प्रकार के होते है, यथा—दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय एवं अपरपर्यायवेदनीय। इनमें से उपपद्यवेदनीय और अपर-पर्यायवेदनीय कर्म ही पुनर्जन्माक्षेपक होते हैं, क्योंकि दृष्टधर्मवेदनीय कर्मों का फल इसी (वर्तमान) जन्म में घटित हो जाता है। उपपद्यवेदनीय कर्म का फल अव्यवहित द्वितीय भव (जन्म) में होता है तथा अपरपर्यायवेदनीय कर्म तीसरे या तीन से अधिक जन्मों में भी फल प्रदान कर सकता है। इस तरह कर्मों के अनुसार ही दो, तीन या तीन से अधिक जन्मों में प्रतीत्यसमुत्पाद के बारहों अङ्ग परिपूर्ण होते हैं, यथा—

जब मनुष्य जन्म का आक्षेपक अपरपर्यायवेदनीय कर्म किया जाता है तो उस समय अविद्या तो उस कर्म के कारण के रूप में विद्यमान रहती ही है। कर्म के समाप्त हो जाने पर वह कर्म संस्कार के रूप में विज्ञान में स्थित रहता है। संस्कार का आधायक (आधार) वह विज्ञान 'हेतुकालिक विज्ञान' नामक प्रतीत्यसमुत्पादाङ्ग है। इस तरह अविद्या, संस्कार एवं विज्ञान (का एकदेश)—ये तीन अङ्ग वर्तमान जन्म में ही निष्पन्न हो जाते हैं। जो कर्म किया गया है, वह क्योंकि अपरर्यायवेदनीय है, इसलिये तृष्णा, उपादान एवं भव द्वारा उसकी उसी (वर्तमान) जन्म में परिपुष्टि नहीं हो सकती। बीच में अन्य अनेक कर्म होते रहेंगे। इसके बाद किसी अन्य जन्म में उस पूर्वकृत कर्म की, जो संस्कार के रूप में विज्ञान में स्थित है, (उसकी) तृष्णा, उपादान एवं भव द्वारा परिपुष्टि होगी, जिससे वह संस्कार अत्यन्त शक्तिशाली एवं फलोन्मुख हो जायगा, फलतः तदनन्तरवर्ती भव में ही वह मनुष्य जन्म का आक्षेप करेगा। अर्थात् प्रतिसन्धि फल प्रदान करेगा। मनुष्य-प्रतिसन्धि से पूर्व तथा पूर्ववर्ती जन्म की च्युति के पश्चात् बीच में अन्तराभव की अवस्था होती है। इस अवस्था से लेकर मनुष्य जन्म के प्रथम क्षण तक 'फलकालिक विज्ञान' की अवस्था होती है। तदनन्तर जब तक वह मरेगा नहीं, इस बीच क्रमशः जाति, नामरूप, षडाय,तन

स्पर्श, वेदना एवं जरामरण—ये छह अङ्ग परिपूर्ण होंगे। यह तीन जन्मों में द्वादश अङ्ग परिपूर्ण होने का स्वरूप है।

जब वर्तमान जन्म में मनुष्यजन्म के आक्षेपक किसी ऐसे कुशल कर्म का सम्पादन किया जाता है; जो उपपद्यवेदनीय कर्म होता है तो उसी समय अविद्या, संस्कार एवं विज्ञान—ये तीन तो परिपूर्ण हो ही जाते हैं। साथ ही उसी जन्म में च्युति के आसन्न काल में उक्त संस्कार की तृष्णा, उपादान एवं भव द्वारा परिपुष्टि कर दी जाती है। इसके बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह वर्तमान जन्म में ही उसके छह अङ्ग परिपूर्ण हो जाते हैं। संस्कार के परिपक्व हो जाने से च्युति के अनन्तर ही वह मनुष्य के रूप में जन्म ग्रहण करेगा। उस दूसरे जन्म में उसके पूर्वोक्त प्रकार से अवशिष्ट छह अङ्ग परिपूर्ण होंगे। यह दो जन्मों में प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अङ्गों के परिपूर्ण होने की प्रक्रिया है।

ऊपर हमने प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के द्वादश अङ्गों के तीन जन्मों में परिपूर्ण होने की जो चर्चा की है, उसका तात्पर्य उस कर्म से सम्बद्ध जन्मों से है। यों बीच में अन्य कर्मों से सम्बद्ध अन्य अनेकों जन्म हो सकते हैं। जैसे—किसी व्यक्तिविशेष ने वर्तमान जन्म में कोई मनुष्य-जन्माक्षेपक कर्म किया, उस कर्म का इसी जन्म में तृष्णा आदि द्वारा परिपोष हुए विना वह (व्यक्ति) मर गया। इसके अनन्तर उसका अनेकों बार तिर्यक् योनि में अनेकों बार प्रेत योनि में, अनेकों बार देवयोनियों में जन्म हो सकता है। उन जन्मों में भी तृष्णा आदि तो होते ही हैं; जाति जरा-मरण आदि भी होते हैं; किन्तु उन तृष्णा, जाति, जरा-मरण आदि का उस कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः उनका उस कर्म से सम्बद्ध द्वादश अङ्गों में ग्रहण नहीं होगा। अपितु जिस जन्म में उस संस्कार की तृष्णा आदि द्वारा परिपुष्टि होती है, उसके अव्यवहितोत्तर जन्म में ही उस कर्म से सम्बद्ध द्वादश अङ्गों में से अवशिष्ट जाति आदि छह अङ्ग परिपूर्ण होते हैं। तृष्णा आदि द्वारा परिपोष (परिपक्वता) के बाद अवश्य अनन्तर जन्म में उस कर्म से सम्बद्ध अवशिष्ट अङ्ग सम्पन्न होंगे। इस (परिपोष और अपर जन्म के) बीच अन्य कर्मों से सम्बद्ध द्वादश अङ्गों से सम्बन्ध रखनेवाला कोई जन्म न होगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद के विषय में अत्यधिक सूक्ष्मता से विचार करना अपेक्षित है। इस विषय में बौद्ध सिद्धान्तवादियों में परस्पर सूक्ष्म मतभेद उपलब्ध होते हैं, उनका परिज्ञान आवश्यक है। शास्त्रों में कभी एक कर्म से सम्बद्ध द्वादश अङ्गों का वर्णन उपलब्ध होता है, तो कहीं सामान्यरूप से द्वादश अङ्गों का उल्लेख किया हुआ मिलता है। अतः एतद्-विषयक अभ्रान्त ज्ञान परमावश्यक है; क्योंकि समस्त बौद्ध सिद्धान्तों का मर्म इसी में निहित है।

१५४. तत्र[1] ये[1] संस्काराः प्रातिसन्धिकविज्ञानप्रत्ययत्वेनेष्यन्ते[2], तेषां चिरनिरुद्धत्वात्, निरुद्धस्य चासत्त्वाद्, असतश्च प्रत्ययत्वाभावात्; न संस्कारप्रत्ययं प्रतिसन्धिविज्ञानं युज्यते। प्रतिसन्धौ च नामरूपमप्यस्ति, न केवलं विज्ञानम्।

वहाँ (वैभाषिक मत में) जो संस्कार प्रतिसन्धिविज्ञान के कारण माने जाते हैं, उनके चिरनिरुद्ध होने से, निरुद्ध की सत्ता (अस्तित्व) न होने से तथा असत् के प्रत्ययत्व का अभाव होने से प्रतिसन्धिविज्ञान का संस्कार से उत्पन्न होना युक्त नहीं है। (अपि च) प्रतिसन्धिकाल में नाम और रूप दोनों होते हैं, केवल विज्ञान ही नहीं

हमने संक्षेप में यहाँ इस विषय का परिचय दिया है। विस्तार से जानने के लिये आचार्य वसुबन्धुकृत प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रवृत्ति, अभिधर्मकोश और उसकी व्याख्यायें तथा तिब्बती विद्वानों द्वारा रचित अभिसमयालङ्कार की विभिन्न टीकाओं का अवलोकन करना चाहिये।

आलयविज्ञान के मानने पर संस्कार की वजह से उत्पन्न होनेवाला विज्ञान अर्थात् 'संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्' यह नहीं बन सकेगा। क्योंकि संस्कार से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, उसका आलयविज्ञान होना ही युक्तियुक्त है। उसका अन्य विज्ञान होना कथमपि सम्भव नहीं है। जो सिद्धान्तवादी आलयविज्ञान स्वीकार नहीं करते, उनके मत में षड् विज्ञान (चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान पर्यन्त) ही संस्कार से उत्पन्न विज्ञान माने जाते हैं। उनके इस मत की यहाँ दो दृष्टियों से समीक्षा की जाती है, यथा—

१. वैभाषिक मत समीक्षा—वैभाषिक लोग प्रतिसन्धिविज्ञान को ही द्वादश अङ्गों के अन्तर्गत विज्ञानाङ्ग मानते हैं और यह भी मानते हैं कि वह संस्कार से उत्पन्न होता है, जैसा कि अभिधर्मकोश में कहा गया है—

सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानम्[3]

इत्यादि। वे (वैभाषिक) ऐसा नहीं मानते कि पहले जिस समय कर्म किया गया है, उस समय उस कर्म की वासना को धारण करनेवाला जो विज्ञान है, वही 'विज्ञान' नामक प्रतीत्यसमुत्पादाङ्ग है। उनके इस मत की आचार्य निम्न पंक्तियों द्वारा समीक्षा करते हैं।

१५४. तत्र ये संस्काराः प्रातिसन्धिकविज्ञान०— वैभाषिकों के मत में वासना तो होती नहीं। वे कर्म को ही संस्कार मानते हैं और कर्म को चेतना एवं चेतयित्वा—इस तरह दो प्रकार का मानते हैं।[4] ये पूर्वकृत कर्म अपने उत्पाद के द्वितीय क्षण में ही विनिष्ट हो जाते है। ऐसी स्थिति में वे (कर्म) कैसे प्रतिसन्धिविज्ञान के कारण हो सकते हैं। अर्थात् कथमपि कारण नहीं हो सकते। क्योंकि वे बहुत पूर्व ही निरुद्ध हो चुके हैं। इस

१-१.—तत्रेमे—ब०।

२. ० प्रत्ययत्वे नेष्यन्ते—ब०।

३. द्र०—अभि० को० ३ : २१ पृ० १३१।

४. द्र०—अभि० को० ४ : १ पृ० १९२।

तत्र विज्ञानमेव संस्कारप्रत्ययम्, न नामरूपमिति का तत्र युक्तिः? तस्मात् संस्कारप्रत्ययं नामरूपमिति वक्तव्यम्, न तु विज्ञानमिति। कतमदन्यद्[1] विज्ञानप्रत्ययं[1] नामरूपम्? यदुत्तरकालमिति चेत्! तस्य प्रातिसन्धिकनामरूपात् क आत्मातिशयः, यतस्तदेव विज्ञानप्रत्ययं न पूर्वम्; पूर्वं च संस्कारप्रत्ययं नोत्तरमिति। अतश्च संस्कारप्रत्ययं नामरूपमेवास्तु किं प्रतिसन्धिविज्ञानेनाङ्गान्तरेण परिकल्पितेन। तस्मान्न प्रतिसन्धिविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं युज्यते।

होता। ऐसी स्थिति में विज्ञान ही संस्कार से उत्पन्न होता है, नाम और रूप दोनों (संस्कार से) उत्पन्न नहीं होते, इसमें क्या युक्ति है? इसलिये (आपको) संस्कार से नाम और रूप (दोनों उत्पन्न) होते हैं—ऐसा कहना चाहिए, न कि केवल विज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा कहना चाहिये। कौन विज्ञान से उत्पन्न होनेवाले नाम-रूप अन्य हैं? (यदि पूर्वपक्षी कहे कि) जो उत्तरकालवर्ती नाम-रूप हैं, वे विज्ञान से उत्पन्न हैं, तो (उत्तरपक्ष—) उत्तरकालवर्ती उन नाम-रूपों का प्रतिसन्धिकाल के नाम-रूपों से क्या स्वभाववैशिष्ट्य है, जिससे वे (उत्तरकालवर्ती) ही विज्ञान से उत्पन्न होते हैं, पूर्ववर्ती (प्रतिसन्धिकाल के) नाम-रूप नहीं और पूर्ववर्ती नाम-रूप संस्कार से उत्पन्न होते हैं, उत्तरकालवर्ती नहीं? इसलिये नाम-रूप ही संस्कार से उत्पन्न होनेवाले हों, एक प्रतिसन्धिविज्ञान नामक अन्य अङ्ग की कल्पना करने से क्या लाभ? इसलिये प्रतिसन्धिविज्ञान का संस्कार से उत्पन्न होना युक्त नहीं है।

समय उनकी किसी भी प्रकार सत्ता नहीं है। अतः वे अब किसी भी फल का उसी प्रकार उत्पाद नहीं कर सकते, जैसे—बहुत वर्षों पूर्व मृत कोई पक्षी आज अण्डा नहीं दे सकता। फलतः उस संस्कार से कथमपि प्रतिसन्धिविज्ञान का उत्पाद सम्भव नहीं है। इसलिये वैभाषिक मत में 'संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्' यह व्यवस्था नहीं हो सकती।

अपि च—

प्रतिसन्धौ च नामरूपमप्यस्ति०—जिस समय प्रतिसन्धि होती है, उस समय केवल विज्ञान ही विज्ञान तो विद्यमान नहीं रहता, अपितु उस समय नाम-रूप भी रहते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसा क्यों कहा गया कि "संस्कार विज्ञान का ही कारण है"। अर्थात् इसमें क्या युक्ति है कि वह (संस्कार) नाम और रूप दोनों का कारण नहीं है और केवल विज्ञान का ही कारण है? अर्थात् कोई युक्ति नहीं है। फलतः आपको "संस्कारप्रत्ययं नामरूपम्"—ऐसा कहना चाहिए। याने संस्कार से नाम और रूप दोनों उत्पन्न होते हैं।

१-१. ०दन्यविज्ञान०—अ०, ब०।

१५५. संस्कारपरिभाविता वा षड्विज्ञानकाया अपि न संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं युज्यते। कि कारणम्? न हि विज्ञानं विपाकवासनां निष्यन्दवासनां

अथवा संस्कार से परिभावित छह विज्ञानकायों का भी संस्कारप्रत्यय (संस्कार से उत्पन्न होनेवाला) विज्ञान होना युक्त नहीं है। क्या कारण है? विज्ञान स्वयं अपने पर विपाकवासना या निष्यन्दवासना आहित करने में समर्थ नहीं है; क्योंकि अपने पर अपनी

यदि वैभाषिक ऐसा कहें कि 'प्रतिसन्धि की अवस्था में जो नाम-रूप होते हैं, उनका कारण विज्ञान नहीं है; अपितु प्रतिसन्धि के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले नाम-रूपों का कारण विज्ञान है' तो उनका ऐसा कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रतिसन्धि की अवस्था के नाम-रूप और प्रतिसन्धि के बाद के नाम-रूपों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे यह कहा जा सके कि पूर्ववर्ती (प्रतिसन्धि काल के) नाम-रूप तो विज्ञान के फल नहीं हो सकते और परवर्ती विज्ञान के फल हो सकते हैं। फलतः 'संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्' यह व्यवस्था न हो सकेगी।

उपसंहार—

अतश्च संस्कारप्रत्ययं नामरूपमेवास्तु०—इसलिये आपको 'अविद्याप्रत्ययः संस्कारः, संस्कारप्रत्ययं नामरूपम्'—ऐसा ही कहना चाहिये था। बीच में 'विज्ञानम्' यह कहने की क्या आवश्यकता थी। अर्थात् आपके मत में विज्ञान नामक अंग की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि नाम-रूप में जो 'नाम' शब्द है, उसके द्वारा विज्ञान कह ही दिया गया है, ऐसी हालत में उससे भिन्न विज्ञानाङ्ग की कल्पना करना व्यर्थ होगा।

तात्पर्य यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग की अपनी पृथक् क्रिया होती है और उसका अपना पृथक् महत्त्व होता है। जब प्रतिसन्धिविज्ञान को ही द्वादश अङ्गों के अन्तर्गत 'विज्ञानाङ्ग' माना जाता है, तो उसकी क्रिया और महत्त्व नाम-रूप की क्रिया और महत्त्व से भिन्न नहीं हो पाते। जो कृत्य विज्ञान करता है, वही कृत्य नाम-रूप का भी है तथा जो महत्त्व उसका है, वही नाम-रूप का भी है। फलतः उसे पृथक् करके एक अङ्ग मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिये आपके (वैभाषिक के) यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्ग नहीं हो सकेंगे; अपितु 'संस्कारप्रत्ययं नामरूपम्' होकर एकादश अङ्ग ही हो पायँगे। इसीलिये वैभाषिक पक्ष के खण्डन का उपसंहार करते हुये टीकाकार कहते हैं—**'तस्मान्न प्रतिसन्धिविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं युज्यते'** अर्थात् प्रतिसन्धि-विज्ञान का संस्कार से उत्पन्न होना युक्त नहीं है।

२. सौत्रान्तिक मत समीक्षा—

१५५. संस्कारपरिभाविता वा०—सौत्रान्तिक प्रतिसन्धि की अवस्था के विज्ञान आदि स्कन्धों को ही केवल प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्गों में परिगणित 'विज्ञान' नामक

वा स्वात्मन्याधातुं[1] समर्थम्, स्वात्मनि कारित्रविरोधात्[2]। नाप्यनागते तस्य तदा अनुत्पन्नत्वाद्, अनुत्पन्नस्य चासत्त्वात्। नाप्युत्पन्नपूर्वेऽस्य[3] तदा निरुद्धत्वात्। अचित्तिकासु च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु पुनः संस्कारपरिभावितचित्तोत्पत्त्य-सम्भवाद् विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं न स्यात्, तदभावात्[4] षडायतनं न स्याद्; एवं यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणं न स्यात्। ततश्च संसारप्रवृत्तिरेव न स्यात्।

क्रिया का विरोध है। अनागत (विज्ञान) पर भी वासना स्थापित नहीं की जा सकती; क्योंकि उस समय वह (अनागत विज्ञान) अनुत्पन्न है तथा अनुत्पन्न की सत्ता नहीं होती। उत्पन्नपूर्व विज्ञान पर भी वासना स्थापित नहीं की जा सकती; क्योंकि उस समय यह निरुद्ध रहता है।

अपि च—निरोधसमापत्ति आदि अचित्तक अवस्थाओं में पुनः संस्कारपरिभावित चित्त की उत्पत्ति असम्भव होने से विज्ञानहेतुक नाम-रूप न हो सकेंगे। उन (नाम-रूपों) का अभाव होने से षडायतन न हो सकेंगे। इसी तरह जातिहेतुक जरा-मरण तक (आगे के सभी अङ्ग) न हो सकेंगे। फलतः संसारप्रवृत्ति ही न हो सकेगी।

अङ्ग नहीं मानते; अपितु जिस समय किसी व्यक्ति ने कोई पुनर्भवाक्षेपक कर्म किया, उस समय से लेकर प्रतिसन्धिपर्यन्त वे इस विज्ञान नामक अङ्ग की अवस्था मानते हैं। उनके मत में कर्म का संस्कार छह विज्ञानों पर स्थित होता है और उससे प्रतिसन्धि आदि होते हैं।

विज्ञानवादी की दृष्टि में यह पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि छह विज्ञानों द्वारा ही कर्म किये जाते हैं और संस्कार स्थापित किये जाते हैं। जबकि छह विज्ञान संस्कारों को स्थापित करनेवाले हैं, तो ऐसी स्थिति में सौत्रान्तिकों के लिये यह बतलाना अत्यधिक कठिन होगा कि वे विज्ञान किस पर संस्कार स्थापित करते हैं। अर्थात् सौत्रान्तिकों को ऐसा कोई आधार न मिल सकेगा, जिस पर वासना या संस्कार स्थापित किये जा सकें। विज्ञान अपने-आप पर वासना स्थापित नहीं कर सकते; क्योंकि अपने पर अपनी क्रिया नहीं हो सकती। जैसे कला में अत्यन्त निपुण भी कोई नट स्वयं अपने स्कन्धों पर आरूढ नहीं हो सकता, उसी प्रकार विज्ञान भी स्वयं अपने पर वासना स्थापित नहीं कर सकते।

पश्चात् (भविष्य में) उत्पन्न होनेवाले विज्ञानों पर भी वासना स्थापित नहीं की जा सकती; क्योंकि वे (भविष्य में उत्पन्न होनेवाले विज्ञान) उस समय अनुत्पन्न हैं। भविष्य में उत्पन्न होनेवाले विज्ञान जिस समय उत्पन्न हो जायँगे, उस समय भी उन पर

---

१. °न्याधत्तु—अ०, ब०।
२. कारित०—म०।
३. नाप्युत्पन्नपूर्वस्य—अ०; नाप्युत्पन्ने—स०।
४. अ० संस्करणे नास्ति।

वासना स्थापित नहीं की जा सकेगी; क्योंकि उस समय वासना को स्थापित करनेवाले (स्थापक) विज्ञान स्वयं ही निरुद्ध रहेंगे। छह विज्ञानों से अतिरिक्त कोई अन्य विज्ञान सौत्रान्तिकों के मत में स्वीकृत नहीं है, जिस पर संस्कार स्थापित किये जा सकें। चक्षुरादिविज्ञान श्रोत्रविज्ञान आदि पर भी संस्कार स्थापित नहीं कर सकते; क्योंकि वे श्रोत्रादिविज्ञान कादाचित्क हैं। अर्थात् कभी उत्पन्न होते हैं, कभी नहीं। ऐसे अस्थिर विज्ञानों पर यदि वासना स्थापित की जायगी, तो वासना का प्रवाह नहीं बन सकेगा; क्योंकि जिस समय वे स्वयं नहीं रहेंगे, उस समय उन पर वासना भी कैसे रह सकेगी। इस तरह वासना या संस्कारों की धारा ही टूट जायगी। फलतः सौत्रान्तिकों के मत में ऐसा कोई आधार उपलब्ध नहीं है, जो वासना या संस्कारों को धारण कर सके और उनका वाहक बन सके।

अपि च—

अचित्तिकासु च निरोधसमापत्त्याद्यवस्थासु०—आप (सौत्रान्तिकों) के मत में निरोधसमापत्ति एवं असंज्ञिसमापत्ति आदि अचित्तक अवस्थाओं में संस्कारपरिभावित चित्त रह नहीं सकता; क्योंकि आपके अनुसार उन अवस्थाओं में सभी प्रकार के स्थूल चित्त-चैतसिक निरुद्ध हो जाते हैं। यद्यपि आप उस समय एक अतिसूक्ष्म चित्त (मनोविज्ञान) की अवस्थिति मानते हैं, जो अपरिच्छिन्नालम्बन एवं अपरिच्छिन्नाकार होता है; तथापि वह इतना सूक्ष्म और दुर्बल होता है कि अन्य चित्त-चैतसिकों द्वारा उस पर किसी प्रकार की क्रिया नहीं की जा सकती तथा उसका कोई खास आलम्बन भी नहीं होता। अपिच—वह केवल उन निरोधसमापत्ति आदि अवस्थाओं में ही उत्पन्न होता है। न तो वह पहले से धारावाहिक-रूप से आया है और न आगे उसकी धार चलती रहेगी। फलतः इस प्रकार के चित्त पर कोई संस्कार स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में समस्त कुशल, अकुशल कर्मों की संस्कारधारा, जो पहले से चली आ रही है, इन अवस्थाओं में एकदम टूट जायगी। इन अवस्थाओं के हट जाने पर भी वह धारा पुनः जुड़ नहीं सकेगी; क्योंकि उस टूटी धारा को जोड़ने का कोई कारण उपलब्ध नहीं है। फलतः आगे के विज्ञान, नामरूप षडायतन आदि सभी अङ्ग नष्ट हो जायँगे। अतः इस (सौत्रान्तिक) पक्ष में भी 'संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्; विज्ञानप्रत्ययं नाम-रूपम्' इत्यादि की व्यवस्था नहीं बन सकेगी और प्रतीत्यसमुत्पादचक्र परिपूर्ण न हो सकेगा।

तात्पर्य यह है कि सौत्रान्तिक यद्यपि आलयविज्ञान नहीं मानते; फिर भी वे वासना की स्थापना किसी तरह कर देते हैं। इस पर विज्ञानवादी उनके ऊपर तरह-तरह के

१५६. तस्मादविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, तदधिवासि चालयविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्। तत्प्रत्ययं प्रतिसन्धौ नाम-रूपमित्येषैव नीतिरनवद्या।

१५७. संसारनिवृत्तिरपि आलयविज्ञाने असति न युज्यते। संसारस्य हि कर्मं क्लेशाश्च कारणम्, तयोश्च क्लेशाः प्रधानम्। तथा हि—क्लेशाधिपत्यात्[1]

फलतः अविद्या से 'संस्कार' होते हैं। उन संस्कारों का आश्रय आलयविज्ञान संस्कार से उत्पन्न होनेवाला 'विज्ञान' है। विज्ञान से प्रतिसन्धि की अवस्था में 'नाम-रूप' होते हैं—इत्यादि और यही नीति निर्दोष है।

आलयविज्ञान न होने पर संसार से निवृत्ति भी युक्त न हो सकेगी। कर्म और क्लेश संसार के कारण हैं, उनमें भी क्लेश प्रधान हैं। जैसे—क्लेशों के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव

आक्षेप देते हैं। क्योंकि विज्ञानवादियों के मत में आलयविज्ञान ही वासना का आधार बन सकता है। अन्य विज्ञान किसी भी तरह वासना के आधार नहीं बन सकते। जब वासना का आधार न बन सकेगा, तो समस्त कुशल, अकुशल कर्म व्यर्थ होने लगेंगे। इस कारण वे सौत्रान्तिक पक्ष के खण्डन में प्रवृत्त होते हैं।

उपसंहार—

१५६. उपर्युक्त वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों ही पक्षों में संसारप्रवृत्ति की अयुक्तता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। फिर भी अविद्या से संस्कार और संस्कार से से विज्ञान आदि तो होते ही हैं। इसलिये आलयविज्ञान सुतराम् सिद्ध होता है। विज्ञानवादी मानते हैं कि जब अविद्या के कारण कुशल या अकुशल कर्म किये जाते हैं, तो क्षणिक होने से वे कर्म तो द्वितीय क्षण में ही निरुद्ध हो जाते हैं, किन्तु संस्कार या वासना के रूप में वे कर्म आलयविज्ञान में स्थित रहते हैं। आलयविज्ञान उन संस्कारों को लेकर यावत् फलपर्यन्त प्रवर्तमान होता रहता है। इस प्रकार कर्म की अवस्था से लेकर प्रतिसन्धि की अवस्था तक का आलयविज्ञान ही द्वादश अङ्गों के अन्तर्गत परिगणित 'विज्ञान' नामक अङ्ग है। वह संस्कार से उत्पन्न है; क्योंकि जब संस्कार उस पर अवलिप्त होते हैं, तो उससे आलयविज्ञान उसी प्रकार परिपुष्ट होता है, जिस प्रकार दण्ड पर तैल का अवलेप करने से वह और पुष्ट होता है। उस आलयविज्ञान से ही अगले नाम-रूप आदि अङ्ग क्रमशः सम्पन्न होते हैं। इस पक्ष में कोई दोष दिखलाई नहीं पड़ता। फलतः आलयविज्ञान अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

२. संसारनिवृत्ति की अयुक्तता—

१५७. संसार के एकमात्र कारण कर्म और क्लेश हैं। उनमें भी क्लेश प्रधान हैं; क्योंकि क्लेशों के वश से ही कर्म पुनर्जन्म का आक्षेप करने में समर्थ हो पाते हैं। क्लेशों के

---

1. ० धिपत्यत्वात्—अ०, ब०।

कर्म पुनर्भवाक्षेपसमर्थं भवति, नान्यथा। तथा आक्षिप्तपुनर्भवमपि[1] कर्म[2] क्लेशाधिपत्यादेव[2] पुनर्भवो भवति, नान्यथा। एवं च क्लेशा एव संसारप्रवृत्तेः प्रधानत्वात् मूलम्। अतस्तेषु प्रहीणेषु संसारो[3] विनिवर्तते, नान्यथा। न चालयविज्ञानमन्तरेण तत्प्रहाणं युज्यते।

१५८. कथं पुनर्न युज्यते? सम्मुखीभूतो वा क्लेशः प्रहीयते, बीजावस्थो वा। तत्र सम्मुखीभूतः प्रहीयत इत्यनिष्टिरेवेयम्, तस्य[4] प्रहाणमार्गस्थितत्वात्[5]। बीजावस्थोऽपि नैव प्रहीयते। न हि प्रतिपक्षात् तदानीं किञ्चिदन्यदभ्युपगम्यते, यत्र क्लेशबीजं व्यवस्थितं तत्प्रतिपक्षेण प्रहीयेत। अथ प्रतिपक्षचित्तमेव[6] क्लेश-

का आक्षेप करने में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार आक्षिप्तपुनर्भव कर्म भी क्लेशों के आधिपत्य से ही पुनर्भव होता है, अन्यथा नहीं। इस तरह क्लेश ही संसारप्रवृत्ति में प्रधान होने से मूल हैं। अतः क्लेशों के प्रहीण होने पर ही संसार निवृत्त होता है। अन्यथा नहीं। आलयविज्ञान के विना क्लेशप्रहाण युक्त न हो सकेगा।

(आलयविज्ञान न मानने पर संसारनिवृत्ति) कैसे युक्त नहीं है? या तो सम्मुखीभूत क्लेश का प्रहाण किया जाता है अथवा बीज अवस्थाके क्लेश का प्रहाण किया जाता है। वहाँ (इन दोनों प्रकारों में से) 'सम्मुखीभूत क्लेश का प्रहाण किया जाता है', यह तो (आपको भी) अनिष्ट ही है; क्योंकि उस समय योगी प्रहाणमार्ग में स्थित है। बीजावस्था के क्लेश का भी प्रहाण नहीं किया जा सकता। क्योंकि उस समय प्रतिपक्ष से अन्य कोई भी (आधार आपके द्वारा) स्वीकृत नहीं है, जहाँ (जिस पर) स्थित क्लेशबीजों का क्लेशप्रतिपक्ष द्वारा प्रहाण किया जा सके। यदि (आपके द्वारा) प्रतिपक्षचित्त ही

अभाव में कर्म पुनर्जन्म प्रदान नहीं कर सकते। अत एव संसार का मूल प्रधानतः क्लेश हैं। जब उन क्लेशों की निवृत्ति होती है, तभी संसार से निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यदि आलयविज्ञान न माना जायगा, तो क्लेशों के क्षय की व्यवस्था न हो सकेगी। इस विषय में यहाँ दो दृष्टिकोण से विचार किया जा रहा है, यथा—

१५८. **सम्मुखीभूतो वा क्लेशः प्रहीयते०**—विज्ञानवादी आलयविज्ञान न माननेवाले बौद्ध सिद्धान्तवादियों से प्रश्न करते हैं कि यह बतलाइये कि आर्यों के आनन्तर्य-

---

१. आक्षिप्तपुनर्भवोऽपि—ब०।
२-२. कर्मक्लेशाधिपत्यादेव—ब०।
३. संस्कारो—अ०।
४. तत्र—अ०।
५. प्रहाणमार्गस्थायिनां वा—अ०।
६. प्रतिपक्षचित्त एव—अ०।

बीजानुषक्तमिष्यते[1] ? न हि तत् क्लेशबीजानुषक्तमेव तत्प्रतिपक्षो भवितुमर्हति। न चाप्रहीणक्लेशबीजानां संसारनिवृत्तिः सम्भवति।

क्लेश/बीजों से युक्त माना जाता है ? तो क्लेशबीजों से युक्त चित्त ही क्लेशों का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता और जिनके क्लेशबीज प्रहीण नहीं हैं, उनकी संसार से निवृत्ति भी सम्भव नहीं है।

मार्ग द्वारा जब क्लेशों का प्रहाण किया जाता है, तब आपके मतानुसार सम्मुखीभूत क्लेशों का प्रहाण किया जाता है अथवा बीजावस्थावस्थित क्लेशों का प्रहाण किया जाता है ?

क. प्रथम पक्ष का खण्डन—

तत्र सम्मुखीभूतः प्रहीयत इति०—योगी जिस समय लोकोत्तर मार्ग की समाहित अवस्था में स्थित होता है, उस समय उसकी सन्तान में कोई भी क्लेश विद्यमान नहीं होता, इसे आप भी मानते हैं और युक्तितः ऐसा (क्लेशों का रहना) हो भी नहीं सकता। क्योंकि समाहित अवस्था क्लेशों का प्रहाण करनेवाले मार्ग की अवस्था है, इसलिये उस समय कोई भी क्लेश वहाँ विद्यमान नहीं हो सकता। यदि क्लेश होगा, तो वह पृष्ठलब्ध अवस्था कहलायगी, समाहित अवस्था न कहला सकेगी, अतः आनन्तर्य मार्ग द्वारा सम्मुखीभूत क्लेशों का प्रहाण अयुक्त है।

ख. द्वितीय पक्ष का खण्डन—

बीजावस्थोऽपि नैव प्रहीयते०—समाहित अवस्था में आप समाहित ज्ञान से अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में क्लेशबीज किस आधार पर स्थित रहेंगे। यदि कोई आधार होता, तो उस पर स्थित क्लेशबीजों का आनन्तर्यमार्ग द्वारा प्रहाण किया जा सकता था। प्रहाणमार्ग स्वयं आधार हो नहीं सकता और उसके अतिरिक्त कोई दूसरा आधार आप स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में आनन्तर्यमार्ग द्वारा बीजावस्थावस्थित क्लेशों का प्रहाण भी अयुक्त है।

अथ प्रतिपक्षचित्तमेव क्लेशानु०—यदि आप ऐसा कहें कि क्लेशबीजों का प्रतिपक्षभूत जो आनन्तर्यमार्ग उस समय (समाहित अवस्था में) विद्यमान हैं, उसी में क्लेशबीज स्थित होते हैं, तो आपका यह कथन अत्यन्त अयुक्तिपूर्ण होगा; क्योंकि जो ज्ञान स्वयं क्लेशबीजों से दूषित है, उससे क्लेशबीजों का प्रहाण उसी प्रकार असम्भव है, जैसे गन्दे पानी से गन्दा कपड़ा साफ नहीं किया जा सकता। अतः आलयविज्ञान के न मानने पर क्लेशों का प्रहाण किसी भी तरह नहीं हो सकेगा।

---

१. ० बीजानुषक्त इष्यते—भ०।

१५९. तस्मादवश्यम् आलयविज्ञानं तदन्यविज्ञानसहभूभिः क्लेशोपक्लेशैर्भाव्यते स्वबीजपुष्ट्यादानत इत्यभ्युपेयम् । ये पुनश्चित्तत एव सन्ततिपरिणामविशेषाद् यथाबलं वासनावृत्तिलाभे सति क्लेशोपक्लेशाः प्रवर्तन्ते, तेषाम् आलयविज्ञान-व्यवस्थितम्[1] बीजं तत्सहभुवा क्लेशप्रतिपक्षमार्गेणापनीयते । तस्मिंश्चापनीते न

इसलिये अवश्य आलयविज्ञान स्वीकार करना चाहिए, जो स्वभिन्न चित्तों के साथ उत्पन्न क्लेश और उपक्लेशों द्वारा अपने बीजों की पुष्टि के लिये वासित किया जाता है। जो क्लेश और उपक्लेश वासना का परिपाक होने पर उसकी शक्ति के अनुसार पुनः सन्ततिपरिणामविशेष चित्त से ही प्रवृत्त होते हैं; उनका बीज, जो आलयविज्ञान में स्थित होता है, स्वकालिक (बीज के काल में उत्पन्न) क्लेशप्रतिपक्षभूत मार्ग के द्वारा अपनीत (नष्ट) किया जाता है । उस (क्लेशबीज) के प्रहीण होने पर फिर उस आश्रय से क्लेशों

ज्ञातव्य—आर्यों का समाहित ज्ञान पुद्गलनैरात्म्यज्ञान या धर्मनैरात्म्यज्ञान है। इसलिये उस अवस्था में आत्मदृष्टि आदि क्लेशों का अवस्थान कथमपि सम्भव नहीं है। कोई भी बौद्ध सिद्धान्तवादी उस अवस्था में क्लेशों की उपस्थिति स्वीकार नहीं करते। किन्तु वैभाषिक से अतिरिक्त सभी बौद्ध उस समय क्लेशबीजों की स्थिति अवश्य मानते हैं। और इसीलिये वे यह मानते हैं कि उस नैरात्म्यज्ञान द्वारा बीजावस्था के क्लेशों का प्रहाण किया जाता है।

यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है कि आखिर उस समाहित अवस्था में उन क्लेशों के बीज या वासना कहाँ स्थित होंगे। अर्थात् उनका आधार क्या होगा? षड्विज्ञान मात्र माननेवाले सिद्धान्तवादी इस प्रश्न का नानाविध समाधान प्रस्तुत करते हैं, किन्तु प्रासङ्गिक माध्यमिक को छोड़कर सभी के समाधान सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होते। इसी कारण वसुबन्धु आदि आगमानुयायी विज्ञानवादी आचार्य आलयविज्ञान की स्थापना करते हैं। इसीलिये यहाँ समाहित ज्ञान की अवस्था को लेकर आलयविज्ञान की सिद्धि की गयी है और विपक्षी के मत में संसारनिवृत्ति की अयुक्तता दिखलायी गयी है।

उपसंहार—

१५९. तस्मादवश्यम् आलयविज्ञानम्०—इसलिये अवश्य ही आलयविज्ञान स्वीकार करना चाहिए, जिस (आलयविज्ञान) पर समस्त क्लेशों और उपक्लेशों के बीज

---

1. चालयविज्ञान०—भ०।

पुनस्तेनाश्रयेण क्लेशानामुत्पत्तिरिति सोपधिशेषो निर्वाणधातुः प्राप्यते। पूर्वकर्माक्षिप्तजन्मनिरोधे च ततोऽन्यजन्माप्रतिसन्धानात् निरुपधिशेषो निर्वाणधातुः। न हि कर्म विद्यमानमपि क्लेशेषु प्रहीणेषु सहकारिकारणाभावात् पुनर्भवमभिनिर्वर्तयितुं[1] समर्थम्।

की उत्पत्ति नहीं होती, इस प्रकार सोपधिशेष निर्वाणधातु प्रतिलब्ध होती है। पूर्वकर्मों द्वारा आक्षिप्त जन्म के निरुद्ध होने पर, उस के बाद अन्य जन्म का प्रतिसन्धान न होने से निरुपधिशेष निर्वाणधातु प्रतिलब्ध होती है। क्लेशों के प्रहीण हा जाने पर विद्यमान भी कर्म सहकारी कारणों के अभाव में पुनर्भव का उत्पाद करने में असमर्थ होते हैं।

स्थापित किये जा सकें तथा यथासमय उन (बीजों) की पुष्टि भी होती रहे। आलयविज्ञान मानने पर उसमें समस्त क्लेशों और उपक्लेशों की वासना हर समय रह सकती है। अर्थात् चाहे अकुशलावस्था हो, कुशलावस्था हो या समाहितावस्था हो, सभी अवस्थाओं में वह वासना विद्यमान रह सकती है; क्योंकि आलयविज्ञान हर समय मौजूद रहता है। इसलिये जब क्लेशों का प्रहाण करनेवाला आनन्तर्य मार्ग उत्पन्न होता है, उस समय भी आलयविज्ञान तो रहता ही है और उसमें समस्त क्लेशबीज भी उपस्थित रहते हैं। फलतः आनन्तर्य मार्ग उन बीजों का प्रहाण कर देता है। क्लेशबीजों का प्रहाण ही 'क्लेशप्रहाण' कहलाता है। आगे चलकर जब सम्पूर्ण क्लेशों के अशेष बीजों का प्रहाण हो जाता है, केवल पूर्वकृत कर्मों द्वारा आक्षिप्त सास्रव उपादानस्कन्धमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं, तो वह अवस्था 'सोपधिशेष अवस्था' कहलाती है। इस अवस्था में अर्हत् की सन्तान में कोई भी क्लेशबोज अवस्थित नहीं रहता। फिर भी उसकी सन्तान में कर्मबीज अनेक विद्यमान होते हैं, जिन कर्मबीजों के स्थापक कर्म पूर्व-पूर्व जन्मों में कदाचित् उसके द्वारा किये गये थे। किन्तु वे सभी पुनर्भव का उत्पाद करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं, क्योंकि पुनर्भव का आक्षेप करने में सहायता देनेवाली तृष्णा का उसकी सन्तान में सर्वथा विलोप हो गया है। अत एव आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

अवस्था वीतरागाणां दयया कर्मणाऽपि वा।
आक्षिप्ते विनिवृत्तीष्टे सहकारिक्षयादलम्[2]॥

---

१. निवर्तयितुं—अ०।
२. प्र० वा० १ । १८५ (प्रमाणपरिच्छेद), पृ० ६८।

१६०. एवम् आलयविज्ञाने सति संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च; नान्यथेत्यवश्यं चक्षुरादिविज्ञानव्यतिरिक्तम् आलयविज्ञानम्। तदेव च सर्वधर्मबीजानुगतम्, न चक्षुरादिविज्ञानमित्यभ्युपगन्तव्यम्। विस्तरविचारस्तु पञ्चस्कन्धकोपनिबन्धाद् वेदितव्यः।

इस प्रकार आलयविज्ञान के होने पर (ही) संसार की प्रवृत्ति और निवृत्ति उपपन्न होती है, अन्य प्रकार से नहीं, अतः चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों से भिन्न आलयविज्ञान अवश्य स्वीकार करना चाहिये। और वही समस्त धर्मों के बीजों से अनुगत है, चक्षुरादि विज्ञान (समस्त धर्मों के बीजों से अनुगत) नहीं हैं—ऐसा मानना चाहिए। एतद्विषयक विस्तृत विचार पञ्चस्कन्धकोपनिबन्ध से जानना चाहिए।

अपि च—

नाक्षिप्तुमपरं कर्म भवतृष्णाविलङ्घिनाम्[1]।

कुछ बोधिसत्त्व आर्यों की सन्तान में समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं, फलतः क्लेशवश कर्मों द्वारा उनका पुनर्भव नहीं होता, तथापि बुद्धत्वपद की प्राप्ति पर्यन्त वे अनन्त जन्म ग्रहण करते रहते हैं। वे इन जन्मों को सञ्चिन्त्य (अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार) ग्रहण करते हैं कर्म और क्लेशों की वजह से नहीं। कुछ बोधिसत्त्व आर्यों के समस्त क्लेश प्रहीण नहीं हुए रहते, अभी उन्हें कुछ क्लेशों का प्रहाण करना है, फिर भी वे कर्म-क्लेशवश पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बोधिसत्व आर्य कभी भी कर्म-क्लेशवश जन्मग्रहण नहीं करते, अपितु वे दया एवं प्रणिधान के वश से स्वेच्छापूर्वक यत्र तत्र जन्मग्रहण करते हैं। बुद्धत्वावस्था में तो कोई भी क्लेश या कर्म नहीं होता। बुद्ध के समस्त कर्म निराभोग प्रवृत्त होते हैं। उपर्युक्त सभी स्थितियों की स्थापनायें आलयविज्ञान मानने पर ही हो सकती हैं।

उपसंहार—

१६०. एवम् आलयविज्ञाने सति संसार०—उपर्युक्त दोनों (संसारप्रवृत्ति और संसारनिवृत्ति की) अयुक्तताओं को दिखला देने के बाद आचार्य स्थिरमति उपसंहार करते हुए कहते हैं—

क्योंकि आलयविज्ञान के आधार पर ही द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद की ठीक ठीक व्यवस्था हो सकती है, फलतः आलयविज्ञान ही संसारप्रवृत्ति का हेतु है। आलयविज्ञान

---

१. प्र० वा० १ : १६६ (प्रमाणपरिच्छेद), पृ० ६८।

समस्त क्लेशों और उपक्लेशों के बीज धारण करता है। निरोधसमापत्ति आदि अचित्तक अवस्थाओं में एवं आर्यों के समाहित ज्ञान की अवस्थाओं में भी वह वासनाप्रवाह को ले चलते हुए विद्यमान रह सकता है। फलस्वरूप तत्समकालिक आनन्तर्यमार्ग, जो क्लेशों का प्रतिपक्ष है, क्लेशबीजों का प्रहाण कर पाता है। फलतः आलयविज्ञान ही संसारनिवृत्ति का भी हेतु होता है। आलयविज्ञान से भिन्न अन्य सभी विज्ञान अस्थिर हैं। अतः अन्य किसी भी विज्ञान में वह सामर्थ्य नहीं है, जो आलयविज्ञान का स्थान ग्रहण कर सके। अतः यह सिद्ध होता हैं कि चक्षुरादि विज्ञानों से भिन्न आलयविज्ञान है और वह सर्वबीजानुगत है। उसी आधार पर चक्षुरादि विज्ञानों की भी प्रवृत्ति होती है। इस दिशा में विस्तृत जानकारी के लिये आचार्य स्थिरमति द्वारा विरचित 'पञ्चस्कन्धकोपनिबन्ध' नामक 'पञ्चस्कन्धप्रकरण' की टीका का अवलोकन करना चाहिये।

उपर्युक्त आलयविज्ञान केवल महायान सूत्रों में ही उपदिष्ट नहीं हैं, अपितु हैनयानिक सूत्रों में भी भगवान् बुद्ध ने उसका संकेत किया है। एकोत्तरागम में आलयविज्ञान संकेतित है[1]। महीशासकों के आगमों में वह 'यावत्संस्कारस्कन्ध' (अथवा 'संसारकोटिनिष्ठ स्कन्ध) इस नाम से उपलब्ध होता है। महासांघिक आगमों में 'मूलविज्ञान' नाम से उसका उल्लेख किया गया है तथा स्थविरवादी आगमों में वह 'भवाङ्ग' इस नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु जैसे महायान सूत्रों में उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध है, वैसे तत्तद् आगमों में उसके लक्षण, स्वरूप, क्रिया आदि पूर्णतः उपदिष्ट नहीं हैं। उन आगमों में तो आंशिक दृष्टि से ही भगवान् ने उसका संकेत किया है। यही कारण है कि आचार्य वसुमित्र, वामन आदि तत्तत् सम्प्रदाय (निकाय) के आचार्यों ने उपर्युक्त आगमों का अभिप्राय अपने अपने ढंगसे किया है। अर्थात् उनका अभिप्राय वैसा नहीं समझा, जैसा विज्ञानवादी समझते हैं। किन्तु जब विज्ञानवादी उन आगमों को देखते हैं, तो वे यही समझते हैं कि इन आगमों का अभिप्राय आलयविज्ञान से ही है।

[आलयविज्ञान के स्वरूप एवं उसकी सिद्धि के प्रकार आदि में जो वक्तव्य अवशिष्ट रह गये हैं, उन सबका निरूपण हम ग्रन्थ के अन्त में 'आलयविज्ञान प्रकरण' नामक परिशिष्ट में करेंगे।]

---

1. द्र०—"आलयारामा, भिक्खवे, पजा आलयरता आलयसमुदिता"—अं० नि०, द्वि० भा०, पृ० १३८।

१६१. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं कथं न सूत्रविरोधः। सूत्रेषु हि त्रयः स्वभावा उक्ताः—परिकल्पितः परतन्त्रः परिनिष्पन्नश्च ?

नास्ति विरोधः। विज्ञप्तिमात्र एव सति स्वभावत्रयव्यवस्थापनात्।

यदि यह (सब कुछ) विज्ञप्तिमात्र ही है, तो कैसे सूत्रविरोध नहीं है, क्योंकि सूत्रों में तीन स्वभाव कहे गये हैं, यथा—परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ?

सूत्रविरोध नहीं है, क्योंकि विज्ञप्तिमात्र होने पर ही तीनों स्वभावों की व्यवस्था हो सकती है।

---

१६१. आलयविज्ञान के सम्यक् निरूपण के पश्चात् तीन लक्षण या तीन स्वभावों की स्थापना के द्वारा निःस्वभावताविषयक सूत्रों का अभिप्राय प्रतिपादित किया जा रहा है—

यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं कथं न०—यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है कि आपके उपर्युक्त प्रकार के निरूपण से तो समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र सिद्ध हो जाते हैं, जब कि सूत्रों (पारमिता सूत्रों) में तीन स्वभावों का उल्लेख उपलब्ध होता है, यथा—परिकल्पित स्वभाव, परतन्त्र स्वभाव एवं परिनिष्पन्न स्वभाव। ऐसी स्थिति में आपके विज्ञप्तिमात्रता वाद का इन सूत्रों से कैसे विरोध न होगा ? अर्थात् अवश्य सूत्रविरोध प्रसक्त होगा।

वस्तुतः यह पक्ष वैभाषिक या सौत्रान्तिकों की ओर से उपस्थापित नहीं किया गया है, अपितु यह महायानसिद्धान्तवादियों का पक्ष है, जो धर्मों की स्वभावसत्ता को परिकल्पित लक्षण, रूप आदि बाह्य धर्मों को परतन्त्र लक्षण एवं धर्मों की निःस्वभावता को परिनिष्पन्न लक्षण मानते हैं। ये सिद्धान्तवादी माध्यमिक हैं।

समस्त धर्मों का त्रिविध लक्षणों में विभाजन करके धर्मों की स्थिति का प्रतिपादन करना, केवल विज्ञानवादियों की ही अपनी विशेषता नहीं है, अपितु सभी माध्यमिक भी ऐसा ही करते हैं, किन्तु स्वरूप में अत्यन्त भेद है। क्योंकि शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के 'आर्य मैत्रेयनाथ परिपृच्छा' नामक प्रकरण में तीनों लक्षणों का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसे सभी महायानसिद्धान्तवादी प्रमाण मानते हैं।

सिद्धान्तपक्ष—

नास्ति विरोधः। विज्ञप्तिमात्र एव०—समस्त धर्मों को विज्ञप्तिमात्र मानने पर ही तीन स्वभावों की सुष्ठु व्यवस्था हो सकती है। इसमें सूत्र से कोई विरोध नहीं है, अपितु इससे सूत्रों का अभिप्राय ही सुस्पष्ट होता है।

१६२. कथमित्यत आह—

येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु विकल्प्यते।
परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते॥

आध्यात्मिकबाह्यविकल्प्यवस्तुभेदेन[1] विकल्प्यानामानन्त्यं प्रदर्शयन्नाह—येन येन विकल्पेनेति। यद् यद् वस्तु प्रकल्प्यते, आध्यात्मिकं बाह्यं वाऽन्तशो यावद् बुद्धधर्मा अपि। परिकल्पित एवासौ स्वभाव इति। अत्र कारणमाह—न स विद्यत इति।

(विज्ञप्तिमात्र होने पर तीन स्वभावों की स्थापना) कैसे (होती है)? इस पर आचार्य (वसुबन्धु) कहते हैं—

जिस जिस विकल्प से जो जो वस्तु विकल्पित होती है, (वस्तु का) यह स्वभाव परिकल्पित ही होता है; क्यों कि वह (परिकल्पित) स्वभाव वस्तुतः विद्यमान नहीं होता।

आध्यात्मिक और बाह्य विकल्प्य वस्तुओं के भेद से विकल्प्य वस्तुओं की अनन्तता प्रदर्शित करते हुए आचार्य ने 'येन येन विकल्पेन' (जिस-जिस विकल्प से) ऐसा कहा है। 'यद् यद् वस्तु प्रकल्प्यते' (जो जो वस्तु विकल्पित होती है) का तात्पर्य है—आध्यात्मिक अथवा बाह्य वस्तु, आखिरकार यहाँ तक कि बुद्धधर्म भी। (इन वस्तुओं का) यह स्वभाव परिकल्पित ही है। इसमें आचार्य कारण कहते हैं—(क्योंकि) वह स्वभाव विद्यमान नहीं है।

समस्त धर्म तीन स्वभावों में संगृहीत हैं। ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो इन तीन स्वभावों में संगृहीत न होता हो। वे तीन स्वभाव हैं—परिकल्पित लक्षण, परतन्त्र लक्षण एवं परिनिष्पन्न लक्षण। इन तीनों का वर्णन अब क्रमशः नीचे किया जा रहा है—

लक्षणत्रय निर्देश

१. परिकल्पित लक्षण—

१६२. येन येन विकल्पेन यद् यद् वस्तु०—उपर्युक्त तीन (परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न) लक्षण प्रत्येक धर्म में विद्यमान होते है। ऐसा नहीं है कि रूप आदि कुछ धर्मों में एक स्वभाव (लक्षण) है और दूसरे धर्मों में अन्य स्वभाव होते हैं।

सामान्यतः परिकल्पित स्वभाव का लक्षण है—"स्वग्राहक कल्पना द्वारा आरोपितत्व"। चित्त से असंगृहीत रूप आदि अचेतन धर्मों में एवं इन्द्रिय, विज्ञान आदि आन्तरिक (आध्यात्मिक)

---

१. इति। आध्यात्मिक०—स०।

१६३. यद् वस्तु विकल्पविषयस्तद् यस्मात् सत्ताऽभावान्न विद्यते, तस्मात् तद् वस्तु परिकल्पितस्वभावमेव, न हेतुप्रत्ययप्रतिपद्यस्वभावम्। तथा ह्येकस्मिन्

जो वस्तु विकल्प का विषय है, वह वस्तु क्योंकि असत् होने से अविद्यमान हैं, इसलिये वह वस्तु परिकल्पित लक्षण ही है, (वह) हेतु-प्रत्ययों से सम्पन्न स्वभाववाली नहीं है।

धर्मों में विकल्प (तद्ग्राहक कल्पना) द्वारा जो बाह्य अर्थ का आरोप होता है, वह 'बाह्यार्थत्व' यहाँ 'परिकल्पित लक्षण' है। रूप से लेकर यावत् बुद्धधर्मपर्यन्त सभी धर्मों में बाह्य अर्थों का आरोप हुआ करता है या ग्राह्य-ग्राहक द्वैत का आरोप हुआ करता है। जिन जिन धर्मों में बाह्यार्थत्व का आरोप होता है, वह बाह्यार्थारोप उन उन धर्मों का 'परिकल्पित लक्षण' है, जिस बाह्यार्थारोप का प्रतिषेध (अभाव) परिनिष्पन्न लक्षण है। यहाँ जिस परिकल्पित लक्षण का प्रतिपादन प्रस्तुत है, वह परिकल्पित लक्षण परिनिष्पन्न का प्रतिषेध्य है या धर्मरात्म्य का प्रतिषेध्य है। सामान्यतया सभी परिकल्पित लक्षण परिनिष्पन्न के प्रतिषेध्य नहीं हुआ करते, यथा—आकाश आदि भी परिकल्पित लक्षण हैं; किन्तु वे सर्वथा असत् (अलीक) नहीं हैं, अतः उनका अभाव परिनिष्पन्न लक्षण नहीं है।

अपि च—

रूप आदि समस्त धर्मों में अभिधेयत्व, अभिलाप्यत्व आदि भी होते हैं, जो परिकल्पित लक्षण ही हैं, तो भी इनका प्रतिषेध नहीं किया जाता। हाँ, इन (अभिधेयत्व आदि) की स्वलक्षण सत्ता का प्रतिषेध अवश्य किया जाता है। फिर भी आकाश एवं अभिधेयत्व आदि का कल्पना द्वारा आरोपित होना सामान्य है।

तात्पर्य यह है कि कल्पना द्वारा आरोपितत्व परिकल्पित लक्षण है। इस लक्षण के दो भेद हैं, यथा—सत् परिकल्पित एवं असत् परिकल्पित। रूप आदि धर्मों में विद्यमान अभिधेयत्व, अभिलाप्यत्व एवं आकाश आदि धर्म सत्-परिकल्पित हैं; क्योंकि इनका व्यवहारतः अस्तित्व है। बाह्यार्थत्व, अभिधेयस्वलक्षणत्व, पुद्गलात्मा, खपुष्प, शशशृंग आदि असत्-परिकल्पित हैं; क्योंकि इनका व्यवहारतः भी अस्तित्व नहीं है। शास्त्रों में केवल बाह्यार्थत्व और अभिधेयस्वलक्षणत्व का ही प्रतिपादन मुख्यरूप से किया गया है, दूसरे परिकल्पित लक्षणों का प्रतिपादन गौणरूप से किया गया है। ऐसा इसलिये किया गया है; क्योंकि ये ही धर्म (बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व) परिनिष्पन्न लक्षण एवं धर्मनैरात्म्य के प्रतिषेध्य हैं।

बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयत्व की स्वलक्षण सत्ता ये केवल परिकल्पित ही हैं, इनका कथमपि अस्तित्व नहीं है। इसीलिये आचार्य ने "परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते" कहा है। इसका अर्थ सुस्पष्ट करते हुए आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

१६३. यद् वस्तु विकल्पविषयस्तद्—जो वस्तु (=बाह्यार्थ) कल्पना द्वारा कल्पित है, वह सत् नहीं हैं; क्योंकि एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेकविध कल्पनायें

वस्तुनि तदभावे च परस्परविरुद्धानेकविकल्पप्रवृत्तिर्दृष्टा, न च तदेकं वस्तु तदभावो वा परस्परविरुद्धानेकस्वभावो युज्यते, तस्मात् सर्वमिदं विकल्पमात्रमेव, तदर्थस्य परिकल्पितरूपत्वात्। उक्तं च सूत्रे—"न खलु पुनः सुभूते, धर्मास्तथा विद्यन्ते यथा बालपृथग्जना अभिनिविष्टाः" इति।

उदाहरणार्थ एक ही वस्तु में या उसके अभाव में परस्पर विरुद्ध अनेक विकल्पों की प्रवृत्ति देखी गयी है और उस एक वस्तु या उसके अभाव का परस्पर विरुद्ध अनेक स्वभावों से सम्पन्न होना युक्त नहीं है, इसलिये यह सब विकल्पमात्र ही है, क्योंकि उस कल्पना के अर्थ (विषय) का स्वरूप परिकल्पितमात्र है। सूत्र (बुद्धवचन) में भी कहा गया है— "हे सुभूति, धर्म उस प्रकार बिलकुल नहीं है, जिस प्रकार बाल एवं पृथग्जन उसमें अभिनिविष्ट हैं।"

दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे—एक ही पुरुष में मित्रत्व और शत्रुत्व दोनों दिखलायी पड़ते हैं। अपि च—एक ही द्रव (तरल) पदार्थ में विभिन्न सत्त्वों में विभिन्न बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। देवों को वह अमृत के रूप में, नारकों को पूय के रूप में तथा मानवों को जल के रूप में दिखलाई पड़ता है[1]।

इस विषय में आगमप्रमाण भी प्रस्तुत किया जाता है, यथा—

"न खलु पुनः सुभूते, धर्मास्तथा विद्यन्ते यथा बालपृथग्जना अभिनिविष्टाः[2]।"

अर्थात् समस्त धर्म उस प्रकार विद्यमान नहीं हैं, जिस प्रकार बाल, पृथग्जन उनके प्रति अभिनिवेश करते हैं। यह आशय वसुबन्धु ने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है, यथा—

"यत् ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः[3]।"

अर्थात् जो ख्यात होता है, वह परतन्त्र है और जिस प्रकार ख्यात होता है, वह परिकल्पित है। परिकल्पित लक्षण का स्वरूप एवं उसके उदाहरण ठीक वैसे ही हैं, जैसा हमने ऊपर प्रतिपादन किया है। रूप आदि परिकल्पित लक्षण नहीं हैं, क्योंकि रूप आदि सभी संस्कृत धर्म हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हैं। हेतु-प्रत्ययों का निरूपण आलयविज्ञान के वर्णनप्रसङ्ग में किया गया है। जो धर्म हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हैं, वे कथमपि परिकल्पित

---

१. द्र०—त्रिं० १४३ पृ० २६५-२६६।

२. प्रज्ञापारमिता सूत्र।

३. त्रिस्वभावनिर्देश कारिका २ पृ० १।

१६४. परिकल्पितानन्तरं परतन्त्रस्वभावो वक्तव्य इत्यत आह—

परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः ।

अत्र[1] विकल्प इति परतन्त्रस्वरूपमाह। प्रत्ययोद्भव इत्यनेनापि परतन्त्राभिधानप्रवृत्तिनिमित्तमाह। तत्र परिकल्पः कुशलाकुशलाव्याकृतभेदभिन्नास्त्रैधातुकाश्चित्तचैत्ताः। यथोक्तम्—

अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैत्तास्त्रिधातुकाः[2] ।

इति।

परिकल्पित के अनन्तर परतन्त्र स्वभाव कहना चाहिये, अतः आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न विकल्प परतन्त्र स्वभाव है। यहाँ 'विकल्प' यह शब्द परतन्त्र-स्वरूप को कहता है। 'प्रत्ययोद्भव' इस शब्द के द्वारा भी 'परतन्त्र' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कहा गया है। वहाँ (परतन्त्र के लक्षण में) कुशल, अकुशल और अव्याकृत भेद से भिन्न त्रैधातुक चित्त-चैतसिक 'परिकल्प' (विकल्प) हैं। जैसे कि कहा गया है—

त्रैधातुक (समस्त) चित्त-चैतसिक धर्म अभूत परिकल्प हैं। जिनकी वृत्ति (होना) हेतु-

---

लक्षण नहीं हो सकते और ऐसा कथन (कि हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न धर्म परिकल्पित लक्षण हैं) विज्ञानवादियों के सूत्र एवं शास्त्रों में उपलब्ध भी नहीं है। इसलिये रूप को परिकल्पित लक्षण समझकर उस (परिकल्पित लक्षण) के अभाव को परिनिष्पन्न लक्षण कहना, सत्य से अत्यन्त विपरीत है। रूप आदि धर्म यद्यपि बाह्यार्थ नहीं हैं, फिर भी उनमें बाह्यार्थत्व कल्पित किया जाता है, और यही बाह्यार्थत्व परिकल्पित लक्षण है तथा उसका अभाव परिनिष्पन्न लक्षण है और यही परिनिष्पन्न लक्षण विज्ञानवादियों की दृष्टि से शून्यता है।

विज्ञानवादियों के मत में सभी परिकल्पित लक्षण स्वलक्षणसत् नहीं हैं, किन्तु जिस परिकल्पित लक्षण की स्वलक्षणसत्ता से रहितता (शून्यता) परिनिष्पन्न लक्षण हो सकती है, वे परिकल्पित लक्षण बाह्यार्थत्व आदि ही हैं। आकाश आदि अन्य परिकल्पित लक्षण यद्यपि स्वलक्षणतः असत् हैं, तथापि उनकी स्वलक्षणसत्ता से शून्यता परिनिष्पन्न लक्षण नहीं है[3] ।

२. परतन्त्र लक्षण—

१६४. परिकल्पितानन्तरं परतन्त्र०—हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होना परतन्त्र स्वभावका लक्षण है। परतन्त्र के लिये विज्ञानवादी शास्त्रों में विकल्प शब्द का प्रयोग भी

---

१. इति। अत्र—स०।

२. त्रैधातुकाः— अ०। द्र०—मध्यान्त० का० ८ (लक्षणपरिच्छेद) पृ० ६।

३. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र एवं बोधिसत्व भूमि आदि।

परैर्हेतुप्रत्ययैस्तन्त्र्यत इति परतन्त्र उत्पाद्यत इत्यर्थः। स्वतोऽन्यहेतुप्रत्ययप्रतिबद्धात्मलाभ इति यावदुक्तं भवति।

प्रत्ययों के अधीन है, अर्थात् जो हेतु-प्रत्ययों के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं, वे 'परतन्त्र' हैं। इससे यह उक्त होता है कि जिनका आत्मलाभ (उत्पाद) अपने से भिन्न हेतु-प्रत्ययों से प्रतिबद्ध है, वे परतन्त्र हैं।

प्रचलित है; क्योंकि इसमें कल्पना बुद्धि द्वारा अनेकविध कल्पनायें की जाती हैं और यही परिकल्पित लक्षण अर्थात् बाह्यार्थारोपों का आधार होता है। महायानसंग्रह में परिकल्पित लक्षण के अवसर पर प्रयुक्त 'विकल्प' शब्द केवल कल्पना बुद्धि से सम्बद्ध है तथा परतन्त्र के अवसर पर प्रयुक्त विकल्प दशविध कहा गया है[२] और प्रत्येक के भी कई भेद हैं। संक्षेपतः सभी चित्त-चैतसिक उन दस प्रकारों में आ जाते हैं, इसलिये यहाँ परतन्त्र के अवसर पर आगत विकल्प का तात्पर्य समस्त (त्रैधातुक) चित्त-चैतसिकों से है।

चित्त-चैतसिकों में जो वस्तुयें (रूप आदि) प्रतिभासित होती हैं और जिन (वस्तुओं) में बाह्यार्थत्व आरोपित किया जाता है, वे सब वस्तुयें (रूप आदि) परतन्त्र लक्षण हैं तथा समस्त चित्त-चैतसिक स्वयं भी परतन्त्र लक्षण हैं। विज्ञानवाद में परतन्त्र लक्षणों में से चित्त-चैतसिक ही प्रधान माने जाते हैं। उदाहरणार्थ रूप और चक्षुर्विज्ञान दोनों ही परतन्त्र लक्षण हैं; किन्तु चक्षुर्विज्ञान उनमें प्रधान है। इसलिये चक्षुर्विज्ञान रूप का परतन्त्र लक्षण है। फलतः रूप का परतन्त्र लक्षण दो प्रकार का होता है, यथा—१. रूप स्वयं परतन्त्र है तथा २. रूप को जाननेवाला (रूपज्ञ) प्रमाण (चक्षुर्विज्ञान) रूप का परतन्त्र लक्षण है, क्योंकि रूप और रूपज्ञ प्रमाण दोनों एक ही बीज के फल हैं, एक ही काल में उत्पन्न होते हैं, एक ही काल में निरुद्ध होते हैं तथा दोनों स्वभावतः (द्रव्यतः) अभिन्न होते हैं। रूपज्ञ प्रमाण द्वारा आनीत रूपस्मृति आदि रूप के परतन्त्र लक्षण नहीं हैं; क्योंकि वे रूपसमकालिक नहीं हैं। इस न्याय को शब्द आदि समस्त संस्कृत धर्मों में लागू करना चाहिये।

असंस्कृत धर्मों में यह नियम ठीक उसी प्रकार लागू नहीं होता, अपितु किञ्चित् भिन्नता होती है। यथा—आकाश में भी तीनों लक्षण विद्यमान होते हैं, किन्तु आकाश स्वयं परतन्त्र लक्षण नहीं है, क्योंकि वह परिकल्पित लक्षण है। यहाँ आकाशज्ञ प्रमाण ही आकाश का परतन्त्र लक्षण है। क्योंकि आकाश एवं आकाशज्ञ प्रमाणबुद्धि स्वभावतः अभिन्न हैं। घट, पट आदि जैसे भिन्न होते हैं, वैसे इन दोनों का स्वभाव नहीं है। इसी न्याय को निरोध आदि अन्य समस्त असंस्कृत धर्मों में लागू करना चाहिये।

---

२. विस्तार के लिये द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु०.सं० ११२ पृ० २२३ (जापानी संस्करण)।

परतन्त्र इसलिये परतन्त्र कहलाता है; क्योंकि वह अपने से भिन्न हेतु-प्रत्ययों के अधीन होता है। रूप आदि समस्त संस्कृत धर्म आलयविज्ञान में स्थित वासनाओं के फल हैं, अतः उनका उत्पाद हेतु-प्रत्ययों के अधीन है। फलतः वे परतन्त्र लक्षण होते हैं। रूप आदि परतन्त्र लक्षण केवल सत् ही नहीं, अपितु परमार्थ सत् हैं।

बोधिसत्त्वभूमि में लिखा है कि रूप-आदि धर्मों के परमार्थतः असत् मानने पर भयङ्कर अपवाद होगा। अर्थात् सत् (विद्यमान) धर्मों की स्थिति का अपवाद होगा। उसी में आगे कहा गया है कि "रूप आदि धर्मों की वस्तुता का अपवाद करने पर न तो तत्त्व की स्थापना हो सकेगी और न परिकल्पित लक्षण की ही व्यवस्था हो सकेगी। जिस प्रकार रूप, आदि धर्मों का अस्तित्व होने पर ही उनमें पुद्गल को हो सकती हो सकती है अन्यथा नहीं, क्योंकि अवस्तु में पुद्गल की प्रज्ञप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार रूप आदि धर्मों की वस्तुता होने पर ही उनमें अभिधेयत्व आदि धर्म शब्दों द्वारा प्रज्ञप्त किये जा सकते हैं, अन्यथा नहीं, क्योंकि अवस्तु में शब्दों द्वारा कुछ भी प्रज्ञप्त नहीं किया जा सकता। आरोप का अधिष्ठान यदि सत् न होगा तो आरोप भी नहीं हो सकता[1]।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि विज्ञानवाद में रूप आदि धर्मों की पारमार्थिक सत्ता मान्य है। अन्यथा रूप आदि धर्मों में बाह्यार्थ का आरोप भी उसी प्रकार न हो सकेगा, जिस प्रकार चन्द्रविहीन अमावस्या की रात्रि में द्विचन्द्र का आरोप नहीं हो सकता तथा रज्जु अधिष्ठान के अभाव में सर्प का आरोप सम्भव नहीं है। फलतः रूप आदि अधिष्ठान वस्तुतः सत् हैं, इसीलिये उनमें बाह्यार्थत्व का आरोप किया जा सकता है, जो (बाह्यार्थत्व) उनमें सर्वथा असत् है।

बोधिसत्त्वभूमि में आगे पुनः उल्लिखित है—'कुछ लोगों ने शून्यताविषयक गम्भीर सूत्रों का न तो यथावत् श्रवण ही किया है और न उनका यथार्थ अभिप्राय ही समझा है। फलतः उनमें विपरीत कल्पनाओं का प्रादुर्भाव होता है, जिनकी वजह से वे यह सोचने लगते हैं कि यह समस्त जगत् कल्पितमात्र (आरोपितमात्र) है। इतना ही नहीं, वे यह भी समझने लगते हैं कि जगत् को कल्पित देखनेवाली दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

इन लोगों के मत में अधिष्ठानवस्तुमात्र का भी अभाव हो जाने से आरोप का भी सर्वथा अभाव हो जायगा। आरोप स्वयं तो तत्त्व होता नहीं, ऐसी स्थिति में उनके द्वारा

1. स्पष्ट परिज्ञान के लिये द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० ११० पृ० ११४ (जापानी संस्करण)।

तत्त्व और आरोप दोनों का अपवाद किया जाता है। तत्त्व और आरोप दोनों का अपवाद करना, नास्तिक दृष्टियों में प्रमुख नास्तिक दृष्टि है"—इत्यादि[1]।

× × × ×

बोधिसत्त्वभूमि के उपर्युक्त दोनों उद्धृत स्थलों में ऐसे वादों का खण्डन किया गया है, जो रूप आदि समस्त धर्मों को कल्पितमात्र, आरोपितमात्र मानते हैं या किसी भी धर्म की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते। ऐसे वादी निश्चित ही वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक नहीं हो सकते। अवश्य ही माध्यमिक इनके पूर्वपक्ष में हैं। इन सब सुस्पष्ट वचनों से निःसन्देह यह सिद्ध होता है कि रूप आदि धर्मों की वास्तविक या पारमार्थिक सत्ता है। इसीलिये उन धर्मों में बाह्यार्थत्व का आरोप सम्भव है एवं परिनिष्पन्न की व्यवस्था भी भली-भांति हो जाती है। आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र में भी कहा गया है कि 'परतन्त्र का अपवाद करने पर तीनों लक्षणों का अपवाद हो जाता है[2]। सम्भवतः इसी का अभिप्राय आचार्य असङ्ग ने अपनी बोधिसत्त्वभूमि में प्रकट किया है, जिसका हमने ऊपर दो स्थलों पर उद्धरण किया है।

माध्यमिकों से अन्य विज्ञानवादी, सौत्रान्तिक, वैभाषिक आदि प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में जिसे कल्पित कहा जाता है, उसके अधिष्ठान की पारमार्थिक सत्ता का होना मान्य है, इसीलिये 'समस्त धर्म कल्पितमात्र हैं'—इस प्रकार के कथन को ये लोग अपवादान्त (उच्छेदान्त) समझते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यार्थ कल्पित हैं, किन्तु उनके अधिष्ठान रूप आदि धर्म सत् हैं। हाँ, वह अधिष्ठान अवश्य ही एक और नित्य नहीं है। जब रूप में बाह्यार्थ का आरोप होता है, उस समय रूप एवं चक्षुर्विज्ञान उसके अधिष्ठान होते हैं। इसी प्रकार जब शब्द में बाह्यार्थ का आरोप होता है, उस समय उसका अधिष्ठान शब्द एवं श्रोत्रविज्ञान होते हैं। इसी प्रकार समस्त धर्मों के बारे में जानना चाहिये। ऐसा नहीं होता कि रूप अधिष्ठान में शब्दादि के बाह्यार्थत्व का आरोप हो।

आलयविज्ञान रूप आदि धर्मों के बाह्यार्थत्वारोप का अधिष्ठान नहीं हो सकता, क्योंकि जो व्यक्ति रूप आदि धर्मों को बाह्यार्थत्वेन कल्पित करता है, उसे आलयविज्ञान दिखलाई नहीं पड़ता तथा रूप को बाह्यार्थ समझनेवाली कल्पनाबुद्धि का वह (आलयविज्ञान) आलम्बन भी नहीं होता। आलयविज्ञान केवल रूप आदि धर्मों का हेतु है, जनक हैं। आलयविज्ञान में भी बाह्यार्थ का आरोप होता है, किन्तु वह आरोप आलयविज्ञान के द्रष्टा ऊँची अवस्था के व्यक्तियों को होता है। बाह्यार्थारोप का अधिष्ठान या आधार होने के लिये यह आवश्यक

---

१. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० ११० पृ० १४४ (जापानी संस्करण)।

२. द्र०—तिब्बती कंजूर, पु० सं० ५० (स्दे-दुगे संस्करण)।

१६५. उक्तः परतन्त्रः। परिनिष्पन्नः कथमित्यत आह—

निष्पन्नस्तस्य पूर्वेण सदा रहितता तु या ॥२१॥

परतन्त्र लक्षण कह दिया गया। परिनिष्पन्न स्वभाव किस प्रकार का है ? उसे दिखाने के लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

उस (परतन्त्र) की पूर्व (परिकल्पित लक्षण) से जो सदा रहितता है, वह परिनिष्पन्न है।

है, कि जो बुद्धि बाह्यार्थ का आरोप कर रही है, उस बुद्धि का वह आधार या अधिष्ठान आलम्बन बने। जैसे—जिस समय रज्जु में सर्प का आरोप होता है, उस समय सर्पग्राहक बुद्धि का वह रज्जु आलम्बन अवश्य होती है। रज्जु को आलम्बन बनाये विना उसमें सर्प का आरोप कथमपि सम्भव नहीं है।

परिनिष्पन्न अर्थात् विज्ञानवादियों की शून्यता एवं नैरात्म्य भी रूप आदि धर्मों में होनेवाले बाह्यार्थारोप का अधिष्ठान नहीं हो सकते, क्योंकि वे (शून्यता एवं नैराम्य) साधारण पृथग्जनों के दृष्टिगोचर नहीं होते। जब आरोपिका बुद्धि उनका आलम्बन ही नहीं कर सकती, तो ऐसी हालत में उनमें बाह्यार्थ का आरोप होना भी सम्भव नहीं है। अपिच—जिस क्षण परिनिष्पन्न का साक्षात्कार होता है, उस समय आरोपिका बुद्धि (अर्थात् बाह्यार्थाभास) तत्क्षण सर्वथा नष्ट ही हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि बाह्यार्थत्वारोप के अधिष्ठान रूप आदि धर्म होते हैं और वे ही परतन्त्र लक्षण हैं। इस परतन्त्र लक्षण की परिधि में पञ्चस्कन्ध, षडायतन आदि समस्त संस्कृत धर्म आ जाते हैं।

विज्ञानवादी शास्त्रों में परतन्त्र लक्षण का दो भागों में विभाजन किया गया है, यथा—१. अशुद्ध परतन्त्र एवं २. शुद्ध परतन्त्र।

१. समस्त सांसारिक वस्तुयें (धर्म), जिन पर कर्म एवं क्लेशों का प्रभाव पड़ता है, वे सब धर्म 'अशुद्ध परतन्त्र' कहलाते हैं।

२. आर्यों का समाहित ज्ञान, सर्वज्ञ ज्ञान, बुद्ध के काय वाक्‌क्षेत्र ये सब 'शुद्ध परतन्त्र' कहलाते हैं।

इन सबके परतन्त्र होने में कोई भेद नहीं है। शुद्ध और अशुद्ध भेद का आधार केवल कर्म एवं क्लेशों से प्रभावित न होना या होना मात्र है।

३. परिनिष्पन्न लक्षण—

१६५. उक्त परतन्त्रः। परिनिष्पन्नः कथम्०—ऊपर कहा गया है कि रूप आदि धर्मों का बाह्यार्थ होना अर्थात् बाह्यार्थत्व या रूप आदि के अभिधेयत्व की स्वलक्षणसत्ता

अविकारपरिनिष्पत्त्या[1] स परिनिष्पन्नः। तस्येति परतन्त्रस्य, पूर्वेणेति परिकल्पितेन। तस्मिन् विकल्पे ग्राह्यग्राहकभावः परिकल्पितः। तथा हि—तस्मिन् विकल्पे ग्राह्यग्राहकत्वम् अविद्यमानमेव परिकल्प्यत इति परिकल्पितमुच्यते। तेन ग्राह्यग्राहकेण परतन्त्रस्य सदा सर्वकालं अत्यन्तरहितता या, स परिनिष्पन्नस्वभावः।

अविकार (अहेतुक) निष्पत्ति के कारण वह परिनिष्पन्न कहलाता है। 'तस्य' (उसका) का तात्पर्य परतन्त्र से है, 'पूर्वेण' (पूर्व से) का तात्पर्य परिकल्पित से है। यथा—उस विकल्प (परतन्त्र) में अविद्यमान ही ग्राह्य-ग्राहकभाव परिकल्पित होता है, इसलिये (वह ग्राहकभाव) परिकल्पित कहलाता है। उस ग्राह्य-ग्राहक से परतन्त्र की जो सदा अर्थात् सार्वकालिक अत्यन्त रहितता है, वह परिनिष्पन्न स्वभाव है।

'परिकल्पित लक्षण' है तथा रूप आदि, जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न हैं, वे संस्कृत धर्म 'परतन्त्र लक्षण' हैं। इन (परिकल्पित एवं परतन्त्र) दोनों में से परतन्त्र में जो पहलेवाले परिकल्पित लक्षण से सदा रहितता है, वह 'परिनिष्पन्न लक्षण' है। अर्थात् रूप आदि परतन्त्र लक्षणों में बाह्यार्थ की रहितता (शून्यता) 'परिनिष्पन्न लक्षण' है।

परिनिष्पन्न स्वभाव ही विज्ञानवादियों के मत में शून्तता एवं धर्मनैरात्म्य है। यह नित्य भी है, इसलिये निर्हेतुक है। अर्थात् यह हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं है।

आर्य असङ्ग के शास्त्रों में शून्यता या धर्मनैरात्म्य का प्रतिपादन दो प्रकार से किया हुआ उपलब्ध होता है। दोनों ही प्रकारों का उद्देश्य समान है। अर्थात् उनके अभिप्राय में किञ्चित् भी भेद नहीं है। फिर भी प्रतिपादन की शैली, उसके लिये प्रयुक्त युक्तियाँ एवं समझाने के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं।

१. प्रथम प्रतिपादन प्रकार—

इसमें बाह्यार्थ को प्रतिषेध्य बनाया गया है तथा एक ही विषय (वस्तु) में जो अनेकविध प्रतीतियाँ होती हैं, उन्हें युक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसका उल्लेख आर्य असङ्ग ने अपने 'महायानसंग्रह' नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है। हम यहाँ उसका संक्षेप प्रस्तुत कर रहे है।

"जिस प्रकार एक ही द्रव वस्तु प्रेतों, नारकों, मनुष्यों, देवों एवं तिर्यकों को भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, ठीक यही स्वभाव समस्त वस्तुओं का है। अर्थात् वे भिन्न-भिन्न दिखलायी पड़ती हैं। इसलिये बाह्यार्थ हमारे मत में असत् है[1]।"

---

१. इति। आविकार०—स०।

१. द्र०—तिब्बती तंग्युर, पु० सं० ११२ (महायान संग्रह) पृ० २२३ (जापानी संस्करण)।

यदि बाह्यार्थ सत् हैं और आध्यात्मिक वासनायें ही रूप, शब्द आदि के रूप में परिणत नहीं होतीं, तो एक ही द्रव वस्तु में पूय, अमृत आदि भिन्न प्रतीतियाँ कैसे हो सकेंगी; क्योंकि बाह्यार्थ के सत् माने जाने पर पूय, अमृत आदि होने का हेतु केवल भौतिक परमाणुओं पर निर्भर रहेगा। एक द्रव वस्तु, उदाहरणार्थ एक गिलास पानी में जो पानी के परमाणु हैं, वे न तो अमृत के परमाणु हैं, न पूय के, न रक्त आदि के ही परमाणु हैं और न उन परमाणुओं में कोई ऐसी शक्ति ही विद्यमान है कि वे तत्काल अमृत आदि के परमाणु के रूप में परिणत हो जायँ। यदि ऐसा सम्भव होता तो एक मनुष्य के सम्मुख भी उस पानी में तीनों चीजें दिखलायी पड़तीं। इसलिये पानी आदि के विद्यमान होने में बाह्य भौतिक परमाणु हेतु नहीं हैं; अपितु देव, मनुष्य, नारक आदि की आन्तरिक वासनायें ही अमृत, पानी, रक्त-पूय आदि के रूप में परिणत हो जाती हैं। फलतः वह द्रव वस्तु, जब उसके सामने देव आते हैं, तो अमृत के रूप में, जब मनुष्य आते हैं, तो पानी के रूप में और जब नारकीय सत्त्व आते हैं, तो रक्त-पूय आदि के रूप में दिखलाई पड़ती है।

देव, मनुष्य, असुर आदि अनेक जाति के सत्त्व जब एक देश और एक काल में एकत्र होते हैं, तो वे एक ही द्रव वस्तु को भिन्न भिन्न रूप में देखते हैं। एक ही वस्तु का एक ही काल में भिन्न-भिन्न रूप में दिखलाई पड़ना, बाह्यार्थदृष्टि से सर्वथा असम्भव है। आन्तरिक वासना पर निर्भर होने से ही यह सब कुछ सम्भव है। अतः यह सिद्ध होता है कि रूप आदि धर्मों का बाह्य अस्तित्व नहीं है; अपितु उनका अस्तित्व आन्तरिक वासनाओं पर निर्भर है।

अपि च—विना बाह्यार्थ के भी स्वप्न आदि में ज्ञान उत्पन्न होता है और उसी आधार पर सुख, दुःख आदि अनुभूतियाँ भी होती हैं। अतीत और अनागत यद्यपि बाह्यतः असत् हैं; तथापि तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता ही है। इन सब उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रूप आदि अर्थों का बाह्य अस्तित्व नहीं है।

२. द्वितीय प्रतिपादन प्रकार—

यह प्रतिपादन प्रकार आर्य असङ्ग के 'महायानसंग्रह' एवं 'बोधिसत्त्वभूमि' में अत्यन्त विस्तार एवं स्पष्टता के साथ उपलब्ध होता है। हम उनके आधार पर यहाँ संक्षेप प्रस्तुत कर रहे हैं—

प्रायः समस्त पृथग्जन रूप आदि धर्मों को अभिधेयत्वेन समझते हैं। अर्थात् वे यह जानते हैं कि यह धर्म 'रूप' कहलाता है, यह 'शब्द' कहलाता है—इत्यादि। जब किसी पृथग्जन से यह पूछा जाता है कि घट शब्द का अभिधेय क्या है? तो वह तत्काल उत्तर देता है कि घट शब्द का अभिधेय यह सम्मुखस्थ कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ है और वह उसे अंगुलि-

निर्देश द्वारा दिखला भी देता है। वह ऐसा उत्तर नहीं दे पाता कि घटशब्द द्वारा आरोपित धर्म, जो कि हमारी बुद्धि में प्रतिभासित होता है, वह घटशब्द का अभिधेय है। फलतः सिद्ध होता है कि पृथग्जन घटशब्द के अभिधेय की स्वलक्षणसत्ता या वस्तुसत्ता ग्रहण करते हैं। इस प्रकार की दृष्टि सहज है। वह पृथग्जनों की सन्तान में अनादिकाल से विद्यमान है। केवल पृथग्जनों में ही नहीं, अपितु समस्त जीवों में इस प्रकार की दृष्टि होती है। यही दृष्टि यहाँ 'धर्मात्मदृष्टि' कहलाती है। इसका दूसरा एवं सही नाम 'अभिधेयस्वलक्षणग्राहक-दृष्टि' भी है।

उपर्युक्त अभिधेय की स्वलक्षणसत्ता या उसकी वस्तुसत्ता का खण्डन करने के लिये 'महायानसंग्रह' में मुख्यतः तीन युक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं, यथा—

क. **प्रथम युक्ति**—घट घटशब्द का अभिधेय है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं; किन्तु यदि घटशब्द का अभिधेयत्व वस्तुसत् है, तो उसे सम्मुखस्थ कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड का स्वभाव होना चाहिए और उसे नाम एवं कल्पना से अनपेक्ष होना चाहिए। इतना ही नहीं, 'अयं घटः' इस (संकेतजन्य) बुद्धि को भी संकेत पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। ऐसी स्थिति में कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड में 'यह घट है' इस प्रकार के संकेतग्रह से पूर्व भी 'अयं घटः' इस प्रकार की बुद्धि का उत्पाद होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। 'अयं घटः' यह बुद्धि तभी उत्पन्न होते दिखाई देती है, जब कि कम्बुग्रीवादिमान् पिण्ड में 'यह घट शब्द का अभिधेय है'—इस प्रकार का पहले से ही संकेतग्रह हुआ रहता है। फलतः यह सिद्ध होता है कि घट का घटशब्द का अभिधेय होना सर्वथा संकेत पर निर्भर करता है, न कि वस्तुवशात् घट घटशब्द का अभिधेय है। इसीलिये कहा जाता है कि घट का अभिधेयत्व स्वलक्षणसत् नहीं है।

ख. **द्वितीय युक्ति**—यदि वस्तुओं की शब्दाभिधेयता वस्तुवशात् (स्वलक्षणतः या परमार्थतः) होती, तो एक ही वस्तु में अनेक वस्तु होने का प्रसङ्ग होगा। यथा—ज्ञातव्य है कि एक वस्तु के अनेक पर्याय होते हैं। अर्थात् एक ही चन्द्र में 'शशी', 'हिमांशु', 'राकेश' आदि अनेक नामों की प्रवृत्ति होती है। चन्द्र भी उन अनेक नामों का अभिधेय होता है। चन्द्र का, उन अनेक नामों का अभिधेय होना, यदि वस्तुवशात् है, तो उन अनेक नामों के पीछे जितनी कल्पनायें (बुद्धियाँ) उत्पन्न होती हैं और उन कल्पनाओं में जैसा-जैसा प्रतिभास होता है, वैसा-वैसा स्वरूप चन्द्र में भी विद्यमान होना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक नाम (पर्याय) एक दूसरे से भिन्न हैं और उनके बीच किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार उन नामों द्वारा आनीत (उत्पन्न) कल्पनायें भी पृथक् पृथक् हैं और उनमें होनेवाले

प्रतिभासों का आकार भी भिन्न भिन्न है। 'अयं शशी'—यह बुद्धि शशी-आकारवाली है, हिमांशु-आकारवाली नहीं है। इसी प्रकार 'अयं हिमांशुः,-यह बुद्धि भी हिमाशु-आकारवाली है, शशी-आकारवाली नहीं है। क्योंकि कल्पना बुद्धि जिस समय 'अयं शशी'-इस प्रकार ग्रहण करती है, उस समय वह 'अयं हिमांशुः'-इस प्रकार परिच्छेद नही करती। फलतः एक ही चन्द्रवस्तु में अनेक वस्तु होने का प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् वह उतना हो जायगा, जितने आकार उन नामपर्यायों (संकेतों) से उत्पन्न कल्पनाओं में प्रतिभासित होते हैं; क्योंकि चन्द्र का, उन संकेतों का अभिधेय होना, आपने वस्तुवशात् स्वीकार किया है। किन्तु चन्द्र एक ही वस्तु है, अनेक नहीं। फलतः चन्द्र का, 'शशी'-शब्द का अभिधेय होना, 'हिमांशु-शब्द का अभिधेय होना या 'राकेश'-शब्द का अभिधेय होना वस्तु के वश से नहीं है; अपितु तत्तत् संकेतों पर निर्भर है।

ग. तृतीय युक्ति—कभी-कभी दो व्यक्तियों के लिये एक ही नाम प्रवृत्त होता है। जैसे—किन्हीं दो सज्जनों को 'उपगुप्त' कहा जाता है। उन दोनों व्यक्तियों का यदि 'उपगुप्त' इस नाम का अभिधेय होना स्वलक्षणतः सत् है, तो ऐसी स्थिति में वे दोनों पुरुष एक हो जायँगे। क्योंकि वे दोनों 'इमौ उपगुप्तः' इस उद्देश्य-विधेय के अवसर पर बुद्धि में भिन्न-भिन्न प्रतिभासित नहीं होते, अपितु उस कल्पना के क्षेत्र में उपगुप्तमात्र प्रतिभासित होता है। यदि अभिधेय स्वलक्षणसत् है, तो उस कल्पना में जैसा प्रतिभास होता है, वैसा ही उन दोनों का स्वभाव हो जायगा। फलतः दोनों व्यक्ति एक हो जायँगे। किन्तु वे दोनों एक नहीं हैं। अतः सिद्ध होता है कि उन दोनों पुरुषों का, 'उपगुप्त'-शब्द का अभिधेय होना, वस्तुवशात् नहीं है, अपितु वह 'उपगुप्त'-इस संकेत पर निर्भरमात्र है।

उपर्युक्त तीनों युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि समस्त धर्मों का अभिधेयत्व अर्थात् अभिधेय होना, वस्तुसत् नहीं है। अभिधेय का स्वलक्षण होना एवं बाह्यार्थ होना इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार बाह्यार्थग्राहकदृष्टि एवं अभिधेयस्वलक्षणग्राहकदृष्टि में भी कोई भेद नहीं है। जो बाह्यार्थग्राहकदृष्टि है, वही अभिधेयस्वलक्षणग्राहकदृष्टि भी है और जो अभिधेयस्वलक्षणग्राहकदृष्टि है, वही बाह्यार्थग्राहकदृष्टि भी है। क्योंकि जब घट का बाह्यार्थत्वेन ग्रहण किया जाता है, तब वह बुद्धि से अत्यन्त दूर एवं पृथक् गृहीत होता है। बुद्धि से एकदम पृथक् ग्रहण होना ही अभिधेयस्वलक्षणग्राहकदृष्टि है। इसे ही ग्राह्यग्राहकद्वयदृष्टि भी कहते हैं।

आर्य असङ्ग के उपर्युक्त दोनों प्रतिपादन प्रकारों का मूल अभिप्राय एक ही है, फिर भी समझाने की दृष्टि से दो विधियाँ अपनायी गयी हैं। दोनों पद्धतियों के प्रतिपाद्य में

यद्यपि कोई भेद नहीं है और दोनों ही के द्वारा बाह्यार्थ से रहितता अर्थात् शून्यता का प्रतिपादन किया गया है; तथापि व्याख्यान की दूसरी पद्धति (द्वितीय प्रतिपादन प्रकार) का रहस्य प्रकट करना कठिन है। द्वितीय प्रतिपादन प्रकार में प्रदर्शित युक्तियों द्वारा क्या सिद्ध किया गया है और कैसे सिद्ध होता है, इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। प्राचीन समय में तिब्बत के विद्वान् कहा करते थे कि आर्य असङ्ग की द्वितीय व्याख्यानपद्धति द्वारा बाह्यार्थ का निराकरण नहीं होता, अपितु उससे केवल अन्यापोह सिद्ध होता है। बाह्यार्थ से रहितता (शून्यता) सिद्ध करनेवाली युक्तियाँ तो प्रथम प्रतिपादन प्रकार में प्रदर्शित युक्तियाँ ही हैं। आचार्य चोंख पा सुमतिकीर्ति से पूर्व तिब्बती विद्वानों में प्रायः ऐसे ही विचार प्रचलित थे। आचार्य चोंखपा सुमतिकीर्ति ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि आर्य असंग के दोनों ही व्याख्यानप्रकार बाह्यार्थ का निराकरण करते हैं और दोनों के अभिप्राय में किञ्चिद् भी भेद नहीं है। उन्होंने अपने इस कथन की पुष्टि के लिये आर्य असंग के अनेक ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत किये और अपनी स्वतन्त्र युक्तियों का भी प्रयोग किया। फलतः बाद के आचार्य भी यही मानने लगे। उनके कथन का आंशिक संकेत हमने ऊपर कर दिया है। विस्तारपूर्वक जानने के लिये उनके 'नेयार्थनीतार्थविभंगशास्त्र' नामक ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए।

आर्य असङ्ग द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त युक्तियों में से प्रथम प्रतिपादन प्रकार में प्रदर्शित युक्तियों का आश्रय लेकर आचार्य वसुबन्धु ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में बाह्यार्थ का निराकरण किया है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने अनेकधा युक्तिपुरःसर बाह्यार्थ का निराकरण किया है। उनमें से हम यहाँ 'सहोपलम्भनियम' नामक युक्ति का संक्षेपतः निरूपण प्रस्तुत कर रहे हैं।

बाह्यार्थवादियों के मत में घट, पट आदि रूप चक्षुर्विज्ञान आदि के आलम्बनप्रत्यय होते हैं और वे चक्षुर्विज्ञान आदि से पूर्व विद्यमान होते हैं। क्योंकि उन घट, पट आदि आलम्बनप्रत्ययों से चक्षुर्विज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिये घट, पट आदि रूप पहले विद्यमान होते हैं तथा चक्षुर्विज्ञान आदि पीछे उत्पन्न होते हैं। फलतः वे (घट आदि रूप एवं चक्षुर्विज्ञान) भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति ने उन (रूप एवं चक्षुर्विज्ञान) की भिन्नकालिकता का निरास कर उन्हें समकालिक सिद्ध किया है। उनका कहना है कि रूप एवं चक्षुविज्ञान प्रत्येक देश एवं प्रत्येक काल में साथ-साथ ही उपलब्ध हुआ करते हैं। अर्थात् जहाँ रूप है, वहाँ चक्षुर्विज्ञान है; जहाँ चक्षुर्विज्ञान है, वहाँ रूप भी है। इसी तरह जिस समय रूप है, उस समय चक्षुर्विज्ञान

है और जिस समय चक्षुर्विज्ञान है, उस समय रूप भी है। रूप और चक्षुर्विज्ञान—ये दोनों निश्चयपूर्वक साथ-साथ उपलब्ध होते हैं। यह स्वसंवेदन द्वारा सिद्ध है। इसे ही 'सहोपलम्भनियम' कहते हैं। इस नियम द्वारा यह सिद्ध होता है कि रूप और चक्षुर्विज्ञान स्वभावतः भिन्न नहीं हैं; क्योंकि इस प्रकार का सहोपलम्भनियम बिना सम्बन्ध के नहीं हो सकता। सम्बन्ध दो ही प्रकार का होता है—१. तदुत्पत्ति सम्बन्ध एवं २. तादात्म्य सम्बन्ध। इन (रूप और चक्षुर्विज्ञान) में तदुत्पत्ति सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि तदुत्पत्ति सम्बन्ध होने पर सहोपलब्धि का नियम नहीं बन सकता। फलतः इनमें तादात्म्य सम्बन्ध ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। जिस प्रकार श्वेत पट और उस पट की श्वेतिमा में तादात्म्य सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार चक्षुर्विज्ञान एवं रूप स्वभावतः एकात्मक हैं, यथा—

सकृत्संवेद्यमानस्य नियमेन धिया सह।
विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति॥
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥[1]

माध्यमिक बीज, अंकुर आदि समस्त धर्मों को निःस्वभाव मानते हैं। उनके निःस्वभावतापक्ष पर आक्षेप करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि बीज में जो अंकुरोत्पादक शक्ति है, यदि वह संवृतिसत्य है अर्थात् परिकल्पितमात्र है, तो उससे अंकुर आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते, जिस प्रकार कि आकाश से किसी वस्तु का उत्पाद सम्भव नहीं है। इस प्रकार निःस्वभावतापक्ष का खण्डन करते हुए उन्होंने बीज आदि वस्तुओं की स्वाभाविक सत्ता प्रतिपादित की है, यथा—

अशक्तं सर्वमिति चेद् बीजादेरंकुरादिषु।
दृष्टा शक्तिर्मता सा चेत् संवृत्यास्तु यथा तथा॥[2]

इस तरह उन्होंने रूप आदि धर्मों का अस्तित्व स्वीकार किया है। फलतः निष्कर्ष यह निकलता है कि धर्मकीर्ति आदि युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी एवं आर्य असङ्ग आदि आगमानुयायी विज्ञानवादी आचार्यों ने रूप आदि धर्मों के अस्तित्व का कभी भी अपलाप नहीं किया है अर्थात् उनका अस्तित्व स्वीकार किया है।

समस्त धर्म स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में विभक्त हैं। जो धर्म हेतु-प्रत्ययों से जनित हैं, वे सब स्वलक्षण हैं। जो हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न नहीं होते, फिर भी जिनका

---

१. द्र०—प्रमाणवार्तिक प्रत्यक्षपरिच्छेद कारिका नं० ३८८–३८९ पृ० २१४।
२. द्र०—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०) का० : ४ पृ० १००–१०१।

अस्तित्व होता है, ऐसे धर्म सामान्यलक्षण होते हैं। आकाश आदि सामान्यलक्षण हैं। तैमिरिकों को दिखलायी पड़नेवाले केशोण्डुक, द्विचन्द्र एवं रज्जु-सर्प आदि सामान्यलक्षण भी नहीं हैं; क्योंकि वे सर्वथा अलीक हैं। उनकी किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। इसीलिये आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं—

केशादयो न सामान्यमनर्थाभिनिवेशतः[1]॥

इस तरह हम देखते हैं कि आकाश यद्यपि स्वलक्षण नहीं हैं, वस्तु नहीं हैं, परिकल्पित हैं; फिर भी उनका अस्तित्व है। इसलिये विज्ञानवादी किसी भी सद्धर्म का अपवाद या खण्डन नहीं करते। जिन धर्मों में जो लक्षण सर्वथा असत् होते हैं, फिर भी जिनका प्रतिभास होता है, ग्रहण होता है और उनके प्रति आसक्ति होती है, ऐसे परिकल्पित लक्षण का खण्डन किया जाता है। जैसे—रूप आदि में बाह्यार्थ का अस्तित्व न कभी था, न है और न कभी होगा; फिर भी अज्ञानवश बाह्यार्थ का प्रतिभास होता है, ग्रहण होता है और उसके प्रति आसक्ति होती है। फलतः उस बाह्यार्थ का प्रतिषेध किया जाता है। उस बाह्यार्थ से रहितता ही 'परिनिष्पन्नलक्षण' है और यही विज्ञानवादियों को शून्यता है, धर्मनैरात्म्य है एवं परमार्थसत्य है। इसी अभिप्राय से आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

तथा हि तस्मिन् विकल्पे...परिनिष्पन्नस्वभावः०—

हमने पहले कहा है कि चक्षुर्विज्ञान रूप का परतन्त्रलक्षण है[2]। इसीलिये चक्षुर्विज्ञान में जो बाह्यार्थ से रहितता है, वही शून्यता रूप की भी शून्यता है। जो रूप में बाह्यार्थ से रहितता है, वही चक्षुर्विज्ञान की भी शून्यता है। अर्थात् दोनों का परिनिष्पन्न लक्षण एक (अभिन्न) ही है। यही बात आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कही है, यथा—

तत्रैकस्याप्यभावेन द्वयमप्यवहीयते।
तस्मात्तदेव तस्यापि तत्त्वं या द्वयशून्यता[3]॥

इसी प्रकार शब्द में जो शून्यता है, वही श्रोत्रविज्ञान की भी शून्यता है और श्रोत्रविज्ञान में जो शून्यता है, वही शब्द की भी शून्यता है। इसी प्रकार सब में जानना चाहिये। फिर भी रूप में जो शून्यता है, वह शब्द आदि की शून्यता नहीं है। उन दोनों (रूप और शब्द) की शून्यता भिन्न-भिन्न है। यही बात अन्य धर्मों के बारे में भी जाननी चाहिये।

---

१. द्र०—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०) का० ७ पृ० १०२।
२. द्र०—त्रिं० १६४ पृ० ३०५।
३. द्र०—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०) का० २१३ पृ० १६४।

यह बाह्यार्थ से रहितता या शून्यता किसी ईश्वर, महेश्वर या ब्रह्मा आदि की कृपा से निर्मित नहीं है और न तो किसी तर्क या युक्ति की वजह से सिद्ध है; अपितु वह सर्वदा स्वतःसिद्ध वस्तु की धर्मता (स्थिति) है। यदि पृथग्जन रूप आदि को बाह्यार्थ समझ लें या आर्य उन्हें (रूप आदि को) बाह्यार्थ से रहित (शून्य) समझ लें तो इससे उन रूप आदि धर्मों की स्थिति में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। वे जैसे अनादिकाल से बाह्यार्थ से रहित हैं, वैसे ही सर्वदा वे बाह्यार्थ से रहित ही रहते हैं। युक्तियों या उपपत्तियों द्वारा जब बाह्यार्थ का खण्डन किया जाता है, तब उससे केवल अपने दिमाग में स्थित बाह्यार्थकल्पना का ही निरास किया जाता है। उससे रूप आदि धर्मों की स्थिति में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। जैसे जिस समय रज्जु में सर्प का ग्रहण हो रहा है, उस समय एक व्यक्ति, जिसमें सर्पबुद्धि का उत्पाद हुआ है, उसे (रज्जु को) सर्प समझता है, वहीं दूसरा व्यक्ति उसे रज्जु ही समझता है। उनका यह समझना अपनी-अपनी बौद्धिक प्रवृत्ति के वश से है, इससे रज्जु की स्थिति में किसी तरह का फर्क नहीं आता।

रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थ से रहितता ही परिनिष्पन्नलक्षण है। विज्ञप्तिमात्रता परिनिष्पन्नलक्षण नहीं है और न तो वह शून्यता ही है। अपितु वह विज्ञप्तिमात्रता संवृति-सत्यरूपा है। यद्यपि सभी धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं, अतः वे समस्त बाह्यार्थ से रहित हो सकते हैं; तथापि विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान परमार्थ सत्य का ज्ञान या शून्यता का ज्ञान नहीं है। उसी प्रकार जैसे कि माध्यमिकों के मत में समस्त धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, अतः वे सब निःस्वभाव हो सकते हैं; किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान शून्यता का ज्ञान नहीं है और न तो प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ही है। प्रस्तुत विषय का निरूपण अभी हम आगे करने जा रहे हैं[1]।

उपसंहार—उपर्युक्त समस्त व्याख्यान का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि आलयविज्ञान से लेकर समस्त वस्तुयें जो सहेतुक हैं, परतन्त्रलक्षण हैं। उन धर्मों में बाह्यार्थत्व, जो धर्मात्मदृष्टि द्वारा कल्पित है, वह परिकल्पितलक्षण हैं और वही शून्यता का प्रतिषेध्य भी है। आकाश, निरोध आदि भी यद्यपि परिकल्पितलक्षण हैं; तथापि वे शून्यता के प्रतिषेध्य नहीं हैं। रूप आदि धर्मों में जो बाह्यार्थत्व आरोपित है, वह बाह्यार्थ सर्वथा असत् है। अर्थात् समस्त धर्म बाह्यार्थ से रहित हैं। वह बाह्यार्थ से रहितता ही परिनिष्पन्नलक्षण है।

यहाँ एक छोटा प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि पुद्गलनैरात्म्य परिनिष्पन्नलक्षण है कि नहीं ?

---

१. द्र०—त्रिं० का० २७ की व्याख्या।

१६६. अत एव स नैवान्यो नानन्यः परतन्त्रतः ।

अत एव स नैवेति परिकल्पितेन स्वभावेन परतन्त्रस्य सदा रहितता परिनिष्पन्नः, रहितता च धर्मता, धर्मता[1] धर्मान्नान्या नानन्या युज्यते । परिनिष्पन्नश्च परतन्त्रधर्मतेत्यतः परतन्त्रात् परिनिष्पन्नो नान्यो नानन्य इति बोद्धव्यः ।

इसलिये (परतन्त्र में परिकल्पित से रहितता परिनिष्पन्न होने से) वह परिनिष्पन्न परतन्त्र से न अन्य ही है और न अनन्य है ।

अत एव स नैवेति—(का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं)—परतन्त्र की परिकल्पित स्वभाव से सदा रहितता परिनिष्पन्न है, रहितता धर्मता है, धर्मता का धर्म से अन्य होना अथवा अनन्य होना युक्त नहीं है । परिनिष्पन्न परतन्त्र की धर्मता है, अतः परिनिष्पन्न परतन्त्र से न अन्य है और न अनन्य है—ऐसा जानना चाहिये ।

इस विषय में भारतीय विज्ञानवादी आचार्यों के शास्त्रों में स्पष्टतया कुछ भी वर्णन उपलब्ध नहीं होता, जिससे एतद्विषयक निःसन्दिग्ध ज्ञान हो सके; तथापि भोटदेशीय अनेक विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया है और अपने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं । फलतः वहाँ दो प्रकार के मत स्थापित हुये । कुछ पण्डितों का कथन है कि पुद्गल नैरात्म्य भी परिनिष्पन्नलक्षण है । वे अपने इस मत की पुष्टि के लिये अनेकों आगम और युक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं । दूसरे प्रकार के विद्वानों का कथन है कि पुद्गलनैरात्म्य (पंचस्कन्धों से भिन्न नित्य, शाश्वत आत्मा से रहितता) परिनिष्पन्नलक्षण नहीं है; अपितु वह परिकल्पित-लक्षण की कोटि में आता है । दोनों पक्षों पर सम्यक् विचार करना विद्वानों का कार्य है और उन्हें इस विषय पर विचार करना चाहिये । जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम दूसरे पक्ष के साथ हैं ।

साधारणतया परिनिष्पन्नलक्षण या शून्यता समस्त धर्मों में व्याप्त है; क्योंकि समस्त धर्मों में वह विद्यमान है; तथापि इस कथन का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि एक ही शून्यता समस्त में व्याप्त है । हमने ऊपर कहा है कि रूप की शून्यता शब्द की शून्यता नहीं है, इसी तरह घट की शून्यता पट की शून्यता नहीं है । फिर भी क्योंकि सब धर्मों में अपनी अपनी शून्यता है अतः मोटे-तौर पर यह कहा जा सकता है कि शून्यता व्यापक है ।

१६६. यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि उपर्युक्त परिनिष्पन्नलक्षण या शून्यता परतन्त्रलक्षण से स्वभावतः भिन्न है, जैसे घट से पट; अथवा वे परस्पर अभिन्न अर्थात् एक हैं ? इसका समाधान करते हुये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

---

१. नास्ति—अ० ।

यदि हि परिनिष्पन्नः परतन्त्रादन्यः स्याद्, एवं न परिकल्पितेन परतन्त्रः शून्यः स्यात्। अथानन्य एवमपि परिनिष्पन्नो न विशुद्ध्यालम्बनः स्यात् परतन्त्रवत् संक्लेशात्मकत्वात्। एवं परतन्त्रश्च न क्लेशात्मकः स्यात्, परिनिष्पन्नाद् अनन्यत्वात् परिनिष्पन्नवत्।

यदि परिनिष्पन्न परतन्त्र से अन्य होगा, तो ऐसी स्थिति में परतन्त्र परिकल्पित से शून्य न हो सकेगा। यदि अनन्य होगा, तब भी जैसे परतन्त्र संक्लिष्ट होने से विशुद्धि का आलम्बन नहीं होता, उसी तरह परिनिष्पन्न भी विशुद्धि का आलम्बन न हो सकेगा। इसी तरह परिनिष्पन्न से अनन्य (अभिन्न) होने के कारण जैसे परिनिष्पन्न क्लेशात्मक नहीं है, उसी तरह परतन्त्र भी क्लेशात्मक न हो सकेगा।

अत एव स नैवान्यो नान०—परिनिष्पन्न लक्षण परतन्त्र से न तो स्वभावतः भिन्न है और न ही वह व्यावृत्तितः अनन्य (एक) है। भिन्न पक्ष का निरास करते हुए आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

यदि हि परिनिष्पन्नः परतन्त्रादन्यः०—यदि बाह्यार्थ से रहितता रूप आदि से भिन्न होगी, तो यह नहीं बन सकेगा कि रूप बाह्यार्थ से शून्य है। बाह्यार्थ से रहितता धर्म है और रूप उसका धर्मी है।

दूसरे (अनन्य) पक्ष का खण्डन करने के लिये आचार्य आगे कहते हैं—

अथानन्य एवमपि०—यदि बाह्यार्थ से शून्यता रूप आदि धर्मों से अनन्य होगी, तो जैसे बाह्यार्थ से रहितता विशुद्धि मार्ग (समाहित ज्ञान) का आलम्बन होती है, वैसे रूप आदि परतन्त्र भी उसके आलम्बन होने लगेंगे। अपि च—जैसे रूप आदि धर्म सांक्लेशिक (सास्रव) होते हैं, वैसे शून्यता भी सास्रव हो जायगी।

विज्ञानवादी एवं माध्यमिक दोनों मतों में यद्यपि शून्यता का स्वरूप भिन्न-भिन्न है; तथापि वह (शून्यता) रूप आदि धर्मों से भिन्न है या अभिन्न (अनन्य)—इस विषय में दोनों की मान्यता समान है। आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र आदि में शून्यता एवं रूप आदि धर्मों को भिन्न स्वभाव मानने पर चार दोष दिखलाये गये हैं तथा उनको नितराम् एकात्मक मानने पर भी चार दोष दिखालाये गये हैं।

यदि शून्यता एवं रूप आदि धर्म स्वभावतः भिन्न होंगे, तो ये दोष होंगे—

क. लोगों को रूप आदि की शून्यता का ज्ञान न हो सकेगा।

ख. रूप आदि के स्वभावाभिनिवेश का प्रहाण न हो सकेगा।

१६७. अनित्यतादिवद् वाच्यो

नान्यो नानन्य इति वाक्यशेषः। यथा ह्यनित्यता दुःखताऽनात्मता च संस्कारादिभ्यो नान्या नानन्या। यदि संस्कारेभ्योऽनित्यता अन्या, एवं तर्हि संस्कारा नित्याः स्युः। अथानन्या एवमपि संस्काराः प्रध्वंसाभावरूपाः[1] स्युः, अनित्यतावत्। एवं दुःखतादिष्वपि वाच्यम्।

(परिनिष्पन्नस्वभाव को) अनित्यता आदि के समान कहना चाहिये। न अन्य और न अनन्य—यह वाक्यशेष है। जैसे कि अनित्यता, दुःखता एवं अनात्मता संस्कार आदि से न अन्य हैं और न अनन्य। यदि संस्कारों से अनित्यता अन्य होगी, तो ऐसी स्थिति में संस्कार नित्य हो जायंगे। यदि (अनित्यता संस्कारों से) अनन्य होगी तो भी जैसे अनित्यता प्रध्वंसस्वभाव है, वैसे संस्कार भी प्रध्वंसस्वभाव हो जायँगे। इसी तरह (अनित्यता के समान) दुःखता आदि के विषय में भी कहना चाहिये।

ग. मार्गाभ्यास द्वारा असक्त, अप्रतिहत एवं निरालम्ब ज्ञान की प्राप्ति असम्भव हो जायगी। फलतः सर्वज्ञता, सर्वाकारज्ञता एवं मार्गज्ञता की प्राप्ति भी दुर्लभ हो जायगी। इस तरह मार्गाभ्यास व्यर्थ होने लगेगा।

घ. ऐसी स्थिति में यह भी कहा जाने लगेगा कि बुद्ध की दृष्टि आलम्बनग्राही थी, वस्तु-स्वभाव में बद्ध थी और उनके सभी दौष्ठुल्य मलों का प्रहाण नहीं हुआ था।

यदि शून्यता और रूप आदि धर्म व्यावृत्तितः भिन्न भिन्न न होंगे, तो ये दोष होंगे—

क. एक के निराकरण से दूसरे का भी निराकरण हो जायगा।

ख. रूप आदि धर्म जैसे अनेक और असदृश हैं, वैसे शून्यता भी अनेक और असदृश होने लगेगी।

ग. रूप आदि के साक्षात्कार से ही शून्यता का भी साक्षात्कार होने लगेगा। ऐसी स्थिति में शून्यता का साक्षात्कार पुरुषार्थ नहीं रह जायगा।

घ. सबसे बड़ा दोष यह होगा कि रूप आदि धर्म जैसे अनेकानेक मलों से युक्त होते हैं, वैसे ही उनसे अभिन्न शून्यता भी अनेकानेक मलों से युक्त होने लगेगी।

१६७. शून्यता रूप आदि धर्मों से न तो स्वभावतः भिन्न है और न अनन्य—इसे दृष्टान्त द्वारा समझाने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) कहते हैं—

अनित्यतादिवद् वाच्यो०—जैसे रूप आदि संस्कार धर्म और उन (रूप आदि धर्मों) की अनित्यता न तो भिन्न है और न अनन्य, इसी तरह रूप आदि धर्म और शून्यता के बारे

---

1. प्रणष्टस्वभाव०—अ०।

में जानना चाहिये। यदि रूप आदि से अनित्यता भिन्नस्वभाव होगी, तो 'रूप अनित्य है'— यह व्यवस्था न हो सकेगी। प्रत्युत रूप एक भिन्न वस्तु तथा अनित्यता एक भिन्न वस्तु हो जायगी। जैसे कि घट पट से भिन्न एक स्वतन्त्र वस्तु है। ऐसी स्थिति में रूप नित्य हो जायगा।

यदि रूप आदि धर्म और अनित्यता एकदम एकस्वभावात्मक हो जायँगे, तो जिस प्रकार अनित्यता विनाशस्वभाव है, उसी प्रकार रूप भी विनाशस्वभाव हो जायगा। फलतः रूप का साक्षात्कार होते ही अनित्यता का साक्षात्कार होने लगेगा। यों रूप विनाश या परिवर्तन स्वभाववाला है; किन्तु सामान्य जन की बुद्धि में वह उस रूप में नहीं आता; अपितु वह वर्ण-संस्थानात्मक ही प्रतिभासित होता है। ऐसा इसलिये होता है; क्योंकि रूप आदि के स्वभाव एवं अनित्यता के स्वभाव में स्थूल-सूक्ष्म का अन्तर होता है। यदि वे एकद। अनन्य हो जायँगे, तो उनके स्वरूप में स्थूल-सूक्ष्म का भी अन्तर नहीं रह जायगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि अनित्यता रूप आदि संस्कार धर्मों से व्यावृत्तितः भिन्न है। इसी प्रकार दुःखता, अनात्मता आदि को भी संस्कार धर्मों से व्यावृत्तितः भिन्न जानना चाहिये।

जब बौद्ध शास्त्रों में भिन्न (अन्य) और अभिन्न (अनन्य) की चर्चा हुआ करती है, तब दो दृष्टि रखना आवश्यक होता है, तथा—१. स्वभावतः भिन्न या अभिन्न तथा २. व्यावृत्तितः भिन्न या अभिन्न।

जो धर्म स्वभावतः भिन्न होते हैं, वे घट, पट की भाँति भिन्न भिन्न होते हैं। जो स्वभावतः अभिन्न होते हैं, वे श्वेत वस्त्र और उसकी श्वेतिमा (सफेदी) की भाँति अभिन्न होते हैं। जो धर्म व्यावृत्तितः भिन्न होते हैं, उनका घट, पट आदि की भाँति भिन्न होना आवश्यक नहीं है, केवल कल्पना के क्षेत्र में उनका स्वरूप भिन्न भिन्न आना चाहिये। व्यावृत्तितः अभेद होने पर तो वस्तु सर्वथा एक हो जाती है, उसके दो नाम भी नहीं होते और कल्पना में एक का ही प्रतिभास होता है। श्वेत वस्त्र और उसकी श्वेतिमा (सफेदी) यद्यपि स्वभावतः भिन्न नहीं (अभिन्न) हैं; तथापि वे व्यावृत्तितः अभिन्न नहीं (भिन्न) हैं; क्योंकि कल्पना में उनका भिन्न प्रतिभास होता है, इसीलिये उनके नाम भी भिन्न भिन्न हैं।

यहाँ शून्यता एवं रूप आदि धर्मों में तथा अनित्यता एवं संस्कार आदि धर्मों में जो भेद-अभेद का प्रसङ्ग चल रहा है, इसमें भिन्न का तात्पर्य स्वभावतः भिन्न से लेना चाहिये और अभिन्न का तात्पर्य व्यावृत्तितः अभिन्न से लेना चाहिये। ऐसा करना न्याय और युक्ति

१६८. यदि ग्राह्यग्राहकभावरहितः परतन्त्रः, कथमसौ गृह्यते ? अगृह्यमाणो वा कथमस्तीति विज्ञायते ? अत आह—

नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते ॥२२॥

यदि परतन्त्र ग्राह्य-ग्राहकभावरहित है, तो इसका ग्रहण कैसे होता है (अर्थात् इसके ग्रहण का प्रकार क्या है) ? यदि गृहीत नहीं होता है, तो 'वह है' यह कैसे जाना जा सकता है ? इसके समाधान के लिये (आचार्य वसुबन्धु) कहते हैं—

इस (परिनिष्पन्न) के विना साक्षात्कार किये परतन्त्र का साक्षात्कार नहीं होता ।

से संगत होगा तथा वस्तुस्थिति के अनुकूल होगा । अन्यथा वात्सीपुत्रीय की आत्मा की भाँति कुछ भी सन्तोषजनक समाधान न हो सकेगा ।

वात्सीपुत्रीय मत में आत्मा पंचस्कन्धों से न भिन्न है और न अभिन्न । जब उनसे यह पूछा जाता है कि आत्मा पंचस्कन्धों से स्वभावतः भिन्न है कि अभिन्न ? तब वे कहते हैं कि हम दोनों नहीं कहेंगे । फिर उनसे जब यह पूछा जाता है कि आत्मा पंच स्कन्धों से व्यावृत्तितः भिन्न है कि अभिन्न ? तब भी वे पहले की ही भांति उत्तर देते हैं । ऐसी स्थिति में उन पर अनेक दोष आपतित होते हैं[1] ।

यहाँ ऐसा नहीं है । यहाँ शून्यता रूप आदि धर्मों से स्वभावतः भिन्न नहीं है, अपितु अभिन्न है । वे दोनों (शून्यता और रूप आदि) व्यावृत्तितः अभिन्न भी नहीं हैं, अपितु व्यावृत्तितः भिन्न हैं ।

समस्त धर्मों की स्थिति यद्यपि बाह्यार्थ से रहित है, अर्थात् उनमें ग्राह्य-ग्राहक द्वैत कथमपि नहीं है; तथापि हमें सर्वदा ग्राह्य-ग्राहकद्वय का आभास होता रहता है और हमारी बुद्धि जब भी किसी विषय का ग्रहण करती है, तो ग्राह्य और ग्राहक के रूप में ही ग्रहण करती है । तात्पर्य यह है रूप आदि धर्मों की स्थिति जैसे हमें प्रतिभासित या गृहीत होती है, वस्तुतः वह वैसी नहीं होती; अपितु वस्तुस्थिति कुछ और ही होती है ।

१६८. यदि ग्राह्यग्राहकभावरहितः पर०—प्रश्न है कि रूप आदि धर्मों का वास्तविक स्वरूप कैसे जाना जा सकता है । यदि ग्राह्यग्राहकभाव जैसा हमें प्रतीतिगोचर होता है, परतन्त्र में वस्तुतः वैसा नहीं है, तो रूप आदि परतन्त्र धर्मों के वास्तविक स्वभाव

---

१. द्र०— ते वाच्याः पुद्गलो नैव विद्यते पारमार्थिकः ।
तत्त्वान्यत्वाद्यवाच्यत्वान्नभःकोकनदादिवत् ॥
—तत्त्व०, प्र० भा०, पृ० १६० और उससे आगे ।

नादृष्टेऽस्मिन्निति परिनिष्पन्नस्वभावे, स दृश्यत इति परतन्त्रः स्वभावः। निर्विकल्पलोकोत्तरज्ञानदृश्ये परिनिष्पन्ने स्वभावे अदृष्टे अप्रतिविद्धे असाक्षात्कृते तत्पृष्ठलब्धशुद्धलौकिकज्ञानगम्यत्वात् परतन्त्रोऽन्येन ज्ञानेन न गृह्यते। अतः परिनिष्पन्ने अदृष्टे परतन्त्रो न दृश्यते। न पुनर्लोकोत्तरज्ञानपृष्ठलब्धेनापि ज्ञानेन न दृश्यते। यथा निर्विकल्पप्रवेशायां धारण्यामुक्तम्—"तत्पृष्ठलब्धेन ज्ञानेन मायामरीचिस्वप्नप्रतिश्रुत्कोदकचन्द्रनिर्मितसमान् सर्वधर्मान् प्रत्येती" ति। अत्र च धर्माः परतन्त्रसंगृहीता अभिप्रेताः। परिनिष्पन्नश्चाकाशवद् एकरसः[1] ज्ञानं च; यथोक्तम्—"निर्विकल्पेन ज्ञानेनाकाशसमतायां सर्वधर्मान् पश्यती" ति परतन्त्रधर्माणां तथतामात्रदर्शनात्।

'अदृष्टेऽस्मिन्' अर्थात् परिनिष्पन्नस्वभाव के विना देखे, 'न स दृश्यते' अर्थात् परतन्त्रस्वभाव दिखलाई नहीं देता। निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान द्वारा दृश्य परिनिष्पन्न स्वभाव के विना देखे अर्थात् विना प्रतिवेध किये, विना साक्षात्कार किये, उस (निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान) के पीछे प्राप्त होनेवाले शुद्ध लौकिक ज्ञान द्वारा ही जानने योग्य होने से परतन्त्र अन्य ज्ञान द्वारा गृहीत नहीं होता। अतः परिनिष्पन्न का विना साक्षात्कार किये परतन्त्र का साक्षात्कार नही होता। ऐसा नहीं है कि लोकोत्तर ज्ञान से पीछे लब्ध होनेवाले ज्ञान से भी दिखलाई नहीं देता (अर्थात् पृष्ठलब्ध ज्ञान से अवश्य दिखलाई देता है)। जैसे—निर्विकल्पप्रवेशधारणी में कहा गया है—"उस लोकोत्तर ज्ञान से पीछे प्राप्त होनेवाले ज्ञान द्वारा (आर्य) समस्त धर्मों को माया, मरीचि, स्वप्न, प्रतिश्रुत्क, उदकचन्द्र और निर्मित के समान जानता है।" यहाँ धर्म परतन्त्र से संगृहीत अभिप्रेत हैं (अर्थात् धारणी में धर्म का तात्पर्य परतन्त्र धर्मों से है।) परिनिष्पन्न तो आकाश के समान एकरस है और ज्ञान भी परतन्त्र धर्मों की तथतामात्र का दर्शन करने से (एकरस है)। जैसे कि कहा गया है—"निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा (आर्य) समस्त धर्मों को आकाश के समान देखता है।"

का ग्रहण कैसे किया जा सकेगा ? विना ग्रहण के तो किसी धर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, फलतः परतन्त्र का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ? प्रश्न का आशय यह नहीं है कि रूप, शब्द आदि का ग्रहण कैसे होगा; अपितु रूप, शब्द आदि की परतन्त्रता अथवा उनकी संवृतिसत्यता का ग्रहण किस ज्ञान द्वारा होगा ? क्योंकि जैसे वे हमें दिखलाई पड़ते हैं अथवा जैसा हम उन्हें समझते हैं, वैसे तो उन धर्मों की स्थिति है नहीं तथा हमारे पास वैसा कोई दूसरा साधन (बुद्धि) है नहीं, जिससे हम उनकी वास्तविक स्थिति का साक्षात्कार कर सकें। फलतः उक्त प्रकार के प्रश्न का अवसर उपस्थित होता है।

---

1. एकरसं—ख०।

सिद्धान्त पक्ष—

नादृष्टेऽस्मिन् स दृश्यते०—जब तक परिनिष्पन्न लक्षण का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक रूप आदि धर्मों की संवृतिसत्यता, परतन्त्रता या उनकी विज्ञप्तिमात्रता का भी साक्षात्कार नहीं हो सकता। शून्यता के साक्षात्कार के बाद ही उसका साक्षात्कार सम्भव है। दर्शनमार्ग से शून्यता का साक्षात्कार प्रारम्भ होता है। आर्यों का समाहित ज्ञान ही शून्यता का साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान (बुद्धि) होता है और वही निर्विकल्प एवं लोकोत्तर भी होता है। निर्विकल्प एवं लोकोत्तर ज्ञान जिस समय उत्पन्न होता है या विद्यमान होता है, उस समय वह केवल शून्यता का ही साक्षात्कार करता है। उस निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान के अनन्तर पृष्ठलब्ध ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। वह (पृष्ठलब्ध ज्ञान) भी यद्यपि आर्यों का ही ज्ञान है अर्थात् आर्यों की सन्तान में ही उत्पन्न होता है, तथापि वह लौकिक ज्ञान होता है, क्योंकि वह संवृतिविषयक होता है और उससे परमार्थ का साक्षात्कार नहीं होता। उस पृष्ठलब्ध ज्ञान की अवस्था में ही रूप आदि धर्मों की संवृतिसत्यता या परतन्त्रता का साक्षात्कार हुआ करता है। इसीलिये यहाँ कहा गया है कि परिनिष्पन्न के साक्षात्कार के विना परतन्त्र का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

विज्ञानवादी एवं माध्यमिक सभी के मत में यह सिद्धान्त स्वीकृत है कि पहले परमार्थ सत्य का साक्षात्कार हुआ करता है, तदनन्तर संवृतिसत्य का साक्षात्कार होता है। रूप, घट, पट आदि धर्म यद्यपि संवृतिसत्य हैं और उनका साक्षात्कार हम सर्वदा करते रहते हैं, तथापि वह संवृतिसत्य का साक्षात्कार नहीं है। वह तो केवल रूप, घट, पट आदि सांवृत धर्मों का साक्षात्कार है। रूप आदि धर्मों की संवृतिसत्यता का ज्ञान तो बहुत बाद में (परिनिष्पन्न के साक्षात्कार के बाद) हुआ करता है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति मिथ्या वचन बोल रहा है। उसके मिथ्या शब्दों का श्रवण हम लोग कर रहे हैं, किन्तु उससे उन वाक्यों के मिथ्यात्व का बोध हमें तत्काल नहीं होता। वह तो हमें बहुत दिन बाद तब होता है, जब हम उनके आधार पर वस्तु की प्राप्ति नहीं करते और उन्हें वाक्यार्थरहित समझ जाते हैं। सर्वप्रथम हमें रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थ से रहितता का साक्षात्कार होता है, तदनन्तर उन (रूप आदि) की मिथ्यता का साक्षात्कार होता है।

आचार्य स्थिरमति आगे कहते हैं कि पृष्ठलब्ध अवस्था में समस्त परतन्त्र धर्म माया, मरीचि, स्वप्न आदि की भाँति दिखलाई पड़ते हैं। अपने इस कथन की पुष्टि में वे निर्विकल्पप्रवेशधारणी नामक सूत्र का **"तत्पृष्ठलब्धेन ज्ञानेन मायामरीचिस्वप्नप्रतिश्रुत्कोदकचन्द्रनिर्मितसमान् सर्वधर्मान् प्रत्येति"** यह वचन उद्धृत करते हैं।

मायिक हस्ती, मायिक अश्व आदि यद्यपि वास्तविक हस्ती या वास्तविक अश्व नहीं हैं; तथापि सामान्य जन उन्हें मिथ्या नहीं समझ पाता। उन्हें मिथ्या वही व्यक्ति समझ पाता है, जो उन्हें वास्तविक हस्ती एवं वास्तविक अश्व से रहित समझता है। सूत्र एवं शास्त्रों में जहाँ माया, मरीचि, स्वप्न आदि की उपमा देकर जिन धर्मों का वर्णन उपलब्ध होता है, वहाँ उन समस्त धर्मों का परतन्त्रलक्षण से ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि जैसे माया आदि हेतु-प्रत्ययों से निर्मित हैं, उसी प्रकार परतन्त्रलक्षण भी हेतुप्रत्ययों से निर्मित हैं। परिकल्पित लक्षण एवं परिनिष्पन्न लक्षण की उपमा माया, स्वप्न आदि से नहीं दी गई है। अपितु परिकल्पित लक्षण की उपमा खपुष्प से तथा परिनिष्पन्नलक्षण की उपमा आकाश से दी गई है।

'रूप आदि धर्म मायातुल्य हैं'—इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे निःस्वभाव हैं। अपितु इसका अर्थ केवल इतना है कि जिस प्रकार माया के वश से दिखलाई पड़नेवाले रूप आदि धर्म बाह्यतः सत् नहीं हैं तथा वे उन देखनेवालों की बुद्धि के विकार हैं, जिनकी बुद्धि मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से दूषित कर दी गयी है; ठीक इसी प्रकार आलयविज्ञान में विभिन्न प्रकार के बीज सन्निहित हैं, जो मन्त्र, औषधि आदि की भाँति हैं, उनके वश से हमें रूप आदि धर्म दिखलाई पड़ते हैं। इससे अतिरिक्त रूप आदि धर्मों की बाह्यतः सत्ता नहीं है। फलतः रूप आदि समस्त बाह्य धर्म मिथ्या हैं या विज्ञान के परिणाम (विकार) हैं। फिर भी इन सब की मिथ्यता का बोध सामान्य पृथग्जन को नहीं हुआ करता।

सामान्य पृथग्जन मायादर्शकों की भाँति होते हैं। मायादर्शकों को यह प्रतिभास (ग्रहण) हुआ करता है कि जिन मायिक हस्ती एवं मायिक अश्वों को वे देख रहे हैं, वे वास्तविक हस्ती एवं वास्तविक अश्व हैं। उन्हें न केवल प्रतिभास ही होता है; अपितु उनमें उनके प्रति अभिनिवेश भी होता है। अर्थात् वे दर्शक अपने मन में ठीक प्रकार से यह समझते हैं कि वास्तविक हस्ती आ रहा है एवं वास्तविक अश्व दौड़ रहे हैं—इत्यादि। ठीक इसी प्रकार हम पृथग्जनों को भी रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थता का प्रतिभास भी होता है और हमें उनमें अभिनिवेश भी होता है अर्थात् हम उन्हें बाह्यार्थतः सत् भी समझते हैं।

माया दिखलानेवाले ऐन्द्रजालिक पुरुष को हस्ती, अश्व आदि दिखलाई तो पड़ते हैं अर्थात् हस्ती, अश्व आदि के प्रतिभास के विषय में माया दिखलानेवाले और माया देखनेवालों में कोई अन्तर नहीं होता; तथापि माया दिखलानेवाले में उन हस्ती, अश्व आदि का अभिनिवेश नहीं हुआ करता। अर्थात् वह यह नहीं समझता कि ये दिखलाई पड़नेवाले (प्रतिभासित) हस्ती, अश्व आदि वास्तविक हैं। अपितु वह यह समझता है कि ये हस्ती,

अश्व आदि मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से निर्मित हैं, वास्तविक नहीं। सम्मुख प्रतिभासित हस्ती, अश्व आदि को वह पहले से ही वास्तविक हस्ती, अश्व आदि से रहित समझता है। अर्थात् उनके मिथ्यात्व का उसे पहले से ही ज्ञान होता है।

पृष्ठलब्ध अवस्था में स्थित आर्य मायाकार (माया दिखलानेवाले) की भाँति होता है। उन्हें (ऐसे आर्यों को) रूप आदि धर्मों में बाह्यार्थ का प्रतिभास तो होता है; किन्तु उन धर्मों के प्रति उनमें अभिनिवेश नहीं होता। अर्थात् वे यह नहीं समझते कि ये रूप आदि धर्म बाह्यार्थतः सत् हैं। इसी तरह वे सभी धर्मों के प्रति ऐसा ही समझते हैं। वे यह समझते हैं कि रूप आदि तो विज्ञप्तिमात्र हैं; क्योंकि समाहित ज्ञान की अवस्था में ही पहले उन्होंने उन रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थ से रहितता (शून्यता) का साक्षात्कार कर लिया है। दिखलाई कुछ और पड़ना तथा वस्तुस्थिति कुछ और होना, यह माया या मिथ्या का स्वरूप है। 'यह इस प्रकार दिखलाई तो पड़ता है, किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है, अपितु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है'—ऐसा जानना मिथ्या को जानना कहलाता है। अर्थात् ऐसा जाननेवाला ज्ञान मिथ्या को जाननेवाला ज्ञान कहलाता है। अत एव आर्यों की पृष्ठलब्ध अवस्था में ही रूप आदि धर्मों के मिथ्यात्व का वास्तविक ज्ञान होता है। अर्थात् इसी अवस्था में उन्हें रूप आदि धर्मों की परतन्त्रता, संवृतिसत्यता या विज्ञप्तिमात्रता का साक्षात्कार होता है।

मायाकार (माया दिखलानेवाला) एवं मायाद्रष्टा (माया देखनेवाला) दोनों ही की आँखें दूषित होती हैं, इसीलिये उन दोनों को हस्ती, अश्व आदि प्रतिभासित होते हैं। ठीक इसी प्रकार पार्थग्जनिक ज्ञान एवं पृष्ठलब्ध अवस्था का ज्ञान, दोनों ही ग्राह्यग्राहक वासना से दूषित होते हैं। फलतः दोनों ही अवस्था में बाह्यार्थ का अथवा ग्राह्यग्राहकद्वय का प्रतिभास होता है। बुद्ध उस निर्मलनेत्रवाले पुरुष की भाँति हैं, जिसके नेत्र मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से दूषित नहीं हैं। दोषरहित आँखवाले पुरुष को न तो मायिक हस्ती, अश्व आदि का प्रतिभास होता है और न उनके प्रति उसे अभिनिवेश ही होता है। अपितु उसे वहाँ केवल तृण, प्रस्तर, काष्ठ आदि ही दिखलाई पड़ते हैं, वे उन तृण, काष्ठ आदि को जानते हैं जो माया के आधार हैं। ठीक इसी प्रकार बुद्धत्व की अवस्था में न तो रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थता का प्रतिभास होता है और न उनके प्रति अभिनिवेश होता है। अपितु उनको केवल रूप आदि दिखलाई पड़ते हैं। वे उन रूप आदि को जानते हैं, जो रूप-बाह्यार्थ, शब्दबाह्यार्थ आदि प्रतिभासों के आधार हैं। साथ ही उन्हें रूप आदि की बाह्यार्थत्व से शून्यता का भी सर्वदा साक्षात्कार होता रहता है। बुद्ध सर्वदा और सर्वथा रूप आदि वस्तुओं

और उनकी बाह्यार्थ से शून्यता दोनों को जानते रहते हैं। अतः बुद्ध में समाहित और पृष्ठलब्ध दोनों ज्ञान अभिन्न या एक हो जाते हैं। अर्थात् दो पृथक् अवस्थायें नहीं रहतीं, अपितु एक ही अवस्था रहती है। उनका जो पृष्ठलब्ध ज्ञान है, वही समाहित ज्ञान है और जो समाहित ज्ञान है, वही पृष्ठलब्ध ज्ञान है।

हम यहाँ पुनः एक बार कहना चाहते हैं कि मायाकार जब तृण, काष्ठ, प्रस्तर आदि का आश्रय लेकर मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से हस्ती, अश्व आदि का प्रदर्शन करता है, तो सामान्य दर्शक जनों को हस्ती, अश्व आदि दिखलाई पड़ने लगते हैं और स्वयं उसे भी वैसे दिखलाई पड़ते हैं; फिर भी हस्ती, अश्व आदि उन तृण, काष्ठ, प्रस्तरों में पहले भी कभी नहीं थे, मायाकार द्वारा दिखलाये जाते समय भी नहीं होते तथा अनागत में भी कभी नहीं होंगे। अपितु वहाँ केवल तृण, काष्ठ, प्रस्तर आदि ही थे, हैं और रहेंगे। माया देखनेवाले चाहे जो कुछ देखें और दिखलानेवाला चाहे जो कुछ दिखलाये, वे तृण, काष्ठ आदि कभी हस्ती, अश्व आदि नहीं बनते। वे अपनी जगह पर जैसे हैं, वैसे ही रहते हैं, उनमें कोई विकार नहीं होता। मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से जिनकी आँखें दूषित नहीं हैं, ऐसे निर्मल नेत्रवाले पुरुषों को वहाँ हस्ती, अश्व आदि प्रतिभासित नहीं होते; फिर भी तृण, काष्ठ, प्रस्तर आदि अवश्य दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा नहीं है कि जब मायानिर्मित हस्ती अश्व आदि दिखलाई न पड़ें, तो तृण, काष्ठ आदि भी न दिखलाई पड़ते हों। तृण, काष्ठ आदि उन्हें वहाँ इसलिये दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि वे वहाँ विद्यमान होते हैं। हस्ती, अश्व आदि इसलिये वहाँ दिखलाई नहीं पड़ते क्योंकि उन (देखनेवालों) की आँखें मन्त्र, औषधि आदि के प्रभाव से दूषित नहीं होतीं। ठीक इसी प्रकार रूप आदि धर्म हम पृथग्जनों को बाह्यार्थत्वेन प्रतिभासित होते हैं; फिर भी बाह्यार्थत्व उन रूप आदि धर्मों में न कभी था, न है और न कभी होगा। बुद्ध को केवल रूप आदि का ही भास होता है, उन्हें बाह्यार्थ आभासित नहीं होता। ऐसा इसलिये होता है; क्योंकि उनका ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक वासनाओं से दूषित नहीं है। बाह्य अर्थ या ग्राह्य-ग्राहकद्वय के न होने पर भी रूप आदि तो विद्यमान होते ही हैं, जैसे कि माया द्वारा प्रदर्शित हस्ती, अश्व आदि के न होने पर भी तृण, काष्ठ, प्रस्तर आदि विद्यमान होते हैं। अतएव जो धर्म असत् हैं; फिर भी सत् दिखलाई पड़ते हैं, उनका खण्डन करना है। जो धर्म विद्यमान हैं, उनका खण्डन करना भी नहीं है और कर भी नहीं सकते।

परिनिष्पन्नश्चाकाशवद्०—उपर्युक्त निर्विकल्पप्रवेशधारणी सूत्र में ही परिनिष्पन्न आकाश के समान कहा गया है। जिस प्रकार आकाश में विविधता नहीं होती और वह सब में

१६९. यदि द्रव्यमेव परतन्त्रः, कथं सूत्रे सर्वधर्मा निःस्वभावा अनुत्पन्ना अनिरुद्धा इति निर्दिश्यन्ते ? नास्ति विरोधः, यस्मात्—

त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निःस्वभावताम् ।
संधाय सर्वधर्माणां देशिता निःस्वभावता ॥ २३ ॥

त्रय एव स्वभावाः, न चतुर्थोऽस्तीति ज्ञापनार्थं संख्यानिर्देशः। स्वेन स्वेन लक्षणेन विद्यमानवद् भवतीति स्वभावः[1]। त्रिविधा निःस्वभावता—लक्षण-निःस्वभावता उत्पत्तिनिःस्वभावता परमार्थनिःस्वभावता च। सर्वधर्माः परिकल्पित-परतन्त्र-परिनिष्पन्नात्मकाः।

यदि परतन्त्र द्रव्यसत् ही है, तो (पारमिता) सूत्रों में समस्त धर्म निःस्वभाव, अनुत्पन्न, अनिरुद्ध कैसे निर्दिष्ट किये गये हैं ? (समाधान) सूत्रविरोध नहीं है; क्योंकि--

तीन प्रकार के स्वभाव की तीन प्रकार की निःस्वभावता का लक्ष्य करके (सूत्रों में) समस्त धर्मों की निःस्वभावता उपदिष्ट है।

स्वभाव तीन ही हैं, चौथा नहीं—इसे दिखलाने के लिये ('त्रिविध' इस प्रकार) संख्या का निर्देश किया गया है। अपने अपने लक्षणों से विद्यमान की तरह होते हैं, इस लिये 'स्वभाव' कहे जाते हैं। तीन प्रकार की निःस्वभावता (इस प्रकार है)—लक्षण-निःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता एवं परमार्थनिःस्वभावता। समस्त धर्मों का तात्पर्य परिकल्पितात्मक, परतन्त्रात्मक एवं परिनिष्पन्नात्मक धर्मों से है।

व्यापक होता है, उसी प्रकार शून्यता में भी विविधता नहीं होती और वह सबमें व्यापक होती है। यद्यपि घट में रहनेवाला आकाश और मठ में रहनेवाला आकाश भिन्न-भिन्न हैं; फिर भी दोनों आकाशों के स्वरूप में भेद नहीं होता; उसी प्रकार यद्यपि रूप की शून्यता और शब्द की शून्यता अलग-अलग है; तथापि उन दोनों शून्यताओं के स्वरूप में भेद नहीं होता; अपितु जब समाहित ज्ञान शून्यता का साक्षात्कार करता है, तो एकरसानुभूति होती है।

१६९. ऊपर कहा गया है कि रूप आदि परतन्त्रलक्षण धर्म द्रव्यतः सत् अर्थात् वस्तुतः सत् हैं। इसी वजह से उनमें परिकल्पित लक्षण का आरोप हो सकता है और परिनिष्पन्न लक्षण की व्यवस्था भी हो सकती है। यदि परतन्त्रलक्षण की वस्तुसत्ता न होगी, तो तीनों लक्षणों का अपवाद हो जायगा। किन्तु प्रश्न है कि परतन्त्र की वस्तुसत्ता मानने

---

१. नास्ति—ब०।

पर सूत्रविरोध कैसे नहीं होगा; क्योंकि सूत्रों में अनेकत्र समस्त धर्म निःस्वभाव कहे गये हैं। पूर्वपक्षी (माध्यमिक) यही आक्षेप उठाते हुये कहता है—

यदि द्रव्यमेव परतन्त्रः कथं सूत्रे०—यदि परतन्त्र की द्रव्यसत्ता है, तो प्रज्ञापारमिता सूत्रों में यह कैसे कहा गया है कि 'समस्त धर्म निःस्वभाव हैं, अनुत्पन्न हैं, अनिरुद्ध हैं'[1] इत्यादि।

सिद्धान्त पक्ष—

नास्ति विरोधः०—यद्यपि हम (विज्ञानवादी) परतन्त्र की द्रव्यसत्ता मानते हैं; तथापि हमारी इस मान्यता का नैःस्वाभाव्य, अनुत्पाद एवं अनिरोध का प्रतिपादन करनेवाले सूत्रों से कोई विरोध नहीं है। भगवान् ने जो समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि परिकल्पित लक्षणनिःस्वभाव हैं, परतन्त्र उत्पत्तिनिःस्वभाव हैं तथा परिनिष्पन्न परमार्थनिःस्वभाव हैं।

भगवान् ने तीन धर्मचक्र प्रवर्तित किये हैं। विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रथम और द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन नेयार्थ हैं। अर्थात् इन धर्मचक्रप्रवर्तनों में भगवान् ने जो सूत्र उपदिष्ट किये हैं, वे नीतार्थ न होकर नेयार्थ[2] हैं। केवल अन्तिम या तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन में ही नीतार्थ सूत्रों[2] की देशना की गयी है।

प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन भगवान् ने सारनाथ में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के सम्मुख किया था। इसमें चार आर्यसत्यों की देशना से प्रारम्भ करके समस्त धर्मों को बाह्यार्थतः सत् निरूपित किया गया था तथा पुद्गलनैरात्म्य ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग बतलाया गया था। इसमें उपदिष्ट सूत्र प्रधानतः श्रावकयानिक पुद्गलों के लिये हैं। समस्त धर्मों को बाह्यार्थतः सत् निर्दिष्ट करने के कारण विज्ञानवादियों के मत से ये सूत्र नेयार्थ हैं।

द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर किया गया था, जो समस्त धर्मों की निःस्वभावता का निर्देशक है। इस धर्मचक्रप्रवर्तन के समय उपदिष्ट सूत्र महायानसूत्र हैं। इनमें शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र मुख्य हैं। ये सूत्र समस्त धर्मों को निःस्वभाव दिखलाते हैं, अतः विज्ञानवादियों के अनुसार ये भी नेयार्थ सूत्र हैं; किन्तु इनका अभिप्राय जैसा ग्रहण करना चाहिये, वह नीचे प्रदर्शित किया जा रहा है।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन भगवान् ने वैशाली में किया था, जो समस्त धर्मों की यथार्थ

---

१. शतसाहस्रिका आदि सभी पारमिता सूत्रों में बहुधा उल्लिखित है।

२-२. विज्ञानवादियों के मतानुसार—जो सूत्र यथाशब्द स्वीकार करने योग्य नहीं होते जिनका अर्थ अन्यथा लेना होता है, वे सूत्र नेयार्थसूत्र है। यथाशब्द अर्थ लेने में कोई दोष नहीं हो तो वे सूत्र नीतार्थसूत्र हैं।

१७०. इदानीं त्रिविधस्य स्वभावस्य या यस्य निःस्वभावता, तां प्रदर्शयन्नाह—

प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावोऽपरः पुनः ।
न[1] स्वयम्भाव एतस्येत्यपरा निःस्वभावता ॥२४॥
धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथतापि सः ।

प्रथम (परिकल्पित) लक्षण से ही निःस्वभाव है । अपर (परतन्त्र) का स्वतः भाव नहीं है (अर्थात् हेतु-प्रत्ययों से उत्पत्ति होती है), अतः इसकी दूसरी निःस्वभावता अर्थात् उत्पत्तिनिःस्वभावता है । वह (परिनिष्पन्नलक्षण) क्योंकि (परतन्त्र) धर्मों का परमार्थ (धर्मता) है और वह तथता भी है, इसलिये वह (परिनिष्पन्न स्वभाव) परमार्थनिःस्वभावता है ।

स्थिति का निर्देशक है । इस धर्मचक्रप्रवर्तन के समय उपदिष्ट सूत्रों में आर्य-सन्धिनिर्मोचन आदि प्रमुख हैं । इस (सन्धिनिर्मोचन सूत्र) में बोधिसत्त्वों ने भगवान् से पूछा—हे भगवन्, आपने प्रथम बार सारनाथ आदि में तो रूप आदि धर्मों को बाह्यार्थतः सत् निर्दिष्ट किया तथा उसके बाद द्वितीय बार प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों का उपदेश करते समय समस्त धर्मों को निःस्वभाव निरूपित किया । भगवन्, आपके वचन में विरोध की तो कथमपि सम्भावना नहीं है । ऐसी स्थिति में भगवन्, आप हमें बतलाइये कि किस अभिप्राय से आपने समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है ? भगवान् ने कहा—बोधिसत्त्वो, तीन निःस्वभावताओं को ध्यान में रखकर मैंने समस्त धर्मों को निःस्वभाव कहा है । इस तरह बोधिसत्त्व प्रश्न करते रहे और भगवान् ने उनकी शङ्काओं का निरास करते हुये तीन लक्षणों का विस्तारपूर्वक प्रवचन किया ।[2] इस सूत्र के आधार पर ही विज्ञानवादी आचार्यों ने अपना सिद्धान्त स्थापित किया । इसलिये इस तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन के समय उपदिष्ट सूत्र ही विज्ञानवादियों के अनुसार नीतार्थ सूत्र हैं ।

माध्यमिक मत के अनुसार तृतीय धर्मचक्र नीतार्थ नहीं माना जाता; अपितु वे द्वितीय धर्मचक्र को ही, जिसमें निःस्वभावताविषयक प्रज्ञापारमिता आदि सूत्र निर्दिष्ट हैं, नीतार्थ मानते हैं । प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन को नीतार्थ माननेवाला कोई माहायानिक सिद्धान्तवादी नहीं है । केवल वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि ही उसे नीतार्थ मानते हैं । अर्थात् उन सूत्रों का अर्थ यथाशब्द स्वीकार करते हैं ।

त्रिविध निःस्वभावता का स्वरूप—

१७०. इदानीं त्रिविधस्य स्वभावस्य०—प्रथम अर्थात् परिकल्पित लक्षणतः

---

१. नास्ति—भ० ।

२. द्र०—आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र, तिब्बती कंजूर, पु० सं० २१ (जापानी संस्करण) ।

१७१. प्रथमः परिकल्पितः स्वभावः, अयं च लक्षणेनैव निःस्वभावः, तल्लक्षणस्योत्प्रेक्षितत्वात्; रूपणालक्षणं[1] रूपम्, अनुभवलक्षणा वेदनेत्यादि। अतश्च स्वरूपाभावात् खपुष्पवत् स्वरूपेणैव निःस्वभावः।

प्रथम का तात्पर्य परिकल्पित स्वभाव से है। यह (परिकल्पित) लक्षण (स्वरूप) से ही निःस्वभाव है; क्योंकि उसका 'रूपणलक्षण रूप है या अनुभवलक्षण वेदना है'—इत्यादि लक्षण आरोपित मात्र है। इसलिये खपुष्प के समान स्वरूपतः अभाव होने से (परिकल्पित स्वभाव) स्वरूप से ही निःस्वभाव है।

निःस्वभाव है। दूसरा परतन्त्र उत्पत्तितः निःस्वभाव है। तीसरा परिनिष्पन्न परमार्थतः निःस्वभाव है। ऐसा नहीं है कि ये तीनों सर्वथा निःस्वभाव हैं, जैसा कि माध्यमिक मानते हैं। तीनों निःस्वभावताओं को नीचे क्रमशः दिखलाया जा रहा है।

१. लक्षणनिःस्वभावता—

१७१. प्रथमः परिकल्पितः स्व०—परिकल्पित स्वभाव लक्षणनि.स्वभाव इसलिये है; क्योंकि वह शब्दसंकेत या कल्पना द्वारा आरोपितमात्र या प्रज्ञप्तमात्र होता है। उसका अपना स्वलक्षणतः अस्तित्व या उसकी वस्तुसत्ता नहीं होती। हमने पहले कहा है कि सामान्य पृथग्जन जब रूप आदि धर्मों को देखते हैं, तब वे उनमें 'यह रूप है, यह घट है' इत्यादि प्रकार से बाह्यार्थत्व का अभिनिवेश और अभिधेयत्व का आरोप किया करते हैं। 'कम्बु के समान ग्रीवावाला होने से यह घट है' इत्यादि प्रकार से सम्मुखस्थ पिण्ड में लक्षणों द्वारा संकेतग्रह हुआ करता है। इसी तरह समस्त धर्मों में नामसंकेत या शब्दसंकेत द्वारा अभिधेयत्व का आरोप हुआ करता है। फलतः अभिधेयत्व की वस्तुसत्ता नहीं होती। इसी तरह बाह्यार्थत्व भी कल्पना द्वारा आरोपितमात्र होता है, अत; उसकी भी वस्तुसत्ता नहीं होती। इसीलिये परिकल्पितस्वभाव लक्षणनिःस्वभाव कहा गया है।

स्थिरमति ने अपनी टीका में 'रूपणालक्षणं रूपम्, अनुभवलक्षणा वेदना' (अर्थात् रूप रूपणलक्षण होता है और वेदना अनुभवलक्षण होती है) इत्यादि प्रकार से लक्षणों का कथन करके उनकी लक्षणनिःस्वभावता का प्रतिपादन किया है; किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि रूप रूपण से निःस्वभाव है और वेदना अनुभव से निःस्वभाव है; अपितु उनका आशय केवल इतना ही है कि रूप में जो रूपशब्द की अभिधेयता है और वेदना में जो वेदना-शब्द की अभिधेयता है, वह नामसंकेत या शब्दसंकेत द्वारा प्रज्ञप्तमात्र है। रूप में रूपण स्वभाव होने से एवं वेदना में अनुभव स्वभाव होने से उन्हें रूप एवं वेदना की संज्ञा प्रदान की

---

१. रूपलक्षणं—अ०।

१७२. अपरः पुनरिति परतन्त्रस्वभावः। न[1] स्वयम्भाव[1] एतस्य मायावत् परप्रत्ययेनोत्पत्तेः। अतश्च यथा प्रख्याति तथाऽस्योत्पत्तिर्नास्तीति, अतोऽस्य उत्पत्तिनिःस्वभावतेत्युच्यते!

अपर का तात्पर्य परतन्त्र स्वभाव से है। इसका स्वतः भाव नहीं है, क्योंकि जैसे माया परप्रत्यय से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह भी पर हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। अतः जिस प्रकार (परतन्त्र) प्रतीत होता है, वैसे इसकी उत्पत्ति नहीं है, इसलिये इसकी उत्पत्तिनिःस्वभावता कही जाती है।

जाती है। उस समय रूप एवं वेदना लक्ष्य होते हैं तथा रूपण एवं अनुभव लक्षण होते हैं। जब लक्ष्य और लक्षण को मिश्रित करके संकेत किया जाता है, तब उनमें अभिधेयत्व आ जाता है। ऐसे ही समस्त धर्मों में होता है। इस तरह रूप आदि धर्मों में जिन अभिधेयत्व एवं बाह्यार्थत्व का आरोप किया जाता है, वे अभिधेयत्व एवं बाह्यार्थत्व आदि रूप आदि धर्मों के स्वभाव में बिलकुल नहीं होते; अपितु वे सब सर्वथा उसी प्रकार निःस्वभाव होते हैं, जैसे खपुष्प निःस्वभाव होता है।

२. उत्पत्तिनिःस्वभावता—

१७२. अपरः पुनरिति परतन्त्र०—परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव इसलिये हैं; क्योंकि वह स्वतः उत्पन्न नहीं है; अपितु अन्य हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मायिक हस्ती, अश्व आदि मन्त्र, औषधि, मायाकार की इच्छा, प्रयत्न आदि हेतुओं से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परतन्त्र धर्म भी अन्य हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। उनमें स्वतः (अपने आप) उत्पन्न होने का सामर्थ्य नहीं होता।

अतश्च यथा प्रख्याति तथा०—टीकाकार उत्पत्तिनिःस्वभावता का दूसरे प्रकार का व्याख्यान करते हुये कहते हैं कि रूप आदि परतन्त्र धर्म जिस प्रकार हमें दिखलाई पड़ते हैं, उस प्रकार उनका उत्पाद नहीं होता। हमें रूप आदि धर्म सर्वथा बाह्यार्थतः उत्पन्न होते दिखलाई पड़ते हैं; किन्तु वस्तुतः वे बाह्यार्थतः उत्पन्न नहीं होते। यह बात पहले भी अनेकधा कही गयी है।

इस उत्पत्तिनिःस्वभावता का यह अभिप्राय कथमपि नहीं है कि रूप आदि परतन्त्र धर्मों की उत्पत्ति होती ही नहीं; अपितु इसका आशय केवल इतना है कि रूप आदि धर्मों की स्वतः उत्पत्ति नहीं होती और बाह्यार्थतः उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए परतन्त्र धर्म उत्पत्तिनिःस्वभाव कहे गये हैं।

१—१. नन्वयं भाव—अ०।

१७३ धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथताऽपि स इति—परमं हि लोकोत्तरज्ञानं निरुत्तरत्वात्, तस्यार्थः परमार्थः। अथ वा आकाशवत् सर्वत्रैकरसार्थेन वैमल्याविकारार्थेन च परिनिष्पन्नः स्वभावः परमार्थ उच्यते। स यस्मात् परिनिष्पन्नः स्वभावः सर्वधर्माणां परतन्त्रात्मकानां परमार्थः तद्धर्मतेति कृत्वा, तस्मात् परिनिष्पन्न एव स्वभावः परमार्थनिःस्वभावता, परिनिष्पन्नस्याभावस्वभावत्वात्।

(परतन्त्रात्मक) धर्मों का वह (परिनिष्पन्न स्वभाव) क्योंकि परमार्थ (धर्मता) है और वह तथता भी है—इसका तात्पर्य इस प्रकार है—परम का तात्पर्य लोकोत्तर ज्ञान से है; क्योंकि उससे श्रेष्ठ कोई और ज्ञान नही होता, उस (लोकोत्तर ज्ञान) का विषय परमार्थ है। अथवा आकाश के समान सर्वत्र एकरस, विमल और अविकार होने से इस अर्थ में परिनिष्पन्न स्वभाव परमार्थ कहलाता है। वह परिनिष्पन्न स्वभाव क्योंकि 'उनकी धर्मता' (तद्धर्मता) ऐसा अर्थ करके समस्त परतन्त्र धर्मों का परमार्थ है—इसलिये परिनिष्पन्न स्वभाव ही परमार्थनिःस्वभावता है, क्योंकि परिनिष्पन्न अभावस्वभाव है।

---

३. परमार्थनिःस्वभावता—

१७३. धर्माणां परमार्थश्च स०—आर्यसन्धिनिर्मोचन सूत्र में दो प्रकार की परमार्थनिःस्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। एक का सम्बन्ध परतन्त्र स्वभाव से है और दूसरी का परिनिष्पन्न स्वभाव से है।

क. प्रथम परमार्थनिःस्वभावता—रूप अदि परतन्त्रलक्षण धर्म परमार्थनिःस्वभाव इसलिये हैं; क्योंकि जो परमार्थ होता है, वह तो विशुद्धमार्ग (आर्य के समाहित ज्ञान) का आलम्बन हुआ करता है और रूप आदि परतन्त्र तो विशुद्धिमार्ग के आलम्बन हैं नहीं; फलतः परतन्त्रलक्षण धर्म परमार्थनिःस्वभाव होते हैं। तात्पर्य यह है कि विशुद्धिमार्ग का आलम्बन ही परमार्थसत्य होता है। रूप आदि विशुद्धिमार्ग के विषय नहीं हैं। इसलिये परतन्त्रलक्षण परमार्थनिःस्वभाव कहा गया है।

यहाँ यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि तब तो परिकल्पितलक्षण को भी परमार्थनिःस्वभाव कहना चाहिए; क्योंकि वह भी तो विशुद्धिमार्ग का आलम्बन नहीं होता ?

इसका समाधान भोटदेशीय महापण्डित आचार्य चोंखापा सुमतिकीर्ति ने निम्नप्रकार से किया है—

उनका कहना है कि सामान्य जन को यह सन्देह हो सकता है कि परिनिष्पन्नलक्षण तो परतन्त्रलक्षण की धर्मता है। अर्थात् परिनिष्पन्नलक्षण धर्म है और परतन्त्रलक्षण धर्मी है। धर्म का ग्रहण बिना धर्मी के नहीं हो सकता। अतः जब परिनिष्पन्नलक्षण विशुद्धिमार्ग

का आलम्बन होता है, तब परतन्त्रलक्षण भी उस (विशुद्धिमार्ग) का आलम्बन अवश्य हो ही जायगा ? सामान्य जन के इस सन्देह का निराकरण करने के लिये भगवान् ने परतन्त्रलक्षण को परमार्थनिःस्वभाव कहा है। परिकल्पितलक्षण के विषय में इस प्रकार के सन्देह का अवकाश ही नहीं हैं, अतः उसे परमार्थनिःस्वभाव कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

ख. द्वितीय परमार्थनिःस्वभावता—यह निःस्वभावता यहाँ **'धर्माणां परमार्थश्च स यतस्तथताऽपि सः'** द्वारा प्रतिपादित की गयी है। परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थनिःस्वभाव इसलिये है; क्योंकि वह 'परम' अर्थात् लोकोत्तर ज्ञान का विषय है। आर्यों का समाहित ज्ञान ही परम ज्ञान है। इसे 'परम' इसलिये कहते हैं, क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान होता है। अर्थात् इससे श्रेष्ठ कोई दूसरा ज्ञान नहीं है। इसलिये यह लोकोत्तर भी कहलाता है। यह ज्ञान सर्वदा शून्यता का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार इस परम ज्ञान का विषय होने से परिनिष्पन्नलक्षण (शून्यता) परमार्थनिःस्वभाव कहा गया है।

व्याख्यानानन्तर—

अथ वा आकाशवत् सर्वत्रैकरस०—आकाश स्वभावतः निर्मल एवं विकाररहित होता है। यद्यपि घटाकाश, मठाकाश आदि भेद से आकाश विविध प्रकार का होता है; तथापि वह एकरस होता है, उसी प्रकार समस्त धर्मों का परिनिष्पन्नलक्षण भी निर्मल, विकाररहित एवं एकरस होता है। आकाश जिस प्रकार सर्वव्यापक है और अपने प्रतिषेध्य प्रतिघस्पर्श से रहितता मात्र है, उसी प्रकार परिनिष्पन्नलक्षण भी सर्वव्यापक है और अपने प्रतिषेध्य धर्मात्मा (बाह्यार्थत्व) से रहिततामात्र है। इसीलिये यह (परिनिष्पन्नलक्षण) परमार्थनिःस्वभाव कहलाता है। यही (परिनिष्पन्नलक्षण ही) समस्त धर्मों की परम स्थिति है। अर्थात् परतन्त्रलक्षण धर्मों की धर्मता है।

यदि परिनिष्पन्नलक्षण समस्त धर्मों की परम स्थिति एवं धर्मता है, तो वह निःस्वभाव कैसे हैं ?

तस्मात् परिनिष्पन्न एव स्वभावः०—यद्यपि परिनिष्पन्नलक्षण समस्त धर्मों की वस्तुस्थिति है; तथापि वह वस्तुस्वभाव नहीं है; क्योंकि वह नित्य है, असंस्कृत है एवं अहेतुक है। वस्तु होने के लिये किसी धर्म को अर्थक्रियासमर्थ होना चाहिये और जो अर्थक्रियासमर्थ होगा, वह अहेतुक नहीं हो सकता। फलतः अभाव स्वभाव होने से परिनिष्पन्न निःस्वभाव कहा गया है।

आर्यसन्धिनिर्मोचन आदि विज्ञानवादियों के समस्त सूत्रों में तथा आर्य असंगकृत महायानसंग्रह आदि समस्त शास्त्रों में परिनिष्पन्नलक्षण नित्य तथा परतन्त्रलक्षण हेतु-

१७४. किं पुनः परमार्थाभिधानेनैव परिनिष्पन्नोऽभिधातव्यः ? न, इत्याह । किं[1] तर्हि[1] ? तथतापि सः । अपिशब्दान्न केवलं तथताशब्देनैवाभिधातव्यः । किं तर्हि ? यावन्तो धर्मधातुपर्यायाः सर्वैस्तैरप्यभिधातव्य इति ।

सर्वकालं तथाभावात्

तथता । तथा हि पृथग्जनशैक्षाशैक्षावस्थासु[2] सर्वकालं तथैव भवति, नान्यथेति तथतेत्युच्यते ।

क्या परिनिष्पन्न का कथन (व्यवहार) 'परमार्थ' शब्द द्वारा ही करना चाहिये ? (टीकाकार) कहते हैं कि नहीं । तो फिर ? वह तथता भी है । 'अपि' शब्द द्वारा केवल तथता शब्द द्वारा भी (उसका) कथन नहीं करना चाहिये । तो फिर ? जितने धर्मधातु के पर्याय हैं, उन सबके द्वारा भी (उसका) कथन करना चाहिये ।

सभी अवस्थाओं में उसी प्रकार होने से

'तथता' कही जाती है । जैसे—पृथग्जन, शैक्ष, अशैक्ष (सभी) अवस्थाओं में (वह) उसी प्रकार (एक रूप) होती है, दूसरे प्रकार की नहीं, इसलिये 'तथता' कहलाती है ।

प्रत्ययसमुत्पन्न कहा गया है । फलतः परिनिष्पन्नलक्षण को चेतनात्मक मानना विज्ञानवादी सूत्रों और शास्त्रों से सर्वथा विपरीत है ।

विज्ञानवादी एवं माध्यमिक दोनों इस दिशा में पूर्णतया एक मत हैं कि शून्यता या परमार्थसत्य एकान्तरूप से प्रसज्यप्रतिषेधस्वरूप है । उसे पर्युदासप्रतिषेध भी नहीं कहा गया है । फलतः परिनिष्पन्नलक्षण को निर्मल विज्ञान, नित्य विज्ञान या विशुद्ध चैतन्य आदि मानना विज्ञानवादी सिद्धान्त के विरुद्ध है और युक्तितः सिद्ध भी नहीं है ।

१७४. परिनिष्पन्न लक्षण को ही परमार्थसत्य कहते हैं; किन्तु उसके और भी अनेक पर्याय हैं, इसे दिखाने के लिये टीकाकार उपक्रम करते हैं—

किं पुनः परमार्थाभिधानेनैव०—परिनिष्पन्न लक्षण के लिये केवल 'परमार्थ' शब्द ही प्रवृत्त नहीं होता; अपितु उसे 'तथता' शब्द द्वारा भी अभिहित किया जा सकता है । इतना ही नहीं, 'अपि' शब्द द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि उसके अन्य अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जिनके द्वारा उसका ग्रहण होता है । धर्मधातु के जितने पर्याय हैं, सभी के द्वारा उसका कथन किया जा सकता है, यथा—शून्यता, सम्यगन्त, अनिमित्तता, अद्वयता, निर्विकल्पकता, अनिर्वचनीयता, अनिरोधानुत्पादत्व, धर्मता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि ।

1-1. नास्ति—स० ।
२. ०शैक्ष्यशैक्षा०—अ० ।

१७५. किं पुनस्तथतावत्[1] परिनिष्पन्न[1] एव विज्ञप्तिमात्रता, उतान्या विज्ञप्तिमात्रता ? अत आह—

सैव विज्ञप्तिमात्रता ॥ २५ ॥

अतिविशुद्धलक्षणावबोधाद् । यथोक्तम्—

क्या तथता के समान परिनिष्पन्न ही विज्ञप्तिमात्रता भी है अथवा विज्ञप्तिमात्रता अन्य है ? (इस पर) आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

वही (तथता ही) विज्ञप्तिमात्रता है। अतिविशुद्धलक्षण (निर्बाह्यार्थत्व) का अवबोध होने से । जैसे कहा गया है—

परिनिष्पन्नलक्षण क्यों 'तथता' कहा जाता है, इसे दिखाने के लिये आचार्य (वसुबन्धु) आगे कहते हैं—

सर्वकालं तथाभावात्०—सभी कालों में एकस्वभाव रहने के कारण परिनिष्पन्न-लक्षण 'तथता' कहलाता है। पृथग्जन अवस्था, शैक्ष अवस्था, अशैक्ष अवस्था आदि समस्त अवस्थाओं में शून्यता में न कोई विकार आता है और न उसके स्वरूप में किसी तरह का परिवर्तन होता है। पृथग्जन चाहे उसे समझें, चाहे न समझें, बाह्यार्थ से रहितता तो अपनी जगह उसी तरह सर्वथा और सर्वदा विद्यमान रहती ही है। ऐसा नहीं है कि सांसारिक अवस्था में शून्यता नहीं रहती और साक्षात्कार की अवस्था में हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकार से परिकल्पितलक्षण नामसंकेत एवं कल्पना द्वारा आरोपितमात्र है। उसकी वस्तुसत्ता बिलकुल नहीं है, इसलिये उसमें उत्पाद एवं निरोध आदि भी नहीं होते। परतन्त्रलक्षण स्वतः उत्पन्न नहीं होता; अपितु हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। स्वतः उत्पाद के अभाव की दृष्टि से वह 'निःस्वभाव' कहा गया है। परिनिष्पन्नलक्षण परम अर्थात् लोकोत्तर ज्ञान का विषय होता है। वह धर्मात्मा से रहिततामात्र है एवं वस्तुस्वभाव नहीं है। इसलिये जिस जिस दृष्टि से उसे निःस्वभाव कहा जाता है, उस उस दृष्टि से वह अनुत्पन्न एवं अनिरुद्ध होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान् बुद्ध ने प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रों में निःस्वभाव, अनुत्पाद, अनिरोध आदि का उपदेश किया है।

१७५. किं पुनस्तथतावत् परि०—यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि परिनिष्पन्न-लक्षण अर्थात् बाह्यार्थ से राहित्य, जैसे 'तथता' है, वैसे विज्ञप्तिमात्रता भी तथता है ? अथवा विज्ञप्तिमात्रता भिन्न है और परिनिष्पन्न लक्षण भिन्न है ?

१-१. ०तथता तत्परि०—अ० ।

"नाम्नि तिष्ठति तच्चित्तं तदा तन्मात्रदर्शनात् ।
नाम्नि स्थानाच्च विज्ञप्तावुपलम्भः प्रहीयते ॥
नोपलम्भं तदा धातुं स्पृशते भावनान्वयात् ।
सर्वावरणविमोक्षं विभुत्वं लभते तदा ॥"

इति । सैव विज्ञप्तिमात्रतेत्यनेन वचनेनाभिसमय उक्तः ।

"(सर्वप्रथम) विज्ञप्तिमात्र का ज्ञान होने से (योगी का) चित्त नाम (विज्ञप्ति) में स्थित होता है । नाम में स्थित होने से (बाद में) विज्ञप्ति के प्रति उपलम्भ भी प्रहीण हो जाता है । तब भावनाक्रम का अभ्यास होने पर अनुपलम्भ धातु का स्पर्श करता है और तब (अन्त में) समस्त आवरणों से विमुक्त विभुत्व (बुद्धत्व) प्राप्त करता है ।" 'वही विज्ञप्तिमात्रता है'—इस वचन के द्वारा अभिसमय (मार्ग का क्रम) कहा गया है ।

इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि जिस ज्ञान से परिनिष्पन्नलक्षण का साक्षात्कार होता है क्या उसी ज्ञान से विज्ञप्तिमात्रता का भी साक्षात्कार होता है तथा जो ज्ञान विज्ञप्तिमात्रता का साक्षात्कार करता है, क्या वही ज्ञान परिनिष्पन्नलक्षण का भी साक्षात्कार करता है ? साथ ही इस प्रश्न का यह भी आशय है कि मार्गों की प्राप्ति का क्रम क्या है ?

सैव विज्ञप्तिमात्रता०—उपर्युक्त परिनिष्पन्नलक्षण ही विज्ञप्तिमात्रता है । विज्ञप्तिमात्रता परिनिष्पन्नलक्षण से भिन्न नहीं है । इस कथन का अभिप्राय यह है कि परिनिष्पन्नलक्षण एवं विज्ञप्तिमात्रता स्वभावतः भिन्न नहीं है; किन्तु ज्ञान में क्रम होता है ।

हमने पहले कहा है कि परिनिष्पन्नलक्षण और परतन्त्रलक्षण स्वभावतः भिन्न भी नहीं हैं और व्यावृत्तितः एक (अभिन्न) भी नहीं हैं ।[1] वही बात यहाँ भी कही गयी है । विज्ञप्तिमात्रता से परिनिष्पन्नलक्षण स्वभावतः भिन्न इसलिये नहीं हैं, क्योंकि लोकोत्तरज्ञान विज्ञप्तिमात्रता को ही अतिविशुद्धलक्षणत्वेन अर्थात् निर्बाह्यार्थत्वेन जानता है । इससे योगी के मार्ग का क्रम अथवा परमार्थविबोध का क्रम प्रदर्शित किया गया है । वह क्रम नीचे दिखलाया जा रहा है—

नाम्नि तिष्ठति तच्चित्तं तदा०—सर्व प्रथम अनुमान या युक्ति के बल पर निर्बाह्यार्थता का ज्ञान कर लिया जाता है । फिर उसे (ज्ञान को) शमथ के रथ पर चढ़ा कर उसका उत्तरोत्तर अभ्यास किया जाता है । आगे चलकर जब योगी प्रयोगमार्ग प्राप्त कर लेता है, उस समय शून्यता के ज्ञान की अनेकविध अवस्थायें आती हैं और प्रत्येक अवस्था के ज्ञान में विशिष्ट शक्ति निहित होती है ।

---

1. द्र०—त्रि० १६६ पृ० ३१७ ।

प्रयोगमार्ग की चार अवस्थायें होती हैं, यथा—उष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति एवं अग्रधर्म या धर्मवर्धन। योगी जिस समय ऊष्म या मूर्धा की अवस्था में रहता है, उस समय उसे बाह्य ग्राह्य का प्रतिभास अत्यल्प मात्रा में होता है और शून्यता का आभास अधिक स्पष्ट होता है। आगे चलकर क्षान्ति नामक प्रयोग मार्ग की अवस्था आती है। इस अवस्था में योगी समस्त धर्मों को नाममात्र समझता है और बाह्य ग्राह्य का प्रतिभास उसे 'नहीं के बराबर' होता है; क्योंकि इस अवस्था में उसे समस्त धर्मों की नाममात्रता का दर्शन होता है। उस समय उसका चित्त केवल नाममात्र में अवस्थित होता है। यहाँ नाम का तात्पर्य 'विज्ञान' से है; क्योंकि नामस्कन्ध में विज्ञान ही संगृहीत होता है। यद्यपि इस अवस्था में योगी को बाह्य ग्राह्य का प्रतिभास नहीं के बराबर होता है; तथापि उसमें विज्ञान के प्रति ग्राहक दृष्टि अभी विद्यमान होती है। आगे चलकर जब योगी अग्रधर्म की अवस्था में स्थित होता है, उस समय उसका विज्ञान के प्रति विद्यमान बाह्य ग्राहक का प्रतिभास भी विलुप्त हो जाता है; क्योंकि वह बाह्य ग्राह्य का प्रतिभास तो पहले ही समाप्त कर चुका होता है। बाह्य ग्राह्याभास के क्षीण हो जाने पर बाह्य ग्राहकाभास के क्षीण होने में अधिक देर नहीं लगती। बाह्य ग्राह्याभास एवं बाह्य ग्राह्याभिनिवेश अधिक स्थूल होता है, इसलिये उसे हटाना सरल होता है; किन्तु बाह्य ग्राहकाभास और बाह्य ग्राहकाभिनिवेश अधिक सूक्ष्म होता है, इसलिये इसका हटाना अपेक्षाकृत (पहलेवाले की अपेक्षा) कठिन होता है। क्षान्ति प्रयोगमार्ग की अवस्था में बाह्य ग्राह्याभास एवं बाह्य ग्राह्याभिनिवेश तो समाप्त कर दिया जाता है; किन्तु बाह्य ग्राहकाभास एवं बाह्य ग्राहकाभिनिवेश का क्षय तो अग्रधर्म की अवस्था में ही होता है।

भावना करते हुए आगे बढ़ने पर दर्शनमार्ग की अवस्था आती है। इस अवस्था में बाह्य ग्राह्य एवं बाह्य ग्राहक का आभास तो बिलकुल होता ही नहीं, केवल इतना ही नहीं, अपितु इस अवस्था में योगी को उस बाह्यार्थ से रहितता (शून्यता) का साक्षात् दर्शन होता है, जो निर्बाह्यार्थता 'अनुपलम्भधातु' कहलाती है। दर्शनमार्ग की अवस्था का ज्ञान उस धातु का प्रत्यक्षत: अवबोध करता है।

प्रयोग मार्ग की अवस्था में यद्यपि योगी को शून्यता का ज्ञान होता है; तथापि वह ज्ञान शून्यता का स्पर्श नहीं करता; क्योंकि उस समय उसे शून्यता का साक्षात्कार नहीं हुआ रहता है। शून्यता का साक्षात्कार विना अभ्यास के नहीं होता। बहुत कालपर्यन्त भावना का उत्तरोत्तर अभ्यास करने पर शून्यता का साक्षात्कार हुआ करता है, इसीलिये **'भावनान्वयात्'** कहा गया है।

दर्शनमार्ग की प्राप्ति के बाद भी उस (दर्शनमार्ग) के द्वारा ज्ञात तत्त्व की भावना का क्रम जारी रहता है। फलतः शून्यता का साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान उत्तरोत्तर विकसित

होता रहता है, यही भावनामार्ग की अवस्था है। अन्ततोगत्वा समस्त आवरणों से विमोक्ष होता है और बुद्धत्व का अधिगम होता है। इस अवस्था में अनेकविध समाधियाँ, दश बल, चतुर्वैशारद्य आदि ज्ञान की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

सैव विज्ञप्तिमात्रतेत्यनेन०—टीकाकार द्वारा ऊपर मूल में उद्धृत दो कारिकाओं द्वारा योगाचार सिद्धान्त का समस्त अभिसमय क्रम (मार्गक्रम) प्रदर्शित किया गया है। इन कारिकाओं में यह प्रतिपादित किया गया है कि विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान क्षान्ति प्रयोगमार्ग की अवस्था में होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि क्षान्ति अवस्था की प्राप्ति से पूर्व या पश्चात् विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान होता ही नहीं; अपितु इसका अभिप्राय केवल इतना है कि क्षान्ति अवस्था में विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान अत्यधिक शक्तिशाली होता है, जिसकी वजह से बाह्य ग्राह्य का आभास सर्वथा प्रहीण कर दिया जाया है। उस अवस्था में केवल बाह्य ग्राहकाभासमात्र अवशिष्ट रहता है, जो आगे अग्रधर्म की अवस्था में नष्ट हो जाता है। इसलिये क्षान्ति की अवस्था विज्ञप्तिमात्रता के ज्ञान की अवस्था कही गयी है, वैसे विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान इस अवस्था से पूर्व और पश्चात् भी हो सकता है।

निर्बाह्यार्थता या परिनिष्पन्नलक्षण के ज्ञान की अवस्था दर्शनमार्ग से प्रारम्भ होती है; क्योंकि इसी अवस्था में उसका साक्षात्कार होता है। इस अवस्था से पूर्व कभी भी शून्यता का साक्षात्कार नहीं होता। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दर्शनमार्ग से पूर्व शून्यता का ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान तो होता है; किन्तु वह ज्ञान शून्यता का साक्षात्-द्रष्टा नहीं होता; अपितु वह शून्यता को केवल अनुमान आदि द्वारा जानता है। इसलिये शून्यता का ज्ञान और शून्यता का साक्षात्कार दो चीजें हैं, इन्हें पृथक्-पृथक् समझना चाहिये।

विज्ञप्तिमात्रता का साक्षात्कार तो पृष्ठलब्ध अवस्था में होता है, इसका वर्णन हम पहले सविस्तर कर चुके हैं।[1]

व्याख्यानान्तर—

'सैव विज्ञप्तिमात्रता' का व्याख्यान दूसरे प्रकार से भी किया जा सकता है। इस व्याख्यान के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता का तात्पर्य आर्यों के समाहित ज्ञान से है। उस (समाहित ज्ञान) का विषय बाह्यार्थ से शून्यता है। वह समाहित ज्ञान और शून्यता स्वभावः भिन्न नहीं है। यद्यपि उस ज्ञान के सम्मुख जो शून्यता है, जो अतिविशुद्धलक्षण है, वह परिनिष्पन्न-लक्षण है; किन्तु उस अवस्था में विषय-विषयी द्वैत का भान बिलकुल नहीं होता। वह ज्ञान उस शून्यता में सर्वथा विलीन अनुभूत होता है। यह व्याख्यान विनीतदेव का है।

1. द्र०—त्रिं० १६८ की व्याख्या, पृ० ३२१–३२६।

१७६. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदं कस्माच्चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायैः[1] रूपशब्द-गन्धरसस्पर्शान् गृह्णातीत्यत आह—

यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति ।
ग्राहद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥२६॥

अथ वा 'यास्ताः कर्मवासना ग्राहद्वयवासनासहिताः क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद्-विपाकं जनयन्ती' त्युक्तम्, तस्मात् कथं प्रहाणमप्रहाणं चेत्यत आह—'यावद् विज्ञप्ति-

यदि यह (सब कुछ) विज्ञप्तिमात्र ही है, तो कैसे (व्यक्ति) चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय (इन्द्रिय) के द्वारा रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्पर्श का ग्रहण करता है ? इसलिये आचार्य कहते हैं—

जब तक विज्ञान विज्ञप्तिमात्रत्व में अवस्थित नहीं होता, तब तक ग्राहद्वय का अनुशय निवृत्त नहीं होता ।

अथवा जो ग्राहद्वयवासना के साथ कर्मवासनायें हैं, वे पूर्वविपाक के क्षीण होने पर अन्य विपाक को उत्पन्न करती हैं—ऐसा कहा गया है, तो (ऐसी स्थिति में) प्रहाण

यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, साथ ही रहस्यपूर्ण भी । विज्ञानवाद और माध्यमिक दोनों मतों में ऐसा ही होता है । रूप आदि को जाननेवाले चक्षुरादिविज्ञानों में विषय-विषयी द्वैत का भान सर्वदा होता रहता है; किन्तु शून्यता का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञान में यह द्वैतबोध सर्वथा नहीं होता । समाहित ज्ञान शून्यता के साथ एकदम एकाकार रहता है, जैसे दूध के साथ पानी एकाकार रहता है । इस स्थिति के कारण ही शायद लोगों में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है कि शून्यता चैतन्यात्मक है ।

यद्यपि उपर्युक्त स्थिति में विषय-विषयी द्वैत का भान नहीं होता; तथापि विषयी (समाहित ज्ञान) न तो शून्यता (विषय) हो जाता है और न शून्यता समाहित ज्ञान हो जाती है । अन्यथा शून्यता वस्तु हो जायगी अथवा समाहित ज्ञान नित्य हो जायगा । अपि च वह समाहित ज्ञान उस शून्यता से व्युत्थित भी नहीं हो सकेगा । दूध में पानी के मिश्रित हो जाने पर जैसे दोनों एकाकार प्रतीत होते है, उनका भिन्न प्रतिभास नहीं होता; फिर भी न तो दूध पानी हो जाता है और न पानी दूध ही हो जाता है; अन्यथा वे दूध और पानी कभी भी किसी यन्त्र द्वारा अथवा हँस आदि के द्वारा पृथक् न हो सकेंगे ।

१७६. यदि विज्ञप्तिमात्रमेवेदम्०—रूप आदि समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं । अर्थात् बाह्यार्थ से शून्य हैं । बाह्य ग्राह्य एवं बाह्य ग्राहक उनमें अनादि काल से ही नहीं है ।

---

1. ० घ्राणरसस्पर्शनैः—अ० ।

मात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति'—इति विस्तरः। यावच्चित्तधर्मतायां विज्ञप्तिमात्रसंशब्दितायां विज्ञानं नावतिष्ठति, किं तर्हि ? ग्राह्यग्राहकोपलम्भे चरति। ग्राहद्वयं ग्राह्यग्राहो ग्राहकग्राहश्च। तस्यानुशयस्तदाहितम् अनागतग्राहद्वयोत्पत्तये बीजम् आलयविज्ञाने। यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चित्तं न प्रतिष्ठितं भवति, तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न विनिवर्तते, न प्रहीयत इत्यर्थः। अत्र च बहिरुपपलम्भाप्रहाणेनाध्यात्मिकोपलम्भाप्रहाणं दर्शितमिति। अतोऽस्यैवं[1] भवति 'अहं चक्षुरादिभिः रूपादीन् गृह्णामी'ति।

अप्रहाण (की चर्चा) कैसे ? इसलिये 'जब तक विज्ञान विज्ञप्तिमात्र में अवस्थित नहीं होता'''इत्यादि विस्तारपूर्वक कहा गया है। जब तक विज्ञान 'विज्ञप्तिमात्र' शब्द से कथित चित्तधर्मता में स्थित नहीं होता, तो क्या ? (तब तक) ग्राह्य और ग्राहक के उपलम्भ में विचरता है। ग्राह्यग्राह और ग्राहकग्राह ये दोनों ग्राहद्वय हैं। उनके अनुशय का तात्पर्य उनके द्वारा अनागत ग्राहद्वय की उत्पत्ति के लिये आलयविज्ञान में आहित बीज से है। जब तक अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्र में योगी का चित्त प्रतिष्ठित नहीं होता, तब तक ग्राह्यानुशय और ग्राहकानुशय निवृत्त नहीं होता, अर्थात् प्रहीण नहीं होता। यहाँ बाह्योपलम्भ के अप्रहाण द्वारा आध्यात्मिकोपलम्भ का (भी) अप्रहाण प्रदर्शित किया गया है। इसलिये व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है कि मैं चक्षु आदि द्वारा रूप आदि का ग्रहण कर रहा हूँ —इत्यादि।

अर्थात् वे आदिविशुद्ध हैं, तो ऐसी स्थिति में जीवों को बाह्य ग्राह्य और बाह्य ग्राहक के रूप में वे (रूप आदि) क्यों दिखलाई पड़ते हैं और उनके प्रति हमें क्यों अभिनिवेश होता है ?

सामान्यतया जीव 'यह रूप है, यह शब्द है, यह घट है'—इत्यादि समझते हैं। उन्हें उस समय वे रूप, शब्द, घट आदि बाह्यार्थतः प्रतीत होते हैं तथा वे ऐसा समझते हैं कि ये रूप आदि हमारे चक्षुर्विज्ञान आदि को आकृष्ट कर रहे हैं। फलतः वे ऐसा भी निश्चय करते है कि बाह्य रूप, घट आदि का ग्रहण करनेवाले ग्राहक विज्ञान भी स्वतन्त्रतया विद्यमान हैं। वे ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि आप (विज्ञानवादियों) के अनुसार यदि वे रूप, घट आदि धर्म बाह्य स्थित नहीं हैं, अपितु वे आन्तरिक विज्ञान के ही एक अंश हैं, तो वे हमें वैसे (पूर्वोक्त प्रकार से) क्यों दिखलाई पड़ते हैं। अर्थात् उनके वैसे दिखलाई पड़ने में क्या हेतु है ? जिस प्रकार तृण, काष्ठ, प्रस्तर आदि के आधार पर मायिक हस्ती,

---

१. अतोऽस्यैव—भ०।

मायिक अश्व आदि का प्रदर्शन करते समय किसी मायाकार आदि कारण की आवश्यकता पड़ती है, उस प्रकार यहाँ क्या कारण है ?

यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नाव०—ग्राह्य-ग्राहक के प्रतिभास का हेतु ग्राह्य-ग्राहकद्वयवासना है, जो पूर्व पूर्व धर्मात्मदृष्टि द्वारा हमारे आलयविज्ञान में स्थापित की गयी है। जब तक स्वकीय बुद्धि विज्ञप्तिमात्रत्व में स्थित नहीं होती, तब तक ग्राहद्वय का अनुशय (वासना) निवृत्त नहीं होता। आलयविज्ञान में कर्मवासना एवं ग्राहद्वयवासना विद्यमान रहती हैं, जिनकी वज़ह से जीवों को सर्वदा बाह्य ग्राह्य एवं ग्राहक का प्रतिभास होता रहता है। जैसे कि पहले भी कहा गया है—

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्[1] ॥

यदि ये वासनायें सर्वदा विद्यमान रहती हैं, तब तो ग्राह्य-ग्राहक के प्रतिभास की निवृत्ति कभी होगी ही नहीं। अथवा इसका आशय यह है कि इन वासनाओं की निवृत्ति कब होगी ?

यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्ति०—आर्यों के दर्शनमार्ग की समाहित अवस्था में ये वासनायें सर्वथा निष्क्रिय रहती हैं। पृष्ठलब्ध अवस्था में पुनः बाह्यार्थाभास होने लगता है, तथापि विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान भी रहता है। बुद्धत्व की अवस्था में तो ये वासनायें सर्वदा के लिये सर्वथा विनष्ट हो जाती हैं। अतः इन अवस्थाओं को छोड़कर अन्य सभी अवस्थाओं में इन वासनाओं के प्रभाव से बाह्य ग्राहच एवं बाहचग्राहक का प्रतिभास होता रहता है। फलतः जीवों की सन्तान में सर्वदा ग्राहच-ग्राहकाभास एवं ग्राहचग्राहकाभिनिवेश होता रहता है।

प्रस्तुत (व्याख्यायमान) कारिका में प्रयुक्त 'विज्ञप्तिमात्रत्व' शब्द का अभिप्राय 'बाहचार्थ से शून्यता' है। जब तक योगी का स्वकीय विज्ञान निर्बाहचार्थता में प्रत्यक्षतः स्थित नहीं होता, तब तक वासना का प्रभाव क्षीण नहीं होता और ग्राहद्वय का आभास होता रहता है। कारिका द्वारा यह दिखलाया गया है कि शून्यता के साक्षात्कार की अवस्था को छोड़कर अन्य सभी अवस्थाओं में बाहचार्थाभास होता है। यहाँ तक कि आर्यों की पृष्ठलब्ध अवस्था में भी बाहचार्थ आभासित होता है।

ग्राह्य ग्राह एवं ग्राहकग्राह ये ग्राहद्वय हैं। इनके द्वारा प्रक्षिप्त वासना 'ग्राहद्वयानुशय' है, जो आलयविज्ञान में स्थित रहता है और भविष्य में पुनः ग्राहद्वय का उत्पाद करता है।

---

1. द्र०—त्रिंशिका का० १९, पृ० २७३।

१७७. इदमिदानीं वक्तव्यम्—किम् अर्थरहितचित्तमात्रोपलम्भात् चित्तधर्मतावस्थानम् ? न, इत्याह। किं तर्हि ?

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः।
स्थापयन्नग्रतः किञ्चित् तन्मात्रे नावतिष्ठते ।।२७।।

इति।

इस समय यह कहना चाहिये—क्या अर्थरहित चित्तमात्रता के उपलम्भ से चित्तधर्मता में अवस्थान होता है ? (टीकाकार) कहते हैं नहीं। तो क्या (होता है) ? आचार्य वसुबन्धु कहते हैं)—

'यह (सब कुछ) विज्ञप्तिमात्र है' इस प्रकार का उपलम्भ होने से भी सम्मुख कुछ (चित्तमात्र) स्थापित (ग्रहण) करते हुए (योगी का चित्त) तन्मात्र अर्थात् चित्तधर्मता में अवस्थित नहीं होता।

कारिका द्वारा यह भी प्रदर्शित किया गया है कि बाह्य ग्राह्याभास एवं बाह्य ग्राह्याभिनिवेश का प्रहाण किये बिना आध्यात्मिक बाह्य ग्राहकाभास और बाह्य ग्राहकाभिनिवेश का प्रहाण अत्यन्त दुःशक है। हम सामान्य जीवों ने बाह्य ग्राह्याभास और बाह्य ग्राह्याभिनिवेश का प्रहाण नहीं किया है। अतः हम आध्यात्मिक ग्राहक के प्रति भी अत्यन्त अभिनिविष्ट होते हैं। फलतः हम समझते हैं कि 'यह रूप है' यह घट है और हम इनका ग्रहण कर रहे हैं'। इस तरह ग्राह्य-ग्राहकद्वय में अभिनिवेश करते हैं।

योगी सर्वप्रथम अनुमान एवं तर्क के द्वारा बाह्यार्थ से शून्यता का ज्ञान करता है। और उसके बाद शमथ की सिद्धि करता है। अथवा ऐसा भी होता है कि पहले शमथ सिद्ध करता है और उसके बाद शून्यता का ज्ञान करता है। तदनन्तर शून्यता के ज्ञान की शमथ के साथ भावना करता है। यह अभ्यास उसके ज्ञान में प्रकर्षता लाने के लिये होता है। अर्थात् योगी शून्यता का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये अभ्यास करता है। 'समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं, इसलिये बाह्यार्थ से रहित हैं,' इस प्रकार जानते हुये निरन्तर उत्तरोत्तर अपने मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है। पूर्वोक्त प्रकार से उसे मार्गों की प्राप्ति होती जाती है [1]। प्रत्येक मार्ग की अवस्था में उसके ज्ञान की विभिन्न सीमायें होती हैं और विभिन्न शक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

१७७. हमने पहले कहा है कि क्षान्ति प्रयोगमार्ग की अवस्था में विज्ञप्तिमात्रता के ज्ञान की शक्ति अधिकतम रहती है। उस समय बाह्य ग्राह्याभास विलुप्त हो जाता है, केवल

---

१. द्र०—त्रिं० १७५, पृ० ३३५-३३८।

अथ वा यः पुनराभिमानिकः श्रुतमात्रकेण जानीयाद् अहं विज्ञप्तिमात्रतायां शुद्धायां स्थित इति तद्ग्रहव्युदासार्थमाह—विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भत इत्यादि। विज्ञप्तिमात्रमेवेदम् अर्थरहितं न बाह्योऽर्थोऽस्तीति एवमुपलम्भतो ग्रहणतः चित्रीकरणत इत्यर्थः। अग्रत इत्यभिमुखम्। स्थापयन्निति यथाश्रुतं मनसा। बहुप्रकारत्वाद् योगाचारालम्बनानां किञ्चिद् इत्याह—[1]अस्थिसंकलिकं वा नीलकं वापि पूयकं वा विपडुमकं वा व्याध्मातकादिकं वा[1]। तन्मात्रे नावतिष्ठते विज्ञानोपलम्भाप्रहाणात्।

अथवा जो आभिमानिक (विज्ञानवादी शास्त्रों के) श्रवणमात्र से यह समझता है कि 'मैं विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता में स्थित हूँ'—उसके इस अभिनिवेश का निरास करने के लिये (ग्रन्थकार ने) कहा—यह (सब कुछ) विज्ञप्तिमात्र है, ऐसा उपलम्भ होने से भी··· इत्यादि। यह (सब कुछ) अर्थरहित विज्ञप्तिमात्र है, बाह्य अर्थ नहीं है, इस प्रकार के उपलम्भ से अर्थात् ग्रहण से, चित्रीकरण से। अग्रतः का तात्पर्य अभिमुख से है। 'स्थापित करते हुये' का अर्थ है, श्रवण के अनुसार मन से स्थापित करते हुए। योगाचार सिद्धान्त में आलम्बन बहुत प्रकार के हैं, इसलिये 'किञ्चिद्' (कुछ भी)—ऐसा कहा, जैसे—अस्थि-संकलिक, विनीलक, विपूयक, विपडुमक, व्याध्मातक इत्यादि (अनेक आलम्बन हैं)। विज्ञान के उपलम्भ का प्रहाण न होने से (योगी का चित्त) चित्तधर्मतामात्र में अवस्थित नहीं होता।

समस्त धर्म विज्ञान के ही परिणाम हैं, इस प्रकार का ज्ञान रहता है। उस ज्ञान में बाह्य ग्राह्य के प्रति किञ्चित् मात्र भी अभिनिवेश नहीं रहता। उसे समस्त धर्म चित्त के अंश के रूप में ही दिखलाई पड़ने लगते हैं।

१-१. यह पाठ यहाँ प्रसङ्गानुकूल प्रतीत नहीं होता। आचार्य विनीतदेव के समय भी यह पाठ था, किन्तु विद्वानों में इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह था। आचार्य विनीतदेव स्वयं इस पाठ को यहाँ असङ्गत मानते हैं और उन्होंने इस पर टीका नहीं की। वे कहते हैं—"कुछ लोग यहाँ 'अस्थिसंकलिकं···' इत्यादि पाठ मानते हैं; किन्तु वे लोग वर्तमान प्रसङ्ग को बिलकुल नहीं जानते। यहाँ प्रसङ्ग यह है कि यदि चित्तमात्र आलम्बन भी अवशिष्ट रह जाता है, तो शून्यता का यथार्थ ज्ञान न होगा। ऐसी स्थिति में 'अस्थिसंकलिकं' इत्यादि पाठ यहाँ कहाँ तक संगत है? अर्थात् इस पाठ का प्रस्तुत प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि 'अस्थिसंकलिक' आदि चित्त नहीं हैं। इसलिये इसका यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है"। इस विषय पर विद्वानों को विचार करना चाहिये।

ऐसी स्थिति में प्रश्न होना स्वाभाविक है कि योगी का वह ज्ञान जो चित्तमात्रता को जानता है, क्या वह धर्मता या शून्यता में अवस्थित है ? अर्थात् क्या वह शून्यता या परमार्थसत्य को जानता है ?

समाधान—

न इत्याह । किं तर्हि ? विज्ञप्तिमात्र०—योगी का वह ज्ञान शून्यता में अवस्थित नहीं है। अर्थात् वह ज्ञान शून्यता को नहीं जानता; क्योंकि यद्यपि उस ज्ञान के द्वारा बाह्य ग्राह्य का निषेध कर दिया गया है; तथापि अभी बाह्य ग्राहक का निषेध नहीं किया गया है। वह यह समझता है कि यह (सब कुछ) विज्ञप्तिमात्र ही है। फलतः उस ज्ञान के आलम्बन में एक वस्तु रह जाती है। इसकी वजह से वह ज्ञान निरालम्ब नहीं हो पाता। इसीलिये वह ज्ञान बाह्यार्थ से शून्यतामात्र में प्रतिष्ठित नहीं है। अर्थात् वह बाह्यार्थ से शून्यता को नहीं जानता है। जब तक बाह्य या आध्यात्मिक किञ्चिन्मात्र भी वस्तु अवशिष्ट रहती है, तब तक वह ज्ञान शून्यता का यथार्थ जाननेवाला नहीं होता। इसे आगे पुनः स्पष्ट किया जा रहा है—

यः पुनराभिमानिकः श्रुतमात्रकेण०—जिस व्यक्ति ने विज्ञानवादी शास्त्रों का श्रवण किया है, उसने उन (शास्त्रों) में अनेकधा यह सुना है कि 'समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं'। इस प्रकार के श्रवण के अनन्तर यदि वह यह समझ लेता है कि विज्ञप्तिमात्रता ही सम्यग्दर्शन है या शून्यता है, तो उसका वह निश्चय मिथ्या ज्ञान होता है। इस प्रकार के मिथ्याभिमानियों की विप्रतिपत्ति का निरास करने के लिये ही आचार्य वसुबन्धु ने कहा—

विज्ञप्तिमात्रमेवेदमित्यपि ह्युपलम्भतः ।

इत्यादि । समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं—'ऐसा जाननेवाले व्यक्ति के सम्मुख यद्यपि बाह्यार्थ नहीं होते; तथापि उसके सम्मुख चित्तमात्र अवशिष्ट रह जाता है। अर्थात् यद्यपि उसके ज्ञान ने रूप आदि धर्मों की बाह्यार्थता का निरास तो कर दिया है, किन्तु उसके सम्मुख विज्ञप्ति (विज्ञान) उपस्थित रहती है, जैसा कि उसने श्रवणकाल में श्रवण किया था और श्रवण के अनन्तर मनन किया था। फलतः उसका वह ज्ञान निरालम्ब नहीं हो पाता। अर्थात् उसके ज्ञान का विषय प्रसज्यप्रतिषेध नहीं होता, अपितु उसका विषय पर्युदासप्रतिषेध होता है। इसीलिये वह ज्ञान शून्यताविषयक ज्ञान नहीं है।

व्याख्यानान्तर—

बहुप्रकारत्वाद् योगाचारालम्ब०—योगाचार मत में मार्ग के अनेकविध आलम्बन होते हैं। उन आलम्बनों का यदि कुछ भी अंश अवशिष्ट रह जाता है, तो चित्त शून्यता में स्थित नहीं कहलाता। इसी दृष्टि से आचार्य ने 'किञ्चित्' शब्द का प्रयोग किया है।

तन्मात्रे नावतिष्ठते विज्ञानोपलम्भा०—कारिका के 'तन्मात्रे नावतिष्ठते' का तात्पर्य यह है कि केवल विज्ञप्तिमात्रता का ज्ञान शून्यता या धर्मता में स्थित नहीं है, क्योंकि विज्ञान उपलम्भ (आलम्बन) का अभी प्रहाण नहीं हुआ है। अर्थात् विज्ञान आलम्बन का भी प्रहाण किये विना चित्त शून्यता में स्थित नहीं होता। अर्थात् शून्यता का यथार्थ अवबोध नहीं होता।

कारिका का मर्म यह है कि बाह्य ग्राह्य का निषेध करके चित्तमात्र का आलम्बन करनेवाला ज्ञान शून्यता को जाननेवाला ज्ञान नहीं है तथा बाह्य अर्थ से रहित चित्तमात्रता भी शून्यता नहीं है।

बाह्य अर्थ से रहितता को यदि कोई विज्ञप्तिमात्रता कहना चाहे, तो कह सकता है, नाम में कोई विवाद नहीं है; किन्तु ज्ञातव्य यह है कि शून्यताज्ञान चित्तमात्रता का आलम्बन नहीं करता; क्योंकि वह (शून्यता का साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान) प्रसज्यप्रतिषेधाकार होता है, क्योंकि शून्यता एकान्तरूप से प्रसज्यप्रतिषेध स्वभाव होती है।

धर्म (पदार्थ) दो प्रकार के होते हैं, यथा—१. साधनधर्म और २. प्रतिषेध धर्म। जो अन्य का विना प्रतिषेध किये, सीधे (स्वरूपतः) हमारे ज्ञान के विषय होते हैं, वे 'साधनधर्म' कहलाते हैं। जो (धर्म) अपने प्रतिषेध्य को हटाते हुए हमारी बुद्धि के विषय होते हैं, वे 'प्रतिषेध धर्म' कहलाते हैं। घट, पट, रूप आदि साधन धर्म हैं तथा आकाश आदि प्रतिषेध धर्म के उदाहरण हैं। आकाश जब हमारी बुद्धि का विषय होता है अथवा हमारी बुद्धि जब आकाश में प्रवृत्त होती है, तब उस (आकाश) का जो प्रतिषेध्य प्रतिघस्पर्श है, उसे हटाते हुए वह प्रवृत्त होता है। अर्थात् प्रतिघस्पर्श के हटे बिना आकाश का स्वरूप भासित नहीं होता। प्रतिघस्पर्श ही आकाश का प्रतिषेध्य है और प्रतिघस्पर्श से रहिततामात्र आकाश है।

प्रतिषेध द्विविध होता है, यथा—पर्युदास प्रतिषेध एवं प्रसज्य प्रतिषेध। जो धर्म अपने प्रतिषेध्य का निरास करके उसकी जगह पर किसी भाव (साधन) पदार्थ की स्थापना करता है, वह 'पर्युदास प्रतिषेध' कहलाता है। जैसे—'यह भूतल घटाभाववाला है'। यहाँ घट का प्रतिषेध तो किया गया है; किन्तु उसकी जगह पर भूतल की स्थापना की जाती है, जो (भूतल) एक भाव (साधन) पदार्थ है। इसलिये 'घटाभाववान् भूतल'—यह पर्युदासप्रतिषेध का उदाहरण है। इसी तरह 'बाह्यार्थ से रहित विज्ञप्तिमात्रता'—यह भी पर्युदासप्रतिषेध का उदाहरण है। क्योंकि इस (उदाहरण) में यद्यपि बाह्यार्थ का निषेध तो किया गया है, फिर भी उसकी जगह पर विज्ञप्ति की स्थापना की जाती है। विज्ञप्ति (विज्ञान) एक साधनधर्म है। इसलिये बाह्यार्थ से रहित विज्ञप्तिमात्रता—यह पर्युदास-प्रतिषेध है।

पर्युदास प्रतिषेध भी अनेकविध होता है। जैसे—१. प्रतिषेध्य का प्रतिषेध करके साधन धर्म की साक्षात् स्थापना करनेवाला पर्युदास-प्रतिषेध। उपर्युक्त 'घटाभाववान् भूतल' इसका उदाहरण है। २. सामर्थ्य से साधनधर्म की स्थापना करनेवाला पर्युदासप्रतिषेध, यथा—'स्थूल देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता'—इस उदाहरण में यद्यपि साक्षात् किसी भावपदार्थ की स्थापना नहीं की जाती; किन्तु सामर्थ्य से रात्रिभोजन की स्थापना होती है। रात्रिभोजन एक भावपदार्थ है, जो सामर्थ्यतः सिद्ध होता है। अतः यह भी एक प्रकार का पर्युदासप्रतिषेध है। इसी तरह अन्य अनेक इसके प्रकार हैं, जिन्हें सम्बन्धित ग्रन्थों से जानना चाहिये[1]।

जो धर्म केवल अपने प्रतिषेध्य का निषेध मात्र करता है, उसके स्थान पर किसी भाव पदार्थ की स्थापना नहीं करता, वह 'प्रसज्यप्रतिषेध' है। अर्थात् जो बुद्धि में अपने प्रतिषेध्य से रहिततामात्र आकार प्रदान करता है, इसके अतिरिक्त किसी साधनधर्म का आकार प्रदान नहीं करता, वह 'प्रसज्यप्रतिषेध' कहलाता है। जैसे—अवस्तु, अभाव, घटाभाव, पटाभाव, आकाश, नैरात्म्य, शून्यता आदि प्रसज्यप्रतिषेध हैं। ये सब अपने-अपने प्रतिषेध्य से रहितता-मात्र हैं। यहाँ किसी साधनधर्म का किञ्चित् भी अस्तित्व नहीं होता।

उदाहरणार्थ आकाश अपने प्रतिषेध्यभूत प्रतिघस्पर्श से रहिततामात्र है। इसके अतिरिक्त यहाँ किसी भाव पदार्थ का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इस बात को सरल शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि आकाश अभावमात्र है।

किन्तु अभावमात्र होने से कोई धर्म असत् नहीं हो जाता, अपितु वह भी एक धर्म (पदार्थ) होता है। साधन धर्म न होने पर भी उस (अभावमात्र) का अस्तित्व अवश्य होता है। फलतः प्रसज्यप्रतिषेधरूप (अभावमात्ररूप) होने में और सत् (विद्यमान या पदार्थ) होने में कोई विरोध नहीं है।

इसी प्रकार शून्यता भी यहाँ बाह्यार्थ से रहिततामात्र (अभावभात्र) है। इस (रहितता) में किसी अन्य चित्त आदि भाव धर्मों का कुछ भी अस्तित्व नहीं होता। अर्थात यह शून्यता चित्तस्वरूप नहीं है। शून्यता जब हमारी बुद्धि में आती है, तब बाह्यार्थाभावमात्र आकार दिखलाई पड़ता है। उस समय चित्त आदि का कुछ भी स्थूल या सूक्ष्म अंश प्रतिभासित नहीं होता। फलतः शून्यता एकान्तरूपेण प्रसज्यप्रतिषेधात्मक है। इसी अभिप्राय से भगवान् बुद्ध एवं अन्य मूर्धन्य मनीषियों ने 'शून्यता' इस भाववाचक संज्ञा का प्रयोग किया है। शून्य न कहकर शून्यता का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१. इस विषय के विशेष ज्ञान के लिये द्र०—तर्कज्वाला, तत्त्वसंग्रह एवं आचार्य चोंङ्खापा जी के "नेयार्थनीतार्थविभङ्ग शास्त्र" आदि।

१७८. कदा पुनर्विज्ञानग्राहस्य प्रहाणम्, चित्तमात्रतायां च[1] प्रतिष्ठितो भवतीत्यत आह—

यदा त्वालम्बनं ज्ञानं[2] नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात् ।। २८ ।।

इति।

विज्ञानग्राह का प्रणाण कब होता है और (योगी का चित्त) चित्तमात्रता में कब प्रतिष्ठित होता है ? इस (के समाधान के) लिये आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

ग्राह्य का अभाव हो जाने पर ग्राहक का भी ग्रहण न होने से जब (योगी का) चित्त किसी (भावात्मक) आलम्बन को उपलब्ध नहीं करता, तब (उसका चित्त) विज्ञान-मात्रत्व में स्थित होता है।

इसी दृष्टिसे यहाँ भी कहा गया है—विज्ञप्तिमात्रता में स्थित बुद्धि शून्यता में स्थित नहीं है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र नहीं है, वे तो विज्ञप्तिमात्र हैं ही।

समस्त धर्म विज्ञप्तिमात्र हैं; किन्तु विज्ञप्तिमात्रता उन धर्मों की संवृति का स्वरूप है। बाह्य अर्थ से रहितता ही उनका परमार्थ स्वरूप है। दोनों (विज्ञप्तिमात्रता और बाह्यार्थ-रहितता) ही रूप आदि एक ही धर्म में स्थित हैं, फिर भी बुद्धि की प्रक्रिया उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रवृत्त होती है।

इसी प्रकार से माध्यकिकों के मत में भी यद्यपि समस्त धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, तथापि प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता नहीं है और प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान शून्यता को जाननेवाला ज्ञान नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मों की सांवृतिक स्थिति है। निःस्वभावता ही उनको पारमार्थिक स्थिति या शून्यता हैं। शून्यता माध्यमिक मत में भी प्रसज्यप्रतिषेधात्मक है। ये बातें माध्यमिक शास्त्रों में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णित हैं।

विज्ञानवादियों के मत में 'शून्यता प्रसज्यप्रतिषेधस्वरूप है'—इसका प्रतिपादन करने-वाला सबसे स्पष्ट वचन यही प्रस्तुत (२७ वीं) कारिका और इसकी टीकायें हैं।

१७८. कदा पुनर्विज्ञानग्राहस्य०—पहले कहा गया है कि बाह्य अर्थ का निषेध करके चित्तमात्रता में स्थित होने पर भी शून्यता का सम्यग् अवबोध नहीं होता। ऐसी स्थिति

---

१. वा—अ०।
२. विज्ञानं—अ०।

यस्मिन् काले देशनालम्बनम् अववादालम्बनं प्राकृतं वा रूपशब्दाद्यालम्बनं ज्ञानं[1] बहिश्चित्तात् नोपलभते न पश्यति न गृह्णाति नाभिनिविशते यथाभूतदर्शनात्, न तु जात्यन्धवत्; तस्मिन् काले विज्ञानग्राहस्य प्रहाणं स्वचित्तधर्मतायां च प्रतिष्ठितो भवति। अत्रैव कारणमाह—ग्राह्याभावे तदग्रहादिति। ग्राह्ये सति ग्राहको भवति, न तु ग्राह्याभाव इति। ग्राह्याभावे ग्राहकाभावमपि प्रतिपद्यते, न केवलं ग्राह्याभावम्।[2] एवं हि सममनालम्ब्यालम्बकं[3] निर्विकल्पं लोकोत्तरं ज्ञानमुत्पद्यते, ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशानुशयाः प्रहीयन्ते, स्वचित्तधर्मतायां च चित्तमेव स्थितं भवति।

यथाभूत का दर्शन करने से न कि जात्यन्ध के समान, देशना को आलम्बन करनेवाला, अववाद को आलम्बन करनेवाला या प्राकृत रूप, शब्द आदि को आलम्बन करनेवाला (योगी का) ज्ञान जिस समय चित्त के बाहर (कुछ भी) उपलब्ध नहीं करता, (कुछ भी) नहीं देखता, (कुछ भी) ग्रहण नहीं करता, न (किसी भावपदार्थ में) अभिनिवेश करता है, उस समय विज्ञानग्राह का प्रहाण होता है और स्वचित्तधर्मता में प्रतिष्ठित होता है। यहाँ (इसका) कारण कहा जाता है—ग्राह्य का अभाव होने पर ग्राहकग्राह न होने से। ग्राह्य होने पर ग्राहक होता है, न कि ग्राह्याभाव होने पर (ग्राहक होता है)। (इसी तरह) ग्राह्याभाव होने पर ग्राहकाभाव भी प्रतिपन्न होता है, केवल ग्राह्याभाव (ही होकर) नही (रह जाता)। ऐसा होने पर समानरूप से आलम्ब्य-आलम्बकभाव से रहित निर्विकल्प लोकोत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है। ग्राह्याभिनिवेश और ग्राहकाभिनिवेश के अनुशय प्रहीण होते हैं तथा चित्त ही स्वचित्तधर्मता में स्थित होता है।

में प्रश्न होता है कि शून्यता का ज्ञान कब होता है? अर्थात् योगी का चित्त शून्यता में कब प्रतिष्ठित होता है?

[आचार्य वसुबन्धु और स्थिरमति ने यहाँ चित्तमात्रता या विज्ञप्तिमात्रता शब्द का प्रयोग शून्यता के अर्थ में किया है; क्योंकि योगी जब शून्यता का साक्षात्कार करता है, तो सबसे पहले वह अपने चित्त की शून्यता का अवबोध करता है। समस्त शून्यताओं में स्वचित्त-शून्यता सबसे महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उसके ज्ञान से चित्त निर्मल होता है।]

---

१. विज्ञानं—अ०।

२. ग्राहाभावम्—अ०। अयं पाठः समुचितो न प्रतीयते।

३. समसमा०—ब०।

सिद्धान्तपक्ष—

यदा त्वालम्बनं ज्ञानं नैवोप०—जिस समय ज्ञान किसी साधन (भावात्मक) धर्म का आलम्बन नहीं करता; अपितु केवल बाह्यार्थ से रहिततामात्र का साक्षात्कार करता है, उस समय वह शून्यता में स्थित कहलाता है। क्योंकि उसमें बाह्य ग्राह्य का अभावमात्र है तथा किसी अन्य साधन धर्म का आभास भी नहीं है। बाह्य ग्राह्य का अभाव होने से वहाँ बाह्य ग्राहक का भास भी सम्भव नहीं है। अर्थात् उस ज्ञान में ग्राह्याभास और ग्राहकाभास बिलकुल नहीं है। केवल शून्यतामात्र का अवभास होता है, जो (शून्यता) प्रसज्यप्रतिषेधात्मक है।

आचार्य ने प्रस्तुत कारिका में जो 'विज्ञप्तिमात्रत्व' का प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय शून्यता से ही है; अन्यथा पूर्वोक्त (२७ वीं) कारिका के **'विज्ञप्तिमात्रमेवेदम्०'** इत्यादि वचन से साक्षात् विरोध होगा।

यस्मिन् काले देशनालम्ब०—जिस समय ज्ञान गुरु की देशना का आलम्बन, या रूप, शब्द आदि प्राकृत वस्तुओं का आलम्बन नहीं करता, न तो उन्हें जानता है और न अभिनिवेश करता है; अपितु केवल बाह्यार्थरहिततामात्र का आलम्बन करता है और उसे ही जानता है, तब शून्यताज्ञान की अवस्था आती है। उस समय यद्यपि वह ज्ञान किसी बाह्य अर्थ का या किसी साधन धर्म का आलम्बन नहीं करता, तथापि वह जन्मान्ध पुरुष के ज्ञान की भाँति असमर्थ नहीं होता है; अपितु वह यथाभूत का साक्षात्कर्ता होता है। अर्थात् परमार्थ सत्य का दर्शक होता है।

हमने पहले कहा है कि यद्यपि शून्यता प्रसज्यप्रतिषेधात्मक है, वस्तु नहीं है; तथापि उसका अस्तित्व है, वह धर्म है। इसीलिये वह शून्यताज्ञान की विषय होती है। शशशृङ्ग किसी ज्ञान का आलम्बन नहीं होता। फलतः प्रसज्यप्रतिषेधात्मक या अभावमात्र होने से शून्यता असत् नहीं है तथा ऐसा भी नहीं है कि शून्यताज्ञान का कोई विषय नहीं है। इसीलिये शून्यताज्ञान की अवस्था में उस (ज्ञान) के द्वारा बाह्य ग्राह्य दृष्टि एवं बाह्य ग्राहक दृष्टि का प्रहाण होता है। फलतः उस समय योगी का ज्ञान स्वचित्तधर्मता में प्रतिष्ठित होता है। अर्थात् योगी का चित्त अपनी शून्यता में प्रतिष्ठित होता है और यही शून्यता सब शून्यताओं में प्रधान होती है।

ग्राह्याभावे तदग्रहादिति०—योगी के चित्त का अपनी शून्यता में प्रतिष्ठित होने का कारण दिखलाया जा रहा है—बाह्य ग्राह्य की शून्यता का ज्ञान हो जाने पर बाह्य ग्राहक की शून्यता का ज्ञान भी हो जाया करता है। यदि बाह्य ग्राह्य वस्तुओं के प्रति बाह्यार्थदृष्टि होती है, तो ग्राहक के प्रति बाह्यार्थदृष्टि भी अवश्य होती है। ग्राह्य वस्तुओं की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान हो जाने पर बाह्य ग्राहक की बाह्यार्थशून्यता का

१७९. यदैवं विज्ञप्तिमात्रतायां चित्तमवस्थितं भवति, तदा कथं व्यपदिश्यत इत्याह—

इस प्रकार जब चित्त विज्ञप्तिमात्रता में स्थित हो जाता है, तब किस प्रकार (किन नामों से) व्यपदिष्ट होता (कहा जाता) है ? इस पर आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

ज्ञान भी अवश्यमेव होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि केवल ग्राह्य वस्तुओं की बाह्यार्थ-शून्यता का ही ज्ञान हो और ग्राहक की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान न हो। अर्थात् रूप आदि ग्राह्य वस्तुओं की बाह्यार्थशून्यता एवं चक्षुर्विज्ञान आदि ग्राहकों की बाह्यार्थशून्यता का ज्ञान युगपद् होता है। इसीलिये आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

तत्रैकस्याप्यभावेन द्वयमप्यवहीयते।
तस्मात्तदेव तस्यापि तत्त्वं या द्वयशून्यता ॥[1]

'ग्राह्याभावे तदग्रहात्' यह आचार्यवचन पूर्वोक्त (२७ वीं) कारिका की पुष्टि ही करता हैं। वहाँ यह प्रतिपादन किया गया था कि मिथ्याभिमानियों का बाह्य ग्राह्य का निरास करके चित्तमात्रता में स्थित ज्ञान शून्यता में स्थित नहीं है; क्योंकि वह ज्ञान प्रसज्यप्रतिषेधाकार नहीं है, फलतः वह शून्यता को (ग्राह्य शून्यता को भी) जानता ही नहीं। यदि वह बाह्य ग्राह्य की शून्यता को जानता है, तो वह अवश्य ही ग्राहक शून्यता भी जानेगा।

ग्राह्य-ग्राहक दोनों का प्रतिषेध करके केवल बाह्यार्थरहितता में चित्तस्थिति का लाभ क्या है ?

एवं हि सममनालम्ब्यालम्बक०—आलम्ब्य ग्राह्य एवं आलम्बक ग्राहक दोनों की समानरूप से बाह्यार्थ से रहितता के अवबोध से लोकोत्तर ज्ञान का उत्पाद होता है, जो अनालम्ब्यालम्बक एवं निर्विकल्पक होता है। ग्राह्य एवं ग्राहक की शून्यता के ज्ञान में कोई अन्तर (फर्क) नहीं है। दोनों ही समानरूप से बाह्यार्थ शून्यता हैं। योगी ग्राह्य एवं ग्राहक दोनों के प्रति अभिनिवेश नहीं रखता और शून्यता का प्रत्यक्षतः ज्ञान करता है। यह ज्ञान साधन (भाव) पदार्थों का आलम्बन नहीं करता। इससे ग्राह्याभिनिवेश एवं ग्राहकाभिनिवेश का सानुशय प्रहाण होता है। इस समय योगी का ज्ञान स्वचित्तधर्मता में स्थित होता है।

१७९. यदैवं विज्ञप्तिमात्रतायाम्०—उपर्युक्त प्रकार से जब चित्त बाह्यार्थ से शून्यता में अवस्थित हो जाता है, तो उस चित्त एवं उसके विषय के लिये क्या संज्ञायें प्रदान की जाती हैं ?

---

१. द्र०—प्र० वा० (प्रत्यक्ष परि०), पृ० १६४।

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः ॥२९॥
स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥३०॥

इति।

१८०. तदनेन श्लोकद्वयेन दर्शनमार्गमारभ्योत्तरविशेषगत्या फलसम्पत्तिरुद्भाविता विज्ञप्तिमात्रप्रविष्टयोगिनः। तत्र ग्राहकचित्ताभावाद् ग्राह्यार्थानुपलम्भाच्च

यह ज्ञान अचित्त, अनुपलम्भ है और वही लोकोत्तर (भी) है। (आगे चलकर) द्विविध दौष्ठुल्य के प्रहाण से आश्रयपरावृत्ति होती है। वही अनास्रव धातु, अचिन्त्य, कुशल, ध्रुव, सुख एवं विमुक्तिकाय है। यह (सब) महामुनि (भगवान् बुद्ध) का धर्म (काय) कहा जाता है।

इन (उपर्युक्त) दो कारिकाओं द्वारा विज्ञप्तिमात्र में प्रविष्ट योगी की दर्शनमार्ग से लेकर आगे की विशेष अवस्थाओं की प्राप्ति द्वारा फलसम्पत्ति प्रकट की गयी है। वहाँ (उन अवस्थाओं में) ग्राहक चित्त का अभाव हो जाने से तथा ग्राह्य अर्थ का अनुपलम्भ हो जाने

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ०—बाह्यार्थशून्यता का साक्षात्कार हो जाने पर अचित्त अवस्था एवं अनुपलम्भ अवस्था आती है। उस (शून्यता) का साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान लोकोत्तर होता है। आगे चलकर (भावनामार्ग की अवस्था में) द्विविध दौष्ठुल्यों के प्रहाण से आश्रयपरावृत्ति की अवस्था आती है। अन्ततोगत्वा अनास्रव धातु, अचिन्त्य धातु, ध्रुव, कुशल, महासुख, विमुक्तिकाय आदि की प्राप्ति होती है। यह सब महामुनि का धर्म (काय) कहा जाता हैं।

इन दो कारिकाओं द्वारा योगाचार मत के अनुसार मार्ग के आरम्भ से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक का समस्त अभिसमयक्रम और विकास का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। संक्षेप में अचित्तक, अनुलपम्भ एवं लोकोत्तर ज्ञान द्वारा दर्शनमार्ग की अवस्था प्रदर्शित की गयी है। आश्रयपरावृत्ति आदि द्वारा भावनामार्ग की अवस्था दिखलाई गयी है। अनास्रव धातु आदि द्वारा फलावस्था सूचित की गयी है। इन सब के सामर्थ्य से सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग ये दो पृथग्जनमार्ग की अवस्थायें भी दिखलायी गयी है। इस बात को आगे टीकाकार स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

१८०. तदनेन श्लोकद्वयेन दर्शनमार्गमारभ्य०—दर्शनमार्ग की अवस्था से ही शून्यता के साक्षात्कार का प्रारम्भ हुआ करता है। इस अवस्था से पहले भी यद्यपि

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ। अनुचितत्वात् लोके समुदाचाराभावात् निर्विकल्पत्वाच्च लोकादुत्तीर्णमिति ज्ञानं लोकोत्तरं च तदिति।

से वह (दर्शन मार्ग की अवस्था) अचित्त एवं अनुपलम्भ कहलाती है। संसारोचित न होने से, लोक में समुदाचार (प्रादुर्भाव) न होने से तथा निर्विकल्पक होने से जो ज्ञान लोक से उत्तीर्ण है, वह लोकोत्तर कहलाता है।

शून्यता का ज्ञान होता है; तथापि वह शून्यता का प्रत्यक्षज्ञान न होकर उसे परोक्षरूप से जाननेवाला होता है। पहले की सम्भारमार्ग एवं प्रयोगमार्ग की अवस्थाओं में साधक शून्यता को युक्ति एवं तर्क आदि द्वारा परोक्षरूप से जानकर उस अवस्था का अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर विकास करता है। उसके ज्ञान में उत्तरोत्तर प्रकर्षता आती जाती है। फलतः सम्भारमार्ग और प्रयोगमार्ग की चार अवस्थायें क्रमशः आती है। प्रयोगमार्ग की अन्तिम अवस्था 'अग्रधर्म' कहलाती है। इस अवस्था में यद्यपि शून्यता का साक्षात्कार नहीं होता; तथापि इस अवस्था का ज्ञान शून्यता के साक्षात्कार के अत्यन्त निकट होता है। फलतः इस अवस्था के अव्यवहित अनन्तर ही दर्शनमार्ग (शून्यता के साक्षात्कार) की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में शून्यता का साक्षात्कार होता है। अर्थात् शून्यता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। दर्शनमार्ग में दो अवस्थायें होती हैं, यथा—१. समाहित अवस्था तथा २. पृष्ठलब्ध अवस्था। समाहित अवस्था में केवल शून्यता का ही साक्षात्कार हुआ करता है, अन्य सांवृतिक धर्मों का साक्षात्कार या उनका भान नहीं होता है। पृष्ठलब्ध अवस्था में शून्यता का साक्षात्कार नहीं होता; अपितु संवृतिसत्य का ज्ञान होता हैं। उस समय समस्त वस्तुयें मायावत् दृष्टिगोचर होती हैं।

समाहित ज्ञान भी दो भागों में विभक्त है, यथा—१. आनन्तर्य मार्ग एवं २. विमुक्तिमार्ग। आनन्तर्य मार्ग दर्शनमार्ग के प्रहेयों का प्रहाण करता है। विमुक्तिमार्ग उन प्रहेयों के प्रहाण को धारण करता है, जो अनन्तर्यमार्ग द्वारा सम्पादित किया गया है। प्रहेयों का यह प्रहीणत्व या क्षीणत्व ही प्रतिसंख्यानिरोध है, जिसे विमुक्तिमार्ग नामक समाहित ज्ञान धारण करता है। आनन्तर्य मार्ग एवं विमुक्तिमार्ग दोनों समाहित ज्ञान हैं। एक ही समाधिकाल में क्रमशः प्राप्त होते हैं। यही न्याय दशम भूमि तक के सभी मार्गों में जानना चाहिये। योगाचार शास्त्रों में वह समाहित ज्ञान की अवस्था 'परमार्थ अचित्तक अवस्था' कहलाती है।

१८१. तस्य ज्ञानस्यानन्तरमाश्रयस्य परावृत्तिर्भवतीति ज्ञापनार्थमाह—आश्रयस्य परावृत्तिरिति। आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालयविज्ञानम्। तस्य परावृत्तिर्या दौष्ठुल्यविपाकद्वयवासनाभावेन निवृत्तौ सत्यां कर्मण्यताधर्मकायाद्वयज्ञानभावेन परावृत्तिः।

उस (आर्य के समाहित ज्ञान) के अनन्तर आश्रय की परावृत्ति होती है—इसे ज्ञापित करने के लिये आचार्य वसुबन्धु ने कहा—आश्रय की परावृत्ति (होती है)। यहाँ (इस अवसर पर) आश्रय का तात्पर्य सर्वबीजक आलयविज्ञान से है। उसकी परावृत्ति का अभिप्राय है—दौष्ठुल्य, आलयविज्ञान और द्वैतवासना रूप से निवृत्ति हो जाने पर कर्मण्यता, धर्मकाय और अद्वयज्ञान के रूप में जो परावृत्ति होती है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि वह समाहित ज्ञान तो एक चित्त है, जो शून्यता को जानता है या शून्यता का आलम्बन करता है। चित्त और आलम्बन दोनों के विद्यमान होने पर भी यह अवस्था अचित्तक एवं अनुपलम्भ कैसे कही जा सकती है?

तत्र ग्राहकचित्ताभावाद् ग्राह्यार्थानुप०—यह अवस्था अचित्तक इसलिये कहलाती हैं; क्योंकि इस अवस्था का समाहित ज्ञान रूप आदि सांवृतिक धर्मों का ग्रहण नहीं करता। शून्यता से अतिरिक्त अन्य किन्हीं धर्मों की ओर ध्यान नहीं जाता। यह अवस्था अनुपलम्भ भी इसलिये कहलाती है; क्योंकि इस अवस्था का ज्ञान किसी भी भावपदार्थ का आलम्बन नहीं करता। अचित्तक या अनुपलम्भ का यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि इस अवस्था में कोई चित्त या कोई आलम्बन नहीं होता; क्योंकि शून्यता का आलम्बन तो होता ही है। यदि कहीं शास्त्रों में आर्यों का समाहित ज्ञान निरालम्ब कहा गया है, तो उसका तात्पर्य भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

अनुचितत्वात् लोके समुदाचारा०—आर्यों का वह समाहित ज्ञान लोकोत्तर कहलाता है; क्योंकि वह लोक में परिचित नहीं है या लोक के अनुकूल नहीं है। अर्थात् पृथग्जन उससे अनभिज्ञ हैं या वह पृथग्जनों के सम्पर्क में नहीं है, वह तो केवल आर्यों के ही सम्पर्क में आता है। उसका लोक में उत्पाद भी सम्भव नहीं है। यह ज्ञान कल्पना से अपोढ होता है, इसलिये निर्विकल्प भी होता है। यह लोक से उत्तीर्ण है। अर्थात् लोक को पार कर गया है, अतः लोकोत्तर ज्ञान कहलाता है।

आर्यों के दर्शनमार्ग की समाहित अवस्था में भी आलयविज्ञान तो विद्यमान होता ही है। आर्य पुद्गल का चित्त जिस समय शून्यता में स्थित होता है, उस समय उसका आलयविज्ञान शून्यता को नहीं जानता। उस समय भी वह तो केवल समस्त वासनाओं को पकड़कर ही स्थित रहता है। आर्य पुद्गल का छठवाँ मनोविज्ञान ही केवल शून्यता में स्थित होता है। अन्य विज्ञान तो उस समय उत्पन्न ही नहीं होते।

१८१. तस्य ज्ञानस्यानन्तरमाश्रयस्य०—दर्शनमार्ग से आगे बढ़ने पर भावनामार्ग की प्राप्ति होती है। इस भावनामार्ग की अवस्था में क्रमशः दस भूमियां प्राप्त होती हैं।

प्रत्येक भूमि की अवस्था में शून्यता के ज्ञान का विकास उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है। जब आर्य को अष्टम भूमि की प्राप्ति होती है, उस समय आलयविज्ञान, जो अब तक क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा आत्मरूपेण गृहीत किया जाता रहा है, वह अब समाप्त हो जाता है। किन्तु आलयविज्ञान की समाप्ति का तात्पर्य दीपक के निर्वाण की भाँति नहीं है। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाता है और उसका किसी भी रूप में अस्तित्व नहीं रहता, उस प्रकार आलयविज्ञान समाप्त नहीं होता। आलयविज्ञान की यद्यपि जातिधारा समाप्त हो जाती है; किन्तु उसकी द्रव्यधारा अभी भी विद्यमान रहती है और वह द्रव्यधारा आगे भी चलती रहती है।

प्रत्येक वस्तु की धारा दो प्रकार की होती है, यथा—१. जातिधारा तथा २. द्रव्यधारा। जैसे दूध जब दधि के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो दूध की जातिधारा समाप्त हो जाती है। यदि दधि हो जाने पर भी दूध की जातिधारा विद्यमान होती, तो दूध स्वरूपतः उपलब्ध होता। किन्तु दूध की उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि उसकी जातिधारा समाप्त हो जाती है। फिर भी दूध की द्रव्यधारा विद्यमान होती है। वह दधि यद्यपि दूध नहीं है; किन्तु दूध ही दधि के रूप में परिवर्तित हुआ है, अतः उसकी द्रव्यधारा विद्यमान है। इसी प्रकार अष्टमभूमि की अवस्था में आलयविज्ञान की जातिधारा समाप्त हो जाती है; किन्तु द्रव्यधारा विद्यमान रहती है। वह परिवर्तित होकर केवल विपाकविज्ञान के रूप में विद्यमान रहता है। फलतः अष्टमभूमि की अवस्था से आश्रयपरावृत्ति प्रारम्भ हुआ करती है। कहने का आशय यह है कि उपर्युक्त दर्शनमार्ग, जो लोकोत्तर ज्ञान है, उसके पश्चात् जब क्रमशः अष्टमभूमि की प्राप्ति होती है, तब आश्रय की परावृत्ति होने लगती है।

आश्रयपरावृत्ति का अभी उल्लेख हुआ है; किन्तु आश्रय क्या है और उसकी परावृत्ति का क्या तात्पर्य है? इसे समझने के लिये टीकाकार कहते हैं—

आश्रयोऽत्र सर्वबीजकमालय०—आश्रय का तात्पर्य सर्वबीजक आलयविज्ञान से है। अर्थात् वह आलयविज्ञान, जिसमें समस्त धर्मों के बीज या वासनाएँ निहित हैं, वह आश्रय है। भाव यह है कि आलयविज्ञान और तत्स्थ (उसमें स्थित) वासनायें—ये दोनों यहाँ 'आश्रय' शब्द से अभिप्रेत हैं। दर्शनमार्ग से पूर्व की सांसारिक या पार्थग्जनिक अवस्था में जो वासनायें होती हैं, वे दौष्ठुल्यस्वभाव की होती हैं। अर्थात् अकर्मण्यतास्वभाव की होतीं हैं। फलतः व्यक्ति के काय, वाक् एवं चित्त में अकर्मण्यता विद्यमान होती है। अष्टमभूमि की प्राप्ति के अनन्तर वह वासना परिवर्तित होकर (उलटकर) अदौष्ठुल्य स्वभाव में

१८२. सा पुनराश्रयपरावृत्तिः कस्य प्रहाणात् प्राप्यते ? अत आह—द्विधादौष्ठुल्यहानितः। द्विधेति क्लेशावरणदौष्ठुल्यं ज्ञेयावरणदौष्ठुल्यं च। दौष्ठुल्यम् आश्रयस्याकर्मण्यता, तत्पुनः क्लेशज्ञेयावरणयोर्बीजम्। सा पुनराश्रयपरावृत्तिः श्रावकादिगतदौष्ठुल्यहानितश्च प्राप्यते; यदाह—विमुक्तिकाय इति। बोधिसत्त्वगतदौष्ठुल्य-

वह आश्रयपरावृत्ति किसके प्रहाण से प्राप्त होती है ? इसके लिये आचार्य (वसुबन्धु) ने कहा—दो प्रकार के दौष्ठुल्यों के प्रहाण से। दो प्रकार का तात्पर्य क्लेशावरण दौष्ठुल्य एवं ज्ञेयावरण दौष्ठुल्य से है। आश्रय की अकर्मण्यता को 'दौष्ठुल्य' कहते हैं। वह दौष्ठुल्य क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का बीज है। श्रावक आदि में रहनेवाले दौष्ठुल्य के प्रहाण से वह आश्रयपरावृत्ति प्राप्त होती है, जिस (आश्रयपरावृत्ति) के लिये आचार्य ने 'विमुक्तिकाय' —ऐसा कहा है। बोधिसत्त्व में होनेवाले दौष्ठुल्य के प्रहाण से वह आश्रयपरावृत्ति प्राप्त

परिवर्तित हो जाती हैं। अर्थात् वे वासनायें कर्मण्यतास्वभाव की हो जाती हैं। फलतः व्यक्ति के काय, वाक् एवं चित्त में कर्मण्यता व्याप्त हो जाती है। सांसारिक अवस्था में वासनाओं की वजह से बाह्य ग्राह्य एवं बाह्य ग्राहक इस द्वैत का आभास हुआ करता था और उनके प्रति अभिनिवेश भी हुआ करता था। अर्थात् बाह्यार्थाभास एवं बाह्यार्थदृष्टि हुआ करती थी, किन्तु इस अष्टमभूमि से लेकर वह स्थिति नहीं रहती। अर्थात् वासनाओं की वजह से अब बाह्यार्थ का आभास नहीं होता और अभिनिवेश की तो बात ही क्या ! अर्थात् अभिनिवेश तो उस अवस्था में हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं इस अवस्था में आर्य पुद्गल को बाह्यार्थ-शून्यता का आभास होता है और अद्वयज्ञान की उत्पत्ति होती है। आगे चलकर जो विपाक-विज्ञान पहले था, वह 'ज्ञानधर्मकाय' के रूप में परिणत हो जाता है।

आचार्य स्थिरमति ने यहाँ कर्मण्यता, धर्मकाय एवं अद्वयज्ञान—ये सब एक ही वाक्य में एक-साथ उल्लिखित कर दिये हैं, किन्तु इनमें से धर्मकाय का सम्बन्ध अष्टम भूमि से भी आगे बुद्धत्व की अवस्था से है। अथवा इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि सांसारिक अवस्था का आलयविज्ञान या विपाकविज्ञान अष्टमभूमि की अवस्था में ऐसे ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, जो आगे होनेवाले 'ज्ञानधर्मकाय' का उपादान हेतु होता है।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक अवस्था में होनेवाला दौष्ठुल्य कर्मण्यता के रूप में परिणत हो जाता है। आलयविज्ञान (विपाकविज्ञान) धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाता है और द्वैतप्रतिभासी ज्ञान अद्वयज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है।

१८२. सा पुनराश्रयपरावृत्तिः कस्य० —प्रश्न है कि उपर्युक्त आश्रयपरावृत्ति किन कारणों से होती है ? अर्थात् किन प्रहेयों का प्रहाण कर देने से आश्रयपरावृत्ति की प्राप्ति होती है ?

हानितश्च प्राप्यते; यदाह—धर्माख्योऽयं[1] महामुनेरिति। द्विधा आवरणभेदेन सोत्तरा निरुत्तरा च आश्रयपरावृत्तिरुक्ता।

होती है, जिसके लिये आचार्य ने 'यह महामुनि का धर्मकाय है'—ऐसा कहा है। आवरणों का द्विविध भेद होने से सोत्तरा और निरुत्तरा (दो) आश्रयपरावृत्ति कही गयी है।

अत आह—द्विधादौष्ठुल्यहानितः०—दो प्रकार के दौष्ठुल्यों के प्रहाण से ही आश्रयपरावृत्ति प्राप्त की जा सकती है। क्लेशावरण दौष्ठुल्य एवं ज्ञेयावरण दौष्ठुल्य ही द्विविध दौष्ठुल्य हैं। इन्हें दौष्ठुल्य इसलिये कहते हैं; क्योंकि ये जिस व्यक्ति की सन्तान में होते हैं; उसमें अकर्मण्यता का उत्पाद होता है। अर्थात् ये उस सन्तान को दूषित करते हैं।

यहाँ कर्मण्यता का तात्पर्य समाधि-अवस्था में होनेवाली काय और चित्त की लघुता आदि से नहीं है; अपितु कर्मण्यता का यहाँ बहुत व्यापक अर्थ है। क्लेशावरण द्वारा चित्त-सन्तति दूषित की जाती है। दूषित चित्त में राग-आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। फलतः संसार में पात होता है। यह सब अकर्मण्यता ही है। ज्ञेयावरण द्वारा धर्मों के साक्षात्कार में बाधा उत्पन्न की जाती है। फलतः चित्त समस्त धर्मों के यथार्थ अवबोध में असमर्थ हो जाता है। यह असमर्थता भी अकर्मण्यता ही है। निष्कर्ष यह है कि क्लेशावरण और ज्ञेयावरण द्वारा चित्त में जो जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनका सामूहिक नाम 'अकर्मण्यता' है। इस अकर्मण्यता के विपक्ष को यहाँ 'कर्मण्यता' कहा गया है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरणों के बीज या वासनायें, जो आलयविज्ञान में स्थित हैं, उन बीजों का यहाँ 'दौष्ठुल्य' शब्द से ग्रहण करना चाहिये।

विज्ञानवाद के अनुसार पुद्गलात्मदृष्टि एवं राग आदि क्लेश 'क्लेशावरण' हैं तथा बाह्यार्थदृष्टि ही 'ज्ञेयावरण' है। इन दोनों के मूल उन उन आवरणों की वासनायें हैं।

माध्यमिकों के मत में इन द्विविध आवरणों का परिचय एवं उनका स्वरूप इससे अत्यन्त भिन्न है। माध्यमिकों में भी स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं प्रासङ्गिक माध्यमिक दोनों की एतत्सम्बन्धी स्थापना भिन्न भिन्न है।

उपर्युक्त द्विविध दौष्ठुल्यों के प्रहाण से जो मोक्ष होता है, उस (मोक्ष) का स्वरूप दिखलाने के आचार्य स्थिरमति कहते हैं—

सा पुनराश्रयपरावृत्तिः श्रावकादि०—उपर्युक्त द्विविध दौष्ठुल्यों (आवरणों) में से क्लेशावरण दौष्ठुल्य के प्रहाण से श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध द्वारा प्राप्य मोक्ष प्राप्त हुआ

---

1. ०धर्माख्योऽपि—अ०।

करता है। इसे आचार्य वसुबन्धु ने कारिका में 'विमुक्तिकाय' शब्द से अभिहित किया है। दूसरे ज्ञेयावरण दौष्ठुल्य के प्रहाण से बोधिसत्त्वों द्वारा प्राप्य मोक्ष प्राप्त हुआ करता है, जिसे आचार्य ने 'धर्माख्योऽयं महामुनेः' (अर्थात् यह महामुनि भगवान् बुद्ध का धर्मकाय है) द्वारा अभिव्यक्त किया है।

विज्ञानवादी मत के अनुसार श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध दोनों को धर्मनैरात्म्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। उन्हें केवल पुद्गलनैरात्म्य का ज्ञान ही होता है। अतः वे पुद्गलनैरात्म्य ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। उनकी मुक्ति की अवस्था में भी केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है। इनकी मुक्ति-अवस्था का स्वरूप ऊपर कह दिया गया है।

श्रावक हों, प्रत्येकबुद्ध हों, या बोधिसत्त्व हों, अपने अपने मध्यसम्भारमार्ग की प्राप्ति के साथ ही उनका अपना यान निश्चित हो जाता है। अर्थात् वे अपने निश्चित यान से ही मोक्ष प्राप्त करेंगे। बीच में अब अन्य यान में प्रविष्ट न हो सकेंगे। श्रावक के अपने मध्यसम्भारमार्ग के प्राप्त हो जाने पर यह निश्चित हो जाता है कि वह श्रावकमोक्ष की प्राप्ति तक सीधे जायगा। अर्थात् वह प्रत्येकबुद्धयान या बोधिसत्त्वयान में प्रवेश न करेगा। उसी प्रकार प्रत्येकबुद्ध के अपने मध्यसम्भारमार्ग के प्राप्त हो जाने पर वह भी निश्चितरूप से प्रत्येकबुद्धमोक्ष प्राप्ति तक विना किसी अन्य यान में प्रवेश किये सीधे जायगा। श्रावक जब निर्वाण प्राप्त करता है, तो पहले उसे सोपधिशेष अवस्था प्राप्त होती है। उस (सोपधिशेष) अवस्था में कभी कभी कोई श्रावक महायान में भी प्रविष्ट हो जाता है और बोधिसत्त्व बनकर बुद्धत्व पद प्राप्त कर लेता है। यदि सोपधिशेष अवस्था में वह महायान में प्रविष्ट नहीं होता है, तो च्युति हो जाने पर निरुपधिशेष निर्वाण में विलीन हो जाता है। उस (निरुपधिशेष) अवस्था में उसके सभी संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं, उसकी चित्तसन्तति समाप्त हो जाती है। फलतः अब उसके महायान में प्रवेश की कोई गुंजाइश नहीं रहती। यही स्थिति प्रत्येकबुद्ध के बारे में भी जानना चाहिये।

बोधिसत्त्व अपने मध्यसम्भारमार्ग की प्राप्ति से पूर्व अपने ज्ञान की दुर्बलता की वजह से कभी-कभी श्रावकयान या प्रत्येकबुद्धयान में च्युत हो जाता है। ऐसा इसलिये होता है; क्योंकि उस अवस्था में उसे धर्मनैरात्म्यज्ञान नहीं होता। महायान मध्यसम्भारमार्ग की प्राप्ति के अनन्तर धर्मनैरात्म्यज्ञान उत्पन्न हो जाता है; फलतः इस अवस्था के अनन्तर बोधिसत्त्व हीनयान में कभी च्युत नहीं होता। परिणामतः महायान मध्यसम्भारमार्ग की प्राप्ति के बाद बोधिसत्त्व क्रमशः ऊपर-ऊपर के मार्गों को प्राप्त करता हुआ अन्त में अवश्य बुद्धत्व को प्राप्त

१८३. अत्र गाथा—

ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरणलक्षणम् ।
सर्वबीजं क्लेशबीजं बन्धस्तत्र द्वयोर्द्वयोः ॥

इति । द्वयोरिति[1] श्रावकबोधिसत्त्वयोः । आद्यस्य क्लेशबीजम्, इतरस्य द्वयावरणबीजम्, तदुद्घातात् सर्वज्ञतावाप्तिर्भवतीति ।

यहाँ (आश्रयपरावृत्ति के प्रसङ्ग में एक) गाथा है—द्वयावरणलक्षण आलयविज्ञान ज्ञेय है । (इसमें) सर्वबीज अर्थात् ज्ञेयबीज और क्लेशबीज (निहित) होते हैं । इन द्विविध बीजों में श्रावक और बोधिसत्वों का बन्ध होता है । 'द्वयोः' (दोनों का) का तात्पर्य श्रावक और बोधिसत्त्व से है । प्रथम (श्रावक) का क्लेशबीज है तथा दूसरे बोधिसत्त्व के क्लेशबीज और ज्ञेयबीज दोनों होते हैं, जिनके प्रहाण से सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है ।

करता है । इस (बुद्धत्व प्राप्ति की) अवस्था में यद्यपि उसके आलयविज्ञान की धारा समाप्त हो जाती है; तथापि उसकी चित्तसन्तति का विच्छेद नहीं होता; अपितु उस समय उसे सर्वज्ञ ज्ञान की प्राप्ति होती है । जीव की अवस्था में आलयविज्ञान सत्त्व, भाजन, इन्द्रिय, रूप आदि का आलम्बन किया करता है और अनेकानेक बीजों का आश्रय हुआ करता है; किन्तु बुद्धत्व की अवस्था में ऐसा नहीं होता; अपितु वह सत्त्व, भाजन, इन्द्रिय, रूप आदि को प्रत्यक्षतः मायावत् देखता है; साथ ही बाह्यार्थशून्यता का भी सर्वदा प्रत्यक्षतः दर्शन करता है और दशबल, चतुर्वैशारद्य आदि समस्त बुद्ध गुणों का आधार बनता है । इस अवस्था में आश्रयपरावृत्ति परिपूर्ण हो जाती है, जिस आश्रयपरावृत्ति का प्रारम्भ अष्टमभूमि में हुआ था ।

द्विधा आवरणभेदेन सोत्तरा निरुत्तरा०—ऊपर कहा गया है कि क्लेशावरण का प्रहाण श्रावक आदि का प्राप्य है तथा ज्ञेयावरण का प्रहाण बोधिसत्त्वों का प्राप्य है । फलतः आश्रयपरावृत्ति भी सोत्तरा और निरुत्तरा भेद से दो प्रकार की हो जाती है । श्रावकों की आश्रयपरावृत्ति सोत्तरा इसलिये कहलाती है; क्योंकि इससे भी श्रेष्ठ आश्रयपरावृत्ति बोधिसत्त्वों की होती है । बोधिसत्त्वों की आश्रयपरावृत्ति इसलिये निरुत्तरा होती है; क्योंकि इससे श्रेष्ठ कोई आश्रयपरावृत्ति नहीं हुआ करती । इस बात की आगे पुष्टि की जा रही है ।

१८३. ज्ञेयमादानविज्ञानं द्वयावरण०—आदानविज्ञान अर्थात् आलयविज्ञान आवरणद्वयलक्षण है । इसका तात्पर्य यह है कि आलयविज्ञान दोनों आवरणों का आश्रय है ।

---

1. नास्ति—अ० ।

यह आलयविज्ञान सर्वबीजक होता है, इसलिये इसमें क्लेशबीज एवं ज्ञेयबीज दोनों स्थित रहते हैं। इन दोनों प्रकार के बीजों से श्रावक आदि हीनयानी पुद्‍गल एवं महायानी बोधिसत्त्व दोनों बद्ध होते हैं। यहाँ (कारिका में) सर्वबीज का तात्पर्य ज्ञेयबीज से है; क्योंकि ये (ज्ञेयबीज) सर्व के ज्ञान में बाधक होते हैं। श्रावक केवल क्लेशबीज से बद्ध होता है तथा बोधिसत्त्व दोनों प्रकार के बीजों से बद्ध होता है।

आद्यस्य क्लेशबीजम्, इतरस्य०—तात्पर्य यह है कि श्रावक के प्रहेय केवल क्लेशबीज होते हैं; क्योंकि श्रावकों को केवल क्लेशों का प्रहाणमात्र इष्ट होता है। बोधिसत्त्वों के प्रहेय क्लेशबीज और ज्ञेयबीज दोनों होते हैं; क्योंकि उन्हें दोनों का प्रहाण इष्ट होता है। केवल एकविध बीजों के प्रहाण से उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उन्हें सर्वज्ञत्व प्राप्त करना है। वह सर्वज्ञत्व दोनों प्रकार के आवरणों का प्रहाण किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता। फलत: श्रावक और प्रत्येकबुद्ध दोनों को धर्म नैरात्म्यज्ञान नहीं होता।

स्वातन्त्रिक माध्यमिकों के मत में अवसर विशेष में श्रावक और प्रत्येकबुद्ध दोनों को धर्मनैरात्म्य का ज्ञान हो सकता है। उदाहरणार्थ कोई बोधिसत्त्व पुद्‍गल, जिसे धर्मनैरात्म्यज्ञान प्राप्त है, कारणविशेष से किसी समय महायान से च्युत हो गया। ऐसी स्थिति में बोधिचित्त और महाकरुणा का भङ्ग हो जाने से यद्यपि वह हीनयान में च्युत तो हो जाता है; किन्तु उसके धर्मनैरात्म्यज्ञान से भी च्युत हो जाने का कोई कारण नहीं है। फलतः ऐसे पुद्‍गल श्रावकयान या प्रत्येकबुद्धयान में पतित हो जाने पर भी धर्मनैरात्म्यज्ञान से सम्पन्न होते हैं। तो भी ऐसे व्यक्ति उसे (धर्मनैरात्म्यज्ञान को) अपना मूलमार्ग नहीं समझते और न अभ्यास द्वारा उसका उत्तरोत्तर विकास करते हैं। फलतः धर्मनैरात्म्यज्ञान होने पर भी उनका ज्ञेयावरण विनष्ट नहीं होता। उनकी मुक्ति-अवस्था में केवल क्लेशावरण का ही प्रहाण होता है।

प्रासङ्गिक माध्यमिकों के मतानुसार तो क्लेशावरण के प्रहाण के लिये भी धर्मनैरात्म्य ज्ञान या शून्यताज्ञान अनिवार्य है। चाहें श्रावक हों, प्रत्येकबुद्ध हों या बोधिसत्त्व हों बिना शून्यताज्ञान के वे आर्य ही नहीं हो सकते। अर्थात् उन्हें दर्शनमार्ग ही प्राप्त न हो सकेगा। फलतः इनके मत में जो आर्य हैं, वे शून्यताज्ञान से अवश्य सम्पन्न होते हैं। तथापि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध आदि ज्ञेयावरण का प्रहाण तो नहीं ही करते। यह विषय अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है, साथ ही युक्तिपूर्ण भी है। इसके बारे में आचार्य चन्द्रकीर्ति के मध्यमकावतार आदि ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया हुआ है, उनका अवलोकन करना चाहिये। यदि सौभाग्य मिला, तो हम एतद्विषयक ग्रन्थ शीघ्र ही श्रद्धालु जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं।

१८४. स एवानास्रवो धातुरिति स एवाश्रयपरावृत्तिरूपः, अनास्रवो धातुरित्युच्यते, निर्दौष्ठुल्यत्वात्। स ह्यास्रवविगत इत्यनास्रवः, आर्यधर्महेतुत्वाद् धातुः। हेत्वर्थोऽत्र धातुशब्दः।

'वह ही अनास्रव धातु है' का तात्पर्य है निर्दौष्ठुल्य होने से वह आश्रयपरावृत्तिरूप ही 'अनास्रवधातु' कहलाती है। वह आस्रवों से रहित होने के कारण 'अनास्रव' है। आर्य धर्मों का हेतु होने से 'धातु' है। 'धातु'–शब्द यहाँ हेत्वर्थक है।

आलयविज्ञान आदि सभी विज्ञानों की परावृत्ति बुद्धावस्था में परिपूर्ण हो जाती है। सांसारिक अवस्था में आलयविज्ञान दौष्ठुल्य या समस्त वासनाओं का आधार हुआ करता है। फलतः उससे समस्त संसार की प्रवृत्ति होती है। बुद्धावस्था में वह आलयविज्ञान पूर्णतः समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर धर्मधातुज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जो (धर्मधातुज्ञान) अप्रतिष्ठितनिर्वाण का आलम्बन करता है। फलतः दशबल, चतुर्वैशारद्य आदि बुद्ध की समस्त सम्पत्तियों का लाभ होता है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय ही 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' है; क्योंकि यह (निर्वाण) भव और शम दोनों में प्रतिष्ठित नहीं है। भव का तात्पर्य संसार से है तथा शम का अभिप्राय है केवल क्लेशावरण का क्षीणत्व, जो कि श्रावक आदि का प्राप्य है। संसार में आसक्त रहना 'भवान्त' कहलाता है तथा ज्ञेयावरण का प्रहाण न कर केवल क्लेशावरण के क्षय में ही निमग्न रहना 'शमान्त' कहलाता है। ये दोनों अन्त (भवान्त और शमान्त) महायान या बोधिसत्व की दृष्टि से भयङ्कर गर्त है। जिनसे दूर रहे विना बोधिसत्त्व किञ्चित् भी इष्टलाभ नहीं कर सकता और न बुद्धत्व ही प्राप्त कर सकता है, जो उसका परम उद्देश्य है। फलतः बोधिसत्त्व प्रज्ञा के कारण न तो भव में आसक्त होता है और न करुणा के कारण शम के प्रति रागवान् होता है। उपर्युक्त दोनों अन्तों में स्थित नहीं रहने से उन क्लेशावरण और ज्ञेयावरणों का क्षीणत्व (क्षय), जो सर्वज्ञ ज्ञान में स्थित रहता है 'अप्रतिष्ठितनिर्वाण' कहलाता है।

सर्वज्ञ ज्ञान एक प्रकार का ज्ञान है, जो समस्त बुद्धगुणों का आधार होता है और साथ ही समस्त धर्मों का साक्षाद् द्रष्टा भी होता है। फलतः यह अनित्य होता है।

इसी ज्ञान में समस्त आवरणों से रहितता एवं शून्यता भी स्थित रहती हैं। ये दोनों (आवरणराहित्य और शून्यता) सर्वज्ञज्ञान में आधेय होती हैं और नित्य होती हैं और इन्हें ही 'धर्मधातु' भी कहते हैं। इसी धर्मधातु के लिये आचार्य वसुबन्धु ने 'स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः' इत्यादि कहा है।

१८४. आलयविज्ञान और तत्स्थ वासनाओं की परावृत्ति हो जाने पर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों का क्षीणत्व 'अनास्रव धातु' कहलाता है, क्योंकि वह दौष्ठुल्यरहित होता

१८५. अचिन्त्यस्तर्कागोचरत्वात् प्रत्यात्मवेद्यत्वाद् दृष्टान्ताभावाच्च। कुशलो विशुद्धालम्बनत्वात् क्षेमत्वाद् अनास्रवधर्ममयत्वाच्च। ध्रुवो नित्यत्वाद् अक्षयतया। सुखो नित्यत्वादेव, यदनित्यं तद् दुःखम्, अयं च नित्य इति, अस्मात् सुखः। क्लेशावरणप्रहाणात् श्रावकाणां विमुक्तिकायः। स एवाश्रयपरावृत्तिलक्षणो धर्माख्योऽप्युच्यते महामुनेः। भूमिपारमितादिभावनया क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणाद्, आश्रयपरावृत्तिसमुदागमात् महामुनेधर्मकाय इत्युच्यते। संसारापरित्यागात्[1] तदनुप-

(अनास्रव धातु) तर्क से अगोचर, प्रत्यात्मवेद्य एवं दृष्टान्तरहित (असदृश) होने से 'अचिन्त्य' है। विशुद्धालम्बन, क्षेम एवं अनास्रवधर्ममय होने से 'कुशल' है। नित्य और अक्षय होने से 'ध्रुव' है। 'सुख' भी नित्य होने से ही है, क्योंकि जो अनित्य होता है, वह दुःख होता है, यह तो नित्य है, इसलिये सुख है। क्लेशावरण का प्रहाण होने से वह श्रावकों का 'विमुक्तिकाय' है। तथा वही आश्रयपरावृत्ति होने पर महामुनि का 'धर्मकाय' कहलाती है। भूमि और पारमिताओं की भावना से क्लेश और ज्ञेय आवरणों का प्रहाण हो जाने से तथा आश्रयपरावृत्ति का समुदागम हो जाने से महामुनि का 'वर्मकाय' कहलाता है। (अपि च) संसार का परित्याग न करने से, (साथ ही) सांसारिक क्लेशों से क्लिष्ट

है अर्थात् क्लेशों और कर्मों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह 'धातु' इसलिये कहलाता है; क्योंकि वह आर्य धर्मों का हेतु होता है। यहाँ हेतु शब्द का तात्पर्य केवल इतना ही है कि विना क्लेशावरण के क्षय और ज्ञेयावरण के आंशिक क्षय के कोई पुद्गल आर्य नहीं हो सकता। इन क्षयों से युक्त होने पर ही आर्यज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् उनका आलम्बन करके ही पुद्गल आर्य होता है। इसी अर्थ में अनास्रव धातु 'हेतु' कही गई है। वस्तुतः वह हेतु नहीं है; क्योंकि वह नित्य है और अवस्तु है।

१८५. अचिन्त्यस्तर्कागोचरत्वात् प्रत्यात्म०—वह अनास्रव धातु तर्क की अगोचर है, प्रत्यामवेद्य है तथा उसे दृष्टान्त द्वारा समझाया नहीं जा सकता, इसलिये 'अचिन्त्य' कही गयी है। तर्क के अनेक प्रकार होते हैं। कुछ शास्त्रों में अभिलापसंसर्गयोग्य ज्ञान अर्थात् कल्पनात्मक ज्ञान 'तर्क' कहलाता है। मध्यान्तविभाग आदि अन्य शास्त्रों में पृथग्जन की समस्त बुद्धियाँ 'तर्क' शब्द से अभिहित की गयी हैं। तैर्थिकों के कुछ शास्त्रों में हेतु, दृष्टान्त आदि से सम्बद्ध विभिन्न विचार 'तर्क' कहलाते हैं। तथा अन्य शास्त्रों में सम्यग् लिङ्ग एवं सम्यग् दृष्टान्त आदि से समुत्पन्न अनुमान 'तर्क' कहा गया है। तर्क के इन समस्त स्वरूपों का यहाँ ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि उपर्युक्त अनास्रव धातु कल्पना, पार्थग्जनिक बुद्धि,

---

१. संसारपरि०—अ०।

संक्लेशत्वात्[२] सर्वधर्मविभुत्वलाभतश्च धर्मकाय इत्युच्यते। महामुनेरिति परममौनेय-योगाद् बुद्धो भगवान् महामुनिरिति।

त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यं समाप्तम्।

कृतिराचार्यस्थिरमतेः॥

भी न होने से तथा सर्वधर्मविभुत्व का लाभ हो जाने से भी 'धर्मकाय' कहलाता है। महामुनि का तात्पर्य भगवान् बुद्ध से है, क्योंकि वे ही परम मौन से युक्त होने के कारण वस्तुतः महामुनि हैं।

आचार्य स्थिरमति की कृति त्रिंशिकाभाष्य समाप्त।

तैर्थिकों के विचार तथा सम्यगनुमान इनमें से किसी की भी गोचर (विषय) नहीं है। यहाँ गोचर का तात्पर्य यथावत् ज्ञान का विषय होने से है तथा अगोचर का तात्पर्य यथावत् ज्ञान का विषय न होने से है। कल्पना बुद्धि कभी भी वस्तु को यथावत् नहीं जानती। अर्थात् वस्तु जैसी है, उस रूप में नहीं जानती। यद्यपि वह घट, पट आदि समस्त वस्तुओं को जानती है, तथापि उनका जैसा स्वरूप है, वैसा न जानकर अन्य आरोपित स्वरूपों का मिश्रण करके उनका ग्रहण करती है। वस्तु यथा है, तथा नहीं जानती। वस्तुओं को यथावत् जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान ही हुआ करता है। पृथग्जन की अवस्था में अनेकविध प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु वे सभी उस अनास्रव धातु का साक्षात्कार नहीं कर पाते, अपितु रूप आदि सांवृतिक धर्मों का ही साक्षात्कार करते हैं। तैर्थिकों के विचार न तो अनास्रव धातु को जान ही सकते है और न साक्षात्कार ही कर सकते हैं, क्योंकि वे इससे सर्वथा विपरीत मार्ग में प्रवृत्त हैं। सम्यगनुमान यद्यपि अनास्राव धातु का ज्ञान कर सकता है। अर्थात् अनुमान द्वारा उसे जाना जा सकता है, तथापि चूँकि वह सविकल्पक ज्ञान है, इसलिये वह वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अर्थात् अनास्रव धातु उस (सम्यग्-अनुमान) की भी गोचर नहीं है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अनास्रवधातु उपर्युक्त समस्तविध तर्कों द्वारा साक्षात् होने योग्य विषय नहीं है। वह तो केवल प्रत्यात्मगतिवेद्य है। प्रत्यात्मगति का तात्पर्य आर्यों के समाहित ज्ञान से है। प्रति का अर्थ है अपना-अपना, आत्मा का अर्थ है स्वयम्, गति का अर्थ ज्ञान है। अर्थात् अपना-अपना स्वयंज्ञान। जो ज्ञान अपने में स्थित

---

२. यदनुप०—त०।

(अपनी) शून्यता को साक्षात् जानता है, वह 'प्रत्यात्मगति' है। ऐसा ज्ञान आर्यों का समाहित ज्ञान ही हो सकता है। फलतः आर्यों का समाहित ज्ञान ही 'प्रत्यात्मगति' कहलाता है। अनास्रवधातु केवल उसी का साक्षात् विषय है।

जिस प्रकार प्रत्यात्मगति अनास्रवधातु का अनुभव करती है, उस प्रकार दृष्टान्त द्वारा उसे दूसरों को समझाया नहीं जा सकता। जैसे मूक पुरुष जिह्वा द्वारा गुड़ के मधुर रस का अनुभव तो कर सकता है, किन्तु दृष्टान्त द्वारा दूसरे को समझा नहीं सकता, उसी प्रकार अनास्रवधातु केवल प्रत्यात्मगति द्वारा ही वेद्य है। उसे अनुमान और दृष्टान्त द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कुशलो विशुद्धालम्बनत्वात्०—यह अनास्रवधातु यद्यपि नित्य एवं अवस्तु होने से वस्तुतः कुशल नहीं है; तथापि उसे औपचारिकरूप से 'कुशल'-शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। जैसे कुशल चित्त विशुद्धालम्बन होता है, वैसे ही यह भी विशुद्ध आलम्बन है। अर्थात् विशुद्धिमार्ग का आलम्बन होती है। अभिधर्मसमुच्चय आदि माहायानिक अभिधर्मशास्त्रों में कुशल-अकुशल के अनेक प्रभेद प्रदर्शित किये गये हैं, उनमें से परमार्थ कुशल एवं परमार्थ अकुशल भी एक भेद है[1]। किन्तु ये वास्तविक कुशल या अकुशल नहीं होते; केवल औपचारिक ही होते हैं। यह अनास्रवधातु भी परमार्थ कुशल है, वस्तुतः कुशलः नहीं। यदि यह वस्तुतः कुशल होती, तो वस्तु हो जाती और अनित्य हो जाती।

ध्रुवो नित्यत्वाद् अक्षयतया—अनास्रवधातु नित्य है, उसका उत्पाद, विनाश, भङ्ग, परिवर्तन या क्षय कभी नहीं होता, इसलिये वह 'ध्रुव' कही जाती है।

सुखो नित्यत्वादेव, यदनित्यं तद्०—अनास्रव धातु क्योंकि नित्य है, इसीलिये 'सुख' कही गयी है। 'यदनित्यं तद् दुःखम्' (जो अनित्य है, वह दुःख है) का तात्पर्य यह नहीं है कि जितने अनित्य होते हैं, वे सब दुःखस्वभाव होते हैं; अपितु ऐसे अनित्य दुःखस्वभाव होते हैं, जिनकी उत्पत्ति, विनाश, या परिवर्तन कर्म और क्लेशों के अधीन होते हैं। नित्य और अनित्य शब्द प्रयोजनविशेष के वश से दो प्रकार के अर्थ द्योतित करते हैं। प्रथम प्रकार के अनुसार नित्य शब्द अक्षणिक अर्थ में तथा अनित्य शब्द क्षणिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस क्षणिक की सीमा में सभी संस्कृत धर्मों का ग्रहण हो जाता है। दूसरे अर्थ के अनुसार कर्म

---

1. कथं कुशलं कति कुशलानि किमर्थं कुशलपरीक्षा? स्वभावतोऽपि। सम्बन्धतोऽपि। अनुबन्धतोऽपि। उत्थानतोऽपि। परमार्थतोऽपि। उपपत्तिलाभतोऽपि × × × × परमार्थतः कुशलं कतमत्? तथता × × × × ? अभिधर्मसमुच्चय पृ० ३२। (शान्तिनेकेतन प्रकाशन)।

और क्लेशों के वश से जिनका उत्पाद, विनाश या परिवर्तन होता है, वे अनित्य हैं तथा इससे विपरीत नित्य हैं। यहाँ नित्य और अनित्य शब्दों का अत्यन्त संकुचित अर्थ है। इसके अनुसार सभी सांसारिक वस्तुएँ अनित्य में गृहीत होती हैं तथा आर्यों के समस्त धर्म नित्य के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। फिर भी वे (आर्य धर्म) वास्तविक नित्य नहीं होते। आचार्य स्थिरमति ने उपर्युक्त टीका में 'यदनित्यं तद् दुःखम्' के द्वारा अनित्य शब्द का द्वितीय प्रकार का अर्थ ग्रहण किया है। अन्यथा सर्वज्ञज्ञान, सम्भोगकाय आदि जितनी वस्तुयें बुद्धावस्था में होती हैं, वे सब अनित्य होने से दुःखस्वरूप होने लगेंगी। अनास्रव धातु में तो उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्थों के अनुसार अनित्यता नहीं है। न तो वह क्षणिक के अर्थ में अनित्य है और न कर्म-क्लेशवश विनाश या परिवर्तनशील अर्थ में अनित्य है।

क्लेशावरणप्रहाणात् श्रावकाणां विमुक्ति०—ऊपर कहा गया है कि क्लेशावरण का क्षय श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध का मुख्य प्राप्य है। क्लेशावरण का प्रहाण बोधिसत्त्व को भी अवश्य करना है; किन्तु उसका उद्देश्य केवल इतना मात्र ही नहीं है; अपितु उसका मुख्य उद्देश्य ज्ञेयावरण का क्षय है। ज्ञेयावरण के क्षय से क्लेशावरण का क्षय भी अवश्य हो जाता है। इसीलिये बुद्धावस्था में दोनों क्षय विद्यमान होते हैं। उनमें से क्लेशावरण के क्षय को ही, उसके सर्वज्ञ ज्ञान में स्थित होने पर भी 'श्रावक विमुक्तिकाय' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

स एवाश्रयपरावृत्तिलक्षणो धर्माख्योऽपि०—ऊपर कहा गया है कि आश्रय की परावृत्ति होकर अर्थात् आलयविज्ञान समाप्त होकर उसके स्थान पर सर्वज्ञज्ञान का उत्पाद हो जाता है। वह सर्वज्ञज्ञान 'धर्मकाय' कहलाता है। उस सर्वज्ञज्ञान में जो आवरणक्षय नामक अनास्रवधातु विद्यमान होती है, वह भी 'धर्नकाय' कहलाती है।

बोधिसत्त्व सत्त्व जब बुद्धत्व प्राप्त करता है, तो बुद्धत्वप्राप्ति के साथ ही वह कायत्रय की उपलब्धि करता है, यथा—धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माण काय। जैसे एक सामान्य व्यक्ति में चित्त और काय ये दो होते हैं, वैसे ही बुद्ध अवस्था में भी ये दोनों होते हैं। उनमें से चित्त धर्मकाय है तथा सम्भोग और निर्माण शरीरस्थानीय हैं। सांसारिक अवस्था में चक्षुरादिविज्ञान रूप, शब्द आदि विभिन्न विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं। आलयविज्ञान समस्त वासनाओं और दौष्ठुल्यों का आश्रय हुआ करता है। क्लिष्ट मनोज्ञान, जो एक बड़ा विषम ज्ञान होता है, आलयविज्ञान को आत्मरूपेण ग्रहण करता रहता है। बुद्धावस्था में इन समस्त विज्ञानों की समाप्ति हो जाती है और उनके स्थान पर नये नये विज्ञानों का उत्पाद होता है। इस प्रक्रिया को ही 'परावृत्ति' कहते हैं। जैसे सांसारिक अवस्था में आलयविज्ञान समस्त

विज्ञानों का आश्रय हुआ करता है, उसी तरह बुद्धावस्था में सर्वज्ञज्ञान ही उनके समस्त ज्ञानों का आधार होता है और उसमें ही समस्त बुद्धगुण स्थित रहते हैं। आलयविज्ञान के स्थान पर सर्वज्ञज्ञान उत्पन्न होता है, जो अप्रतिष्ठितनिर्वाण का आधार होता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान के स्थान पर समताज्ञान का उत्पाद होता है, जो समस्त धर्मों को समान से बाह्यार्थशून्य जानता है। सांसारिक अवस्था के चक्षुरादिविज्ञानों के स्थान पर अतिविशुद्ध चक्षुरादिविज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो एक एक भी समस्त धर्मों और उनकी शून्यता को जानते रहते हैं। ये समस्त ज्ञान सामूहिकरूप से 'ज्ञानधर्मकाय' कहलाते हैं; किन्तु इस ज्ञानधर्मकाय में सर्वज्ञज्ञान ही मुख्य है।

उस सर्वज्ञज्ञान में स्थित आवरणक्षय भी धर्मकाय है और उसे 'आगन्तुकविशुद्ध स्वभावधर्मकाय' कहते हैं। फलतः विज्ञानवादी मत के अनुसार धर्मकाय केवल दो ही होते हैं, यथा—(१) ज्ञानधर्मकाय एवं (२) आगन्तुकविशुद्ध स्वभावधर्मकाय। इस मत में 'स्वभाव-विशुद्ध स्वभावधर्मकाय' नहीं होता; क्योंकि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थशून्यता इन (विज्ञानवादियों) के अनुसार धर्मकाय नहीं है। कारण यह है कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित बाह्यार्थ-शून्यता, सर्वज्ञज्ञान के विषयभूत रूप आदि की शून्यता भी है। हमने पहले कहा है कि रूप और रूप को जाननेवाला प्रमाणज्ञान (चक्षुर्विज्ञान) दोनों रूप का परतन्त्रलक्षण है और दोनों की शून्यता एक है।[1] इसीलिये रूप को जाननेवाला सर्वज्ञज्ञान भी रूप का परतन्त्रलक्षण है और उसमें स्थित शून्यता रूप की भी शून्यता है तथा रूप की शून्यता सर्वज्ञज्ञान की भी शून्यता है। ऐसी स्थिति में जब कि सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता रूप में भी विद्यमान है, तो वह कैसे धर्मकाय हो सकती है। अर्थात् सर्वज्ञज्ञान में स्थित शून्यता धर्मकाय नहीं है।

यह सिद्धान्त माध्यमिकसिद्धान्त से बहुत भिन्न है। माध्यमिकों के मत में एक धर्म की शून्यता दूसरे धर्म की शून्यता कथमपि नहीं हो सकती और आवश्यक भी नहीं है; फलतः उनके मत में सर्वज्ञज्ञान में जो शून्यता स्थित होती है, वह धर्मकाय होती है, जिसका नाम 'स्वभावविशुद्ध स्वभावधर्मकाय' है। ऐसा होने से माध्यमिकों के मत में त्रिविध धर्मकाय होते हैं, यथा—द्विविध स्वभावधर्मकाय और ज्ञानधर्मकाय। द्विविध स्वभावधर्मकाय ये हैं—स्वभाव-विशुद्ध स्वभावधर्मकाय एवं आगन्तुकविशुद्ध स्वभावधर्मकाय।

इसी रहस्य के कारण विज्ञानवादी एवं माध्यमिक दोनों की गोत्रस्थापना भी भिन्न-भिन्न होती है। विज्ञानवादी मत में शून्यता कभी गोत्र नहीं हो सकती; अपितु उनके मत में

---

1. द्र०—त्रि० १६४ पृ० ३०४ की व्याख्या।

गोत्र संस्कृत होता है। आलयविज्ञान में अनास्रव बीज होते हैं, जो श्रवण, चिन्तन आदि द्वारा पुष्ट होकर पुद्गल को मार्ग में प्रविष्ट कराते हैं और आगे चलकर उसे निर्वाण तक पहुँचाते हैं। आलयविज्ञानस्थित वे अनास्रव बीज ही विज्ञानवादियों के अनुसार 'गोत्र' कहलाते हैं।

माध्यमिक मत में गोत्र एकान्तरूप से असंस्कृत धर्म होता है। उसके मतानुसार समल चित्त में जो शून्यता होती है, वही गोत्र होता है। उसी की कृपा से अर्थात् उसी का आलम्बन करके समल चित्त निर्मल चित्त होता है। निर्मल अवस्था में वह स्वभावधर्मकाय बन जाता है।

माध्यमिकों के इस पक्ष में विज्ञानवादी आक्षेप देते हैं और कहते हैं कि यदि समल चित्तकी शून्यता गोत्र कही जायगी, तो गोत्रभेद सम्भव न हो सकेगा। अभिसमयालङ्कार में यह पक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

धर्मधातोरसम्भेदाद् गोत्रभेदो न युज्यते।[1]

इस प्रकार विज्ञानवादी और माध्यमिकों के बीच गोत्रविषयक अनेक वादविवाद हैं। आर्य विमुक्तिसेन, आचार्य विमुक्तिसेन, आचार्य हरिभद्र की अभिसमयालङ्कार की टीकाओं में यह सब अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतिपादित है।

उपर्युक्त धर्मकाय को धर्मकाय इसलिये कहते हैं; क्योंकि दश पारमितायें, दश भूमियाँ आदि धर्मों से यह संचित होता है। काय शब्द यहाँ संचित होने के अर्थ में प्रयुक्त है।

सांसारिक अवस्था में बोधिसत्त्व का जो सास्रव शरीर होता है, वह दश भूमियों की अवस्था में क्रमशः शुद्ध होता जाता है। आखिरी जन्म में बोधिसत्त्व 'चरमभविक बोधिसत्त्व' कहलाता है। अर्थात् इस जन्म में बोधिसत्त्व बुद्ध हो जाता है। वह चरमभविक बोधिसत्त्व अपने आखिरी जन्म में कामधातु और रूपधातु के स्थानों में उत्पन्न नहीं होता; अपितु केवल अकनिष्ठघनक्षेत्र में ही जन्मग्रहण करता है। वहाँ उसका शरीर अत्यन्त दिव्य होता है और कर्म-क्लेशों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। उसी दिव्य जन्म में वह बुद्ध हो जाता है। बुद्ध होते ही व्यक्ति सम्भोगकाय हो जाता है और उसका शरीर ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जनों से विभूषित हो जाता है। वह सम्भोगकाय पाँच विनियतों से युक्त होता है, यथा—

---

१. द्र०—अभिसमय० १:४० पृ० ३०७।

१. स्थानविनियत—वह सर्वदा केवल अकनिष्ठ घनक्षेत्र में ही स्थित रहता है।

२. कायविनिय—उनका शरीर ३२ महापुरुषलक्षण और ८० अनुव्यञ्जनों से सर्वदा युक्त रहता है।

३. परिवारविनियत—उनके परिवार में केवल महायानी आर्य बोधिसत्त्व ही होते हैं।

४. वाक्-विनियत—वह सदा महायान धर्म का ही उपदेश देते हैं।

५. कालविनियत—वह यावत्-संसार अर्थात् संसारसमाप्तिपर्यन्त उसी रूप में स्थित रहते हैं।

यद्यपि वह सम्भोगकाय सर्वदा अकनिष्ठ क्षेत्र में ही रहता है; तथापि सकल जगत् के कल्याणार्थ समस्त क्षेत्रों में शाक्यमुनि गौतम बुद्ध आदि अनेक बुद्धों का निर्माण करता है। ऐसे बुद्धों को 'निर्माणकाय' कहते हैं। इनके स्थान आदि नियत नहीं होते। वाराणसी, मगध आदि अनेक स्थानों में भ्रमण करते रहते हैं। यह निर्माणकाय पशु, पक्षी, पृथग्जन आदि सभी जीवों का गोचर होता है तथा समस्त विनेय जनों के कल्याणार्थ श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्त्व आदि सभी यानों का उपदेश करता है। वह यावत्संसार स्थित नहीं रहता; अपितु कुछ ही काल में कुशीनगर आदि स्थानों में महानिर्वाण प्राप्त कर लेता है।

धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय तीनों में अनास्रवत्व, महासुखत्व, विमुक्ति, धर्मकायत्व आदि सब विद्यमान रहते है। अचिन्त्यता केवल धर्मकाय और सम्भोगकाय में ही होती है, निर्माणकाय में नहीं रहती, यह एक विशेषता है; क्योंकि निर्माणकाय पृथग्जनों के भी साक्षात्कार का विषय होता है।

तात्पर्य यह है कि बोधिसत्त्वों के बुद्ध हो जाने पर उनका चित्त और उस चित्त में स्थित निर्मलता 'धर्मकाय' है। उनका शरीर जो सर्वदा अकनिष्ठ क्षेत्र में रहता है 'सम्भोग-काय' है तथा उनके अवतार जो दशों दिशाओं में विभिन्न रूपों में अवतरित होते रहते हैं 'निर्माणकाय' है। ये तीनों एक ही व्यक्ति की विशेषतायें हैं। जीवों के बुद्ध हो जाने पर प्रतिजीव त्रिविध काय पृथग् अवस्थित होते हैं। अर्थात् अपने अपने प्राप्य त्रिकाय अलग-अलग होते हैं। ऐसा नहीं होता कि धर्मकाय एक और व्यापक होता है तथा मुक्त होने पर सभी जीव उसी में विलीन हो जाते हैं। सम्भोगकाय और निर्माणकाय दोनों 'महामुनि' शब्द द्वारा प्रज्ञप्त किये जाते हैं।

भूमिपारमितादिभावनया क्लेशज्ञेयावरण०—शैक्ष अवस्था में बोधिसत्त्व दान आदि पारमिताओं की भावना करते हैं तथा क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरणों का यथाक्रम प्रहाण

करते हैं। फलतः पर्याप्त मात्रा में उनमें आश्रयपरावृत्ति हो गई रहती है और धर्मकाय के अंश का भी पर्याप्त विकास हो गया रहता है। आगे चलकर बुद्ध-अवस्था में उन पारमिताओं की पूर्णतया पूर्ति हो जाती है और आश्रयपरावृत्ति भी पूर्णतया निष्पन्न हो जाती है। इन पारमिताओं और भूमियों द्वारा सञ्चित होने से उस (बुद्ध) अवस्था का सर्वज्ञज्ञान और उसकी निर्मलता 'धर्मकाय' कहलाती है। इतना ही नहीं, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय भी 'काय' शब्द द्वारा प्रज्ञप्त किये जाते हैं। नीचे बोधिसत्त्व-अवस्था की कुछ विशेषतायें दिखलायी जा रही हैं—

संसारापरित्यागात् तदनुपसंक्लेश०—आर्य बोधिसत्त्व संसारपरित्याग के लिये उतना चिन्तित नहीं रहता, जितने श्रावक आदि रहते हैं। इसका कारण यह है कि बोधिसत्त्व उपायकुशल होते हैं। वे उपाय द्वारा संसार में रहते हुए भी सांसारिक दोषों से दूषित नहीं होते। इतना हो नहीं, वे कामराग आदि क्लेशों और अन्य छोटे-मोटे सांसारिक दोषों को मार्गीकृत कर लेते हैं तथा उन (कामराग आदि) बहुत से क्लेशों का परार्थसिद्धि के लिये भलीभाँति उपयोग करते हैं। जैसे किसी कुशल चिकित्सक के हाथ में विष आ जाय, तो वह उसे फेंक कर भाग नहीं जाता; अपितु उसका भलीभाँति संस्कार करके उपाय द्वारा उसका रोगों के प्रहाणार्थ उपयोग करता है, इसी प्रकार बोधिसत्त्व भी कामराग आदि सांसारिक क्लेशों से भयभीत नहीं होता; अपितु उन्हें मार्गीकृत करके जगत् के कल्याणार्थ उनका उपयोग करता है। इसका यह तात्पर्य कथमपि नहीं है कि बोधिसत्त्व संसार से विमुक्त नहीं होता। कामराग आदि छोटे-बड़े क्लेशों का परार्थसिद्धि के लिये उपयोग करना, यह कोई तन्त्र की ही विशेषता नहीं हैं; अपितु यह उपायकौशल्य समस्त बोधिसत्त्व आर्यों में भी होता है। क्लेशों में से किन-किन क्लेशों को परिवर्तित करके उपयोग में लाया जा सकता है, किन-किन को नहीं, इत्यादि बातों का उल्लेख एवं उन क्लेशों को परिवर्तित करने के तरीके, ये सब विषय अभिसमयालङ्कार और महायानसूत्रालंकार तथा उनकी टीकाओं में स्पष्टतया उल्लिखित हैं। आर्य बोधिसत्त्वों में आश्रयपरावृत्ति पर्याप्तमात्रा में हो जाने के कारण उन्हें सर्वधर्मविभुत्व का लाभ होता है। महायानसूत्रालङ्कार में कहा गया है—

पञ्चेन्द्रियपरावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
सर्वार्थवृत्तौ सर्वेषां गुणद्वादशतोदये॥
मनसोऽपि परावृत्तौ विभुत्व लभ्यते परम्।
विभुत्वानुचरे ज्ञाने निर्विकल्पे सुनिर्मले॥
सार्थोद्ग्रहपरावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
क्षेत्रशुद्धौ यथाकामं भोगसंदर्शनाय हि॥

विकल्पस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अव्याघाते सदाकालं सर्वेषां ज्ञानकर्मणाम्॥
प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं बुद्धानामचले पदे[1]॥

क. पञ्चेन्द्रियपरावृत्तौ०—दर्शनमार्ग की पृष्ठलब्ध अवस्था से इन सब विभुत्वों की उपलब्धि प्रारम्भ होती है। पाँच इन्द्रियों की परावृत्ति होने पर वे अत्यधिक शक्ति-सम्पन्न हो जाती हैं। उनमें से एक एक इन्द्रिय भी सभी अर्थों में प्रवृत्त होने की क्षमता रखती है। अर्थात् उनमें से एक एक इन्द्रिय से भी ऐसे ऐसे विज्ञानों की उत्पत्ति होती है, जो विज्ञान सभी अर्थों में प्रवृत्त होने में सक्षम होते हैं। बोधिसत्त्व को तरह तरह की अभिज्ञाओं और ऋद्धियों का लाभ होता है। जिनकी वज़ह से वह (बोधिसत्त्व) अपने को १२०० शरीरों में परिणत करके एक ही काल में १२०० बुद्धक्षेत्रों में एकसाथ गमनागमन कर सकता है। यह (१२०० की) संख्या दर्शनमार्गप्राप्त आर्य बोधिसत्त्व के लिये है। आगे आगे की भूमियाँ प्राप्त करने पर यह संख्या दुगुनो, चौगुनी होती रहती है।

ख. मनसोऽपि परावृत्तौ०—यहाँ पर 'मनस्' का तात्पर्य क्लिष्ट मनोविज्ञान से है। क्लिष्ट मनोविज्ञान की परावृत्ति होने पर समताज्ञान का अंश अधिक बढ़ने लगता है, जो ज्ञान समस्त धर्मों की शून्यता समानरूप से जानता है।

ग. सार्थोद्ग्रहपरावृत्तौ०—इसके द्वारा चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रियविज्ञानों की परावृत्ति दिखलायी गयी है। पहले पृथग्जन की अवस्था में चक्षुर्विज्ञान केवल रूप का ही दर्शन करने में समर्थ था, श्रोत्रविज्ञान केवल शब्द का ही श्रवण कर पाता था; किन्तु अब केवल एक चक्षुर्विज्ञान ही समस्त अर्थों का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। इतना ही नहीं वह वैडूर्यमय भूमि आदि बुद्धक्षेत्र, सम्भोग काय आदि निर्मल दृश्यों का भी दर्शन करता है।

घ. विकल्पस्य परावृत्तौ०—इसके द्वारा छठवें मनोविज्ञान की परावृत्ति प्रदर्शित की गयी है। इसकी परावृत्ति होने पर आदर्शज्ञान, प्रत्यवेक्षा आदि अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो ज्ञान समस्त कर्मों में अप्रतिघ रूप से प्रवृत्त होने में समर्थ होते हैं।

ङ. प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ०—प्रतिष्ठा का तात्पर्य आलयविज्ञान से है। आलयविज्ञान की परावृत्ति होने पर सर्वज्ञज्ञान का उत्पाद होता है। पहले पार्थग्जनिक अवस्था में आलय-

---

१. महा० सूत्रा० ९ ४१—४५ पृ० ४१।

विज्ञान का आलम्बन (आधेय) वासनायें हुआ करती थीं; किन्तु अब सर्वज्ञज्ञान का आलम्बन अप्रतिष्ठितनिर्वाण होता है। आलयविज्ञान समाप्त होकर सर्वज्ञज्ञान उत्पन्न होता है और वासनायें निवृत्त होकर, उन वासनाओं का क्षय, जो अप्रतिष्ठितनिर्वाण है, प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन कारिकाओं द्वारा दर्शनमार्ग की पृष्ठलब्ध अवस्था से लेकर बुद्धावस्था तक होनेवाली परावृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है।

परावृत्ति का तात्पर्य सांख्यों के परिणाम की तरह नहीं है। अर्थात् जैसे दूध दही में परिणत होता है, वैसे आलयविज्ञान आदि सर्वज्ञज्ञान आदि के रूप में परिणत नहीं होते; अपितु पूर्वावस्था का विनाश होकर नयी अवस्था का उत्पाद होता है। महायानसूत्रालङ्कार की वृत्ति एवं स्थिरमतिकृत उसकी व्याख्या में स्पष्टतया उल्लिखित है कि 'परावृत्ति' का अर्थ प्रहाण के अनन्तर दूसरी अवस्था का उत्पाद है। फलतः क्लेशों की परावृत्ति का तात्पर्य क्लेशों का विना प्रहाण किये उनकी बुद्धज्ञान के रूप में परिणति नहीं है क्लेशों का प्रहाण अवश्य होता है। किन्तु उनका क्षय होने के बाद भी चित्त की द्रव्यधारा विच्छिन्न नहीं होती; अपितु एक नयी अवस्था का उत्पाद होता है, जिसकी पहली अवस्था से कोई समता नहीं होती। वह (नयी अवस्था) पूर्वावस्था से सर्वथा भिन्न होती है। यह नयी अवस्था 'परावृत्ति' कहलाती है।

महामुनेरिति परममौनेययोगाद्०—ऊपर कहा गया है कि सम्भोगकाय और निर्माणकाय 'महामुनि' कहलाते हैं[1]। श्रावक आर्य, प्रत्येकबुद्ध आर्य, बोधिसत्त्व आर्य एवं बुद्ध चारों मुनि हैं, क्योंकि उनमें क्लेशवश वाक्समुदाचार नहीं होता। लोक में भी जो मौन रहता है, उसे 'मुनि' कहते हैं। उन मुनियों में सर्वश्रेष्ठ मुनि भगवान् बुद्ध हैं; अतः उन्हें 'महामुनि' कहा जाता है, क्योंकि दूसरे मुनियों (श्रावक आर्य आदि) में यद्यपि क्लेशवश वाक्समुदाचार नहीं होता, तथापि उनमें ज्ञेयावरणवश वाक्समुदाचार तो होता ही है। बुद्ध में उस प्रकार का भी वाक्समुदाचार नहीं है। फलतः वे परममुनि या महामुनि हैं।

भगवान् बुद्ध की मुनीन्द्र, मुनिराज, मुनीश्वर आदि अनेक संज्ञायें हैं। भगवान् बुद्ध की बुद्धावस्था के कुछ गुणों का यहाँ संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त भी बुद्ध के गुणों में दशबल, चतुर्वैशारद्य, तीन असम्भिन्न स्मृत्युपस्थान, तीन अगुप्त, महाकरुणा, अष्टादश आवेणिक गुण आदि अनेक गुण हैं। ये सब एक ही सर्वज्ञज्ञान के विभिन्न स्वरूप हैं। केवल व्यावृत्ति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रज्ञप्त किये जाते हैं। निराभोग

---

१. द्र०—त्रि पृ०३६७।

कर्म, अविच्छिन्न कर्म आदि अनेक कर्मगत विशेषतायें होती हैं। इन सब का स्वरूप अभिसमयालंकार एवं महायानसूत्रालंकार इन दोनों अलंकारों में स्पष्टतः प्रतिपादित है। विशेष ज्ञान के लिये उनका अवलोकन करना चाहिये।

अभिसमयालंकार यद्यपि विज्ञानवादी शास्त्र नहीं है, अपितु माध्यमिक शास्त्र है, तथापि उसमें प्रतिपादित मार्ग एवं फल आदि अवस्थायें प्रायः दोनों (विज्ञानवादी और माध्यमिक) सिद्धान्तों में समानरूप से मान्य हैं।

न्यायानुसारी विज्ञानवादियों के मत में यद्यपि आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं माने जाते; किन्तु अन्य सभी व्यवस्थायें प्रायः आगमानुयायी विज्ञानवादियों के समान ही हैं।

विज्ञानवादी सिद्धान्तों का त्रिंशिकाकारिका और उसकी टीका के अनुसार अभी तक संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। ये विज्ञानवादी सिद्धान्त भारतीय अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के बीच में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारतीय दार्शनिक विचारों के विकास का इतिहास जानने के लिये इनका ज्ञान परमावश्यक है। इनका भलीभाँति ज्ञान होने पर अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने में सुविधा होती है। विशेषतया माध्यमिक सिद्धान्तों के गम्भीर ज्ञान के लिये इनका सूक्ष्म अध्ययन बहुत जरूरी है। भोटदेश में प्रसिद्धि है कि नीचे नीचे के सिद्धान्त ऊपर-ऊपर के सिद्धान्तों को समझने की सीढ़ियाँ हैं। फलतः हमें प्रयत्नपूर्वक इनका ज्ञान कर लेना चाहिये, जिससे प्रासङ्गिक माध्यमिकों के दर्शन का यथावत् ज्ञान हो सके, जो कि भारतीय दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ दर्शन है है और जिसके ज्ञान से वास्तविक त्रिकाय की प्राप्ति होती है, जो त्रिकाय समस्त सम्पत्तियों का आगार है।

त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और उसके भाष्य की गूढार्थदीपनी व्याख्या समाप्त

भवतु सर्वमङ्गलम्

परिशिष्टम्

१

आचार्यचोंखापासुमतिकीर्तिप्रणीताः

आलयविज्ञानक्लिष्टमनोविज्ञानकारिकाः

व्याख्यासहिताः

॥ नमो मञ्जुश्रिये कुमारभूताय ॥

आचार्यचोंखापा-सुमतिकीर्तिप्रणीताः

आलयविज्ञान-क्लिष्टमनोविज्ञानकारिकाः

जिनस्य सूक्तं सुपथं यथार्थतो
जिनात्मजानां पदचिह्नमाप्य च ।
अमिश्रपूर्णावितथ - प्रदर्शकान्
विदो विदां तान् प्रणमामि भूरिशः ॥१॥

विज्ञप्तिशास्त्रेषु दुरूहभूतं स्थानं मनश्चालयमत्र वक्तुम् ।
जनः स्वकीयस्मृतिपोषणार्थं गुरूक्तिमाश्रित्य प्रवर्ततेऽयम् ॥ २ ॥

यानोत्तमं ग्रहीतेति वदतां प्रवरेण प्राक् ।
व्याकृतेनार्यनागेन कृते तद्यानवर्धने ॥ ३ ॥

पश्चादसङ्गपादेन व्याकृतेनैव सर्वथा ।
तत्त्वमाविष्कृतं नूतनं प्राक् तु मध्यमकं स्थितम् ॥ ४ ॥

चतुर्भिरालयः सिद्धिनवैकक्षेपलक्षणैः ।
क्लिष्टं मनश्च विज्ञेयमालयस्य तयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥

आधाराधेयभावेन लक्षणं द्विविधं स्मृतम् ।
आधार आलयस्तत्रानिवृताव्याकृतस्तथा ॥ ६ ॥

असंविदिततत्त्वार्थवासनाज्ञप्तिकश्च सः ।
स्पर्शाद्यैः पञ्चभिर्युक्तो वासनातोऽवभासनात् ॥ ७ ॥

स्थानस्यार्थस्य देहस्य सैषाऽऽलम्बनमिष्यते ।
गृह्यन्ते पञ्चभिर्ज्ञानैर्ग्राह्यांशा आलयस्य तु ॥ ८ ॥

व्यवहारपथं नेयाः षष्ठेन मनसा ह्यतः ।
धात्वोरेव सुनिर्णीता ह्यन्यथाऽऽरूप्यकः पुनः ॥ ९ ॥

रूपसंज्ञाऽनतिक्रान्तः रूपिभूमिः प्रसज्यते ।
रूपाभासनतो ज्ञाने बाह्यरूपाद्यभावतः ॥१०॥

नीचैरप्येकसत्त्वस्यालये पुम्भाजनादयः ।
सर्वे च यदि भासेरन् नरकाण्यपि रूपिणः ॥११॥

निरये दिव्यसत्त्वार्थप्रतिभासः प्रसज्यते ।
प्राकृतस्यापि भासेत विप्रकृष्टं पदं समम् ॥१२॥

साक्षात् स्वाक्षतवर्थास्तु पारम्पर्येण षड्गणे ।
येऽर्थत्वेनावभास्यास्ते मताश्चालयगोचराः ॥१३॥

इन्द्रियार्थातिरिक्ता ये षष्ठस्य विषया न ते ।
वैचित्र्यग्रहणायोगादालयस्य कदाचन ॥१४॥

षष्ठस्यारोपितार्थत्वाद् बीजस्याप्याश्रयत्वतः ।
साक्षाच्छुभाशुभैः सार्धमेकसन्तानजत्वतः ॥१५॥

सिद्धमादानविज्ञानं निवृताव्याकृतेतरत् ।
अस्पष्टाव्याकृतत्वाच्च तत्र स्पर्शादिपञ्चकम् ॥१६॥

मध्या तु वेदना तत्रात्मत्वयोगतयाऽऽलयम् ।
आवज्रोपमनिःशेषमव्युच्छिन्नं प्रवर्तते ॥१७॥

निरोधाभिमुखालेपकेनावलेपनाश्रये ।
शक्तिर्या स्थाप्यते तत्र साधेयालय उच्यते ॥१८॥

अवलेप्याश्रयस्तावत् स्थिरश्चाव्याकृतस्तथा ।
स्थाप्यः स्थापकसम्बद्ध एकान्ताश्रयणात्मकः ॥१९॥
विशेषैः पञ्चभिर्युक्तो बाह्यमाध्यात्मिकं तथा ।
सांवृतं द्वे तथास्पष्टे पारमार्थिकमेव च ॥२०॥
षड् वा बीजानि मन्यन्ते दृश्यन्ते त्रीणि वाऽन्यतः ।
आत्मदृक् चाभिधानं च भवाङ्गवासना इमाः ॥२१॥
बीजं चतुर्विधं वापि संवेदनमवेदनम् ।
सामान्यं च विशेषं च यद्द्वे वं तत् प्रकीर्तितम् ॥२२॥
प्रश्रब्धिश्चात्र दौष्ठुल्यं भुक्तञ्चाभुक्तमेव च ।
नाभिन्ना वासना भिन्ना नाश्रयाद् द्रव्यतः स्थिता ॥२३॥
आलम्बनमथाकारो वासनायाः प्रसज्यते ।
गतिपञ्चकबीजानां धातूनां च व्यतिक्रमः ॥२४॥
अभिन्ना वासनाऽतो नवैकस्मिन्नालयद्वयम् ।
प्रसज्यते हि सन्ताने ततो भिन्ना न सा मता ॥२५॥
ततश्चाश्रयतस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां न निरुच्यते ।
प्रज्ञप्तिमात्रसद्भावाद् वासनाऽव्याकृता मता ॥२६॥
प्रक्षेपकः शुभो वा स्यादशुभो वाथ वासना ।
शुभा वाप्यशुभेतीह साधनं नोपलभ्यते ॥२७॥
वासनास्थापनायां तु त्रिविधं मतमिष्यते ।
धर्मतः स्थितताऽपूर्वोद्भूतता चोभयात्मिका ॥२८॥
सर्वसंक्लेशधर्मेषु हेतुतश्चाथ कार्यतः ।
लीनत्वादालयः सोऽथ वशिनश्चार्हतो न वै ॥२९॥
तल्लक्षणद्वयायोगात् क्लिष्टस्य मनसः पुनः ।
द्रष्टृत्वं च विपाकांशस्यात्मत्वेन तु लक्षणम् ॥३०॥
निवृताव्याकृते तत्र स्पर्शरागादयो नव ।
समाहिते निरोधे तु तस्य तात्कालिकः क्षयः ॥३१॥

वशिनश्चार्हतश्चैव सर्वथा क्षय उच्यते ।
क्लिष्टत्वस्थापकस्यात्मग्राहस्यापि निवर्तने ॥३२॥

तज्जातिमात्रसद्भावाद् धर्मग्राहानिवृत्तितः ।
मनोऽभावे समज्ञाने दूषणं नोपपद्यते ॥३३॥

विश्वस्तागमयुक्तिभ्यः षड्विज्ञानातिरिक्तकम् ।
सिद्धमालयविज्ञानं मनश्चेत्यवधीयताम् ॥३४॥

विज्ञानवादिशास्त्रेषु साधनानन्त्यमीरितम् ।
तथाऽपि तेषां सर्वेषां संग्रहोऽष्टासु दृश्यते ॥३५॥

उपादानत्वमादित्वं स्पष्टत्वं बीजकर्मणी ।
कायवित्त्व समापत्तेरुपपत्तिश्च्युतिस्तथा ॥३६॥

इत्येतेषामयोगः स्यादालयः समुदीरितः ।
हीनयानेऽपि शास्त्रेष्वासंसारस्कन्धमालयः ॥३७॥

भवाङ्गं मूलविज्ञानं पर्यायैर्विविधैरिति ।
तथा निरूपितोऽप्येष मित्रवामनघोषकैः ॥३८॥

स्कन्धवेदनसत्कायदृष्ट्यभिप्रायतो मतः ।
अधोयानमतेनार्थो न्याय्यो युक्तस्तथापि सः ॥३९॥

महायानागमादौ त्वालयविज्ञानमेव हि ।
तथार्थाधिगतौ सर्वं चतुरस्रं प्रजायते ॥४०॥

वसुमित्रादिभिः प्रोक्ते यतोऽर्थो दोषदूषितः ।
यदि क्लिष्टं मनो न स्यादभावश्च प्रसज्यते ॥४१॥

आवेणिक्या अविद्यायाः समतायाश्च पञ्चभिः ।
समापत्तिविशेषस्य व्युत्पत्तीनां च सर्वशः ॥४२॥

असंज्ञिसत्त्वसन्ताने चाहंदृष्टेर्हि सर्वदा ।
अहम्बोधस्य तस्माद् वै मनः क्लिष्टं च गृह्यताम् ॥४३॥

आदानं सप्तमं ज्ञानं त्रिधा चालयमष्टमम् ।
अमलं नवमं ज्ञानं परमार्थेन मन्यते ॥४४॥

अष्टकादधिकं ज्ञानं प्रधानं यदि मन्यते ।
साधनं नास्ति तत्पक्षे नित्यतायाः प्रसङ्गतः ॥४५॥

एकमेव मनस्तावत् पृथगिन्द्रियवस्तुषु ।
चरद्वारोपमात्राणि नामानि लभते पृथक् ॥४६॥

वर्गे च ब्राह्मणे सूत्रे द्वादशायतनाभिधे ।
मन आयतनं ह्येकं षड्ज्ञानानां च देशितम् ॥४७॥

तस्माज्ज्ञानानि सर्वाणि त्वेकमेव मनः किल ।
आगमार्थस्तु केनापि ग्रहीतुं शक्यतेऽन्यथा ॥४८॥

एवं सतीन्द्रियज्ञानैर्ग्रहणं च भविष्यति ।
अतीतानागतार्थानां परोक्षार्थस्य सर्वथा ॥४९॥

एकवादिमतं तस्मात् प्रामान्ध्यमयं ततः ।
विश्वस्तागमतर्कैस्तु ज्ञानमष्टगुणान्वितम् ॥५०॥

मतं तदेव बोद्धव्यं गुह्यतत्त्वविशारदैः ।
पण्डितैरिति विज्ञानाष्टकमेवावसीयताम् ॥५१॥

मनसश्चालयस्यायं गूढतत्त्वार्थदर्शकः ।
निषेवितश्च विद्वद्भिर्गुरुवागनुसारतः ॥५२॥

प्रबन्धस्तु परिव्राजा कृतः सुमतिकीर्तिना ।
तेन पुण्येन लोकेऽस्मिन् वर्धतां मुनिशासनम् ॥५३॥

॥ आलयविज्ञानक्लिष्टमनोविज्ञानकारिकाः समाप्ताः ॥



॥ नमो मञ्जुश्रिये वागीश्वराय ॥

आलयविज्ञानक्लिष्टमनोविज्ञानकारिकाः

व्याख्यासहिताः

जिनस्य सूक्तं सुपथं यथार्थतो
जिनात्मजानां पदचिह्नमाप्य च ।
अमिश्रपूर्णावितथप्रदर्शकान्
विदो विदां तान् प्रणमामि भूरिशः ॥१॥

मैं (ग्रन्थकार = आचार्य चोंखापा सुमतिकीर्ति) ग्रन्थ के प्रारंभ में योगाचार प्रस्थान के उन्नायक आचार्य असङ्ग आदि महामनीषियों को अनेकशः प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने भगवान् बुद्ध और बोधिसत्त्वों द्वारा उपदिष्ट सुवचनों का एवं उनके द्वारा प्रदर्शित सन्मार्ग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया है और इस तरह उनके पदचिह्नों का अनुसरण किया है। इतना ही नहीं, जिन्होंने उन सुवचनों और सन्मार्गों की देशना भी अविपरीत, अमिश्रित एवं पूर्ण रूप से स्पष्टतया की है।

ज्ञातव्य है कि भगवान् बुद्ध का शासन आगम और अधिगम इन दो भागों में विभक्त है। उनमें त्रिपिटक 'आगम' है और तीन अधिशिक्षायें (अधिशील, अधिसमाधि और अभिप्रज्ञ शिक्षायें) 'अधिगम' हैं[1]। तीन अधिशिक्षायें ही 'सन्मार्ग' हैं, जिनसे बुद्ध और बोधिसत्त्वों का इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति तक गमन हुआ करता है। फलतः आगम और अधिगम द्विविध सद्धर्म ही जिन (बुद्ध) और जिनपुत्रों (बोधिसत्त्वों) का पदचिह्न है।

विज्ञप्तिशास्त्रेषु दुरूहभूतं स्थानं मनश्चालयमत्र वक्तुम् ।
जनः स्वकीयस्मृतिपोषणार्थं गुरूक्तिमाश्रित्य प्रवर्ततेऽयम् ॥२॥

यह कारिका प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिज्ञावाक्य या प्रयोजनवाक्य कही जा सकती है। आलयविज्ञान और क्लिष्ट-मनोविज्ञान ही विज्ञानवादी शास्त्रों में दुर्बोध

---

1. द्र०—

सद्धर्मो द्विविधः शास्तुरागमाधिगमात्मकः ।—अभि० को० ८ । ३९ पृ० ४५९ ।

तत्रागमः सूत्रविनयाभिधर्मा अधिगमो बोधिपक्ष्या इत्येष द्विविधः सद्धर्मः ।

—अभि० को० भाष्य, पृ० ४५९ ।

स्थल होते हैं। इनका यथार्थ ज्ञान न होने पर न केवल विज्ञानवादी सिद्धान्तों का ही सम्यग् (अभ्रान्त) ज्ञान नहीं होता; अपितु समस्त बौद्धदर्शन के प्रति विपरीत ज्ञान का उदय होता है। फलतः दर्शन-अध्येता के मन में बौद्ध और अबौद्ध सिद्धान्तों से मिश्रित विचार स्थायी हो जाया करते हैं। इसी अनर्थ की आशङ्का के उन्मूलन के उद्देश्य से आलयविज्ञान और क्लिष्ट-मनोविज्ञान के स्वरूप का स्पष्टतया प्रतिपादन करने के लिये आचार्य चोंखा पा सुमतिकीर्ति ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन का उपक्रम किया। अपि च—विज्ञानवादसदृश अतिक्लिष्ट दर्शन का जो ज्ञान उनकी स्मृति में निहित था, उसका उत्तरोत्तर विकास हो, यह भी इस ग्रन्थ की रचना के पीछे उनका एक उद्देश्य था। इस ग्रन्थ के प्रति किसी के मन में अप्रामाण्यबुद्धि का उत्पाद न हो, इसका निरास करने के लिये वे कहते हैं कि यह ग्रन्थ गुरुजनों के वचनों पर आधृत है। अर्थात् प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन विषयों की चर्चा की गयी है या जिन विषयों का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, उन सबका आधार गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञान है। अतः यह ग्रन्थ प्रामाणिक है। कारिकाओं में से अनेक कारिकायें आचार्य असङ्ग के महायानसंग्रह आदि विशिष्ट ग्रन्थों से उद्धृत हैं।

यानोत्तमं ग्रहीतेति वदतां प्रवरेण प्राक्।
व्याकृतेनार्यनागेन कृते तद्यानवर्धने ॥ ३ ॥
पश्चादसङ्गपादेन व्याकृतेनैव सर्वथा।
तत्त्वमाविष्कृतं नूत्नम्

विज्ञानवाद का उद्भव

सभी महायानी यह मानते हैं कि समस्त महायानसूत्र विशुद्ध बुद्धवचन हैं। ऐसा बिलकुल नहीं है कि उनकी रचना पीछे किसी आचार्य ने की हो[1]। किन्तु भगवान् बुद्ध के परिनिर्वृत्त होकर धर्मधातु में प्रविष्ट हो जाने पर महायानसूत्र भी

---

१. महायानी आचार्यों ने अकाट्य युक्तियों द्वारा विस्तारपूर्वक महायान सूत्रों का बुद्धवचनत्व सिद्ध किया है। द्रष्टव्य—

बुद्धवचनस्येदं लक्षणं यत्सूत्रेऽवतरति विनये संदृश्यते धर्मतां च न विलोमयति। महायानसूत्रे सर्वमेतल्लक्षणं संघटते। यथा—

स्वकेऽवतारात् स्वस्यैव विनये दर्शनादपि।
औदार्यादपि गाम्भीर्यादविरुद्धैव धर्मता ॥

इस जम्बूद्वीप में अदृश्य हो गये। उस समय केवल श्रावकपिटक ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होते थे। लोग उन्हें ही केवल बुद्धवचन मानते थे। सर्वत्र उनका ही प्रचार प्रचलित था। उनमें प्रतिपादित सिद्धान्त वैभाषिक सिद्धान्त से भिन्न न थे, हालांकि यह हो सकता है कि उस समय उन्हें वैभाषिक न कहा जाता हो। सुहृल्लेख आदि के अनुसार प्रज्ञापारमितासूत्र आदि महायानसूत्र उस समय केवल नागद्वीप में ही उपलब्ध थे, जम्बूद्वीप में उनका कोई नाम तक न जानता था।

तदनन्तर एक समय आया, जब महायानसूत्र पुनः इस जम्बूद्वीप में लौटे। इसका पूरा श्रेय आचार्य नागार्जुन को है, जिनके विशेष अध्यवसाय से यह कार्य सम्पन्न हुआ। भगवान् बुद्ध ने बहुत पहले ही यह व्याकरण (भविष्यवाणी) कर दिया था कि 'भविष्य में एक नागार्जुन नाम के आचार्य होंगे, जो महायान का विकास करेंगे'। यह व्याकरण लङ्कावतारसूत्र में उपलब्ध है, जिसे समस्त महायानी विद्वान् अत्यधिक प्रमाण मानते हैं, यथा—

पश्चात्काले गते नाथे ब्रूहि कोऽयं धरिष्यति ॥
निर्वृत्ते सुगते पश्चात् कालोऽतीतो भविष्यति।
महामते, निबोध त्वं यो नेत्रीं धारयिष्यति ॥

महायानसूत्रालङ्कारे महायानसिद्धयधिकारः प्रथमः, का० ११ और उससे आगे पृ० ५।
अपि च--

नन्वसिद्धं महायानं कथं सिद्धस्त्वदागमः।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ॥
यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु।
अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥

बोधि० ९ । ४२-४३ पृ० २०४-२०५।

अध्याशयसंचोदनसूत्रेऽप्युक्तम्—

यदर्थवद्धर्मपदोपसंहितम्,
त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकम्,
तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ॥

बोधि० पं०, पृ० २०५।

दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः ।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः ॥
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तरम् ।
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्[१] ॥

महामति बोधिसत्त्व ने भगवान् से पूछा—भगवन् ! आपके निर्वाण के बाद इस महायान को कौन धारण करेगा ? भगवान् ने कहा—महामते ! सुगत के परिनिर्वृत्त हो जाने के कुछ काल के अनन्तर जो इसे धारण करेगा, उसे मैं कहता हूँ, तुम सुनो। दक्षिणापथ के वेदल्य नामक स्थान में एक महान् यशस्वी भिक्षु होगा, जो 'नाग' (नागार्जुन) नाम से लोक में विश्रुत होगा। वह सत्पक्ष और असत्पक्ष दोनों का निरास करनेवाला होगा। वही विश्व में मेरे अनुत्तर महायान को प्रकाशित करेगा। वह भिक्षु दश भूमियों[२] में से प्रमुदिता भूमि को प्राप्त कर सुखावतीक्षेत्र[३] में चला जायगा।

बुद्ध की भविष्यवाणी सही निकली। उनके परिनिर्वाण के अनन्तर कुछ काल बाद दक्षिण भारत में आचार्य नागार्जुन का जन्म हुआ। उन्होंने प्रज्ञा-

---

१. द्र०—लङ्कावतारसूत्र, सगाथकम्, १६३–१६६ का०, पृ० २८६ ।
अपि च—

चतुर्थे वर्षशते प्राप्ते निर्वृते मयि तथागते ।
नागाह्वयो नाम सौ भिक्षुः शासनेऽस्मिन् हिते रतः ॥
मुदितां भूमिलब्धस्तु जीवेद् वर्षशतानि षट् ।
मायूरी नामतो विद्या सिद्धा तस्य महात्मनः ॥
नानाशास्त्रार्थधात्वर्थं निःस्वभावार्थतत्त्ववित् ।
सुखावत्यां चोपपद्येत यदासौ त्यक्तकलेवरः ॥
सोऽनुपूर्वेण बुद्धत्वं नियतं सम्प्रपास्यते ॥
—मञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० ४८२ (दरभंगासंस्करण) ।

२. प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा ये १० भूमियाँ हैं। इनमें प्रमुदिता दर्शनमार्ग और अन्य सभी भूमियाँ भावनामार्ग होती हैं।

३. यह एक लोक का नाम है, जहाँ तथागत अमिताभ रहते हैं।

पारमिता आदि महायान सूत्रों का उद्धार किया। उन सूत्रों का विशुद्ध अभिप्राय प्रकाशित करने के लिये मूलमाध्यमिककारिका आदि छह माध्यमिक ग्रन्थों की रचना की[1]। जिनके द्वारा उन्होंने बौद्धों और अबौद्धों में व्याप्त समस्त कुदृष्टियों का निराकरण किया।

आचार्य नागार्जुन के अनन्तर नवीन दर्शनप्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य असङ्ग का जन्म हुआ। इनके जन्म के सम्बन्ध में भी भगवान् बुद्ध ने बहुत पहले ही भविष्यवाणी कर दी थी। यह भविष्य कथन (व्याकरण) हमें 'मंजुश्रीमूलकल्प' में उपलब्ध होता है, यथा—

सङ्गनामा तदा भिक्षुः शास्त्रतत्त्वार्थकोविदः।
सूत्रनीतार्थनेयानां विभज्य बहुधा पुनः॥
लोकाभिधायी युक्तात्मा तुच्छशीलो भविष्यति।
तस्य सिद्धा ··· ··· शालदूतीति कथ्यते॥
तस्य मन्त्रप्रभावेन बुद्धिरुत्पन्नश्रेयसी।
संग्रहे सूत्रतत्त्वार्थं शासनस्य चिरस्थिते।
जीवेद् वर्षशतं सार्धं त्यक्तदेहो दिविंगतः[2]॥

शास्त्र और उसके अर्थ में निपुण असङ्ग नामक एक भिक्षु होगा, जो नेयार्थ और नीतार्थ सूत्रों का विभाजन करेगा। इस प्रकार ग्रन्थ में अनेक कारिकायें हैं, जो असङ्ग के बारे में संकेत करती हैं। इस तरह आचार्य असङ्ग ने विज्ञानवादी सिद्धान्त का आविष्कार किया।

कहा जाता है कि आचार्य असंग तुषित क्षेत्र में गये थे, जहाँ आर्य मैत्रेयनाथ रहते थे और वहीं उन्होंने समस्त विज्ञानवादी शास्त्रों का अध्ययन किया था। आचार्य असंग तुषित क्षेत्र गये हों, या न गये हों, किन्तु इस कथानक से इतना अवश्य निश्चित होता है कि उन्होंने आर्य मैत्रेयनाथ के चरणों में चिरकाल तक अध्ययन किया था। आर्य मैत्रेयनाथ के महायानसूत्रालङ्कार आदि पाँच ग्रन्थों[3] को आचार्य

---

१. मूलमाध्यमिककारिका, युक्तिषष्टिका, शून्यतासप्तति, विग्रहव्यावर्तनी, वैदल्य और रत्नावलि।

२. द्रष्टव्य—मंजुश्रीमूलकल्प, पृष्ठ ४८२ (दरभंगासंस्करण)।

३. अभिसमयालङ्कार, महायानसूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग, महायान-उत्तरतन्त्रशास्त्र।

असंग ने ही लोक में प्रकाशित किया तथा महायानसंग्रह आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का स्वयं भी निर्माण किया[1]।

जब तक आचार्य असंग ने नवीन दर्शन की उद्भावना नहीं की थी, तब महायानदर्शन का स्वरूप कैसा था ?

प्राक् तु मध्यमकं स्थितम् ॥४॥

आचार्य असंग के प्रादुर्भाव से पूर्व मध्यमक दर्शन ही लोक में प्रसृत था, जिसका सूत्रपात असंग से पूर्व आचार्य नागार्जुन ने किया था। आचार्य नागार्जुन ही महायान दर्शन के प्रथम प्रवर्तक थे। उनसे भिन्न कोई आचार्य महायान दर्शन का प्रवर्तक नहीं था।

जब आचार्य नागार्जुन और असंग ने महायानसूत्रों और दर्शन को लोक के समक्ष प्रस्तुत किया, तो स्वयूथ्य श्रावक पण्डितों में कोलाहल मच गया। वे कहने लगे कि ये सब महायानसूत्र बुद्धवचन नहीं हैं और इन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। इसी अपवाद को दूर करने के लिये महायानसूत्रालंकार, बोधिचर्यावतार एवं मध्यमकहृदय आदि महायानशास्त्रों में महायानसूत्रों का बुद्धवचनत्व सिद्ध किया गया है। स्वयं आचार्य नागार्जुन ने भी अपनी मूलमाध्यमिककारिका में इस सम्भाव्य शङ्का का निराकरण किया है, यथा—

कात्यायनाववादे चास्तीति नास्तीति चोभयम्।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना[2] ॥

अर्थात् भगवान् बुद्ध भाव और अभाव की स्थिति को यथावत् जानते हैं, अतः कात्यायनसूत्र में उन्होंने भावों की सत्ता और असत्ता दोनों का प्रतिषेध किया है। इस तरह आचार्य नागार्जुन प्रदर्शित करते हैं कि शून्यतावाद का सिद्धान्त हैनयानिक आगमों में भी उपदिष्ट है। इसलिये महायानसूत्र और महायानदर्शन के प्रति सन्देह नहीं करना चाहिये।

आचार्य नागार्जुन के बाद जब आचार्य असंग ने विज्ञप्तिमात्रतावाद का प्रवर्तन किया तो एक नया विवाद प्रारम्भ हुआ। आचार्य भावविवेक आदि माध्यमिक पण्डितों ने विज्ञानवादी सिद्धान्तों का भूरिशः खण्डन किया। फिर भी विज्ञानवाद

---

१. योगाचारभूमि, श्रावकभूमि, बोधिसत्त्वभूमि, बुद्धभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसंग्रह आदि।

२. द्र०—मध्यमकशास्त्र, १५ : ७ पृ० ११७।

लुप्त न हो सका। फलतः दोनों महायानदर्शनों का भविष्य में अत्यधिक विकास हुआ।

आचार्य चोंखापा की इस कारिका का सारांश यह है कि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् वैभाषिक आचार्यों ने सप्त अभिधर्मशास्त्रों की रचना कर दी थी, जो बुद्धवचनों के अभिप्राय को अन्यथा प्रकट करते थे। उन्होंने त्रिपिटक के अभिप्राय को न केवल अन्यथा प्रस्तुत किया; अपितु बुद्ध के शासनरत्न को मलिन भी कर दिया। जैसा कि आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के अन्त में दुःख के साथ कहा है—

निमीलिते शास्तरि लोकचक्षुषि क्षयं गते साक्षिजने च भूयसा।
अदृष्टतत्त्वैर्निरवग्रहैः कृतं कुतार्किकैः शासनमेतदाकुलम्[1]॥

आचार्य चोंखापा ने यहाँ के स्वभाष्य में कहा है कि आचार्य नागार्जुन और असंग से पूर्व माध्यमिक और योगाचार शब्दमात्र सम्भव हो सकते हैं; तथापि बुद्धसूत्रों के अभिप्राय के रूप में दोनों सिद्धान्त पृथक् और स्वतन्त्ररूप से अवस्थित नहीं थे। क्योंकि इन आचार्यों से पूर्व ऐसा कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है, जो इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता हो और न कोई ऐसा आचार्य ही ज्ञात है, जिसने महायानसूत्रों की टीका-टिप्पणी की हो।

अब हम अपने मूल वक्तव्य की ओर आते हैं। आचार्य असंग ने जिस नये दर्शनप्रस्थान का प्रवर्तन किया है, उसे हम योगाचार, विज्ञानवाद या चित्तमात्रता-वाद नाम से जानते हैं। इस दर्शन के अनुसार आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान माने जाते हैं। ये आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान ही यहाँ मुख्य प्रतिपाद्य हैं। इनके स्पष्ट स्वरूपावबोध के लिये यह दिखलाना आवश्यक है कि इनके लक्षण आदि क्या हैं? फलतः आचार्य कहते हैं—

चतुर्भिरालयः सिद्धिनवैकक्षेपलक्षणैः।
क्लिष्टं मनश्च विज्ञेयम्

निम्न चार बातों द्वारा आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान का परिज्ञान किया जा सकता है, यथा—१. आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान का लक्षण, २. आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान की सिद्धि, ३. नौ विज्ञान माननेवालों के मत का परिहार तथा ४. एक ही विज्ञान माननेवालों के मत का परिहार।

---

१. द्र०—अभिधर्मकोश ८।४१ पृ० ४६०।

यह कारिका प्रस्तुत ग्रन्थ (परिशिष्ट) की संग्रहगाथा है। इन चार बातों के सांगोपांग प्रतिपादन में ही ग्रन्थ परिसमाप्त हो जाता है। अब इन चार बातों का सविस्तर प्रतिपादन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. लक्षण—

आलयस्य तयोर्द्वयोः ॥५॥

आधाराधेयभावेन लक्षणं द्विविधं स्मृतम् ।

आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान इन दोनों में से पहले आलयविज्ञान का लक्षण बतलाया जा रहा है। आलय द्विविध है, यथा—१. आधार आलय तथा २. आधेय आलय। आधार आलय को विपाक-आलय तथा आधेय आलय को बीज-आलय भी कहते हैं। यहाँ ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये कि आलयविज्ञान द्विविध होता है। वस्तुतः आलयविज्ञान एकविध ही होता है। आलय ही द्विविध होता है। विपाक और बीज दोनों 'आलय' शब्द द्वारा कहे जाते हैं। उनमें से विपाक ही आलयविज्ञान हुआ करता है। बीज या वासना आलय होते हुये भी विज्ञान नहीं हैं। इस विषय में त्रिंशिका की वृत्ति में स्पष्ट उल्लेख किया गया है[1] तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में भी आगे यथास्थान प्रतिपादन किया जायगा।

क. आधार आलय का लक्षण—

आधार आलयस्तत्रानिवृताव्याकृतस्तथा ॥६॥

असंविदितसत्त्वार्थवासनाज्ञप्तिकश्च सः ।

स्पर्शाद्यैः पञ्चभिर्युक्तः

आधार आलय ही आलयविज्ञान है। निम्न चार बातों द्वारा इसका लक्षण स्पष्टतया जाना जा सकता है, यथा—क. आलम्बन, ख. आकार, ग. स्वभाव और घ. परिवार।

क. आलम्बन—आलयविज्ञान के आलम्बन तीन प्रकार के होते हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य ये पञ्चविध अर्थ आलयविज्ञान के प्रथम

---

१. द्र०—तच्च सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वाद् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथ वाऽऽलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन; तद् वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः॥ त्रिं० ३९–४० और उसकी गूढार्थदीपनी व्याख्या, पृ० १३६—१३९।

प्रकार के आलम्बन हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय ये पञ्चविध इन्द्रियाँ आलयविज्ञान के द्वितीय प्रकार के आलम्बन हैं। ये पांचों इन्द्रियाँ 'सत्त्व' कही जाती हैं। आलयविज्ञान में स्थित वासनायें आलयविज्ञान की तृतीय प्रकार की आलम्बन हैं। ये वासनायें 'बीज' भी कही जाती हैं।

उपर्युक्त त्रिविध आलम्बन अन्य नामों द्वारा भी अभिहित किये जा सकते हैं, यथा—रूप, शब्द आदि पंचविध अर्थ 'भाजनलोक' कहे जाते हैं तथा चक्षु, श्रोत्र आदि पंचविध इन्द्रियाँ 'सत्त्वलोक' नाम से अभिहित की जाती हैं। इस प्रकार भाजन, सत्त्व एवं वासना ये आलयविज्ञान के त्रिविध आलम्बन हैं।

ख. आकार—आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नाकार एवं अपरिच्छिन्नालम्बन होता है। उपर्युक्त भाजन, सत्त्व आदि आलम्बन यद्यपि आलयविज्ञान में प्रतिभासित तो होते हैं; तथापि आलयविज्ञान उनका परिच्छेद (निश्चय) नहीं कर पाता और न पश्चाद्भावी निश्चय ही आलयविज्ञान के द्वारा आकृष्ट हो पाता है। फलतः आलयविज्ञान अपरिच्छिन्नाकार एवं अपरिच्छिन्नालम्बन कहा जाता है।

ग. स्वभाव—आलयविज्ञान का स्वभाव अनिवृत एवं अव्याकृत है। यह अनिवृत इसलिये है; क्योंकि इसका क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों में ग्रहण नहीं होता। कुशल और अकुशल दोनों में संग्रह नहीं होने से यह विज्ञान अव्याकृत है।

घ. परिवार—आलयविज्ञान का परिवार सुनिश्चित है। स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना चैतसिक इसके साथ सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं। अन्य चैतसिक इसके साथ कभी भी सम्प्रयुक्त नहीं होते। इस तरह इसके परिवार में ये पांच चैतसिक सर्वथा सुनिश्चित हैं।

ये लक्षणावबोधक आलम्बन, आकार आदि त्रिंशिका कारिका में भी सुस्पष्ट उल्लिखित हैं, यथा—

असंविदितकोपादिस्थानविज्ञप्तिकं च तत्।
सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् ॥
उपेक्षा वेदना तत्रानिवृताव्याकृतं च तत्।
तथा स्पर्शादयः[1]

---

१. द्र०—त्रिं० ४४—४६, का० ३—४, पृ० १४३—१६०।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि आलयविज्ञान के उपर्युक्त त्रिविध आलम्बनों में से भाजन और सत्त्व तो आलयविज्ञान में अवभासित होते हैं, अतः वे तो उसके आलम्बन हो सकते है, किन्तु वासनायें तो आलयविज्ञान से भिन्नत्वेन और अभिन्नत्वेन अनिर्वचनीय होती हैं,[1] अतः वे आलयविज्ञान में अवभासित नहीं हो सकती। फलतः वे आलयविज्ञान की आलम्बन कैसे हो सकती हैं ? अर्थात् नहीं हो सकतीं। अर्थात् आपको यह बतलाना होगा कि वासनायें आलयविज्ञान की आलम्बन कैसे होतीं हैं ?

वासनातोऽवभासनात् ॥ ७ ॥
स्थानस्यार्थस्य देहस्य सैषाऽऽलम्बनमिष्यते ।

यह ठीक है कि वासना आलयविज्ञान में प्रतिभासित नहीं होती; तथापि वासना के वश से ही स्थान, देह तथा अर्थों का प्रतिभास आलयविज्ञान में हुआ करता है। भाजन और सत्त्वों के प्रतिभास की कारण होने से वासना आलयविज्ञान की आलम्बन कही जाती है। बाहर से दिखलाई पड़नेवाले चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों के अधिष्ठान चक्षुष्पिण्ड, श्रोत्रपिण्ड आदि यहाँ 'स्थान' शब्द से अभिप्रेत हैं। चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ 'देह' हैं तथा रूप, शब्द आदि इन्द्रियों के आलम्बन 'अर्थ' शब्द द्वारा कहे गये हैं।

प्रत्येक जीव का अपना-अपना स्वतन्त्र आलयविज्ञान हुआ करता है। वस्तुतः आलयविज्ञान ही व्यक्ति का जीवन होता है। कामधातु, रूपधातु एवं अरूपधातु सभी धातुओं के सत्त्वों में आलयविज्ञान होता है तथा सभी सत्त्वों के आलयविज्ञानों का लक्षण प्रायः समान ही होता है।

ऊपर साधारणरूप से आलयविज्ञान का लक्षण कह दिया गया है और यह भी कह दिया गया है कि भाजन, सत्त्व और वासना ये आलयविज्ञान के त्रिविध आलम्बन होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह विचार किया जाना आवश्यक है कि क्या अरूपधातु के आलयविज्ञान के भी उपर्युक्त त्रिविध आलम्बन होते हैं ? अर्थात् क्या अरूपधातु के आलयविज्ञान में भाजन, सत्त्व और वासना प्रतिभासित होते हैं ?

---

1. द्र०—प्रस्तुत परिशिष्ट का० २२, २३,२४ ।

गृह्यन्ते पञ्चभिर्ज्ञानैर्ग्राह्यांशा आलयस्य तु ॥ ८ ॥
व्यवहारपथं नेयाः षष्ठेन मनसा ह्यतः ।
धात्वोरेव सुनिर्णीता ह्यन्यथाऽऽरूप्यकः पुनः ॥ ९ ॥
रूपसंज्ञाऽनतिक्रान्तः रूपिभूमिः प्रसज्यते ।
रूपाभासनतो ज्ञाने बाह्यरूपाद्यभावतः ॥ १० ॥

यह नियम है कि जो वस्तु आलयविज्ञान में प्रतिभासित होती हैं, वे चक्षु-र्विज्ञान आदि पांच विज्ञानों द्वारा भी अवश्य गृहीत होती हैं। षष्ठ मनोविज्ञान द्वारा उन्हीं का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् मनोविज्ञान द्वारा वे व्यवहार-पथ में लायी जाती हैं। इसलिये कामधातु और रूपधातु के आलयविज्ञान में ही रूप आदि भाजन और चक्षु आदि सत्त्व का प्रतिभास होता है। अरूपधातु के आलयविज्ञान में इनका प्रतिभास नहीं होता। क्योंकि अरूप धातु का मनोविज्ञान रूप आदि का व्यवहार कभी नहीं करता। फलतः भाजन और सत्त्व का आलम्बन होना कामधातु और रूपधातु इन दो धातुओं में ही निश्चित है। एक सन्तान के आलयविज्ञान में जो रूप आदि पांच अर्थ प्रतिभासित होते हैं, वे उस सन्तान के इन्द्रियज्ञानों के लिये कभी परोक्ष नहीं हुआ करते; अपितु वे उसके इन्द्रियज्ञानों के भी अवश्य विषय हुआ करते हैं।

यदि अरूपधातु के आलयविज्ञान में भाजन और सत्त्व का प्रतिभास होगा, तो अरूपधातु के जीव 'रूपी' संज्ञा से अतिक्रान्त न हो सकेंगे तथा अरूपधातु को रूपभूमि होने का प्रसङ्ग होने लगेगा। क्योंकि ज्ञान में प्रतिभासित होनेमात्र से व्यतिरिक्त बाह्यरूप तो कामधातु और रूपधातु में भी नहीं होते।

अरूपसमापत्ति की भावना के बल से रूपी वस्तुओं के प्रतिभास के बीज, जो उसके आलयविज्ञान में निहित होते हैं, प्रतिहत कर दिये जाते हैं। फलतः व्यक्ति जब तक अरूपभूमि में स्थित रहता है, तब तक उसके आलयविज्ञान में किसी भी रूपी वस्तु का प्रतिभास नहीं हो सकता। यह उसी प्रकार होता है, जैसे कि असंज्ञिसमापत्ति की भावना के बल से षड्विज्ञानगण के बीज, जो आलयविज्ञान में निहित होते हैं, प्रतिहत कर दिये जाते हैं। फलतः व्यक्ति जब तक असंज्ञिसमापत्ति में स्थित रहता है, तब तक उसकी सन्तान में षड्विज्ञानगण सम्भव नहीं होते।

सारांश यह है कि अरूपधातु के आलयविज्ञान में भाजन, सत्त्व और वासना इन त्रिविध आलम्बनों में से भाजन और सत्त्व तो कथमपि अवभासित होते ही नहीं। वासना भी आलयविज्ञान में अवभासित नहीं होती।

यहाँ यह आशङ्का होना स्वाभाविक है कि तब तो अरूपधातु का आलयविज्ञान निरालम्बन हो जायगा, क्योंकि भाजन और सत्त्व तो उसके आलम्बन होते नहीं तथा वासना उसका आलम्बन होने में पर्याप्त हेतु नहीं है। फलतः आप (विज्ञानवादी) को निरालम्ब विज्ञान मानना पड़ेगा, जो कि समस्त बौद्ध सिद्धान्तों से विरुद्ध है?

यह दोष नहीं है। महायानसंग्रह में उल्लिखित है कि अतीतविषयक ज्ञान और स्वाप्निक ज्ञान आदि अनेक ज्ञानों के बाह्यालम्बन नहीं होते। यह भी सत्य है कि ज्ञानमात्र बाह्यालम्बन पर निर्भर नहीं करते। विशेषतः आलयविज्ञान तो आलम्बन पर निर्भर नहीं ही करता। वह पूर्वकृत कुशल, अकुशल कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त होता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त एक क्षण भी वह विकृत नहीं होता। यह विज्ञान प्रक्षेपक कर्म के बल से प्रवृत्त होता है, न कि आलम्बन के बल से। ऐसी स्थिति में आलयविज्ञान के उपर्युक्त भाजन, सत्त्व और वासना इन त्रिविध आलम्बनों में से वासना ही केवल अरूपधातु के आलयविज्ञान का आलम्बन होती है। वह (वासना) भी प्रतिभासित होकर आलम्बन नहीं होती; अपितु वह इसलिये आलम्बन होती है; क्योंकि उसके बल से कभी (भविष्य में) आलयविज्ञान में स्थान, अर्थ और देह का प्रतिभास हो सकता है। उसी प्रकार जैसे कि धान्यकोष्ठागार में स्थित यवबीज भी यवांकुर के कारण कहे जाते हैं। यद्यपि उस समय उनसे अंकुर का उत्पाद नहीं हो रहा है; तथापि अपेक्षित कारणों का सम्पर्क होने पर उनसे अंकुर का उत्पाद हो सकता है। इसलिये वे बीज अंकुर के कारण कहे जाते हैं। अरूपधातु में तो रूप, शब्द आदि अर्थ एवं चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ बिलकुल नहीं होतीं और न तो अन्य धातु के अर्थ एवं इन्द्रियां वहाँ के आलयविज्ञान में प्रतिभासित हो सकती हैं।

अब यहाँ यह विचार प्रस्तुत है कि अरूपधातु के आलयविज्ञान में भले ही भाजन और सत्त्व प्रतिभासित न होते हों, किन्तु नीचे की कामधातु और रूपधातु में क्या एक ही आलयविज्ञान में समस्त भाजन और सत्त्व प्रतिभासित होते हैं?

नीचैरप्येकसत्त्वस्यालये पुम्भाजनादयः ।
सर्वे च यदि भासेरन् नरकाण्यपि रूपिणः ।। ११ ।।
निरये दिव्यसत्त्वार्थप्रतिभासः प्रसज्यते ।
प्राकृतस्यापि भासेत विप्रकृष्टं समं पदम् ।। १२ ।।

कामधातु और रूपधातु नीचे की इन दो धातुओं में भी एक ही आलयविज्ञान में समस्त भाजन और सत्त्व का अवभास नहीं होता; अपितु आलयविज्ञान के अवभास का क्षेत्र नियत ही होता है। यदि नीचे की धातुओं के एक ही आलयविज्ञान में सभी भाजन और सत्त्व का अवभास होगा, तो रूपी धातु के आलयविज्ञान में भी तप्त लौहमयी भूमि आदि का आभास होने लगेगा, जो केवल नरकभूमि के आलयविज्ञान में ही होता है। ऐसी स्थिति में रूपधातु के ब्रह्माओं को भी तप्त लौहमयी भूमि जनित दुःखानुभव स्वीकार करना होगा। क्योंकि जब तक आलयविज्ञान में स्थित नरकावभासक बीज परिपुष्ट नहीं होते, तब तक नरकावभास नहीं होता। नरकावभासक बीजों के परिपुष्ट होने पर यदि नरकावभास होता है, तो अवश्य ही तज्जनित दुःखानुभव भी होगा। अर्थात् नरकावभास का होना वासना की परिपुष्टि पर निर्भर है। परिपुष्ट वासना द्वारा जो भी अवभासित होता है, उससे उपकार (हित) या अपकार (अहित) भी सुनिश्चित होता है। जैसे—स्वप्न अवस्था के प्रिय या अप्रिय वस्तुओं के आभास से हित (सुख) या अहित (दुःख) होता ही है। अपनी बुद्धि या ज्ञान में जो रूप आदि का अवभास होता है, रूप आदि उतने ही होते हैं और उसी के आधार पर रूप आदि की व्यवस्था की जाती है। इससे अतिरिक्त बाह्य भाजन विज्ञानवाद में स्वीकृत नहीं हैं। फलतः जो वस्तु प्रियत्वेन प्रतिभासित होती है, उससे हित होता है और जो वस्तु अप्रियत्वेन प्रतिभासित होती है, उससे अहित (कष्ट) हुआ करता है। जैसे भयङ्कर मायिक पुरुष का अवभास होते ही उससे भय का उत्पाद होता है और मायानिर्मित सुन्दर युवति का प्रतिभास होनेमात्र से कामवासना जागृत हो जाया करती है।

इसी प्रकार नारकीय जीवों में भी देवलोक की वस्तुओं का प्रतिभास होने लगेगा और उनसे सुखानुभूति होने लगेगी। किन्तु ऐसा होना अत्यन्त असम्भव है।

अपि च—यदि एक ही आलयविज्ञान में समस्त भाजन और सत्त्व का प्रतिभास माना जायगा तो प्राकृत जनों में भी सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट

पदार्थों का आभास होने लगेगा, जो पदार्थ केवल विशिष्ट समाधिप्राप्त अथवा विशिष्ट मान्त्रिक पुरुषों के ही दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु यह सब कुछ सम्भव नहीं है, इसलिये एक व्यक्ति के आलयविज्ञान में ही समस्त भाजन और सत्त्व का आभास नहीं हुआ करता।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि यदि उपर्युक्त प्रकार से एक ही आलय-विज्ञान में समस्त भाजन और सत्त्व का प्रतिभास नहीं होता है; अपितु सीमित भाजन और सत्त्व ही प्रतिभासित होते हैं, तो ऐसी स्थिति में नीचे की दो धातुओं में किन भाजनों का और किन सत्त्वों का प्रतिभास होता है और वह भी किस प्रकार होता है?

साक्षात् स्वाक्षतदर्थास्तु पारम्पर्येण षड्गणे।
यऽर्थत्वेनावभास्यास्ते मताश्चलयगोचराः ॥१३॥

किसी भी व्यक्ति की अपनी इन्द्रियाँ और उन इन्द्रियों में अवभासित होनेवाले विषय उस व्यक्ति के साक्षाद् आलम्बन होते हैं। अर्थात् स्वसान्तानिक इन्द्रियाँ और उन इन्द्रियों के विषय आलयविज्ञान के साक्षाद्रूपेण आलम्बन होते हैं। अपने षड्विज्ञानों में जो भी विषय प्रतिभासित हो सकते हैं, वे उस व्यक्ति के आलयविज्ञान के पारम्पर्येण आलम्बन होते हैं। अपने से भिन्न व्यक्तियों की इन्द्रियाँ और उनमें प्रतिभासित अर्थ जो अपने षड् विज्ञानों में से किसी के विषय हो सकते हैं, वे स्वकीय आलयविज्ञान के परम्परया आलम्बन हो सकते हैं।

अब यह विचार किया जाता है कि यदि षड्विज्ञानगण के सभी विषय आलयविज्ञान के भी गोचर होते हैं, तो क्या द्वादशाङ्गप्रवचन और अतीत आदि विषय, जो आरोपितात्मक होते हैं और केवल मनोविज्ञान के ही विषय होते हैं, वे आलयविज्ञान के गोचर होते हैं?

इन्द्रियार्थातिरिक्ता ये षष्ठस्य विषया न ते।
वैचित्र्यग्रहणायोगादालयस्य कदाचन ॥ १४ ॥
षष्ठस्यारोपितार्थत्वाद्

इन्द्रिय, अर्थ और वासना से अतिरिक्त द्वादशाङ्गप्रवचन, अतीत और अनागत आदि विषय, जो परिकल्पित होते हैं एवं मनोविज्ञान के ही विषय होते हैं, वे

कभी भी आलयविज्ञान के विषय नहीं होते; क्योंकि वे सब मनोविज्ञान द्वारा व्यवहृतमात्र होते हैं, उन कल्पित विषयों को आलम्बन बनाने के लिये व्यवहारात्मक वैचित्र्यग्रहण की आवश्यकता होती है। यह काम मनोविज्ञान ही कर सकता है, आलयविज्ञान नहीं। आलयविज्ञान किसी भी विषय का व्यवहार या उसे संज्ञा प्रदान नहीं कर सकता। अतः आलयविज्ञान में व्यवहारात्मक वैचित्र्यग्रहण का अयोग है। फलतः ऐसे विषय आलयविज्ञान के गोचर नहीं हो सकते।

ग्रन्थकार ने यहाँ अपने स्वभाष्य में केवल द्वादशाङ्गप्रवचन और अतीत आदि विषयों का ही उल्लेख किया है। परन्तु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आकाश आदि जितने नित्य धर्म हैं, वे सब आलयविज्ञान के विषय नहीं होते। इसके कारण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

यहाँ इस विज्ञानवाद में द्वादशाङ्गप्रवचन आदि आगम शब्दात्मक नहीं माने जाते, जैसे कि अन्य बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक और माध्यमिक) मानते हैं; अपितु वे (आगम) यहाँ विप्रयुक्तसंस्कार माने जाते हैं। अतः आगम श्रोत्र-विज्ञान के विषय नहीं हैं। फिर भी आगम के शब्द सुने जा सकते हैं, अतः श्रुतमयी प्रज्ञा के अभाव का प्रसंग नहीं है ।

प्रश्न है कि आलयविज्ञान क्यों कुशल या अकुशल नहीं होता ? क्यों वह केवल अनिवृताव्याकृत ही होता है ?

बीजस्थाप्याश्रयत्वतः ।
साक्षाच्छुभाशुभैः सार्धमेकसन्तानजत्वतः ॥ १५ ॥
सिद्धमादानविज्ञानं निवृताव्याकृतेतरत् ।

आलयविज्ञान कुशल और अकुशल सभी प्रकार की वासनाओं की स्थापना के योग्य आधार होता है तथा कुशल और अकुशल चित्तों के साथ एक सन्तान में युगपत् प्रवृत्त होते दृष्टिगोचर होता है, अतः यह (आलय-विज्ञान) अनिवृत और अव्याकृत ही सिद्ध होता है। क्योंकि कुशलचित्त, अकुशलचित्त एवं क्लिष्ट चित्त वासना के आश्रय कथमपि नहीं हो सकते।

यह कहा गया है कि स्पर्श आदि पांच चैतसिक ही आलयविज्ञान के परिवार में निश्चित हैं। प्रश्न है क्यों ये पांच चैतसिक ही आलयविज्ञान से सर्वदा सम्प्रयुक्त रहते हैं, क्यों अन्य चैतसिक उससे सम्प्रयुक्त नहीं होते ?

अस्पष्टाव्याकृतत्वाच्च तत्र स्पर्शादिपंचकम् ॥१६॥

आलयविज्ञान अनिवृत स्वभाववाला होता है, अतः छह मूल क्लेश और बीस उपक्लेश उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। आलयविज्ञान अव्याकृत होता है, अतः एकादश कुशल चैतसिक भी उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते। अपने विषय के विशेषों का स्पष्टतया परिच्छेद न कर पाने के कारण पाँच विनियत चैतसिक भी उसके साथ सम्प्रयुक्त नहीं होते। अधिष्ठान का अभाव होने से वितर्क आदि चार अनियत या अन्यथाप्रवृत्त चैतसिक भी आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त नहीं होते। फलतः ५१ चैतसिकों में से स्पर्श आदि पाँच सर्वत्र चैतसिक ही आलयविज्ञान से सम्प्रयुक्त हो सकते हैं; क्योंकि स्पर्श सभी चित्तों कारण होता है। सुख, दुःख और उपेक्षा इनमें से एक वेदना प्रत्येक चित्त के साथ अवश्य होती है। विषय के निमित्तों का उद्ग्रहण करनेवाली संज्ञा, चित्त को विषय की ओर अभिमुख करनेवाला मनस्कार तथा चित्त को विषय में प्रवृत्त करनेवाली चेतना—इन चैतसिकों का योग प्रत्येक चित्त के साथ होना परमावश्यक है। फलतः स्पर्श, वेदना, संज्ञा, मनस्कार एवं चेतना—ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक ही आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं।

वेदना तीन प्रकार की होती है, यथा-सुख, दुःख एवं उपेक्षा। इन त्रिविध वेदनाओं में से आलयविज्ञान के साथ कौन सी वेदना सम्प्रयुक्त होती है?

मध्या तु वेदना तत्र

आलयविज्ञान के साथ त्रिविध वेदनाओं में से केवल मध्यस्थ अर्थात् उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त होती है। आलयविज्ञान के साथ वेदना का योग तो आवश्यक है, किन्तु उसके साथ सुख या दुःख वेदना सम्प्रयुक्त नहीं हो सकती। क्योंकि आलयविज्ञान ही एक मात्र विपाक है, जो पूर्वकृत कुशल या अकुशल कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त है और जो यावज्जीवन एक जैसा प्रवृत्त होनेवाला है। यदि आलयविज्ञान के साथ सुखा वेदना सम्प्रयुक्त होती, तो चतुर्थ ध्यान से ऊपर की सभी भूमियों में सुखा वेदना का अस्तित्व स्वीकार करना होगा; इतना ही नहीं नरक में भी विपाकात्मक सुख होने का प्रसंग होगा, जो सर्वथा अयुक्त है। यदि आलयविज्ञान के साथ दुःखा वेदना सम्प्रयुक्त होती, तो देव, मनुष्य और ब्रह्मा आदि के आलयविज्ञान के साथ भी दुःखा वेदना का सम्प्रयोग स्वीकार करना होगा। इसका परिणाम यह होगा

कि पुण्य कर्म और आनेञ्ज्य कर्म भी, जो देव, मनुष्य और ब्रह्मा आदि के आलयविज्ञान का प्रक्षेप करते हैं, वे दुःखात्मक विपाक का प्रक्षेप करनेवाले हैं; यह सिद्ध होगा, जो अत्यन्त अयुक्तियुक्त है। इतना ही नहीं, अरूपधातु में भी दुःखजन्य परिताप मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असम्भव है। आलयविज्ञान के साथ सुख या दुःख वेदना का सम्प्रयोग मानने में इस प्रकार की अनेक असंगतियाँ हैं। फलतः उपेक्षा वेदना ही आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त होती है।

अब विचारणीय यह है कि यह आधारभूत विपाकविज्ञान 'आलय' क्यों कहा जाता है ?

आत्मत्वयोगतयाऽऽलयम् ।

नारकीय सत्त्व से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी जीव क्लिष्ट मनोविज्ञान द्वारा इसी विपाकविज्ञान में आत्मत्वेन उपनिबद्ध किये जाते हैं, इसलिये यह विपाकविज्ञान 'आलयविज्ञान' कहा जाता है। ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान या विपाक-विज्ञान ही व्यक्ति का जीवन होता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान उसी आलयविज्ञान का आत्मत्वेन ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि में जीव एवं आत्मा अभिन्न होते हैं, जो आत्मा वस्तुतः असत् होता है। इस पूरी प्रक्रिया के मूल में आलयविज्ञान ही होता है, अतः उसे 'आलय' यह संज्ञा प्रदान की गई है।

अब यहाँ यह निर्देश किया जा रहा है कि इस प्रकार का आलयविज्ञान कब तक प्रवृत्त होता है और कब उसकी निवृत्ति होती है—

आवज्रोपमनिःशेषमव्युच्छिन्नं प्रवर्तते ॥१७॥

हीनयान की निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था तथा महायान की वज्रोपम समाधि की अवस्था के अनन्तर आलयविज्ञान सर्वथा और सर्वदा के लिये निवृत्त हो जाया करता है। इन अवस्थाओं से पूर्व वह सर्वदा प्रवृत्त होता रहता है। अर्थात् कभी उसकी धारा टूटती नहीं। पूर्व जन्म के शुभ और अशुभ कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त आलयविज्ञान वर्तमान भव में जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रवृत्त होता है। जब उन कर्मों की शक्ति समाप्त हो जाती है तो वर्तमान भव के आलयविज्ञान की निवृत्ति हो जाती है; किन्तु अन्य कर्मों के द्वारा अगले भव के आलयविज्ञान का प्रतिसन्धान कर दिया जाता है। इस प्रकार पूर्व-अपर जन्मों की परम्परा अविच्छिन्नरूप से चलती रहती है और नये नये आलयविज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। आलयविज्ञान

की यह धारा बीच में बिना टूटे बराबर चलती रहती है। निरुपधिशेष निर्वाण अथवा वज्रोपम समाधि की अवस्था के अनन्तर वह धारा समाप्त हो जाती है, इससे पूर्व कथमपि समाप्त नहीं होती। क्योंकि कर्म और वासनायें आलयविज्ञान का उत्पाद करते रहते हैं। इसे आचार्य वसुबन्धु ने अपने त्रिंशिका प्रकरण में भी कहा है—

कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्[1]॥

स्थविरवाद एवं वैभाषिक आदि अन्य बौद्ध मतों में चक्षु आदि इन्द्रियाँ और शरीर आदि, विपाक एवं अव्याकृत माने जाते हैं। उनके मत में विपाक होने के लिये उसे इन तीन वैशिष्ट्यों से युक्त होना चाहिये, यथा—१. सास्रव कुशल या अकुशल कर्मों का फल होना, २. किसी व्यक्ति की सन्तान में होना तथा ३. अनिवृताव्याकृत होना। अभिधर्मकोश में कहा है—

मनोऽन्यवित्तिश्रद्धादीन्यष्टकं कुशलं द्विधा।
दौर्मनस्यं मनोऽन्या च वित्तिस्त्रेधाऽन्यदेकधा[2]॥

परन्तु इस विज्ञानवाद में इतने से विपाक नहीं हुआ करता। इस मत के अनुसार विपाक होने के लिये उसमें निम्न तीन विशेषतायें होना आवश्यक हैं यथा—१. अनिवृताव्याकृत होना, २. यावज्जीवन प्रवृत्त होनेवाला होना तथा ३. पूर्वोक्त कुशल, अकुशल कर्मों द्वारा प्रक्षिप्त फल होना। ये विशेषतायें सपरिवार आलयविज्ञान में ही हो सकती हैं, अन्य विज्ञानों में नहीं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

कुशल चित्त अकुशल चित्त का प्रतिपक्ष होता है, अतः वह अकुशल चित्त का विपाक नहीं हो सकता। इसी प्रकार अकुशल चित्त कुशल चित्त का प्रतिपक्ष होता है, अतः वह भी कुशल चित्त का विपाक नहीं हो सकता। ऐसा भी नहीं होता कि कुशल का विपाक कुशल और अकुशल का विपाक अकुशल ही होता हो; अन्यथा क्लेशों की निवृत्ति असम्भव हो जायगी। जैसे—जो विपाक होता है, वह यावज्जीवन

---

१. द्र०—त्रिं० का० १६ पृ० २७३।
२. द्र०—अभिधर्मकोश २ : ११ पृ० ४६।

प्रवृत्त होता है। यदि विपाक कुशल होगा, तो वही निरन्तर प्रवृत्त होता रहेगा, फलतः क्लेशों के उत्पाद का अवसर ही नहीं रहेगा। जब क्लेश उत्पन्न ही न हो सकेंगे तो उनका निरोध भी न हो सकेगा। यदि विपाक अकुशल होगा, तो वही यावत्संसार निरन्तर प्रवृत्त होता रहेगा, फलतः उसके प्रतिपक्षभूत कुशल के उत्पाद का अवसर ही न रहेगा। इसका परिणाम मह होगा कि सांक्लेशिक धर्मों की निवृत्ति ही न हो सकेगी। इन सब विचारों से यह निश्चित होता है कि अनिवृताव्याकृत आलयविज्ञान ही एकमात्र विपाक है।

वैभाषिक आदि द्वारा सम्मत चक्षु आदि कथमपि विपाक नहीं हो सकते; क्योंकि वे मृत्यु से पूर्व कभी भी निवृत्त हो सकते हैं। फलतः आलयविज्ञान ही विपाक निश्चित है। यह योगाचार विज्ञानवाद का सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन त्रिंशिका एवं अभिधर्मसमुच्चय आदि शास्त्रों में स्पष्टतया किया गया उपलब्ध होता है।

ख. आधेय आलय का लक्षण—

निरोधाभिमुखालेपकेनावलेपनाश्रये ।
शक्तिर्या स्थाप्यते तत्र साधेयालय उच्यते ॥१८॥

चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान वासना के अवलेपक हैं। पूर्वकथित आलयविज्ञान अवलेपन का आश्रय या आधार है। अवलेपक सप्तविज्ञानगण जब निरोधाभिमुख होते हैं, तब उनके द्वारा अवलेपन के आश्रय आलयविज्ञान में एक प्रकार की शक्ति स्थापित कर दी जाती है। यह शक्ति ही आधेय आलय या आधेय बीज कही जाती है। इसे ही वासना या मानसिक संस्कार कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र में बहुधा चर्चित 'दबी हुई इच्छा' या 'अन्तर्मन' यह 'आधेय बीज' है कि नहीं—इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिये। हमारे विचार में दोनों एक चीज है।

ये आधेय बीज या वासना तीन प्रकार के होते हैं, यथा—कुशल बीज, अकुशल बीज एवं अव्याकृत बीज। किन्तु वासना के ये त्रिविध भेद अपनी ओर से नहीं हैं, अपितु इन भेदों के कारण अवलेपक (स्थापक) विज्ञान हैं। कुशल विज्ञानों द्वारा स्थापित बीज कुशल, अकुशल विज्ञानों द्वारा स्थापित बीज अकुशल तथा अव्याकृत विज्ञानों द्वारा स्थापित बीज अव्याकृत होते हैं। चक्षुर्विज्ञान से

लेकर मनोविज्ञानपर्यन्त षड्विज्ञानगण द्वारा कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत—तीनों प्रकार की वासनायें स्थापित की जाती हैं; क्योंकि षड्विज्ञानगण कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत तीनों होते हैं। किन्तु क्लिष्ट मनोविज्ञान और उसके परिवार[1] द्वारा केवल अव्याकृत बीज ही स्थापित किये जाते हैं; क्योंकि सपरिवार क्लिष्ट मनोविज्ञान नित्य अव्याकृतस्वभाव ही होता है।

आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान[2] परस्पर हेतुफलभावेन सम्बद्ध होते हैं। आलयविज्ञान के एकदेश जो बीज हैं, उनके कारण प्रवृत्तिविज्ञान होते हैं, यह ऊपर कहा गया है। आलयविज्ञान में जो पुराने बीज स्थित रहते हैं, प्रवृत्तिविज्ञान उनका परिपोष करते रहते हैं, इसलिये प्रवृत्तिविज्ञान उन बीजों के अधिपति-प्रत्यय होते हैं। साथ ही प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान में नूतन बीजों को भी आहित करते रहते हैं, अतः वे उन बीजों के कारण-प्रत्यय भी होते हैं। यहाँ तक समकालीन आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों के बीच हेतुफलभाव का निरूपण हुआ।

असमकालीन आलयविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञानों के बीच भी हेतुफलभाव सुनिश्चित है। वर्तमान आलयविज्ञान में प्रवृत्तिविज्ञानों द्वारा भावी आलयविज्ञान के बीज भी स्थापित किये जाते हैं, जिनकी वजह से भावी आलयविज्ञान का उत्पाद हुआ करता है। प्रवृत्तिविज्ञानों की यह सारी प्रक्रिया बिना आलयविज्ञान के नहीं हो सकती। आलयविज्ञान ही इसका मूलाधार है। आलयविज्ञान के गर्भ में ही प्रवृत्तिविज्ञानों का यह सारा खेल सम्पन्न होता रहता है। फलतः आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानों के बीच परस्पर हेतुफलभाव होता है।

---

१. आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान एवं आत्मस्नेह तथा स्पर्श, वेदना, संज्ञा, मनस्कार एवं चेतना ये ९ चैतसिक क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार हैं। द्र०—

आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः ।
यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्च ... ...॥—

त्रिं० का० ६–७ पृ० १७२–१७६।

२. चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहलाते हैं।

वासना के अवलेप का आश्रय कैसा होना चाहिये ?

अवलेप्याश्रयस्तावत्स्थिरश्चाव्याकृतस्तथा ।

स्थाप्यः स्थापकसम्बद्ध एकान्ताश्रयणात्मकः ॥ १९ ॥

विशेषैः पञ्चभिर्युक्तः

वासना के अवलेप का आश्रय अर्थात् जिस पर वासना की स्थापना की जा सके, उसे इन पांच विशेषताओं से युक्त होना चाहिये, यथा—१. स्थिर होना चाहिये, २. अव्याकृत होना चाहिये, ३. स्थाप्य (स्थापना करने योग्य) होना चाहिये, ४. स्थापक से सम्बद्ध होना चाहिये तथा ५. एकान्त आश्रयात्मक होना चाहिये।

१. वासना के आश्रय को एक स्थिर वस्तु होना चाहिये। सर्वदा धारावाहिक रूप से प्रवर्तमान वस्तु पर ही वासना की स्थापना की जा सकती है। शब्द या विद्युत् की भांति सर्वथा अस्थिर या चंचल पदार्थ अवलेप के आश्रय कथमपि नहीं हो सकते। ऐसे पदार्थों पर यदि वासना का अवलेप कर भी दिया जाय तो वह व्यर्थ होगा। इस प्रथम विशेषता से ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि चक्षुर्विज्ञान से लेकर क्लिष्ट मनोविज्ञानपर्यंत सप्तविज्ञानगण अवलेपनाश्रय नहीं हो सकते। क्योंकि वे अस्थिरस्वभाव होते हैं। उनमें से चक्षुर्विज्ञान आदि पांच इन्द्रियविज्ञान तो अत्यन्त ही अस्थिर या चञ्चल होते हैं। वे शीघ्र ही उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाया करते हैं, यह तो सभी को प्रत्यक्षतया ज्ञात है। मनोविज्ञान भी असंज्ञी देवों की अवस्था, असंज्ञी समापत्ति; निरोधसमापत्ति, मिद्ध एवं मूर्च्छा की अवस्था में निरुद्ध हो जाया करता है। कहा भी गया है—

मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदासंज्ञिकादृते ।
समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात्[1] ॥

क्लिष्ट मनोविज्ञान भी निरन्तर प्रवर्तमान विज्ञान नहीं है। उसकी भी धारा बीच बीच में टूट जाती है। अर्हत् की सन्तान में, निरोधसमापत्ति में और लोकोत्तर मार्ग की अवस्था में उसकी निवृत्ति हो जाया करती है। अतः वह कोई स्थिर विज्ञान नहीं है। कहा गया है—

---

१. द्र०—त्रिंशिका का० १६ पृ० २५३ और उसकी गूढार्थदीपनी व्याख्या।

... ... अर्हतो न तत्।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च[1]॥

फलतः क्लिष्ट मनोविज्ञान भी वासना की स्थापना का योग्य आधार नहीं हो सकता। रूपी पदार्थ भी अवलेप के आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि अरूप-धातु में उनका अस्तित्व नहीं हुआ करता।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि ऐसी स्थिति में तो आलयविज्ञान भी वासना की स्थापना का आश्रय नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसकी भी अर्हत्त्व की अवस्था में निवृत्ति हो जाया करती है। जैसे—कहा गया है—

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे[2]

समाधान—यह सही है कि आलयविज्ञान की अर्हत्त्व की अवस्था में निवृत्ति हो जाती है; तथापि वह एक स्थिर विज्ञान है। स्थिर होने का तात्पर्य यह बिलकुल ही नहीं है कि उसकी कभी निवृत्ति न हो; अपितु उसका आशय केवल इतना ही है कि जब तक अवलेपक विज्ञानों का अस्तित्व है, तब तक उसका भी अस्तित्व बना रहे। आलयविज्ञान ऐसा ही है। अर्थात् जब तक अवलेपक सप्तविज्ञानगण स्थित रहते हैं, तब तक वह धारावाहिकरूप से निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। अतः वह 'स्थिर विज्ञान' कहलाता है। अन्य विज्ञान ऐसे नहीं हैं। अतः वे वासना के अवलेप के आश्रय नहीं हो सकते। केवल आलयविज्ञान ही अवलेप का आश्रय हो सकता है।

२. वासना के आश्रय को अव्याकृत होना चाहिये। उसे कुशल या अकुशल नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार चन्दन आदि अधिक सुगन्धित वस्तुओं पर या लहसुन, प्याज आदि अत्युग्र दुर्गन्धयुक्त वस्तुओं पर किसी अन्य पुष्प आदि का गन्ध नहीं चढ़ाया जा सकता, अपितु मध्यगन्धवाली तिल आदि वस्तुओं पर ही किसी पुष्प आदि का गन्ध चढ़ाया जा सकता है; उसी प्रकार कुशल या अकुशल चित्तों पर वासना का अवलेप नहीं किया जा सकता। वासना के अवलेप के लिये चित्त को अव्याकृत ही होना चाहिये; क्योंकि अव्याकृत चित्त सभी चित्तों के

---

१ द्र०—त्रिंशिका का० ७ पृ० १७७ और उसकी गूढार्थदीपनी व्याख्या।
२. द्र०—त्रिंशिका का० ५ पृ० १६२।

अनुकूल होता है। वह किसी का अधिक विरोधी नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि कुशल, अकुशल या क्लिष्ट चित्त अवलेपाश्रय नहीं हो सकते।

३. वासना के आश्रय को इस योग्य होना चाहिये कि उस पर अवलेप किया जा सके। अनित्य वस्तु ही इस योग्य होती है। आकाश आदि नित्य धर्मों पर वासना का अवलेप किया जाना नितान्त असम्भव है। इससे इतना सुस्पष्ट होता है कि आलयविज्ञान एक अनित्य विज्ञान है। आचार्य असङ्ग के महायानसंग्रह आदि शास्त्रों और उनके टीका-ग्रन्थों में ये सब विशेषतायें अत्यन्त स्पष्टतया उल्लिखित हैं। उनका अवलोकन करना चाहिये।

४. वासना के आश्रय को वासना के स्थापक विज्ञानों से सम्बद्ध होना चाहिये। अवलेपाश्रय होने के लिये अवलेपकों से उसके एक विशेष प्रकार के सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। यथा—अवलेपक और अवलेपाश्रय दोनों को एक साथ उत्पन्न और एक-साथ निरुद्ध होना चाहिये। यह युगपद् उत्पाद एवं युगपद् निरोध ही वह विशेष सम्बन्ध है, जिसके बिना दो धर्मों में परस्पर स्थाप्य-स्थापकभाव नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह हुआ कि भिन्न सान्तानिक एवं असमकालिक धर्मों में स्थाप्य-स्थापकभाव नहीं हो सकता।

५. वासना के आश्रय को एकान्तरूप से आश्रयस्वभाव ही होना चाहिये। अर्थात् उसे सदा आधार ही होना चाहिये। कभी भी उसे आधेय नहीं होना चाहिये। अन्यथा जब वह आधेय होगा, उस समय कोई आधार न मिल सकेगा। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आलयविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि पांच सर्वत्रग चैतसिक अवलेपाश्रय नहीं हैं, क्योंकि वे आलयविज्ञान पर आश्रित होने के कारण आधेय हैं।

उपर्युक्त पांच विशेषताओं से युक्त एकमात्र आलयविज्ञान ही है। अन्य कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें ये पाँचों विशेषतायें विद्यमान हों। फलतः आलयविज्ञान ही वासना का अवलेपाश्रय है।

वासना या बीजों के भेद—

विभिन्न दृष्टिकोणों से वासना के शास्त्रों में अनेक प्रकार के विभाजन उपलब्ध होते हैं, यथा—षड्विध, त्रिविध, चतुर्विध और चतुर्विध। इस तरह चार विभाजनों का यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है।

क. वासना के छह भेद—

बाह्यमाध्यात्मिकं तथा ।

सावृतं द्वे तथाऽस्पष्टे पारमार्थिकमेव च ॥२०॥

षड् वा बीजानि मन्यन्ते

बीज छह भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—

१. बाह्य बीज—यव, व्रीहि, उत्पल आदि के बीज बाह्य बीज कहे जाते हैं। इनमें बीज शब्द का प्रयोग औपचारिक है। वास्तविक बीज तो वासना ही है।

२. आध्यात्मिक बीज—आलयविज्ञान में स्थित बीज आध्यात्मिक बीज या अन्तर्बीज कहलाते हैं।

३-४. द्विविध अस्पष्ट बीज—आलयविज्ञान में स्थित बीज अव्याकृत होते हैं, इसलिये वे अस्पष्ट बीज कहलाते हैं। बीजावस्थ वासना संक्लेश एवं व्यवदान दोनों में व्याकृत (स्पष्ट) नहीं की जा सकती तथा कुशल या अकुशल के रूप में भी व्याकृत नहीं की जा सकती। फलतः संक्लेश बीज और व्यवदान बीज अथवा कुशल बीज और अकुशल बीज द्विविध अस्पष्ट बीज कहे जाते हैं।

अथवा—उपर्युक्त बाह्य बीज और आध्यात्मिक बीज ही द्विविध अस्पष्ट बीज हैं। महायानसंग्रह के टीकाकारों ने इस स्थल पर भिन्न-भिन्न पाठ भेद करके व्याख्याभेद किये हैं, जिनका उल्लेख आचार्य चोंखापा ने यहाँ के स्वभाष्य में किया है।

५. सांवृत बीज—उपर्युक्त बाह्य बीज ही सांवृत बीज कहलाते हैं; क्योंकि वे सांवृतिक ज्ञान के विषयमात्र होते हैं।

६. पारमार्थिक बीज—उपर्युक्त आध्यात्मिक बीज ही पारमार्थिक बीज कहे जाते हैं। समस्त धर्मों के वास्तविक बीज ये ही बीज हैं।

ख. वासना के तीन भेद—

दृश्यन्ते त्रीणि वाऽन्यतः ।

आत्मदृक् चाभिधानं च भवाङ्गवासना इमाः ॥२१॥

आधेय बीज तीन भागों में भी विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—१. आत्म-दृष्टि वासना, २. अभिधान वासना तथा ३. भवाङ्ग वासना।

१. आत्मदृष्टि वासना—क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं तत्सम्प्रयुक्त चैतसिकों द्वारा स्थापित वासना, जो आत्मप्रतीति का बीज हुआ करती है तथा जिसकी वजह से आत्मा एवं अन्य जीवों का आभास हुआ करता है, वह 'आत्मदृष्टि वासना' है। यह आत्मदृष्टि से जनित होती है तथा इससे भाविनी आत्मदृष्टि का जन्म होता है। इसे ही 'सत्कायदृष्टि वासना' भी कहते हैं। क्योंकि यह सत्कायदृष्टि से उत्पन्न होती है और भाविनी सत्कायदृष्टि का हेतु भी होती है।

२. अभिधान वासना—लोक में जितने धर्म होते हैं, वे सब किसी न किसी नाम या निमित्त के माध्यम से ही आभासित हुआ करते हैं और किसी न किसी नाम से ही हम उनका व्यवहार करते हैं। उन नाम या निमित्तों का मूल कारण आलयविज्ञान में स्थित यही 'अभिधान वासना' है, जो सपरिवार मनोविज्ञान द्वारा आलयविज्ञान में स्थापित की जाती है। इस वासना से कल्पना बुद्धि का उत्पाद होता है। उस कल्पना बुद्धि में जो अभिधेयत्व की प्रतीति होती है, वह इसी वासना का फल है। यह कल्पना नाम या शब्दों का पदार्थों के साथ संयोग कर देती है। फलतः सभी धर्म नाम या संज्ञा द्वारा जाने जाते हैं। इसी का दूसरा नाम 'प्रपञ्च वासना' है। क्योंकि यही वह बीज है, जिसके द्वारा विविध प्रकार के मनोज्ञान विविध विषयों में प्रवृत्त होते हैं। इस (वासना) से जिन ज्ञानों का उत्पाद होता है, वे व्यवहारात्मक मनोज्ञान ही होते हैं।

३. भवाङ्ग वासना—आलयविज्ञान में जो जन्म और मृत्यु के बीज निहित होते हैं, वे 'भवाङ्ग वासना' कहलाते हैं। ये कुशल एवं अकुशल प्रवृत्तिविज्ञानों द्वारा आलयविज्ञान में स्थापित किये जाते हैं। इसकी वजह से सुगति एवं दुर्गति में प्रतिसन्धि एवं च्युति उपपन्न होती हैं। लोक में जिसे पुण्य या अपुण्य कहते हैं, वे वस्तुतः इसी वासना के नाम हैं। इसे 'विपाक वासना' भी कहते हैं; क्योंकि इसी की परिपुष्टि से विपाक निष्पन्न होता है।

ग. वासना के प्रथम चार भेद—

बीजं चतुर्विधं वापि संवेदनमवेदनम्।
सामान्यं च विशेषं च

आधेय बीज इन चार भागों में भी विभक्त किये जा सकते हैं, यथा—१. सामान्य बीज, २. विशेष (असामान्य) बीज, ३. संवेदन बीज एवं ४. अवेदन बीज।

१. सामान्य बीज—आलयविज्ञान में स्थित वह वासना, जो भाजनलोक का बीज हुआ करती है 'सामान्य बीज' कहलाती है। इससे नदी, पर्वत, समुद्र, गृह, उपवन, रूप, रस आदि समस्त भाजनलोक सम्पन्न हुआ करता है।

२. असामान्य बीज—आलयविज्ञान में स्थित वह वासना, जो सत्त्वलोक का बीज होती है 'असामान्य बीज' कहलाती है। यह इन्द्रिय, देह आदि स्वसान्तानिक धर्मों का कारण हुआ करती है।

भाजनलोक के बीजों को सामान्य बीज इसलिये कहते हैं; क्योंकि भाजनलोक समस्त सत्त्वों का आश्रय या उपभोग्य होता है। इसी तरह सत्त्वलोक के बीजों को असामान्य बीज इसलिये कहते हैं; क्योंकि वे इन्द्रिय, देह आदि स्वसन्तानगत निजी धर्मों के बीज होते हैं। ये धर्म स्वयं द्वारा उपभोग्य होते हैं। दूसरे इनका उपभोग नहीं कर पाते। इसलिये इनके बीजों को असामान्य या विशेष बीज कहते हैं।

३. असंवेदन बीज—उपर्युक्त द्विविध बीजों में से 'सामान्य बीज' ही 'अवेदन' या 'असंवेदन बीज' कहलाते हैं। क्योंकि भाजनलोक चित्त-चैतसिकों द्वारा उपात्त (गृहीत) नहीं होता।

४. संवेदन बीज—उपर्युक्त असामान्य बीज ही 'संवेदन बीज' कहे जाते हैं; क्योंकि इन्द्रिय, देह आदि सत्त्व चित्त द्वारा परिगृहीत होते हैं। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सत्त्वलोक ही सुख, दुःख आदि वेदनाओं का मुख्य आधार है, भाजन लोक उनका आधार नहीं होता, इसलिये असामान्य बीज ही 'संवेदन बीज' कहलाते हैं।

घ. वासना के द्वितीय चार भेद—

यद्द्वयं तत् प्रकीर्तितम् ॥ २२ ॥

प्रश्रब्धिश्चात्र दौष्ठुल्यं भुक्तं चाभुक्तमेव च।

आधेय बीजों का निम्न चार भागों में भी विभाजन किया जाता है. यथा—१. दौष्ठुल्य बीज, २. प्रश्रब्धि बीज, ३. भुक्त बीज एवं ४. अभुक्त बीज।

१. दौष्ठुल्य बीज—राग, द्वेष आदि मूलक्लेश[1] एवं क्रोध, उपनाह आदि उपक्लेश[2] भी विना वासना के प्रादुर्भूत नहीं होते। इनके भी बीज आलयविज्ञान में निहित होते हैं और ये ही 'दौष्ठुल्य बीज' कहे जाते हैं। ये बीज भी उन्हीं क्लेशोपक्लेश चैतसिकों द्वारा स्थापित किये जाते हैं और परिपक्व होने पर अनागत क्लेशोपक्लेशों के जनक होते हैं।

२. प्रश्रब्धि बीज—लोक में जो कुशल कर्म कहे जाते हैं, वे भी वासना से जनित हुआ करते हैं। उन लौकिक सास्रव कुशल कर्मों के बीज, जो आलयविज्ञान में निहित होते हैं 'प्रश्रब्धि बीज' कहे जाते हैं; क्योंकि कुशल चित्तों के साथ प्रश्रब्धि का सम्प्रयोग अवश्य होता है।

३. भुक्त बीज—सुगति और दुर्गति के जनक बीज, जिनका परिपाक हो चुका है, 'भुक्त बीज' कहलाते हैं; क्योंकि अब उनका पुनः परिपाक नहीं होना है। जैसे—पक्व भोजन का पुनः परिपाक नहीं होता।

४. अभुक्त बीज—उपर्युक्त अभिधान वासना ही 'अभुक्त बीज' कहलाती है; क्योंकि वह बिना प्रयत्न के सभी जीवों में जन्मतः प्रवृत्त है। अर्थात् जन्म से ही अनेक ग्राह्य ग्राहक प्रपञ्च स्वतः प्रचलित होते हैं।

महायानसंग्रह के कुछ टीकाकारों का कहना है कि कुशल वासना और अकुशलवासना, जो अभी परिपुष्ट नहीं हुई हैं अर्थात् जिन्हें फल देने में अभी और परिपोष की आवश्यकता है 'अभुक्त बीज' कहलाती हैं। आचार्य चोंखापा इस मत का खण्डन करते हैं और इसके लिये वे मूल महायानसंग्रह के ही स्पष्ट वाक्यों का निर्देश करते हैं। आलयविज्ञान में स्थित ये समस्त वासनायें महत्त्वपूर्ण हैं। इनके समस्त प्रकारों का यथावत् ज्ञान विज्ञानवाद के अभ्रान्त अवबोध के लिये परमावश्यक है।

उपर्युक्त सभी वासनायें अपने आधार आलयविज्ञान से द्रव्यतः एक हैं या अनेक (भिन्न) ?

---

१. राग, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि एवं विचिकित्सा ये छह मूल क्लेश हैं। इनके स्वरूप ज्ञान के लिये द्र०–त्रिं० ११–१२ का० और इनकी गूढार्थदीपनी व्याख्या, पृ० २०२–२१३।

२. द्रष्टव्य—त्रिंशिका कारिका १२ और १३ तथा गूढार्थदीपनी पृ० २१४–२३१।

नाभिन्ना वासना भिन्ना नाश्रयाद् द्रव्यतः स्थिता ॥ २३ ॥

वे वासनायें अपने आश्रय आलयविज्ञान से न तो द्रव्यतः एक (अभिन्न) हैं और न अनेक (भिन्न) ही हैं।

क्यों ?—

आलम्बनमथाकारो वासनायाः प्रसज्यते।
गतिपञ्चकबीजानां धातूनां च व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥
अभिन्ना वासनातो नो

वासना यदि आलयविज्ञान से द्रव्यतः एक (अभिन्न) होगी तो जैसे आलयविज्ञान का आलम्बन और आकार होता है, वैसे वासना का भी आलम्बन और आकार मानना होगा। फलतः उसका विज्ञान से भेद नहीं हो सकेगा।

अपि च—यदि वासना और आलयविज्ञान द्रव्यतः एक होंगे तो सत्त्वों की पांच गतियों[1] के बीजों का और तीन धातुओं का व्यतिक्रम हो जायगा। यथा—

क. पञ्च सत्त्वगतियों का व्यतिक्रम—

प्रत्येक व्यक्ति की सन्तान में आलयविज्ञान होता है और वह क्षणिक होता है। पाँचों प्रकार के सत्त्वों के बीज भी उसमें एक ही काल में विद्यमान होते हैं। आलयविज्ञान का सबसे सूक्ष्म क्षण, जो एक और अविभक्त (अखण्ड) होता है, उसमें भी अनेकविध बीज उपस्थित रहते हैं। यदि उस एक और अविभक्त आलयविज्ञान में निहित बीज उससे अभिन्न होंगे, तो वे अवश्य मिलकर एक द्रव्य हो जायँगे। फलतः सुगति के बीज दुर्गति के बीज हो जायँगे और दुर्गति के बीज सुगति के बीज हो जायँगे। यहाँ तक कि कुशल और अकुशल बीजों का समस्त क्रम बिगड़ जायगा।

ख. धातुव्यतिक्रम—यदि वासना और आलयविज्ञान अभिन्न होंगे तो धातुओं का भी व्यतिक्रम हो जायगा, यथा—जब कोई कामधातु का एक व्यक्ति रूपसमापत्ति (ध्यान) की भावना करता है, तब उस व्यक्ति के आलयविज्ञान पर

---

1. नारकीय सत्त्व, तिर्यक्, प्रेत, मनुष्य और देव पाँच गतियाँ है, द्रष्टव्य—

नरकप्रेततिर्यञ्चो मानुषाः षड् दिवौकसः।

—अभि० को० ३ : १ पृ० १११।

वासना स्थापित होती है, जिससे रूपधातु का विपाक उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति का आलयविज्ञान तो कामधातु का होता है; किन्तु वासना रूपधातु की होती है। यदि वे (आलयविज्ञान और वासना) द्रव्यतः एक होंगे तो यह व्यवस्था न बन सकेगी। अपितु रूपधातु का बीज कामधातु का होने लगेगा। इस प्रकार धातुओं का क्रम बिगड़ जायगा।

इन सब अनुपपत्तियों से यह सिद्ध होता है कि वासना आलयविज्ञान से द्रव्यतः एक नहीं है।

वासना आलयविज्ञान से द्रव्यतः भिन्न क्यों नहीं है?

एकस्मिन्नालयद्वयम्।
प्रसज्यते हि सन्ताने ततो भिन्ना न सा मता ॥ २५ ॥

यदि वासना आलयविज्ञान से द्रव्यतः भिन्न होगी, तो एक व्यक्ति की सन्तान में दो आलयविज्ञान होने का प्रसङ्ग होगा। क्योंकि वासना रूप, सम्प्रयुक्त एवं विप्रयुक्त संस्कार तथा सप्तविज्ञानगण किसी में संगृहीत नहीं होती। वह अरूपधातु में तथा सप्तविज्ञानगण की निवृत्ति की अवस्था में भी विद्यमान रहती है। यदि वह आलयविज्ञान से भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य होगी, तो निःसन्देह एक व्यक्ति की सन्तान में दो आलयविज्ञानों का अस्तित्व माना पड़ेगा, जो नितान्त युक्तिहीन और सिद्धान्तविरुद्ध होगा। फलतः वासना आलयविज्ञान से द्रव्यतः पृथक् भी नहीं है। इस तरह वासना या बीज के आलयविज्ञान से एकत्व और अनेकत्व दोनों पक्षों में अनेक दोष दृष्टिगोचर होते हैं।[1]

यदि वासना अपने आधारभूत आलयविज्ञान से न द्रव्यतः एक है और न अनेक, तो उसमें किस रूप में रहती है?

ततश्चाश्रयतस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां न निरुच्यते।
प्रज्ञप्तिमात्रसद्भावाद्

वासना अपने आश्रय आलयविज्ञान से न तो द्रव्यतः एक है और न अनेक; क्योंकि वह एक प्रज्ञप्तिसत् धर्म है। यदि उसका द्रव्यतः अस्तित्व होता, तो वह अवश्य

1. विस्तृत जानकारी के लिए आर्यअसंगकृत महायानसंग्रह और उसकी टीकाओं का अवलोकन करना चाहिये।

आलयविज्ञान से भिन्न या अभिन्न होती। वासना का दोनों प्रकारों (भिन्न और अभिन्न) में संग्रह नहीं होता, अतः सिद्ध होता है कि उसका द्रव्यास्तित्व नहीं है; अपितु वह एक प्रज्ञप्तिसद् धर्म है। वह अपने आश्रयभूत आलयविज्ञान में तत्त्वेन (अभिन्न रूप से) या अन्यत्वेन (भिन्न रूप से) अनिर्वचनीय रूप में रहती है। वासना वस्तुतः आलयविज्ञान में प्रज्ञप्त एक शक्तिविशेष है, वह कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। बौद्ध आचार्यों के शास्त्रों में द्रव्य और प्रज्ञप्ति शब्दों का उल्लेख बहुधा उपलब्ध होता है और उनका अर्थ सर्वत्र एक जैसा नहीं होता, अपितु एकदम पृथक्-पृथक् अर्थ होते हैं। आर्यअसंग एवं वसुबन्धु आदि आगमानुयायी विज्ञानवादी आचार्यों के मत में द्रव्यसद् धर्म वह है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। अर्थात् जो धर्म अपने अस्तित्व के लिये किसी पर आश्रित न हो, अपितु जिसकी सत्ता निरपेक्ष (स्वतन्त्र) होती है, वह धर्म द्रव्यसद् कहलाता है, जैसे—आलयविज्ञान आदि। इसके विपरीत जो धर्म अपने अस्तित्वबोध के लिये दूसरों पर आश्रित होते हैं, अन्य की अपेक्षा करते हैं, वे प्रज्ञप्तिसद् कहलाते हैं, यथा—वासना आदि। सभी प्रकार के विप्रयुक्त संस्कार यद्यपि संस्कृत धर्म तो माने जाते हैं, किन्तु वे द्रव्यसत् न माने जाकर प्रज्ञप्तिसत् ही माने जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आधारभूत आलयविज्ञान द्रव्यसत् है तथा आधेयभूत वासना उस पर प्रज्ञप्त धर्म है। अथवा शक्तिमान् पदार्थ (आलयविज्ञान) द्रव्यसत् है तथा शक्ति (वासना) प्रज्ञप्तिसत् है। वासना की गणना विप्रयुक्त संस्कार में की जाती है; क्योंकि वह वस्तु तो है; किन्तु उसका अन्तर्भाव न तो रूप में होता है और न ज्ञान में होता है।

[वासना की द्रव्यसत्ता और प्रज्ञप्तिसत्ता तथा आलयविज्ञान से उसके एकत्व और अनेकत्व के विषय में सूक्ष्म और गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है। इस विषय में पूर्वाचार्यों में भी मतभेद उपलब्ध होता है। वर्तमान विद्वानों में भी मतभेद हो सकते हैं। इस विषय में किसी आचार्य के मत का अध्ययन करते समय उस मत को उसी आचार्य से सम्बद्ध समझना चाहिए; अन्यथा मतसांकर्य होने की सम्भावना होगी। फलतः विशुद्ध पदार्थस्वरूप के अवगम में बाधा होगी।]

धर्म त्रिविध होते हैं, यथा—कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत। वासना का इन तीनों में से किस में अन्तर्भाव होता है?

वासनाऽव्याकृता मता ॥ २६ ॥

प्रक्षेपकः शुभो वा स्यादशुभो वा

वासना को स्थापित करनेवाले (प्रक्षेपक) प्रवृत्तिविज्ञान चाहे कुशल हों, अकुशल हों अथवा अव्याकृत हों, उनके द्वारा स्थापित वासना एकान्तरूपेण अनिवृताव्याकृत होती है। कारिका में केवल 'अव्याकृत' शब्द प्रयुक्त किया गया है, वहाँ 'अनिवृत' यह वाक्यशेष है । अर्थात् 'अनिवृत' का अध्याहार करना चाहिये ।

प्रश्न हो सकता है कि वासना एकान्तरूप से अव्याकृत कैसे हो सकती है ? यदि उसे अव्याकृत माना जायगा, तो अनेक दोष होंगे। अर्थात् आगमविरोध होगा और युक्तिविरोध भी ।

आगमविरोध—अभिधर्मसमुच्चय में वासना के बारे में कुशल, अकुशल की व्यवस्था की गयी है, यथा—"अनुबन्धतः कुशलं कतमत् ?—तेषामेव या वासना" और आगे "अनुबन्धतोऽकुशलं कतमत् ? —तेषामेव या वासना"। इस प्रकार वहाँ कुशल और और अकुशल चित्तों द्वारा स्थापित वासना को क्रमशः अनुबन्धतः कुशल और अनुबन्धतः अकुशल कहा गया है ।

युक्तिविरोध—यदि सभी अवलिप्त वासनायें अव्याकृत होंगी, तो वे 'विपाक-हेतु' नहीं हो सकेंगी; क्योंकि विपाक को उत्पन्न करनेवाले धर्म को अवश्य कुशल या अकुशल होना चाहिये ।

अपि च—कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत चित्तों द्वारा स्थापित वासना का निष्यन्द फल असम्भव हो जायगा, क्योंकि निष्यन्द फल को अपने हेतु से सजातीय होना चाहिये ।

अपि च—संवरप्राप्ति से लेकर संवरत्याग पर्यन्त कुशलधारा का प्रवाहित होना भी असम्भव हो जायगा; क्योंकि प्रवृत्तिविज्ञानों के निरुद्ध हो जाने पर मनोज्ञान उद्भूत हो नहीं सकता और वासना के होने पर भी आप उसे अव्याकृत मानते हैं ?

समाधान—वस्तुतः ये सब दोष नहीं हैं; क्योंकि—

अथ वासना ।

शुभा वाप्यशुभेतीह साधनं नोपलभ्यते ॥२७॥

वासना को वस्तुतः कुशल या अकुशल मानने में कोई साधन (हेतु या तर्क) नहीं है। ऊपर जिस आगम को साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है, उससे वासना कुशल या अकुशल सिद्ध नहीं होती। अभिधर्मसमुच्चय में वासना के बारे में अनुबन्धतः कुशल या अकुशल का व्याख्यान अवश्य है, परन्तु अनुबन्धतः कुशल या अनुबन्धतः अकुशल असली कुशल या अकुशल नहीं होते; औपचारिक कुशल या अकुशल होते हैं, अन्यथा अनुबन्धतः रूप भी असली (प्रधान) रूप हो जायगा; फलतः अरूप भूमि में रूप का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, यथा-अभिधर्मसमुच्चय में ही उल्लिखित है कि "कथं रूपि, कति रूपीणि, किमर्थं रूपिपरीक्षा ... ... ?— सम्बन्धतोऽपि अनुबन्धतोऽपि प्ररूपणतोऽपि ... निदर्शनतोऽपि रूपि द्रष्टव्यम्"। इस वचन के अनुसार अरूपी धातु में भी अनुबन्धतः रूप होता है; किन्तु इसका आशय है कि अरूपी धातु में रूप की वासना होती है। निष्कर्ष यह है कि अनुबन्धतः कुशल या अकुशल प्रधान कुशल या अकुशल नहीं होते; अपितु औपचरिक कुशल या अकुशल होते हैं। फलतः उपर्युक्त आगम वासना को अव्याकृत मानने में बाधक नहीं है।

वासना को कुशल या अकुशल मानने में वस्तुतः कोई युक्ति भी उपलब्ध नहीं है। ऊपर पूर्वपक्ष ने जिन युक्तियों का उल्लेख किया है, अब उनका यहाँ क्रमशः निरास किया जा रहा है—

कुशल या अकुशल चित्तों द्वारा स्थापित वासना को हम विपाक का प्रक्षेपक नहीं मानते। वासना तो उन चित्तों द्वारा स्वयं प्रक्षिप्त है, प्रक्षेपक नहीं। प्रक्षेपक तो वह होता है, जो वासना का भी स्थापक होता है। अर्थात् कुशल, अकुशल चित्त ही विपाकहेतु हैं। वासना विपाक का कारणमात्र तो हो ही सकती है और इसमें कोई दोष भी नहीं है, यथा—प्रथमक्षणभावी आलयविज्ञान अव्याकृत होते हुये भी द्वितीयक्षणभावी आलयविज्ञान का हेतु होता है।

वासना का जो निष्यन्दफल होता है, वह (निष्यन्दफल) इसलिये होता है, चूँकि वह अपने स्थापक प्रवृत्तिविज्ञान के सदृश (सजातीय) होता है और इतना होना निष्यन्दफल के लिये पर्याप्त है।

संवरप्राप्त पुद्गल जब विक्षिप्त या अचित्तक अवस्था में होता है, उस समय यद्यपि उसकी सन्तति में कुशल चित्त नहीं होता; फिर भी संवर या शील का

अभाव नहीं होता। फलतः जब शैक्ष्य धर्मों के विपक्ष सम्मुख उपस्थित होते हैं, उस समय उसकी सन्तति में तत्काल ही, अपत्राप्य और सम्प्रजन्य आदि प्रादुर्भूत हो जाते हैं और दौःशील्य के उत्पाद का अवरोध कर देते हैं। शीलवान् होने के लिये इतना ही पर्याप्त है। इस प्रकार पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थापित युक्तिविरोध का निरास कर देने से वासना का अव्याकृतत्व सुतरां सिद्ध हो जाता है।

आलयविज्ञान पर अवलिप्त वासनाओं में यद्यपि हेतु-अवस्था में वैविध्य नहीं होता, फिर भी उनसे जब फल अभिव्यक्त होते हैं, तब विविध धर्मों का आभास होता है। यही महायान का एक अतिसूक्ष्म प्रतीत्यसमुत्पाद है, ऐसा आर्य असङ्ग ने घोषित किया है।

ये सब वासनायें आलयविज्ञान में आदितः उपस्थित रहती हैं, या नयी-नयी स्थापित होती हैं ?

वासनास्थापनायां तु त्रिविधं मतमिष्यते।
धर्मतःस्थितताऽपूर्वोद्‌भूतता चोभयात्मिका॥ २८॥

वासना की स्थिति के बारे में योगाचार आचार्यों के तीन प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं, यथा—१. अवलेपक द्वारा प्रक्षेप के बिना आलयविज्ञान में वासना को धर्मतः (स्वभावतः) स्थित मानना, २. अवलेपक द्वारा नयी-नयी अर्थात् अपूर्व वासनाओं की स्थापना मानना तथा ३. उपर्युक्त दोनों प्रकार मानना। अर्थात् कुछ वासनाओं को अनादि मानना और कुछ वासनाओं की अपूर्व स्थापना मानना।

महायानसंग्रह की गूढार्थटीका में तीनों मत उपस्थित करके उनकी आलोचना की गयी है और दोषों का परिहार करके टीकाकार ने प्रथम पक्ष स्वीकार किया है। आचार्य चोंखापा तृतीय मत पसन्द करते हैं। उनके विचारों का सार यह है कि समस्त वासनायें अनास्रव बीज, निष्पन्दवासना और विपाक वासना में संगृहीत हो जाती हैं।

अनास्रव बीज प्रकृतिगोत्र होते हैं। फलतः वे धर्मतःस्थित हैं। निष्यन्द और विपाक बीज अवलेपक द्वारा स्थापित हैं अतः ये दोनों वासनायें अपूर्व उद्‌भूत हैं।

अनास्रव बीज जो प्रकृतिगोत्र (प्रकृतिस्थगोत्र) हैं अर्थात् जो अवलेपक की अपेक्षा नहीं करते, अनादि हैं। निष्यन्द और विपाक वासना दोनों प्रकार की हो सकती हैं। अर्थात् अनादि भी हो सकती हैं और सादि भी। सामान्यतः निष्यन्द-वासना को हम अनादि कह सकते हैं। क्योंकि जो निष्यन्दवासना होती है, वह किसी न किसी प्रवृत्तिविज्ञान द्वारा स्थापित होती है और वह प्रवृत्तिविज्ञान भी किसी निष्यन्दवासना का फल होता है और वह निष्यन्दवासना भी किसी प्रवृत्तिविज्ञान द्वारा स्थापित होती है। इस तरह इस क्रम का उसी प्रकार कहीं अन्त न मिलेगा, जिस प्रकार मुर्गी और अण्डे में कौन पहले हैं, इसका अन्त नहीं मिलता। फलतः निष्यन्दवासना अनादि सिद्ध होती है। फिर भी विशेषतः निष्यन्दवासना सादि ही है; क्योंकि वर्तमान कुशल, अकुशल चित्तों द्वारा नयी निष्यन्दवासनाओं की स्थापना की जाती है, जो भावी कुशल, अकुशल चित्तों की जनिका होती हैं। इस प्रकार विशेष निष्यन्दवासना तो सादि ही होती है। उसका प्रवाह अनादि होता है। यही बात विपाकवासना के बारे में भी लागू है। अर्थात् विशेष विपाकवासना सादि है; क्योंकि वह उन पुण्य या अपुण्य कर्मों द्वारा स्थापित होती हैं, जो (पुण्य या अपुण्य कर्म) इस समय किये जा रहे हैं। सामान्यतया विपाक अनादि हैं; क्योंकि संसार अनादि है।

प्रकृतिस्थगोत्र या परिपुष्टिगोत्र

पहले कहा गया है कि वासना के अनेक प्रकार होते हैं[1]। उनमें से अनास्रववासना को छोड़कर अवशिष्ट सभी वासनायें संक्लेशपाक्षिक (सास्रव या संसारगत) होती हैं। अनास्रववासना व्यवदानपाक्षिक (मोक्षभागीय) होती है। यह वासना अवलेपक या स्थापक से अनपेक्ष होकर धर्मतः (स्वभावतः) स्थित होती है और सभी अनास्रव धर्मों का बीज हुआ करती है। साथ ही यह सद्धर्मश्रवण और सम्यक् चिन्तन के द्वारा परिपुष्ट होने योग्य होती है। अर्थात् श्रुत, चिन्ता और भावना द्वारा इसका विकास किया जा सकता है। इसे ही 'प्रकृतिगोत्र या प्रकृतिस्थगोत्र' कहते हैं; क्योंकि यह किसी स्थापक द्वारा नयी स्थापित न होकर सभी जीवों में स्वभावतः स्थित होती है। इसे 'श्रुतवासना'

---

१. द्र०—परि० १९-२२ कारिका।

भी कहते हैं; क्योंकि यह बुद्ध, बोधिसत्त्व या गुरुजनों के उपदेश तथा द्वादशाङ्ग-प्रवचनों के श्रवण का आधार होती है।

प्रकृतिस्थगोत्र ही दूसरों के उपदेश और अपने सम्यक् चिन्तन आदि के द्वारा अर्थात् श्रुत, चिन्ता, भावना द्वारा शक्तिशाली होकर परिपुष्टगोत्र कहलाने लगता है। प्रकृतिस्थगोत्र तथा परिपुष्टगोत्र दोनों एक ही अनास्रववासना की दो अवस्थाओं के नाम हैं। विज्ञानवादी नय के अनुसार यही बुद्धगोत्र या तथागतगर्भ भी है। लेकिन सब गोत्र तथागतगर्भ नहीं हैं; क्योंकि श्रावकगोत्र और प्रत्येकबुद्धगोत्र भी होते हैं। आगमानुसारी विज्ञानवादी त्रियानवादी होते हैं। इनके अनुसार श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व तीनों का अपना-अपना मोक्ष प्राप्त होने पर गन्तव्य मार्ग परिपूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार विज्ञानवादी गोत्र को संस्कृत धर्म मानते हैं। माध्यमिकों के मत में गोत्र असंस्कृत धर्म है, क्योंकि वे शून्यता को ही गोत्र मानते हैं। विज्ञानवादी माध्यमिकों पर आक्षेप करते हैं कि यदि गोत्र संस्कृत धर्म नहीं है और यदि शून्यता ही गोत्र है, तो शून्यता में भेद न होने से गोत्रभेद सम्भव न हो सकेगा। फलतः श्रावकगोत्र आदि गोत्रों के तीन भेद असम्भव हो जायंगे इत्यादि। विज्ञानवादी और माध्यमिकों का गोत्रविषयक यह आपसी वाद-विवाद अभिसमयालङ्कार कारिका में और उसकी टीकाओं में विस्तारपूर्वक वर्णित है, यथा—

धर्मधातोरसम्भेदाद् गोत्रभेदो न युज्यते।
आधेयधर्मभेदात्तु तद्भेदः परिगीयते[1]॥

इत्यादि।

[त्रियानवाद, एकयानवाद और गोत्र के विषय में विविध विचार और अत्यधिक वक्तव्य हैं, उनका व्याख्यान थोड़े शब्दों में असम्भव है। महायानसंग्रह, योगाचारभूमि, महायानसूत्रालङ्कार आदि ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का अवलोकन इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिये अपेक्षित है। गूढार्थटीका इन टीकाओं में महत्त्वपूर्ण है। आचार्य चोंखापा ने इसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है।]

---

१. अभिसमयालङ्कार कारिका ४० प्रथम परिवर्त।

इन सारी बातों का सम्यक् परिज्ञान न होने से ऐसा भ्रम हो सकता है कि आलयविज्ञान ही गोत्र या तथागतगर्भ है या यही परमार्थसत्य है और इसका साक्षात्कार होने पर मुक्ति मिल सकती है—इत्यादि। यह एक ऐसा भ्रम है, जिसका थोड़ा भी आधार नहीं है। साथ ही इस तरह का मत आर्य असङ्ग और आचार्य वसुबन्धु आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित विज्ञानवाद से सर्वथा बाह्य है।

प्रश्न है कि आलयविज्ञान में स्थित उपर्युक्त वासना या बीज 'आलय' क्यों कहे जाते हैं?

सर्वसंक्लेशधर्मेषु हेतुतश्चाथ कार्यतः।
लीनत्वादालयः

आलय का तात्पर्य आधार होने से है। समस्त धर्म जिसमें कार्यत्वेन लीन होते हैं या उपनिबद्ध होते हैं अथवा जो समस्त धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध या लीन होता है, वह 'आलय' कहलाता है। बीज आलय इसलिये कहे जाते हैं; क्योंकि समस्त सांक्लेशिक और वैयवदानिक धर्मों के वे हेतु होते हैं[1]। विपाक की आलय संज्ञा इसलिये है; क्योंकि सभी जीव क्लिष्टमनोविज्ञान द्वारा उसका आत्मत्वेन ग्रहण करते हैं[2]।

उस वासना की निवृत्ति कब होती है?

सोऽथ वशिनश्चार्हतो न वै ॥२९॥
तल्लक्षणद्वयायोगाद्

"समस्त सांक्लेशिक धर्म जिसमें कार्यत्वेन उपनिबद्ध होते हैं अथवा जो सांक्लेशिक धर्मों में कारणत्वेन उपनिबद्ध होता है, वह 'आलय' है"—यह 'आलय' का प्रथम लक्षण है। आठवीं भूमि के वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व, श्रावक अर्हत् एवं प्रत्येकबुद्ध अर्हत् इनमें उक्त प्रकार का आलय नहीं होता; क्योंकि उनके समस्त सांक्लेशिक धर्मों का समूल समुच्छेद हो चुका है। आलयविज्ञान को आत्मत्वेन देखना, आलय का

---

१. अथवाऽऽलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्मा कार्यभावेन; तद् वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वित्यालयः।—त्रिं० ४०, पृ० १२७।

२. द्र०—तत्रात्मत्वयोगतयाऽऽलयम्—परि० का० १७ पृ० ३१७।

दूसरा लक्षण है। इस प्रकार का आलय भी उक्त पुद्गलों में नहीं होता। फलतः किसी भी तरह से उनमें आलय नहीं होता। इस प्रकार जिन कारणों से आलय कहा जाता है, उन दोनों के न होने से वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व से ऊपर की अवस्थाओं में तथा अर्हंतों की सभी अवस्थाओं में आलय नहीं हुआ करता।

पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि आपके कथन में पूर्वापरविरोध है। आपने पहले कहा है कि विपाकविज्ञान वज्रोपमसमाधिपर्यन्त और निरुपधिशेषनिर्वाण-पर्यन्त निरन्तर प्रवृत्त होता है[1] तथा यहाँ आप कह रहे हैं कि आलय आठवीं भूमि के वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व से ऊपर की अवस्थाओं में तथा अर्हंतों में नहीं हुआ करता?

समाधान—हमने पहले भी अनेकधा कहा है और फिर स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जो आलयविज्ञान होता है, वह विपाकविज्ञान भी होता है; किन्तु जो विपाक-विज्ञान होता है, उसका आलयविज्ञान होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् विपाक-विज्ञान व्यापक है और आलयविज्ञान उससे व्याप्त है। बोधिसत्त्व की आठवीं भूमि और उसके ऊपर की अवस्थाओं में तथा अर्हत् की अवस्थाओं में विपाकविज्ञान तो होता है; किन्तु आलयविज्ञान नहीं होता। आलयविज्ञान जब तक क्लिष्ट मनोविज्ञान का विषय होता रहता है, तब तक वह आलयविज्ञान भी होता है और विपाकविज्ञान भी होता है; किन्तु जब क्लेश विनष्ट हो जाते हैं, तब उसका 'आलयांश' नष्ट हो जाता है, केवल विपाकांश अवशिष्ट रहता है। योगचारभूमि के विनिर्णयसंग्रह में आर्य असंग ने आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान के अस्तित्व में चतुष्कोटि प्रदर्शित की है, यथा—मूर्च्छावस्था, मिद्धावस्था, आसंज्ञिकावस्था, असंज्ञिसमापत्ति एवं निरोधसमापत्ति—इन पाँच अचित्तक अवस्थाओं में आलय-विज्ञान तो होता है, किन्तु प्रवृत्तिविज्ञानों की प्रवृत्ति नहीं होती[2]—यह प्रथम कोटि है।

---

१. आवज्रोपमनिःशेषमव्युच्छिन्नं प्रवर्तते—

द्र०—परि० का० १७ पृ० ३१७।

२. तुल०—मनोविज्ञानसम्भूतिः सर्वदाऽऽसंज्ञिकादृते।

समापत्तिद्वयान्मिद्धान्मूर्च्छनादप्यचित्तकात् ॥—

त्रिं० का० १६ पृ० २५३।

चेतन अवस्थाओं में अशैक्ष (अर्हत्) की अवस्था तथा अवैवर्तिक बोधिसत्त्व (आठवीं भूमि और उससे आगे) की अवस्थाओं में प्रवृत्तिविज्ञानों की प्रवृत्ति तो होती है; किन्तु आलयविज्ञान का अस्तित्व नहीं होता। यह दूसरी कोटि है।

इन अवस्थाओं को छोड़कर अवशिष्ट जितनी भी चेतन अवस्थायें हैं, उन उन सब में आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान दोनों का अस्तित्व होता है। यह तीसरी कोटि है।

अवैवर्तिक बोधिसत्त्व आदि जब निरोधसमापत्ति में स्थित होते हैं, उस अवस्था में तथा निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में दोनों का अस्तित्व नहीं होता। यह चौथी कोटि है।

इससे बिलकुल स्पष्ट होता है कि बोधिसत्त्व की आठवीं भूमि और उससे ऊपर की अवस्था में तथा (अर्हत्) की अवस्था में आलयविज्ञान नहीं होता; फिर भी विपाकविज्ञान अवश्य होता है। त्रिंशिका में भी "तस्य व्यावृत्तिरर्हत्वे[1]"—के अवसर पर संक्षेप में उक्त बात कही गयी है। फलतः अर्हत् आदि की अवस्था में जो विपाकविज्ञान होता है, वह आदानविज्ञान कहा जा सकता है; किन्तु आलय-विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

[इस स्थल पर अर्हत् अवस्था का स्वरूप तथा बौद्ध सिद्धान्तवादियों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि) के तद्विषयक मतभेद आदि की चर्चा करना प्रासङ्गिक था तथा आचार्य चोंखापा जी ने यहाँ इस पर प्रकाश डाला भी है; किन्तु त्रिंशिका की टीका में हमने यत्रतत्र थोड़ा-बहुत संकेत कर दिया है, अतः पुनरुक्ति और विस्तार के भय से हम वह प्रसंग छोड़ रहे हैं।]

निष्कर्ष—योगाचार विज्ञानवादी मत में आलयविज्ञान एक चित्त है। नित्य और अनित्य धर्मों में से वह अनित्य धर्म है। संस्कृत और असंस्कृत धर्मों में से वह संस्कृत धर्म है। परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न—इन तीन लक्षणों में से वह परतन्त्रलक्षण है। कल्पना और प्रत्यक्ष दोनों में से वह प्रत्यक्ष है तथा प्रमाण और अप्रमाण इन दोनों में से वह अप्रमाण की कोटि में आता है। संसार और मोक्ष इन में से वह संसारपाक्षिक है।

यहाँ तक आधारभूत विपाकालय तथा आधेयभूत बीजालय के कतिपय कठिन स्थलों का विचार समाप्त होता है।

---

१. द्र०—त्रिं० का० ५ पृ० १६३।

क्लिष्ट मनोविज्ञान का स्वरूप

लक्षण—

क्लिष्टस्य मनसः पुनः ।

द्रष्टृत्वं च विपाकांशस्यात्मत्वेन तु लक्षणम् ॥३०॥

निवृताव्याकृते तत्र स्पर्शरागादयो नव ।

निम्न चार बातों द्वारा क्लिष्टमनोविज्ञान का लक्षण स्पष्टतया जाना जा सकता है, यथा —क. आलम्बन, ख. आकार, ग. स्वभाव और घ. परिवार।

क. आलम्बन—आलयविज्ञान का जो विपाकांश है, वह क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन होता है। उसका बीजांश आलम्बन नहीं होता; क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान का आलम्बन होने के लिये आत्मा से तुल्यता (समानता) आवश्यक होती है और वह तुल्यता विपाकांश में ही होती है, बीजांश में नहीं।

ख. आकार—आलयविज्ञान को आलम्बन बनाकर आत्मा का अभिनिवेश करना, क्लिष्ट मनोविज्ञान का आकार है। यहाँ आलम्बन का तात्पर्य आधार होने से है, न कि प्रतिभासित होने से है; क्योंकि आलयविज्ञान क्लिष्ट मनोविज्ञान को कभी प्रतिभासित नहीं होता। केवल उसके बल से आत्मा की भ्रान्ति होती है।

ग. स्वभाव—क्लिष्ट मनोविज्ञान का स्वभाव निवृताव्याकृत है। क्लिष्ट उसे कहते हैं, जो क्लेशों से मलिन हुआ करता है। क्लिष्ट मनोविज्ञान आत्मदृष्टि आत्ममोह, आत्ममान एवं आत्मस्नेह नामक चार क्लेशों से मलिन या दूषित होता है, अतः यह क्लेशों से आवृत के अर्थ में 'निवृत' कहलाता है।

यह अव्याकृत भी है; क्योंकि कुशल या अकुशल के रूप में इसका व्याकरण (व्याख्यान) नहीं किया जा सकता। क्लिष्ट होने के कारण यह कुशल नहीं हो सकता। कुशल चित्तों के साथ युगपद् एवं साक्षात् प्रवृत्त होने के कारण अकुशल भी नहीं हो सकता। यदि यह एकान्तेन अकुशल माना जायगा तो पृथग्जनों की सन्तति में कुशल चित्त के उत्पाद का कभी अवसर ही नहीं रहेगा।

घ. परिवार—क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार में स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना—ये पाँच सर्वत्रग चैतसिक[1] तो होते ही हैं, इनके अतिरिक्त आत्मदृष्टि, अविद्या (मोह), मान एवं राग—ये चार क्लेश चैतसिक भी सदा विद्यमान रहते हैं। इस तरह कुल नौ चैतसिक क्लिष्ट मनोविज्ञान से सदा सम्प्रयुक्त रहते हैं। क्लिष्ट मनोविज्ञान के इस लक्षण को आचार्य वसुबन्धु ने त्रिंशिका में इस प्रकार व्यक्त किया है—

तदालम्बं मनोनाम विज्ञानं मननात्मकम्।
क्लेशैश्चतुर्भिः सहितं निवृताव्याकृतैः सदा॥
आत्मदृष्ट्यात्ममोहात्ममानात्मस्नेहसंज्ञितैः।
यत्रजस्तन्मयैरन्यैः स्पर्शाद्यैश्च ... ...॥[2]

क्लिष्ट मनोविज्ञान के परिवार में जो वेदना होती है, वह सर्वथा उपेक्षा वेदना ही होती है। यदि सुख वेदना से सम्प्रयोग माना जायगा तो पृथग्जनों की सन्तान में सर्वदा सौमनस्य (मानसिक सुखानुभूति) होने का प्रसंग होगा। फलतः उनकी सन्तान में दौर्मनस्य (मानसिक दुःखानुभूति) उत्पन्न होने का अवसर ही न रहेगा। अपिच—चतुर्थ ध्यान से ऊपर और अवीचि नरक में भी उनके सौमनस्य से अभिभूत होने का प्रसंग होगा, जो सर्वथा अयुक्तिसंगत है। इसी न्याय से क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ दुःख वेदना का सम्प्रयोग भी युक्तियुक्त नहीं है। फलतः क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ उपेक्षा वेदना ही सम्प्रयुक्त हो सकती है।

इसके परिवार में नौ चैतसिक ही क्यों माने जाते हैं? विक्षेप, प्रमाद आदि क्या उससे सम्प्रयुक्त नहीं होते?

वे उसके परिवार में अवश्य संगृहीत हैं; किन्तु वे स्वतन्त्र चैतसिक न होकर मूल क्लेशों में ही यथायोग्य प्रज्ञप्त हैं। विक्षेप मान (अहंकार) में, प्रमाद राग और मोह में, औद्धत्य राग में तथा अश्रद्धा, कौसीद्य और स्त्यान मोह में प्रज्ञप्त हैं। द्रव्य चैतसिकों में से उपर्युक्त नौ ही क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त हो सकते हैं। अवशिष्ट विक्षेप आदि छह चैतसिक तो प्रज्ञप्तिचैतसिक हैं।

अब यह विचार प्रस्तुत है कि व्यक्ति जिस धातु का होता है, क्या उसका क्लिष्ट मनोविज्ञान भी उसी धातु का होता है? उदाहरणार्थ यदि व्यक्ति कामधातु

१. इन पाँचों के स्वरूपावबोध के लिये द्रष्टव्य—त्रिं० का० ३, पृ० १४६ और उसकी गू० टी० व्याख्या।

२. द्र०—त्रिंशिका का० ५—७ पृ० १६७-१७५।

का है तो क्या उसका क्लिष्टमनोविज्ञान भी कामधातु का है और यदि व्यक्ति रूपधातु या अरूपधातु का है तो क्या उसका क्लिष्ट मनोविज्ञान भी तत्तद् धातुओं का है? यदि ऐसा है तो कामधातु का कोई पुद्गल कामधातु से विरक्त होकर जब ध्यानसमापत्ति प्राप्त कर लेता है, तो भी उसकी सन्तान में कामक्लेशों की साक्षात् प्रवृत्ति का प्रसंग होगा; क्योंकि उस समय उसका क्लिष्ट मनोविज्ञान तो निवृत्त हुआ नहीं है, साथ ही वह कामधातु के क्लेशों से युक्त है?

व्यक्ति जिस धातु का है, क्लिष्ट मनोविज्ञान यदि उस धातु का नहीं होता; अपितु अन्य धातु का होता है, तो "यत्रजस्तन्मयैः"[1] (अर्थात् व्यक्ति जिस धातु का होता है, क्लिष्ट मनोविज्ञान उसी धातु के क्लेशों से युक्त होता है)—इस सिद्धान्त से विरोध होगा?

ऊपर जिन दो पक्षों को उपस्थित किया गया है, उनमें से हमें द्वितीय पक्ष स्वीकार नहीं है; क्योंकि उसे मानने पर सिद्धान्तविरोध होता है, साथ ही वह पक्ष युक्तिहीन भी है। प्रथम पक्ष हमें स्वीकार है। उसे मानने पर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिखलाये हैं, वस्तुतः वे दोष उस पक्ष में हैं नहीं। कामधातु का पृथग्जन जब कामक्लेशों से विरक्त होता है, तब शमथ के बल से उसमें दौर्मनस्य का समुदाचार नहीं होता। पांच कामवस्तुओं के प्रति उद्भूत राग भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता। फलत; वह उनसे सन्तप्त नहीं होता। मैथुनराग से वह सर्वथा विरक्त होता है। इसीलिये वस्तुतः वह कामक्लेशों से विरक्त कहा जाता है। जिन कामक्लेशों से विरक्त होने पर ध्यानसमापत्ति की प्राप्ति हुआ करती है, वे कामक्लेश प्रधानतः मैथुनराग आदि बाह्याभिमुखी कामक्लेश होते हैं। क्लिष्ट मनोविज्ञान के साथ जो राग आदि क्लेश सम्प्रयुक्त होते हैं, वे एकान्तरूप से अन्तर्मुखी क्लेश होते हैं। अतः पूर्वपक्षी द्वारा प्रदर्शित आक्षेप सर्वथा युक्तिरहित हैं।

क्लिष्ट मनोविज्ञान कब निवृत्त होता है?

समाहिते निरोधे तु तस्य तात्कालिकः क्षयः ।। ३१ ।।
वशिनश्चार्हतश्चैव सर्वथा क्षय उच्यते ।।

क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति दो प्रकार की होती है, यथा—तात्कालिकी या अस्थायी निवृत्ति तथा आत्यन्तिक या स्थायी निवृत्ति। आर्यों की समाहित

---

१. द्र०—त्रिं० का० ७ पृ० १७५।

अवस्था में तथा निरोधसमापत्ति के काल में क्लिष्ट मनोविज्ञान की तात्कालिक निवृत्ति होती है। अर्थात् आर्य जब तक समाहित अवस्था में स्थित रहता है अथवा निरोधसमापत्ति में समापन्न रहता है, तब तक उसमें क्लिष्ट मनोविज्ञान निवृत्त रहता है। यह निवृत्ति तात्कालिक या अस्थायी निवृत्ति है; क्योंकि इन अवस्थाओं से व्युत्थित होने पर पुनः क्लिष्ट मनोविज्ञान प्रवृत्त होने लगता है।

वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व जो आठवीं भूमि में स्थित है, उसमें तथा वहाँ से से लेकर बुद्धावस्था तक की सभी अवस्थाओं में क्लिष्ट मनोविज्ञान का समुदाचार बिलकुल नहीं होता। श्रावक और प्रत्येकबुद्धों की अर्हत् अवस्था में भी क्लिष्ट मनोविज्ञान सर्वथा प्रवृत्त नहीं होता। यह निवृत्ति आत्यन्तिकी अथवा स्थायी है; क्योंकि फिर कभी उनमें क्लिष्ट मनोविज्ञान उत्पन्न नही होता। क्लिष्ट मनोविज्ञान की इन निवृत्तिसीमाओं का व्याख्यान त्रिंशिका में निम्न प्रकार से किया गया है—

अर्हतो न तत्।
न निरोधसमापत्तौ मार्गे लोकोत्तरे न च[1]॥

जब हम मन की चर्चा करते हैं तो यह ध्यान में रखना चाहिये कि मन दो प्रकार का होता है, यथा—अहम्बोधक मन तथा समनन्तरमन। दोनों को क्रमशः वास्तविक (पारमार्थिक) मन और व्यावहारिक (सांवृतिक) मन भी कह सकते हैं। प्रथम मन अत्यन्त आध्यात्मिक (भीतरी) होता है और इसकी प्रक्रिया भीतर ही भीतर गुप्तरूप से चलती रहती है, जिसका बोध हमारी सामान्य चेतना द्वारा नहीं हो पाता। इसकी वजह से हमारे चक्षुर्विज्ञान आदि षड्विज्ञानगण प्रपञ्च में फँस जाया करते हैं तथा क्लेश एवं सास्रव धर्मों की अभिवृद्धि होती रहती है। यह मन एक प्रकार से षड्विज्ञानों का आधार होता है और यही शास्त्रों में 'क्लिष्ट मनोविज्ञान' कहा गया है। द्वितीय मन चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों का समनन्तर-प्रत्यय हुआ करता है और इसी से भावी कल्पनाओं का प्रादुर्भाव हुआ करता है। फलतः विभिन्न कल्पना-बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी को हम 'षष्ठ मनोविज्ञान' कहते हैं। इन दोनों का भेद अवश्य समझ लेना चाहिये, अन्यथा दोनों को एक समझने का भ्रम हो सकता है।

---

१. द्र०—त्रिं० का ७ पृ० १७७।

यदि वशित्वप्राप्त बोधिसत्त्व, अर्हत् एवं आर्यों के समाहित ज्ञान की अवस्था में क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता है तो आपके मत में दो दोष उपस्थित होंगे। पहला यह कि उन अवस्थाओं में मन भी प्रवृत्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसका अधिपतिप्रत्यय क्लिष्ट मनोविज्ञान है, जो निवृत्त हो गया है। दूसरा यह कि उन अवस्थाओं में 'समताज्ञान' की प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा, जो कि बुद्धावस्था में ही होता है; क्योंकि क्लिष्ट मनोविज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसकी अगली धारा समताज्ञान ही होती है और किसी भी ज्ञान की जातिधारा समाप्त नहीं हुआ करती है ?

समाधान—

क्लिष्टत्वस्थापकस्यात्मग्राहस्यापि निवर्तने ।।३२।।
तज्जातिमात्रसद्भावाद् धर्मग्राहानिवृत्तितः ।
मनोऽभावे समज्ञाने दूषणं नोपपद्यते ।।३३।।

व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का क्रमशः विकास करता हुआ जब आर्यावस्था प्राप्त कर लेता है और समाहित अवस्था में स्थित होता है, उस समय वह केवल नैरात्म्य का साक्षात्कार करता है। उस समय लोकोत्तर समाधि के बल से उसमें आत्मदृष्टि आदि क्लेश प्रवृत्त नहीं होते। अर्थात् समाहित अवस्था में वे क्लेश निवृत्त हो जाया करते हैं। अर्हत् अवस्था में तो सभी क्लेश सर्वदा के लिये सर्वथा समाप्त हो जाते हैं। फलतः इन अवस्थाओं में क्लेशों का होना बिलकुल सम्भव नहीं है। आत्मदृष्टि, अविद्या आदि क्लेश ही प्रधानतः क्लेश हैं। इनसे सम्प्रयोग के कारण ही क्लिष्ट मनोविज्ञान का 'क्लिष्ट' यह विशेषण सार्थक होता है। उपर्युक्त अवस्थाओं में क्लेशों के निवृत्त हो जाने से वह सत्तम मनोविज्ञान क्लिष्ट तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु मनोविज्ञानांश की विद्यमानता में कोई आपत्ति नहीं है।

ज्ञातव्य है कि समस्त बौद्धों में क्लेश आगन्तुक माने जाते हैं। वे चित्त के स्वभावगत धर्म नहीं हैं। उपमा द्वारा इसे यों समझा जा सकता है—कालापन कोयले का स्वभावगत धर्म है और श्वेत वस्त्र पर लगी हुई कालिमा (मैल) वस्त्र का आगन्तुक मल है। कोयले की कालिमा को किसी प्रक्रिया द्वारा कोयले से पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु वस्त्र के मैल को जल आदि उपकरणों द्वारा वस्त्र से पृथक् किया जा सकता है। कोयले से कालिमा को समाप्त करने में कोयले

को स्वयं समाप्त होना पड़ेगा; किन्तु वस्त्र से मैल के हटाये जाने पर भी वस्त्र अवशिष्ट रह जाता है। ठीक इसी प्रकार राग आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाने पर भी चित्त तो अवशिष्ट रहता ही है। उपर्युक्त समाहित आदि अवस्थाओं में यद्यपि उन राग आदि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है, जिनकी वजह से मनोविज्ञान की 'क्लिष्ट मनोविज्ञान' यह आख्या हो जाती है; फिर भी क्लेशरहित मनोमात्र तो अवशिष्ट रहता ही है। वही विविध मानसिक बुद्धियों का अधिपतिप्रत्यय हो सकता है। फलतः आर्यों की समाहित अवस्था एवं अर्हत् आदि की अवस्थाओं में हमारे मत में मनोविज्ञान के अभाव का दोष नहीं है।

उपर्युक्त शैक्ष्य-आर्य की समाहित आदि अवस्थाओं में विद्यमान मन, जिसका क्लिष्ट विशेषण अब समाप्त हो गया है, वह सास्रव है कि अनास्रव ?—इस विषय में योगाचार आचार्यों के द्विविध मत उपलब्ध होते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि शैक्ष्य-आर्य की समाहित आदि अवस्थाओं में सास्रव मन सम्भव नहीं है, अतः अवश्य ही वह अनास्रव मन होता है। दूसरे प्रकार के आचार्यों का अभिमत है कि वह सास्रव मन होता है। सास्रव होने पर भी वह क्लिष्ट नहीं होता। वह सास्रव इसलिये है; क्योंकि भविष्य (पृष्ठलब्ध-अवस्था) में उससे क्लेशों का उत्पाद होता है। ज्ञातव्य है कि उस मन में दो प्रकार की शक्तियाँ निहित होती हैं, यथा—आलयविज्ञान को आत्मा के रूप में ग्रहण कर क्लेशों को उत्पन्न करनेवाली शक्ति तथा विविध विकल्पात्मक बुद्धियों को उत्पन्न करनेवाली शक्ति। पहली शक्ति क्लेशावरण की जनक होती है और उसी की वजह से क्लिष्ट मनोविज्ञान की व्यवस्था होती है। द्वितीय शक्ति ज्ञेयावरण की जनक है तथा वह समाहित और अर्हत् आदि अवस्थाओं में भी विद्यमान होती है। कहने का आशय यह है कि अर्हत् आदि अवस्थाओं में यद्यपि पुद्गलात्मदृष्टि का प्रहाण हो जाता है तथापि उनमें धर्मात्मदृष्टि अभी विद्यमान होती है, फलतः उनमें समताज्ञान की प्राप्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा। समताज्ञान की प्राप्ति तो तब होती है, जब समस्त ज्ञेयावरणों से भी मुक्ति हो जाती है।

सारांश यह है कि वशित्वप्राप्तबोधिसत्त्व, अर्हत् और आर्यों की समाहित अवस्था में यद्यपि क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होता; फिर भी मनोविज्ञान (मनोमात्र) होता है। इसी प्रकार यद्यपि आलयविज्ञान नहीं होता; फिर भी विपाक-विज्ञान होता है।

मुक्त अवस्था में चित्तों की प्रवृत्ति का क्रम चलता रहता है कि नहीं? सभी जीव मुक्त हो सकते हैं कि नहीं? इत्यादि प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इनका समाधान ऊपर वर्णित विचारों पर आधृत हैं। योगाचार शास्त्रों में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा आचार्य चोंखापा ने भी यहाँ इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हमने केवल दिङ्निर्देशमात्र किया है।

२. आलयविज्ञान और क्लिष्टमनोविज्ञान की सिद्धि

क. आलयविज्ञान की सिद्धि—

इन्हें सिद्ध करने के लिये बौद्धों के लिये आगमप्रदर्शन तथा बौद्धेतर लोगों के लिये युक्तियों का प्रदर्शन किया जायगा।

विश्वस्तागमयुक्तिभ्यः षड्विज्ञानातिरिक्तकम्।
सिद्धमालयविज्ञानं मनश्चेत्यवधीयताम्॥ ३४॥

महायान सूत्रों को प्रामाणिक मानते हुये भी जो (महायानी) आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान को स्वीकार नहीं करते, उनके प्रति महायान के विश्वस्त एवं पवित्र आगमों का उद्धरण किया जा रहा है। महायान अभिधर्मसूत्र में उक्त है—

अनादिकालिको धातुः सर्वधर्मसमाश्रयः।
तस्मिन् सति गतिः सर्वा निर्वाणाधिगमोऽपि वा[1]॥

आर्यसन्धिनिर्मोचन की विशालमतिपरिपृच्छा में भी कहा गया है—

आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओधो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बालान एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः[2]॥

इसी तरह लङ्कावतारसूत्र में भी अनेक स्थलों पर आलयविज्ञान का उल्लेख है। योगाचारभूमि की पूर्वटीका में १७ आगमों का उद्धरण किया गया है, जिनमें से सात तो हैनयानिक सूत्र हैं, जिन्हें वे (हीनयानी) लोग भी प्रामाणिक मानते हैं। श्रावकवर्गीय सिद्धान्तवादियों के लिये, जो महायान सूत्रों को प्रामाणिक नहीं मानते महाकौष्ठिल्यसूत्र, महासांघिक सूत्र, स्थविरवादी सूत्र, सर्वास्तिवादी सूत्र,

१. द्र०—त्रिंशिका, पृ० २८२।
२. द्र०—त्रिंशिका, पृ० २४८।

ताम्रपर्णीय सूत्र एवं महीशासक सूत्रों का उल्लेख किया गया है[1]। क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व भी आर्यसन्धिनिर्मोचन एवं सुवर्णप्रभास आदि सूत्रों से स्पष्ट होता है।

युक्तिप्रदर्शन—

विज्ञानवादिशास्त्रेषु साधनानन्त्यमीरितम्।
तथापि तेषां सर्वेषां संग्रहोऽष्टासु दृश्यते ॥ ३५ ॥

उपादानत्वमादित्वं स्पष्टत्वं बीजकर्मणी।
कायविच्च समापत्तेरुपपत्तिश्च्युतिस्तथा ॥ ३६ ॥

इत्येतेषामयोगःस्याद्

योगाचार शास्त्रों में आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान को सिद्ध करनेवाली युक्तियों की सीमा नहीं है। अर्थात् अनन्त युक्तियों का प्रयोग किया गया है। फिर भी हम उनका संक्षेप में संग्रह कर सकते हैं। महायानसंग्रह में आलय न मानने पर क्लेश, कर्म एवं उपपत्ति-सांक्लेशिक धर्मों के अभाव का तथा लौकिक एवं अलौकिक वैयवदानिक धर्मों के अभाव का प्रसंग दिया गया है। इन प्रसंगों की उपशाखायें तो अपरिमित हैं। पंचस्कन्धप्रकरण में मुख्यतः चार युक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका एवं योगाचारभूमि की टीका में अनेक युक्तियाँ उल्लिखित हैं। विनिर्णयसंग्रह[2] में मुख्यतः आठ युक्तियाँ दिखलायी गयी हैं। इन्हीं में प्रायः समस्त युक्तियों का संग्रह हो जाता है। अतः हम यहाँ उन्हीं आठ युक्तियों का निरूपण प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. उपादान का अयोग—यदि आलयविज्ञान न होगा तो क्लिष्ट मनोविज्ञान भी न हो सकेगा। फलतः चक्षुर्विज्ञान आदि षड् विज्ञानों को ही उपादान का ग्रहण करना होगा। अर्थात् जन्मग्रहण करना होगा; किन्तु निम्नलिखित कारणों से वे उपादान का ग्रहण करनेवाले विज्ञान नहीं हो सकते।

क. षड् विज्ञान पूर्व जन्म के कर्मों के विपाक नहीं हैं; अपितु वे आध्यात्मिक इन्द्रियों एवं बाह्य आलम्बनों पर आश्रित (निर्भर) विज्ञान हैं। वे दिदृक्षा

---

१. दुर्भाग्य से इनमें से बहुत सूत्र आज संस्कृत और तिब्बती में उपलब्ध नहीं है।
२. यह ग्रन्थ योगाचारभूमि का ही एक अंग है।

(देखने की इच्छा), सुश्रूषा (सुनने की इच्छा) आदि समनन्तर-प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं।

ख. षड् विज्ञान प्रतिसन्धि के समय विद्यमान नहीं होते, अपितु प्रतिसन्धि के अनन्तर वर्तमान भव में यथायोग्य अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं।

ग. प्रतिसन्धिविज्ञान को एकान्तरूप से अव्याकृत होना चाहिये, जबकि प्रवृत्तिविज्ञान कुशल और अकुशल भी हुआ करते हैं।

घ. प्रतिसन्धिविज्ञान को अवश्य विपाक होना चाहिये और उसे यावज्जीवन निरन्तर प्रवृत्त होनेवाला होना चाहिये, जब कि प्रवृत्तिविज्ञान यावज्जीवन निरन्तर प्रवृत्त नहीं होते।

ङ. प्रतिसन्धि ग्रहण करनेवाले विज्ञान को सम्पूर्ण देह में व्यापक (व्याप्त रहनेवाला) होना चाहिये, जबकि प्रवृत्तिविज्ञान सम्पूर्ण देह में व्यापक नहीं होते, अपितु देह में उनका स्थान नियत है। फलतः शरीर का वह भाग, जो प्रवृत्तिविज्ञानों से व्याप्त नहीं है, उसे मृतवत् अनुभूत होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता।

च. यदि प्रवृत्तिविज्ञान प्रतिसन्धि ग्रहण करनेवाले विज्ञान मान लिये जायँ, तो एक ही भव (जन्म) में अनेक बार जन्म (प्रतिसन्धि) मानना पड़ जायगा, क्योंकि वे अनेक बार निवृत्त होते हैं और पुनः उत्पन्न होते हैं।

इन सब कारणों से निश्चित होता है कि षड् प्रवृत्तिविज्ञान प्रतिसन्धि ग्रहण करनेवाले विज्ञान नहीं हैं। किन्तु प्रतिसन्धि (जन्म) होती तो अवश्य है, अतः जन्म ग्रहण करनेवाला विज्ञान अवश्य आलयविज्ञान है।

२. आदित्व का अयोग—यह पूर्वपक्षी को दिया गया प्रसङ्ग है। पूर्वपक्षी की मान्यता है कि एक काल में अनेक विज्ञान (दो विज्ञान भी) नहीं हो सकते। यदि आलयविज्ञान माना जायगा, तो एक काल में अनेक विज्ञानों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि आलयविज्ञान तो सर्वदा निरन्तर प्रवृत्त होनेवाला विज्ञान है और प्रवृत्तिविज्ञान भी कभी कभी (प्रत्यय होने पर) प्रवृत्त होते ही हैं। ऐसी स्थिति में जब प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होंगे, तब आलयविज्ञान भी विद्यमान रहेगा, फलतः एक काल में अनेक विज्ञानों की उपस्थिति माननी पड़ेगी, जो अयुक्तियुक्त है।

इस पर योगाचार विज्ञानवादियों का कथन है कि एक काल में अनेक विज्ञानों का अस्तित्व मानना कोई दोष नहीं है; क्योंकि एक साथ अनेक विज्ञानों

की प्रवृत्ति होती ही है। मान लीजिये किसी व्यक्ति के सम्मुख रूप, शब्द आदि छहों आलम्बन समान रूप से विद्यमान हैं और उनमें से किसी भी एक के प्रति उसमें कोई खास आकर्षण नहीं है। अर्थात् समनन्तर प्रत्यय भी समानरूप से विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में आप (पूर्वपक्षी) ही बतलाइये कि किस विज्ञान का उत्पाद सर्वप्रथम होगा? क्योंकि आप एक काल में एक ही विज्ञान का उत्पाद मानते हैं और यहाँ किसी भी एक विज्ञान के पहले उत्पन्न होने का कोई विशिष्ट कारण विद्यमान नहीं है। फलतः आपके मतानुसार कोई भी विज्ञान उत्पन्न न हो सकेगा। हमारे सामने ऐसी परिस्थिति में कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि हम एक काल में अनेक विज्ञानों का उत्पाद स्वीकार करते हैं। किन्तु आपके सामने यह कठिनाई है कि आप यह नहीं बतला सकते कि छह विज्ञानों में कौन विज्ञान पहले होगा। फलतः आलयविज्ञान न मानने पर आपके मत में आदित्व के अयोग का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

३. स्पष्टत्व का अयोग—यह प्रसङ्ग उन लोगों को दिया जा रहा है, जिनके मत में एक काल में (युगपद्) अनेक विज्ञानों को उत्पत्ति नहीं मानी जाती। मनोविज्ञान में रूप आदि धर्मों का आभास कभी तो स्पष्ट होता है और कभी अस्पष्ट। उदाहरणार्थ रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुसरण करनेवाले मनोविज्ञान में रूप का आभास स्पष्ट होता है और अन्य काल में अर्थात् स्मृति आदि के काल में उत्पन्न मनोविज्ञान में रूप का आभास अस्पष्ट होता है। योगाचार विज्ञानवादियों के अनुसार स्मृतिकालिक मनोविज्ञान में रूप का आभास इसलिये अस्पष्ट होता है; क्योंकि उस समय चक्षुर्विज्ञान अतीत हुआ रहता है तथा रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान से उपकृत मनोविज्ञान में रूप का आभास इसलिये स्पष्ट होता है; क्योंकि उस समय चक्षुर्विज्ञान अतीत नहीं रहता। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान के काल में विद्यमान मनोविज्ञान में रूप का आभास स्पष्ट होता है तथा चक्षुर्विज्ञान के काल में अविद्यमान अर्थात् अन्य काल में विद्यमान मनोविज्ञान में रूप का आभास अस्पष्ट होता है। यदि आप (पूर्वपक्षी) रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान का अनुसरण करने वाले मनोविज्ञान के काल में चक्षुर्विज्ञान को अतीत मानते हैं और ऐसा आप इसलिये मानते हैं; क्योंकि आपके यहाँ एक काल में दो विज्ञानों की उपस्थिति अमान्य है, तो ऐसी हालत में इस मनोविज्ञान में और स्मृति के काल में उत्पन्न मनोविज्ञान में कोई फर्क नहीं रहेगा; क्योंकि दोनों मनोविज्ञानों के समय चक्षुर्विज्ञान अतीत है। फलतः दोनों

समय रूप का आभास अस्पष्ट ही रहेगा। परिणामतः चक्षुर्विज्ञान से उपकृत रूपज्ञ मनोविज्ञान में जो रूप का स्पष्ट प्रतिभास हुआ करता है, उस स्पष्टत्व का आपके मत में अयोग होगा। अर्थात् आपके मत में स्पष्टत्व के अयोग का प्रसङ्ग होगा!

४. बीज की असम्भवता—यदि आलयविज्ञान नहीं माना जायगा तो कुशल एवं अकुशल चित्तों के बीज असम्भव हो जायँगे; क्योंकि उनके बीजों का आश्रय नहीं मिलेगा। आलयविज्ञान ही बीजों का आश्रय हो सकता है; क्योंकि वह अव्याकृत होता है, फलतः वह कुशल और अकुशल दोनों के अनुकूल होता है। आलयविज्ञान न मानने पर षड् विज्ञानों को बीजों का आश्रय मानना होगा; किन्तु वे कथमपि आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि वे स्वयं कुशल या अकुशल होते हैं। कुशल चित्त में अकुशल का बीज होना या अकुशल चित्त में कुशल का बीज होना सर्वथा असम्भव है। इत्यादि अनेक दोष पहले भी कहे जा चुके हैं।

५. कर्म की असम्भवता—कर्म का तात्पर्य यहाँ प्रतीति, विज्ञप्ति या चित्त की प्रक्रिया से है। इसके द्वारा यहाँ यह दिखलाने का प्रयत्न कियागया है कि युगपद् अनेक विज्ञानों की उपस्थिति न मानना प्रतीति-विरुद्ध है। यथा जब हम किसी रास्ते से गुजर रहे होते हैं, तो उस समय हमें उस रास्ते की प्रतीति, पाँवों के उठाने और रखने की प्रतीति तथा उस रास्ते के दायें-बायें स्थित अन्य सत्त्व और पदार्थों की प्रतीति युगपद् होती है—यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अनेक विज्ञानों की युगपद् अवस्थिति न मानने पर उक्त प्रतीति का अभाव होगा। फलतः आलयविज्ञान मानने पर अनेक विज्ञानों की युगपद् उपस्थिति हो जाने का जो दूषण पूर्वपक्षी ने दिया था, वह दूषण ही नहीं है।

६. कायवेदना की असम्भवता—मनोविज्ञान जिस समय समाहित अवस्था में स्थिति होता है या किसी किसी अन्य पाप विषय में प्रवृत्त रहता है, उस समय सारे शरीर में एक व्यापक वेदना की अनुभूति होती है। प्रश्न है, उस व्यापक वेदना का आश्रय कौन है? मनोविज्ञान उसका आश्रय हो नहीं सकता; क्योंकि मनोविज्ञान उस समय या तो अन्तर्मुख होता है या अन्य विषय में प्रवृत्त रहता है। उसके लिये वह सम्भव नहीं है कि एक ओर तो वह अपने विषय का ग्रहण करता रहे और दूसरी ओर वेदना को भी आश्रय प्रदान कर सके। आलयविज्ञान न माननेवालों के पक्ष में आश्रय के न होने से उस समय कायिकी वेदना के अभाव

का प्रसङ्ग होगा। हमारे (योगाचार) मत में आलयविज्ञान ही उस वेदना का आश्रय होता है। अतः आलयविज्ञान अवश्य मानना चाहिये।

७. समापत्ति की अनुपपत्ति—असंज्ञिसमापत्ति एवं निरोधसमापत्ति की अवस्था में पुद्गल की मृत्यु तो नहीं हो जाती; अपितु वे जीवित होते हैं। प्रश्न है कि यदि उस समय आलयविज्ञान नहीं होता है तो वे जीवित कैसे है? क्योंकि उस समय षड् विज्ञान तो निरुद्ध रहते हैं। केवल षड् विज्ञान माननेवालों के मत में उस समय किसी विज्ञान के न होने से पुद्गल जीवित नहीं रह सकता। यदि व्यक्ति जीवित है, तो उक्त दोनों समापत्तियां उपपन्न नहीं हो सकतीं। हमारे (योगाचार) मत में उक्त समापत्तियों की अवस्था में आलयविज्ञान विद्यमान होता है, अतः व्यक्ति जीवित रहता है और समापत्तियां भी उपपन्न होती हैं। अतः आलयविज्ञान अवश्य माना जाना चाहिये।

८. च्युति की अनुपपत्ति—जिस समय व्यक्ति की मृत्यु होती है, उस समय अर्थात् मरणासन्न काल में शरीर की ऊष्मा क्रमशः संकुचित होती है। ऐसा नहीं होता कि सारे शरीर की ऊष्मा एक क्षण में ही समाप्त हो जाती हो। शारीरिक ऊष्मा एवं वेदना का क्रमशः विसर्जन करनेवाला विज्ञान ही हो सकता हैं, जड पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते। विज्ञान में भी चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रियविज्ञान यह कार्य नहीं कर सकते; क्योंकि वे सम्पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं होते; अपितु शरीर में उनका अपना नियत स्थान होता है। यदि चक्षुरादिविज्ञान ऊष्मा और वेदना के आधार माने जायँगे या उनका (ऊष्मा और वेदना का) विसर्जन करनेवाले माने जायँगे, तो जीविताबस्था में भी वे स्थान मृतवत् प्रतीत होने चाहिये, जो (स्थान) चक्षुरादिविज्ञानों से व्याप्त नहीं हैं; किन्तु ऐसा नहीं होता। मनोविज्ञान भी सम्पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं है तथा मूर्च्छा आदि की अवस्था में जब कि मनोविज्ञान नहीं रहता, उस समय भी शारीरिक ऊष्मा का अभाव नहीं होता। अतः यह निश्चित होता है कि षड् विज्ञान मरणावस्था में शरीर का त्याग करनेवाले विज्ञान नहीं हैं। आलयविज्ञान ही सम्पूर्ण शरीर में व्यापक एकमात्र विज्ञान है। जिन कर्मों द्वारा वह (आलयविज्ञान) प्रक्षिप्त किया जाता है, उन कर्मों की शक्ति के क्षीण हो जाने पर उस (आलयविज्ञान) का शरीर में रहना असम्भव हो जाता है। शरीर के जिस अंग में आलयविज्ञान नहीं रह पाता, वह अंग वेदना और ऊष्मा से रहित हो जाता है। जिस क्रम से आलयविज्ञान शरीर

के अंगों का त्याग करता है, उसी क्रम से वे वे अंग ऊष्मा और वेदना से रहित होते जाते हैं। अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण शरीर ऊष्मा एवं वेदना से रहित हो जाता है और मृत्यु हो जाती है। इस विवेचन से यह सुनिश्चित प्रतीत होता है कि आलय-विज्ञान का अस्तित्व है।

उपर्युक्त आठ युक्तियों द्वारा आलयविज्ञान की सिद्धि की गयी है। उनमें से प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम युक्ति द्वारा आलयविज्ञान न मानने पर पूर्वपक्षी को प्रसङ्ग (आक्षेप) देते हुए आलयविज्ञान मानने की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है तथा अवशिष्ट द्वितीय, तृतीय एवं पञ्चम युक्ति द्वारा पूर्वपक्षियों द्वारा प्रदत्त आक्षेपों का समाधान दिया गया है। इस प्रकार इन अवशिष्ट युक्तियों द्वारा परम्परया आलयविज्ञान की सिद्धि की गयी है। गूढार्थटीका आदि योगाचार शास्त्रों में एक एक युक्ति अनेकों प्रकार से प्रस्तुत की गई है तथा एक एक युक्ति की भी अनेक शाखायें प्रस्तुत की गयी हैं, जो पठनीय, मननीय एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

क्या आलयविज्ञान केवल महायानसूत्रों में ही उल्लिखित है या हैनयानिक सूत्रों में भी उसका उल्लेख समुपलब्ध है?

आलयः समुदीरितः।
हीनयानेऽपि शास्त्रेष्वासंसारस्कन्धमालयः ॥३७॥
भवाङ्गं मूलविज्ञानं पर्यायैर्विविधैरिति।

महायान सूत्रों में ज्ञेयस्थान, आदानविज्ञान आदि विभिन्न नामों से आलयविज्ञान सम्पूर्ण लक्षणों के साथ उपदिष्ट है। केवल महायान सूत्रों में ही नहीं, श्रावकवर्गीय सूत्रों में भी आलयविज्ञान दूसरे दूसरे पर्यायों द्वारा निर्दिष्ट है। यथा—एकोत्तरागम के तथागतोद्भवचतुरनुशंसासूत्र में उल्लिखित है कि लोक में तथागत के उत्पाद का यही उद्देश्य या महत्त्व है कि वे आलय के प्रति स्नेह (आसक्ति) रखनेवाले जीवों को उसके त्याग का उपदेश करते हैं, जिसे सुनकर और तदनुकूल आचरण करके वे अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेते हैं। इस पर्याय द्वारा भगवान् ने श्रावकवर्गीय पिटक में आलयविज्ञान की ओर संकेत किया

है[1]। महासांघिक आगम में 'मूलविज्ञान' इस नाम से आलयविज्ञान निर्दिष्ट है; क्योंकि 'आलयविज्ञान' सभी चित्त-चैतसिकों का मूल होता है। महीशासक आगम में यह (आलयविज्ञान) यावत्संस्कारस्कन्ध, आसंसारस्कन्ध या संसारकोटिनिष्ठ स्कन्ध नाम से संकेतित है; क्योंकि यह संसार की समाप्ति तक प्रवर्तमान होता रहता है। स्थविरवादी आगम में यही 'भवाङ्ग' नाम से उपदिष्ट है। फलतः ज्ञेयस्थान, आदानविज्ञान, आलयविज्ञान, मूलविज्ञान, यावत्संसारस्कन्ध एवं भवाङ्ग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। ऐसा होने पर भी जैसे महायानसूत्रों में आलयविज्ञान का सांगोपांग वर्णन उपलब्ध है, वैसे तत्तद् आगमों में उसके लक्षण, स्वरूप, क्रिया आदि पूर्णतः उपदिष्ट नहीं हैं। हैनयानिक आगमों में उसके पूर्णतः स्वरूप प्रकट करने की आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि एक तो वहाँ उसका कोई उपयोग नहीं है, दूसरे उससे हानि की भी सम्भावना है।

आलयविज्ञान के सांगोपांग स्वरूप का निरूपण समस्त ज्ञेय धर्मों के सम्यग् अवबोध के लिये किया जाता है, जब कि श्रावक को अपना लक्ष्य सिद्ध करने के लिये समस्त सूक्ष्म ज्ञेयों के अवबोध की आवश्यकता ही नहीं है। वह तो कुछ ही गाथाओं या कारिकाओं के अभ्यास या आनुभाव से अपने क्लेशों को समाप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, जैसे कि अर्हत् लघुपथिक ? ने दो, तीन कारिकाओं के आनुभाव से मुक्ति प्राप्त कर ली थी।

हानि की सम्भावना ऐसी है कि यदि श्रावकयानियों को यह बतला दिया जाय कि "आलयविज्ञान ही समस्त धर्मों के बीजों का आश्रय है। वही समस्त भाजन एवं सत्त्व का हेतु है। वही यावत्संसार निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है तथा बन्ध और मोक्ष सबका आधार है" तो निश्चय ही वे यह समझने लगेंगे कि आलयविज्ञान आत्मा है[2]। ऐसी स्थिति में या तो वे वक्ता के प्रति अश्रद्धालु होकर

---

१. तु०—तथागतस्स भिक्खवे, अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स पातुभावा चत्तारो अच्छरिया अब्भुता धम्मा पातुभवन्ति। कतमे चत्तारो ? आलयारामा भिक्खवे, पजा आलयरता आलयसमुदिता; सा तथागतेन अनालये धम्मे देसियमाने सुस्सूसति सोतं ओदहति अञ्ञा चित्तं उपट्ठपेति...—अं० नि०, द्वि० भा० (दुतियतथागतअच्छरियसुत्तं), पृ० १३८।

२. द्र०— आदानविज्ञानगभीरसूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्वबीजो।
बालान एषो मयि न प्रकाशितो मा हैव आत्मा परिकल्पयेयुः॥
—आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र।

उसके द्वारा उपदिश्यमान धर्म के श्रवण से विरत हो जायेंगे या फिर आत्मवादी बन जायेंगे। इस अनिष्ट सम्भावना को दृष्टि में रखकर उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने हैनयानिक पिटकों में आलयविज्ञान का संकेत तो किया; किन्तु उसके सम्पूर्ण स्वरूप का प्रदर्शन नहीं किया।

महायान के विनेय जन बोधिसत्त्व होते हैं, जिनका लक्ष्य सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होता है। समस्त सूक्ष्म ज्ञेयों का अवबोध बिना किये उनका वह लक्ष्य सिद्ध ही नहीं हो सकता। अतः उनके लिये आलयविज्ञान का स्वरूप बतलाना जरूरी था और उनके लिये इसका उपयोग भी है। बोधिसत्त्व को जब आलयविज्ञान का सम्यक् स्वरूप दिखलाया जाता है, तो इससे उनके नैरात्म्यज्ञान में प्रकर्ष ही आता है, आत्मदृष्टि में पतित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है कि महायानसूत्रों में आलयविज्ञान का विस्तारपूर्वक सम्यक् प्रतिपादन उपलब्ध होता है।

तथा निरूपितोऽप्येष मित्रवामनघोषकैः ॥३८॥
स्कन्धवेदनसत्कायदृष्ट्यभिप्रायतो मतः।

एकोत्तरागम आदि आगमों में संकेतित आलयविज्ञान का अभिप्राय भी तत्तद् आचार्यों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न समझा है। भदन्त वसुमित्र का कहना है कि "आलयरामा भिक्खवे, पजा आलयरता आलयसमुदिता" में प्रयुक्त 'आलय' का तात्पर्य पाँच उपादान स्कन्धों से है। भदन्त वामन कहते हैं कि उक्त सूत्र का अभिप्राय सास्रव सुखा वेदना से है तथा भदन्त घोषक का कहना है कि सूत्र का अभिप्राय सत्कायदृष्टि से है।

उक्त आचार्यों ने पूर्वोक्त सूत्र का अभिप्राय जैसा प्रकट किया है, क्या वैसा अभिप्राय महायान मत में भी मान्य है?

अधोयानमतेनार्थो न्याय्यो युक्तस्तथापि सः ॥३९॥
महायानागमादौ त्वालयविज्ञानमेव हि।
तथार्थाधिगतौ सर्वं चतुरस्रं प्रजायते ॥४०॥
वसुमित्रादिभिः प्रोक्ते यतोऽर्थो दोषदूषितः।

अधोयानिक विनेयजनों में वह पात्रता ही नहीं है कि उन्हें आलयविज्ञान का यथावत् स्वरूप दिखलाया जाय। अतः उन्हे आलयविज्ञान अज्ञात है। फलतः उक्त आचार्यों द्वारा 'आलय' का अन्यथा अर्थ करना स्वाभाविक है। अर्थात् ऐसा करने में उनका अधिक दोष नहीं है। हैनयानिक दृष्टि से किसी तरह ठीक होने पर भी माहायानिक दृष्टि से उक्त तीनों भदन्तों का मत दोष से बाहर नहीं है। क्योंकि आलयविज्ञान मानने में कहीं पर भी कोई भी अड़चन या परेशानी नहीं है। अर्थात् आलयविज्ञान मानने पर ऐसी कोई समस्या या आपत्ति नहीं खड़ी होती, जो असमाधेय हो। बल्कि सारी समस्याओं का सन्तोषजनक समाधान हो जाता है। महायान के विनेयजन बोधिसत्त्व हैं और उन्हें आलयविज्ञान के प्रति किसी तरह का मोह भी नहीं है। अतः उनके लिये 'आलय' का अभिप्राय 'आलय-विज्ञान' स्वीकार करना युक्तियुक्त एवं उचित है।

ख. क्लिष्ट मनोविज्ञान की सिद्धि—

युक्तिप्रदर्शन—

यदि क्लिष्टं मनो न स्यादभावश्च प्रसज्यते ॥४१॥
आवेणिक्या अविद्यायाः समतायाश्च पञ्चभिः।
समापत्तिविशेषस्य व्युत्पत्तीनां च सर्वशः ॥४२॥
असंज्ञिसत्त्वसन्ताने चाहंदृष्टेर्हि सर्वदा।
अहम्बोधस्य तस्माद् वै मनः क्लिष्टं च गृह्यताम् ॥४३॥

क्लिष्ट मनोविज्ञान न मानने पर निम्न छह अभावों का प्रसंग उपस्थित होता है, यथा—१. आवेणिक अविद्या का अभाव, २. पांच इन्द्रिय विज्ञानों के साथ मनोविज्ञान की सदृशता का अभाव, ३. दोनों समापत्तियों में विशेष (भेद) का अभाव, ४. व्युत्पत्ति का अभाव, ५. असंज्ञिसत्त्व की सन्तान में अहंदृष्टि का अभाव एवं ६. हमेशा अहम्बोध होते रहने का अभाव। अब यहाँ उक्त छह अभाव-प्रसङ्गों का कुछ विशदीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. आवेणिकी अविद्या का अभाव—आवेणिक का तात्पर्य 'अमिश्रित' से है। हम साधारण पृथग्जन अनात्म या नैरात्म्य का साक्षात्कार करने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं; क्योंकि कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत चित्त-चैतसिकों की सभी

अवस्थाओं में हमें सदा आत्मा का आभास होते रहता है। इससे प्रतीत होता है कि एक ऐसी अविद्या है, जो हमारी सन्तति में सर्वदा विद्यमान रहती हैं। वह अविद्या का एक चैतसिक है, अतः उसे अवश्य किसी चित्त से सम्प्रयुक्त रहना चाहिये। चक्षुर्विज्ञान आदि षड् विज्ञान के साथ तो वह सम्प्रयुक्त हो नहीं सकती, आलय-विज्ञान के साथ भी उसका सम्प्रयुक्त होना असम्भव है। अतः एक ऐसा विज्ञान होना चाहिये, जिसके साथ वह सम्प्रयुक्त हो सके। वह विज्ञान क्लिष्ट मनोविज्ञान ही हो सकता है।

इस अविद्या के आवेणिक होने में आचार्यों में मतभेद है। भदन्त निःस्वभाव का कहना है कि यह अविद्या केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान पर ही आश्रित होती है, अन्य विज्ञानों पर नहीं; अतः यह आश्रयतः आवेणिक है। आचार्य गूढार्थ का मन्तव्य है कि इसकी शक्ति से ही अन्य क्लेश आनीत हो सकते हैं, अन्य ज्ञानों से नहीं; अतः यह शक्तितः आवेणिक है। इन दोनों मतों में से आचार्य चोंखापा प्रथम मत को पसन्द करते हैं। अतः आवेणिक का तात्पर्य आश्रयतः आवेणिक से है। अर्थात् इस अविद्या का आश्रय अमिश्रित या असाधारण है। वह कभी अन्य को आश्रय नहीं बनाती। सर्वदा क्लिष्ट मनोविज्ञान पर ही आश्रित रहती है। क्योंकि उक्त अविद्या केवल क्लिष्ट मनोविज्ञान से ही सम्प्रयुक्त होती है, अन्य विज्ञानों से कथमपि सम्प्रयुक्त नहीं होती। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जायगा, तो उक्त अविद्या के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा।

२. पांच इन्द्रियविज्ञानों के साथ मनोविज्ञान की सदृशता का अभाव—

जिस प्रकार पाँच इन्द्रियविज्ञानों के आश्रय केवल अतीत ही नहीं होवे; अपितु समकालीन आश्रय भी होते हैं; ठीक उसी प्रकार मनोविज्ञान का आश्रय भी अतीत एवं समकालीन इस तरह द्विविध होना चाहिये। ऐसा होने पर क्लिष्ट मनोविज्ञान अपने-आप सिद्ध हो जाता है; क्योंकि मनोविज्ञान का समकालीन आश्रय क्लिष्ट मनोविज्ञान ही हो सकता है। अन्य कोई भी ऐसा उपयुक्त विज्ञान नहीं है, जो मनोविज्ञान का सहज (साथ उत्पन्न) होते हुये उसे जन्म दे सके। यहाँ कोई (वादी) ऐसा कह सकते हैं कि मनोविज्ञान का समकालीन आश्रय हृदय वस्तु है[1];

---

1. ताम्रपर्णीय हृदयवस्तु को मनोविज्ञान धातु का आश्रय कल्पित करते हैं। स्थविरवादी भी हृदयवस्तु को मनोधातु का निश्रय मानते हैं—

किन्तु उनका यह कथन वस्तुस्थिति से सर्वथा विरुद्ध होगा। क्योंकि यदि मनोविज्ञान हृदयवस्तु पर आश्रित होगा, तो वह कदापि सविकल्पक न हो सकेगा। समस्त मनोविज्ञान चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों की भाँति निर्विकल्पक हो जायँगे। किन्तु सभी मनोविज्ञान निर्विकल्पक नहीं होते, अतः हृदयवस्तु को उसका समकालीन आश्रय मानना अनुपयुक्त है। फलतः सहज क्लिष्ट मनोविज्ञान ही उसका समकालीन आश्रय हो सकता है। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकार नहीं किया जाता है, तो मनोविज्ञान की पाँच इन्द्रिय विज्ञानों से समता के अभाव का प्रसङ्ग होगा।

३. दोनों समापत्तियों में विशेषता (भेद) का अभाव—

यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकार नहीं किया जायगा तो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति में भेद नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि दोनों समापत्तियों की अवस्था में षड् विज्ञान समानरूप से निरुद्ध रहते हैं और क्लिष्ट मनोविज्ञान स्वीकृत नहीं है। क्लिष्ट मनोविज्ञान मानने से योगाचार मत में यह दोष नहीं है। क्योंकि असंज्ञिसमापत्ति की अवस्था में अहंदृष्टि, आत्मस्नेह आदि विद्यमान रहते हैं और निरोधसमापत्ति की अवस्था में वे विद्यमान नहीं रहते। इसीलिये असंज्ञिसमापत्ति अशान्त होती है और निरोधसमापत्ति शान्त होती है। इसी आधार पर दोनों समापत्तियों में भेद किया जा सकता है। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न माना जायगा तो दोनों समापत्तियों में भेद का कोई आधार न मिल सकेगा। किन्तु उनमें भेद होना आवश्यक है। अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

४. व्युत्पत्ति का अभाव—क्लिष्ट मनोविज्ञान अहं का सर्वदा ग्राहक होता है। इसलिये शास्त्रों में वह 'सदाहङ्कारणम्' कहा जाता है[1]। यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न जायगा, तो 'सदाऽहङ्कारः क्रियतेऽनेनेति सदाऽहङ्कारकारणम्' उसकी यह व्युत्पत्ति

द्र०—योगाचारदर्शने तु षड्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽप्यस्ति मनोधातुः। ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रयं कथयन्ति।—स्फु०, पृ० ३४।

मनोधातु-विञ्ञाणधातूनं निस्सयलक्खणं हदयवत्थु।—विसु० (चतुर्दश-परिच्छेद) पृ० ६०।

1. द्र०—

विपर्यासनिमित्तं तु मनः क्लिष्टं सदैव यत्।

कुशलाव्याकृते चित्ते सदाऽहङ्कारकारणम्॥—महायानसंग्रह

निरर्थक हो जायगी। क्योंकि आलयविज्ञान एवं पंच इन्द्रियविज्ञानों द्वारा कभी भी अहंकार का ग्रहण नहीं होता। मनोविज्ञान द्वारा अहंग्रहण होने पर भी वह सर्वदा नहीं होता। फलतः सर्वदा अहंकार का ग्राहक क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

५. असंज्ञिसत्त्व की सन्तान में अहंदृष्टि का अभाव—

यदि क्लिष्ट मनोविज्ञान न होगा तो असंज्ञिसत्त्व की सन्तान में अहंदृष्टि का अभाव हो जायगा, जो (अहंदृष्टि) उसकी सन्तान में प्रतिसन्धि से लेकर च्युतिपर्यन्त सर्वदा विद्यमान रहती है। षड् विज्ञान तो असंज्ञिसत्त्व में निरुद्ध ही रहते हैं, यदि अहंदृष्टि उसमें न रहेगी, तो वह (असंज्ञिसत्त्व) क्लिष्ट भी न हो सकेगा। अतः अहंदृष्टि का होना सिद्ध होता है और उसी से क्लिष्ट मनोविज्ञान का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

६. हमेशा अहम्बोध होते रहने का अभाव—

जब हम कोई पुण्यकर्म करते हैं, यथा—दान देते हैं, उस समय यह समझते हैं कि "मैं दान दे रहा हूँ"। जब कोई अकुशल कर्म करते हैं, यथा—प्राणातिपात (हत्या) करते हैं, उस समय यह समझते हैं कि "मैं जान से मार रहा हूँ"। अव्याकृत कर्म करने की अवस्था में भी 'मैं स्नान कर रहा हूँ'–इत्यादि का भान होता रहता है। इस तरह हम देखते है कि कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत सभी अवस्थाओं में अहम्बोध होता रहता है। यह तभी सम्भव है, जब क्लिष्ट मनोविज्ञान माना जाय; क्योंकि उससे अतिरिक्त अवशिष्ट सात विज्ञानों में से कोई भी एक ऐसा विज्ञान नहीं है, जो सभी अवस्थाओं में समानरूप से विद्यमान रहे और अहंदृष्टि का आश्रय हो। इन उपर्युक्त सभी कारणों से क्लिष्ट मनोविज्ञान सिद्ध होता है।

३. नौ विज्ञान माननेवालों के मत का परिहार—

पूर्वपक्ष—

आदानं सप्तमं ज्ञानं त्रिधा चालयमष्टमम्।

अमलं नवमं ज्ञानं परमार्थेन मन्यते ॥४४॥

बौद्ध आचार्य विज्ञान के कितने प्रकार मानते हैं, इस विषय पर चीनी आचार्य 'वेन छेगा' ने अपनी 'आर्यसन्धिनिर्मोचन' की 'बृहत्'-टीका' में पर्याप्त प्रकाश डाला है। आचार्य चोंखापा ने यहाँ उसी ग्रन्थ का अनुसरण करके एतद्विषयक

विवरण प्रस्तुत किया है। हम संक्षेप में उसका परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं।

श्रावकवर्गीय आचार्य विज्ञान की संख्या छह ही मानते हैं। सात या आठ विज्ञानों की वे चर्चा तक नहीं करते और न उनपर विचार करते हैं। महायान के आचार्यों में इस विषय (विज्ञान की संख्या के विषय) में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। पहला मत आचार्य नागार्जुनप्रमुख माध्यमिकों का है। जो निश्चितरूप से छह विज्ञान ही मानते हैं। साथ ही जिन्होंने षड्गण से अतिरिक्त विज्ञानों के अस्तित्व पर अत्यधिक ऊहापोह करके एवं सूक्ष्म विचार करके अतिरिक्त विज्ञानों की सत्ता का प्रबल युक्तियों द्वारा खण्डन किया है। दूसरा मत आर्य मैत्रेयनाथ एवं उनके साहित्य का अनुसरण करनेवाले आचार्यों का है और जो सुवर्णप्रभ आदि सूत्रों पर आधृत है। इस मत के अनुयायियों में तीन प्रकार के पक्ष उपलब्ध होते हैं, यथा—

प्रथम पक्ष—इसके प्रतिष्ठापक आचार्य 'बोदेलेऊ' हैं, जिन्होंने 'विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि' के आधार पर यह प्रस्थापना की है कि विज्ञान या चित्त दो प्रकार का होता है। पहला चित्त धर्मताचित्त है, जो तत्त्वस्वभाव का है और सालम्बन नहीं है। दूसरा वह चित्त है, जो श्रद्धा आदि कुशल चैतसिकों से तथा राग आदि क्लेशों से सम्प्रयुक्त होता है।

द्वितीय पक्ष—इसके प्रमुख प्रवक्ता 'आचार्य परमार्थ' हैं, जिन्होंने 'विनिश्चय-कोशशास्त्र, के आधार पर नौ विज्ञानों की स्थापना की है। छह तो चक्षुर्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक वे ही छह विज्ञान हैं, जिनका अन्य शास्त्रों में भी उल्लेख है। सातवाँ विज्ञान आदानविज्ञान है, जो अष्टम विज्ञान के प्रति आत्मा-आत्मीय दृष्टि रखता है। यह केवल क्लेशावरण से युक्त है, धर्मग्रहण इसमें नहीं है। अष्टम विज्ञान आलयविज्ञान है। इसके तीन भेद हैं। पहला 'स्वभाव-आलय' है, जो बुद्धत्व-सिद्धि का आधार है। दूसरा 'विपाक-आलय' है, जो अष्टादश धातुओं का आलम्बन करता है। तीसरा 'संक्लिष्ट-आलय' है, जो तथताविषय का आलम्बन करके मान को जन्म देता है। यह केवल धर्म का ही ग्रहण करता है, पुद्गल का नहीं। नवम विज्ञान विमलविज्ञान है। यह तथतास्वभाव का होता है। तथता का तात्पर्य विषय एवं विषयी दोनों से है। तथतास्वभाव एक विमलविज्ञान में दो अर्थ सम्मिलित हैं। एक आलम्ब्य-विषयतथता, जिसे धर्मता कहा जाता है। दूसरा आलम्बकतथता, जिसे विमलविज्ञान, आदिवित् आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

तीसरा पक्ष—यह पक्ष चीनी आचार्य ह्वेनच्वाङ् ने लङ्कावतार आदि सूत्रों के आधार पर उपस्थित किया है। इसके अनुसार विज्ञानों की संख्या आठ मानी जाती है।

इस प्रकार 'आचार्य वेन छेग, ने तीन पक्ष उपस्थित किये और वे स्वयं 'आचार्य ह्वेन च्वाङ्' का अनुसरण करते हैं; जो अष्टविज्ञानवादी हैं। ये तीनों पक्ष बहुत प्रचीन नहीं हैं; अपितु आचार्य स्थिरमति एवं धर्मपाल आदि से पीछे के प्रतीत होते हैं। आचार्य धर्मपाल के समक्ष सम्भवतः यह प्रश्न नहीं था कि विज्ञानों की संख्या आठ से भी अधिक अर्थात् ९ है।

उपर्युक्त तीन पक्षों में तृतीय मत ही समीचीन है। प्रथम एवं द्वितीय पक्ष खण्डनीय हैं; किन्तु आचार्य चोंखापा जी ने दो ही विज्ञान माननेवाले प्रथम पक्ष का पृथक् खण्डन नहीं किया; क्योंकि उसके अनुसार भी एक तत्वस्वभाववाला धर्मताचित्त माना जाता है, जो विचार करने पर द्वितीय पक्ष के विमलचित्त से भिन्न नहीं प्रतीत होता। अतः विमलविज्ञान का खण्डन कर देने से उसका स्वतः खण्डन हो जाता है। अतः विमलविज्ञान माननेवाले आचार्य परमार्थ के द्वितीय पक्ष का यहाँ खण्डन किया जा रहा है—

आचार्य परमार्थ के मत का निरास—

अष्टकादधिकं ज्ञानं प्रधानं यदि मन्यते।
साधनं नास्ति तत्पक्षे नित्यतायाः प्रसङ्गतः ॥४५॥

आठ विज्ञानों से अतिरिक्त यदि नवम विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया जायगा, तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संसार में नित्य वस्तु भी हुआ करती हैं; क्योंकि नवम विज्ञान अर्थात् विमलविज्ञान, आचार्य परमार्थ के अनुसार तथता-स्वभाव होने के नाते नित्य भी होता है, साथ ही सालम्बन विज्ञान होने के नाते उसका वस्तु होना भी आवश्यक है। इस तरह विमलविज्ञान संस्कृत और असंस्कृत दोनों पदार्थों का एक सम्मिलित रूप होगा जो कि युक्ति और न्याय दोनों से सर्वथा विपरीत है। चाहे विज्ञानवाद हो, चाहे माध्यमिक नित्य विज्ञान कहीं भी नहीं माना जाता। जो लोग शून्यता या परमार्थ सत्य को चैतन्य मानते हैं, उन्हीं पर यह दोष लागू होगा। विज्ञानवाद के प्रामाणिक शास्त्रों का सम्यग् अध्ययन न होने

के कारण अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ विज्ञानवाद के मन्तव्यों के बारे में आज फैली हुई हैं। कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञानवाद के अनुसार रूप, शब्द आदि धर्मों का कोई अस्तित्व नहीं है, सर्वत्र केवल विज्ञान ही विज्ञान है तथा विज्ञान ही परमार्थ सत्य है—इत्यादि। इस तरह की बातें आर्य असंग आदि विज्ञानवादी आचार्यों के शास्त्रों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होती; अपितु इनसे विपरीत बातें उपलब्ध होती हैं, जिनका थोड़ा-बहुत परिचय हमने विंशिका और त्रिंशिका की व्याख्या के प्रसंग में यत्र-तत्र यथामति दिया है।

आठ विज्ञानों से अतिरिक्त विज्ञान के अस्तित्व के विषय में कोई भी शास्त्र-प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसी (द्वितीय) पक्ष में सप्तमविज्ञान को जो 'आदान-विज्ञान' यह संज्ञा प्रदान की गई है, वह भी किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं होती। इस तरह नौ विज्ञान मानना आचार्य असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति आदि प्रामाणिक विद्वानों के अभिप्राय से सर्वथा विपरीत है; क्योंकि उनके ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है। उपर्युक्त द्वितीय पक्ष के खण्डन के सिलसिले में अन्य अनेक बातें भी कही जा सकती हैं, और अधिक विस्तार से विचार किया जा सकता है; किन्तु विस्तारभय से इतना ही पर्याप्त समझकर विराम किया जाता है।

४. एक ही विज्ञान माननेवालों के मत का परिहार—

पूर्वपक्ष—

एकमेव मनस्तावत् पृथगिन्द्रियवस्तुषु।
चरदारोपमात्राणि नामानि लभते पृथक् ॥४६॥
वर्गे च ब्राह्मणे सूत्रे द्वादशायतनाभिधे।
मन आयतनं ह्येकं षड्ज्ञानानां च देशितम् ॥४७॥
तस्माज्ज्ञानानि सर्वाणि त्वेकमेव मनः किल।

एक ही विज्ञान माननेवाले कुछ बोधिसत्त्व थे, जो ब्राह्मण वर्ग और द्वादशायतनसूत्र के आधार पर एक ही विज्ञान की सत्ता स्थापित करते थे, जैसे कि ब्राह्मण वर्ग में कहा भी गया है—

दूरङ्गममेकचरमशरीरं गुहाशयम्।
ये चित्तं दमयिष्यन्ति ते मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात्[1]॥

द्वादशायतनसूत्र में भी उक्त है कि छह विज्ञान एक मनायतन हैं। उनका कहना है कि इन वचनों के द्वारा भगवान् ने एक ही चित्त दिखलाया है। फलतः समस्त चित्त, जो हमें पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ते हैं, मूलतः वे एक मनोविज्ञान के ही भेद हैं। एक ही मनोविज्ञान के पृथक् पृथक् इन्द्रियों (आश्रय) से प्रवृत होने के कारण भिन्न भिन्न नाम पड़ जाते हैं। जैसे—

अनेक छिद्रों से युक्त गृह में स्थित दीपक का प्रकाश छिद्रों की स्थिति और आकार के अनुसार नाना रूपों में निकलता हुआ दिखलाई पड़ता है; फिर भी उस गृह में दीपक तो एक ही होता है, उसी प्रकार विज्ञान भी एक ही होता है। विज्ञान के एक होने पर भो उसके दो अंश हैं। एक वह, जिसमें विषयमात्र का प्रतिभास होता है और जिसमें कल्पनांश नहीं होता। दूसरा वह, जिसके द्वारा प्रतिभासित विषय का अध्यवसाय होता है। फलतः एक ही विज्ञान के मानने पर भी हमारे मत में विज्ञान के केवल निर्विकल्पक ही होने का दोष भी नहीं लागू होता।

---

१. तत्र दूरङ्गमं शास्तुः सर्वलोकधातुस्थविनेयकार्यकरणात्। एकचरं युगपद् द्वितीयचित्ता-भावात्। अशरीरं मूर्त्यभावात् क्रियामात्रानुमेयस्वभावाच्च। गुहाशयं शरीरबलेन तद्वृत्तिव्यक्तेरिति—वि० प्र० वृ०, पृ० ७१।

तु०—दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्ञमेसन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना॥

—धम्म० (चित्तवग्गो), का० ५।

तत्थ दूरङ्गमं ति चित्तस्स मक्कटसुत्तमत्तकम्पि पुरत्थिमादिदिसाभागेन गमनं नाम नत्थि, दूरे सन्तम्पि आरम्मणं सम्पटिच्छतीति दूरङ्गमं नाम जातं। सत्तट्ठचित्तानि पन एकतो कण्णिकाबद्धानि एकक्खणे उप्पज्जितुं समत्थानि नाम नत्थि। उप्पत्तिकाले एकमेव चित्तं उप्पज्जति, तस्मा एकचरं नाम जातं। चित्तस्स सरीरसण्ठानं वा नीलादिप्पकारो वण्णभेदो वा नत्थीति असरीरं नाम जातं। गुहा नाम चतुमहाभूतगुहा, इदं च हदयरूपं निस्साय वत्ततीति गुहासयं नाम जातं। —धम्म० अट्ठ०; पृ० ३०४।

तु०—मनःसंज्ञकमन्योऽपि सप्तविज्ञानधातवः॥—अभि० दी०, का० ५, पृ० ५। मन आयतनं च तत्।—अभि० को०, का० १६, पृ० २७।

सिद्धान्त पक्ष—

आगमार्थस्तु केनापि ग्रहीतुं शक्यतेऽन्यथा ॥४८॥
एवं सतीन्द्रियज्ञानैर्ग्रहणं च भविष्यति ।
अतीतानागतार्थानां परोक्षार्थस्य सर्वथा ॥४९॥
एकवादिमतं तस्मात् प्राप्तमान्ध्यमयम्'''।

आपने जिन आगमों का उद्धरण किया है, उनसे एक विज्ञान की सिद्धि नहीं होती। ब्राह्मणवर्ग में जो चित्त को 'एकचरम्' कहा गया है, उसका वह अर्थ नहीं है, जैसा आप समझते हैं; अपितु उससे भिन्न अतिविस्तृत अर्थ है। श्रुतमय अधिगम से लेकर बुद्धत्वप्राप्ति तक के सभी दर्शन एवं भावना आदि मार्ग मनोविज्ञान द्वारा ही निष्पन्न किये जाते हैं। इन्द्रियों के अर्थों में भी मनोविज्ञान प्रवृत्त होता है तथा वह इन्द्रियविज्ञानों का हेतु भी होता है। यही कारण है कि मनोविज्ञान को अनेक स्थलों में अन्य विज्ञानों की तुलना में प्रधान निर्दिष्ट किया गया है। द्वादशायतनसूत्र का अभिप्राय भी वैसा नहीं है, जैसा आपने समझा है। उस सूत्र का स्पष्ट अर्थ यह है कि जब अष्टादश धातुओं का बारह आयतनों में विभाजन किया जाता है, तब षड् विज्ञान मन-आयतन में सँगृहीत होते हैं। रूप आदि छह विषय-आयतन, चक्षु आदि पांच इन्द्रियाँ एवं मन ये छह विषयी-आयतन इस तरह बारह आयतन होते हैं। एक बात और ध्यान देने की यह है कि मन और मनोविज्ञान में अन्तर है। मन तो सभी चित्तों को कह सकते हैं; किन्तु मनोविज्ञान केवल षष्ठ एवं सप्तमविज्ञान और उनके परिवार का ही नाम है।

एक विज्ञान मानने में युक्तिविरोध—यदि समस्त विज्ञान द्रव्यतः एक ही हैं तो इन्द्रिय विज्ञान द्वारा भी परोक्ष विषयों का अनुमान होना चाहिये तथा उनके द्वारा अतीत एवं अनागत विषयों का भी ग्रहण होना चाहिये। अपि च—समस्त ज्ञान सर्वथा निर्विकल्पक हो जायंगे, क्योंकि इन्द्रियविज्ञान सदा निर्विकल्पक ही होते हैं और उनसे द्रव्यतः भिन्न अन्य कोई विज्ञान नहीं है। अथवा—समस्त ज्ञान सविकल्प हो जायंगे; क्योंकि मनोविज्ञान सविकल्पक है और उससे भिन्न किसी अन्य ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार इस पक्ष में अनेक दोष उपस्थित होते हैं।

एक ही विज्ञान के सविकल्पक और निर्विकल्पक ये दो अंश भी सम्भव नहीं है; क्योंकि एक वस्तु के परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। यदि आप दो स्वभाव मानेंगे, तो एकत्व का सिद्धान्त नष्ट हो जायगा और यदि विज्ञान का एकत्व मानेंगे तो उसके दो स्वभाव या दो अंश होना अयुक्तिसंगत होगा। फलतः एक विज्ञान मानने में न कोई प्रमाण है और न युक्ति है।

महायानसंग्रह में यद्यपि एकविज्ञानवाद का साक्षात् खण्डन उपलब्ध नहीं होता; तथापि टीकाकारों ने उसकी चर्चा की है। उनका कहना है कि आठ विज्ञानों की सिद्धि से ही एक विज्ञानवाद का खण्डन अपने-आप हो जाता है। इस प्रकार विज्ञान न तो आठ से अधिक होते हैं और न आठ से कम।

ततः।

विश्वस्तागमतर्कैस्तु ज्ञानमष्टगणान्वितम् ॥५०॥
मतं तदेव बोद्धव्यं गुह्यतत्त्वविशारदैः।
पण्डितैरिति विज्ञानाष्टकमेवावसीयताम् ॥५१॥

आठ से कम या अधिक विज्ञान मानने के पक्ष में आगम एवं युक्ति से अनेकविध बाधा होने के कारण आठ विज्ञान ही सिद्ध होते हैं और यही मत सर्वथा समीचीन एवं प्रामाणिक है। अतः विज्ञप्तिशास्त्र के गम्भीर एवं मार्मिक अभिप्राय के ज्ञाता विद्वानों को आठ विज्ञानों को ही स्वीकार कर उनका सम्यग् अवबोध करना चाहिये।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की गई थी कि आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट विज्ञान के लक्षण, सिद्धि, नौ विज्ञान माननेवाले पक्ष का निषेध एवं एक विज्ञान माननेवाले पक्ष का निषेध—यही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है, यथा।

चतुर्भिरालयं सिद्धिर्नवैकक्षेपलक्षणैः।
क्लिष्टं मनश्च विज्ञेयम्………॥

इस तरह इस संग्रहगाथा द्वारा उद्दिष्ट विषय का यहाँ तक निर्देश किया गया है। अब कुछ अवशिष्ट ज्ञातव्य बातों की ओर संकेत करना हम आवश्यक समझते हैं।

ऊपर कहा गया है कि आलयविज्ञान समस्त सांक्लेशिक एवं वैयवदानिक धर्मों का आश्रय है। आलयविज्ञान के होने पर ही संसार की प्रवृत्ति एवं संसार से निवृत्ति दोनों सम्भव है। जब तक संसारचक्र निरुद्ध नहीं होता, अपितु प्रवृत्त होता रहता है, तब तक आलयविज्ञान कर्म एवं क्लेशों का तथा जन्म एवं मृत्यु का आधार बना रहता है, किन्तु आलयविज्ञान में अन्य वासनाओं के साथ अनास्रव बीज भी निहित होते हैं, जिसकी वजह से जीव कल्याणमित्रों से कुशलदेशना का श्रवण भी कर पाते हैं और तदनुसार कुशल कर्मों का सम्पादन भी कर सकते हैं। इतना ही नहीं, मार्गों की भावना करके मुक्ति की ओर गमन भी कर सकते हैं और अन्ततोगत्वा एक ऐसी अवस्था भी प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें उन क्लेशों का सर्वथा प्रहाण हो जाता है, जिनकी वजह से वे अब तक संसार में बद्ध एवं दुःखी थे। यही अवस्था मुक्ति या मोक्ष की अवस्था है।

मुक्ति सभी बौद्ध मानते हैं, किन्तु उसके स्वरूप के बारे में उनमें परस्पर मतभेद हैं। वैभाषिक एवं प्राचीन सौत्रान्तिकों का मत है कि निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में पाँचों स्कन्धों का सर्वथा निरोध हो जाता है, कुछ भी शेष नहीं रहता।

आचार्य असङ्ग के अनुयायी आगमानुसारी विज्ञानवादियों के मतानुसार निर्वाण दो प्रकार का होता है, यथा–हैनयानिक निर्वाण एवं माहायानिक निर्वाण। इन्हें वे क्रमशः निर्वाण एवं महानिर्वाण कहते हैं।

इनके अनुसार श्रावक एवं प्रत्येक बुद्ध पुद्गल जब निरुपधिशेष निर्वाण का लाभ करते हैं, तब देह एवं चित्त दोनों की सन्तति का उच्छेद हो जाता है, तथापि यह स्थिति वैभाषिक आदि की मान्यता से भिन्न है। वैभाषिक निरुपधिशेष निर्वाण को अप्रतिसंख्यानिरोध एवं द्रव्य मानते हैं, साथ ही उसे असंस्कृत धर्म भी मानते हैं। सौत्रान्तिक उसे प्रसज्यप्रतिषेधस्वरूप अर्थात् अभावमात्र मानते हैं, क्योंकि उस समय स्कन्धों से शून्यता होती है और अभाव को वे द्रव्य नहीं मानते। किन्तु आगमानुसारी योगाचार मत के अनुसार वह (निरुपधिशेष निर्वाण) अभावमात्र भी नहीं है और द्रव्यसत् भी नहीं है, अपितु जड एवं चित्त की प्रवृत्ति से शान्त, नित्य एवं अपरिवर्तनशील है। उस समय वेदनारूपी सुख तो नहीं होता, किन्तु समस्त दुःखों से निवृत्तिरूपी सुख होता है।

निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में समस्त चित्तप्रवृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण उस अवस्था में व्यक्ति के महायान में प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु उससे पूर्व की अवस्था अर्थात् सोपधिशेषनिर्वाण की अवस्था से कुछ श्रावक या प्रत्येक बुद्ध पुद्गल महायान में प्रवेश कर सकते हैं। यदि वे महायान में प्रविष्ट हो जाते हैं, तो उनकी चित्तसन्तति का कभी विच्छेद नहीं होगा। जो श्रावक या प्रत्येकबुद्ध पुद्गल महायान में प्रविष्ट नहीं हो सके, उनकी देह और चित्त की सन्तति निरुपधिशेष निर्वाण की अवस्था में समाप्त हो जाती है। अर्थात् यही उनके गन्तव्य की अन्तिम सीमा है। बोधिसत्त्व का गन्तव्य स्थान बुद्धत्व है। इस तरह श्रावक, प्रत्येकबुद्ध एवं बोधिसत्त्व तीनों के अपने अपने गन्तव्य स्थान पृथक् हैं। इस प्रकार की मान्यता के कारण आगमानुसारी विज्ञानवादी त्रियानवादी कहलाते हैं।

युक्त्यनुसारी विज्ञानवादी एवं सभी माध्यमिक ऐसा नहीं मानते। अर्थात् इनके अनुसार तीनों प्रकार के पुद्गलों का अन्तिम गन्तव्य स्थान पृथक् पृथक् नहीं है; अपितु एक है। अर्थात् सभी को कभी न कभी बुद्धत्व प्राप्त करना है। फलतः ये एकयानवादी कहलाते हैं। इनका कहना है कि श्रावक या प्रत्येकबुद्ध अपने मार्ग के अनुसार आगे बढ़ते हुये निरुपधिशेष निर्वाण तक पहुँचकर चाहे वहाँ लाखों वर्ष निर्वाण की शान्ति में डूबे रहें, तथापि उनका व्यक्तित्व विद्यमान रहता है और चित्तप्रवृत्ति समाप्त नहीं होती। अवसर आने पर वे अवश्य महायान में प्रविष्ट होते हैं और एक न दिन बुद्धत्व लाभ करते हैं।

आगमानुसारी योगाचार मत के अनुसार जो व्यक्ति महायान मार्ग से अपने गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँचते हैं, उनके आलयविज्ञान में स्थित सांक्लेशिक वासनायें क्षीण हो जाती हैं तथा अनास्रव बीज का पक्ष उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है। जब व्यक्ति बुद्धावस्था में पहुँच जाता है अर्थात् बुद्ध हो जाता है, तब उसके आलयविज्ञान के सभी लक्षण पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् उसकी सन्तति में अब आलयविज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता। इस तरह आलयविज्ञान की जातिधारा के समाप्त हो जाने पर भी उसकी द्रव्यधारा कभी समाप्त नहीं होती। अर्थात् आलयविज्ञान किसी अन्य ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। यही स्थिति क्लिष्ट मनोविज्ञान एवं प्रवृत्तिविज्ञानों की भी है।

जिस प्रकार सामान्य जन में काय, वाक् एवं मन ये तीन होते हैं, उसी तरह बुद्ध के भी काय, वाक् एवं मन ये तीनों होते है। यह दूसरी बात है कि

साधना के बल से वे सामान्य जन के काय, वाक् और मन से अत्यधिक उत्कृष्ट होते हैं। बुद्ध का शरीर दिव्य शरीर होता हैं। मार्ग अवस्था का जो उपायपक्ष है, अर्थात् मार्ग अवस्था में जो अपरिमित पुण्यों का संचय किया गया है, बुद्ध का शरीर उससे उत्पन्न है। मार्ग अवस्था में अभ्यस्त प्रज्ञा अर्थात् ज्ञानसम्भार से चित्त की मलिनता दूर की जाती है। फलतः आलयविज्ञान में निहित दौष्ठुल्य वासनायें एवं मन में स्थित क्लेश सर्वथा प्रहीण हो जाते हैं। इसलिये फल (बुद्धत्व) अवस्था में आलयविज्ञान आलयविज्ञान नहीं रह जाता, अपितु वह समस्त क्लेशावरणों और ज्ञेयावरणों के क्षीणत्व का आधार हो जाता है, जिसे महानिर्वाण या अप्रतिष्ठित निर्वाण कहा जाता है।

आलयविज्ञान की परावृत्ति होने पर वह आदर्शज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, जो बुद्धावस्था का एक आधारभूत ज्ञान है और जो समस्त धर्मों को उसी प्रकार प्रत्यक्षतः जानता है, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। बुद्धावस्था में केवल आलयविज्ञान ही परावृत्त नहीं होता; अपितु पृथग्जन अवस्था के सभी ज्ञान परावृत्त हो जाते हैं। यथा—क्लिष्ट मनोविज्ञान की परावृत्ति होने पर वह समताज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, जो दौष्ठुल्यों के अभाव से सर्वथा शान्त होता है और जिसमें वैषम्य का लेश भी नहीं होता। षष्ठ मनोविज्ञान की परावृत्ति होने पर वह प्रत्यवेक्षणज्ञान हो जाता है, जो समस्त ज्ञेयों को अमिश्रितरूप से और जिस प्रकार वे स्थित हैं, उस रूप में (यथार्थतः) जानता है। चक्षुर्विज्ञान आदि पाँच इन्द्रियविज्ञानों की परावृत्ति होने पर वे कृत्यानुष्ठानज्ञान के रूप में परिणत हो जाते हैं, जिसकी वजह से बुद्ध के समस्त कर्म अनाभोगेन (स्वतः) प्रवृत्त हुआ करते हैं।

मुक्त अवस्था में चित्तसन्तति के चलते रहने पर भी उसके अनित्य एवं क्षणिक होने से उसकी आत्मवाद से तुल्यता के सन्देह का अवसर नहीं है। मुक्ति-अवस्था एवं बुद्धत्व के विषय में आर्य असंग और टीकाकारों ने अत्यन्त सूक्ष्म एवं विस्तृत विचार किया है, अतः एतद्विषयक योगाचार मान्यता जानने के लिये उनके ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

बुद्धावस्था में दश बल, अष्टादश आवेणिक गुण, चतुर्वैशारद्य आदि अपरिमेय गुण प्रादुर्भूत होते हैं। महाकरुणा की प्रवृत्ति सम्पूर्ण जगत् में व्यापक होती है। अर्थात् कोई भी प्राणी उस के प्रभाव से वंचित नहीं रहता। अतः बुद्ध समस्त जीवों का अशेष कल्याण सिद्ध करते हैं।

उपसंहार—

मनसश्चालयस्यायं गूढतत्त्वार्थदर्शक: ।
निषेवितश्च विद्वद्भिर्गुरुवागनुसारत: ।।५२।।
प्रबन्धस्तु परिव्राजा कृत: सुमतिकीर्तिना ।

योगाचार सिद्धान्त में आलयविज्ञान एवं क्लिष्ट मनोविज्ञान अत्यन्त दुर्बोध एवं गूढ स्थान हैं। उनके अविपरीत स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिये पूर्ववर्ती उत्कृष्ट विद्वानों ने जैसा माना है तथा गुरु ने जैसा उपदेश किया है, उसके अनुसार (मैंने) परिव्राजक सुमतिकीर्ति (चोंखापा) ने इस प्रबन्ध की रचना की है।

आचार्य चोंखापा सुमतिकीर्ति ने अपने जीवन में सम्पूर्ण भोट देश में अनेक बार परिभ्रमण किया था। वे देश की समस्त शिक्षासंस्थाओं में गये, जहाँ उनसे अनेक दार्शनिकों एवं गुरुओं का साक्षात्कार हुआ। उनके साथ आध्यात्मिक विषयों पर विविध प्रकार की चर्चायें हुईं, जिसकी वजह से उनका ज्ञान अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्मग्राही हो गया था तथा समस्त बौद्ध विद्याओं पर उनका असन्दिग्ध अधिकार हो गया था। अत: उनका 'परिव्राजक' यह विशेषण सार्थक ही है।

परिणामना—

तेन पुण्येन लोकेऽस्मिन् वर्धतां मुनिशासनम् ।।५३।।

इस ग्रन्थरचनारूपी पवित्र कर्म से मुझे जो पुण्य प्राप्त हुआ हो, उसके बल से समस्त विश्व में महामुनि भगवान् बुद्ध के शासन (धर्म) की अभिवृद्धि हो, यही मेरी कामना है। बुद्ध का शासन द्विविध है, यथा—आगम और अधिगम। आगम त्रिपिटकान्तर्गत बुद्धवचन हैं तथा बोधिपक्षीय धर्म अधिगम हैं।[1] आगमात्मक बुद्धवचन भी कोई स्वेच्छया (जैसी इच्छा हुई वैसे) नि:सृत आज्ञा या नियम नहीं हैं; अपितु उनके पीछे अधिगम का बल है तथा ऐहलौकिक और पारलौकिक हित की दृष्टि से करणीय और अकरणीय कर्मों का परिचय देनेवाले हैं।

।। भवतु मङ्गलम् ।।

---

१. चार स्मृत्युपस्थान और चार प्रहाण आदि ३७ बोधिपाक्षिक धर्म होते हैं।

परिशिष्टम्

२

आचार्यवसुबन्धुप्रणीतः

त्रिस्वभावनिर्देशः

[हिन्दी-अनुवादसहितः]

॥ नमो मञ्जुश्रिये कुमारभूताय ॥

आचार्यवसुबन्धुप्रणीतः

त्रिस्वभावनिर्देशः

कल्पितः परतन्त्रश्च परिनिष्पन्न एव च।
त्रयः स्वभावा धीराणां गम्भीरज्ञेयमिष्यते ॥ १ ॥

परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ये तीन स्वभाव ही सुदृढ प्रज्ञावाले यथार्थवेत्ताओं के गम्भीर ज्ञेय (जानने योग्य धर्म) होते हैं।

यत् ख्याति परतन्त्रोऽसौ यथा ख्याति स कल्पितः।
प्रत्ययाधीनवृत्तित्वात् कल्पनामात्रभावतः ॥ २ ॥

जो (घट आदि द्रव्य) ख्यात (प्रतीत) होते हैं, वे परतन्त्र हैं तथा जिस प्रकार (ग्राह्यग्राहकभाव से) ख्यात होते हैं, वे परिकल्पित हैं; क्योंकि परतन्त्रकी सत्ता (आत्मलाभ) हेतु-प्रत्ययों के अधीन है और परिकल्पित का अस्तित्व कल्पना से आरोपितमात्र है।

तस्य ख्यातुर्यथाख्यानं या सदाऽविद्यमानता।
ज्ञेयः स परिनिष्पन्नस्वभावोऽनन्यथात्वतः ॥ ३ ॥

ख्याति के अनुरूप उस परिकल्पित की जो सदा अविद्यमानता (अभाव) है, वही परिनिष्पन्न स्वभाव है—ऐसा जानना चाहिये; क्योंकि वह (सदा) अविकारी स्वभाववाला है।

तत्र किं ख्यात्यसत्कल्पः कथं ख्याति द्वयात्मना ।
तस्य का नास्तिता तेन या तत्राऽद्वयधर्मता ॥ ४ ॥

क्या ख्यात होता है ? अभूतपरिकल्प (चित्त-चैतसिक) ख्यात होता है। किस प्रकार ख्यात होता है ? ग्राह्य और ग्राहक इन दो रूपों में ख्यात होता है। उस (असत्परिकल्प) की नास्तिता क्या है ? उस (विज्ञप्तिमात्र) में जो ग्राह्यग्राहकद्वय का अभाव है, अर्थात् अद्वयधर्मता है।

असत्कल्पोऽत्र कश्चित्तं यतस्तेन हि कल्प्यते ।
यथा च कल्पयत्यर्थं तथाऽत्यन्तं न विद्यते ॥ ५ ॥

यहाँ असत्कल्प कौन है ? (त्रैधातुक) चित्त । क्योंकि उसके द्वारा धर्म कल्पित किये जाते हैं। किन्तु उसके द्वारा (धर्म) जिस प्रकार कल्पित किये जाते हैं, उसका अत्यन्त अभाव होता है।

तद्धेतुफलभावेन चित्तं द्विविधमिष्यते ।
यदालयाख्यं विज्ञानं प्रवृत्याख्यं च सप्तधा ॥ ६ ॥

हेतु और फल के रूप में वह चित्त दो प्रकार का है। 'आलय' नामक विज्ञान हेतुचित्त है तथा सात प्रकार के 'प्रवृत्ति' नामक विज्ञान फलचित्त हैं।

संक्लेशवासनाबीजैश्चितत्वाच्चित्तमुच्यते ।
चित्तमाद्यं द्वितीयं तु चित्राकारप्रवृत्तितः ॥ ७ ॥

प्रथम आलयविज्ञान इसलिये चित्त कहलाता है; क्योंकि वह क्लेश और उनके वासना-बीजों से उपचित या परिपुष्ट होता है तथा सप्तविध प्रवृत्तिविज्ञान इसलिये चित्त कहलाते हैं; क्योंकि उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न आकारों को ग्रहण करते हुये होती है। अर्थात् उनकी चित्राकार प्रवृत्ति होती है।

समासतोऽभूतकल्पः स चैष त्रिविधो मतः ।
वैपाकिकस्तथा नैमित्तिकोऽन्यः प्रातिभासिकः ॥ ८ ॥

संक्षेप में वह अभूतपरिकल्प (समस्त चित्त) इन तीन प्रकारों में संगृहीत हैं, यथा—वैपाकिक, नैमित्तिक एवं प्रातिभासिक।

प्रथमो मूलविज्ञानं तद्विपाकात्मकं यतः ।
अन्यः प्रवृत्तिविज्ञानं दृश्यदृग्वित्तिवृत्तितः ॥ ९ ॥

मूलविज्ञान (आलयविज्ञान) प्रथम अर्थात् वैपाकिक है; क्योंकि वह (कुशल-अकुशलों का) विपाकस्वरूप है तथा प्रवृत्तिविज्ञान नैमित्तिक और प्रातिभासिक हैं, क्योंकि वे अपने विषय (दृश्य) में द्रष्टृत्वेन एवं ज्ञातृत्वेन प्रवृत्त होते हैं।

सदसत्त्वाद् द्वयैकत्वात् संक्लेशव्यवदानयोः ।
लक्षणाभेदतश्चेष्टा स्वभावानां गभीरता ॥१०॥

सत् लक्षण और असत्-लक्षण, द्वयात्मक और एकात्मक, संक्लेशलक्षण और व्यवदानलक्षण तथा उनका अभेद—इन दृष्टियों से उपर्युक्त तीनों स्वभावों की गम्भीरता को जानना चाहिये।

सत्त्वेन गृह्यते यस्मादत्यन्ताभाव एव च ।
स्वभावः कल्पितस्तेन सदसल्लक्षणो मतः ॥११॥

परिकल्पित-स्वभाव सत्लक्षण भी है और असत्-लक्षण भी है। क्योंकि उसका सत्त्वेन ग्रहण होता है, इसलिये वह सत्-लक्षण है और क्योंकि उसक अत्यन्ताभाव होता है, इसलिये वह असत्-लक्षण भी है

विद्यते भ्रान्तिभावेन यथाख्यानं न विद्यते ।
परतन्त्रो यतस्तेन सदसल्लक्षणो मतः ॥१२॥

परतन्त्र-स्वभाव सत्-लक्षण भी है और असत्-लक्षण भी है। क्योंकि वह भ्रान्ति के क्षेत्र में विद्यमान होता है, इसलिये वह सत्-लक्षण है और क्योंकि जैसा उसमें प्रतिभास होता है, वैसा (वस्तुस्थिति में) नहीं है, इसलिये वह असत्-लक्षण भी है।

अद्वयत्वेन यच्चास्ति द्वयस्याभाव एव च ।
स्वभावस्तेन निष्पन्नः सदसल्लक्षणो मतः ॥१३॥

परिनिष्पन्न-स्वभाव सत्-लक्षण भी है और असत्-लक्षण भी है। क्योंकि वह अद्वयरूप से विद्यमान है, इसलिये वह सत्लक्षण है और क्योंकि वह द्वयभाव (ग्राह्यग्राहकद्वयभाव) से नहीं है, इसलिये वह असत्-लक्षण भी है।

द्वैविध्यात् कल्पितार्थस्य तदसत्त्वैकभावतः ।
स्वभावः कल्पितो बालैर्द्वयैकत्वात्मको मतः ॥१४॥

बाल-पृथग्जनों द्वारा कल्पित-स्वभाव द्वयात्मक भी है और एकात्मक भी है। वह द्वयात्मक है; क्योंकि कल्पित अर्थ (ग्राह्य और ग्राहक या सदसत्परिकल्पित भेद से) दो प्रकार के होते हैं तथा वह एकात्मक भी है; क्योंकि वस्तुतः न होना, यही उसका एकमात्र स्वभाव है।

प्रख्यानाद् द्वयभावेन भ्रान्तिमात्रैकभावतः ।
स्वभावः परतन्त्राख्यो द्वयैकत्वात्मको मतः ॥१५॥

परतन्त्र नामक स्वभाव द्वयात्मक भी है और एकात्मक भी है। वह द्वयात्मक है; क्योंकि वह (ग्राह्य-ग्राहक) द्वय के रूप में (पृथक्त्वेन) भासित होता है तथा वह एकात्मक भी है; क्योंकि भ्रान्त होना, यही उसका एकमात्र स्वभाव है।

द्वयाभावस्वभावत्वादद्वयैकस्वभावतः ।
स्वभावः परिनिष्पन्नो द्वयैकत्वात्मको मतः ॥१६॥

परिनिष्पन्न स्वभाव द्वयात्मक भी है और एकात्मक भी है। वह द्वयात्मक है; क्योंकि वह द्वयाभाव (ग्राह्य-ग्राहकाभाव)-स्वभाव है तथा वह एकात्मक भी है; क्योंकि वह अद्वयस्वभाव है।

कल्पितः परतन्त्रश्च ज्ञेयं संक्लेशलक्षणम् ।
परिनिष्पन्न इष्टस्तु व्यवदानस्य लक्षणम् ॥१७॥

परिकल्पित और परतन्त्र दोनों संक्लेशलक्षण हैं—ऐसा जानना चाहिए तथा परिनिष्पन्नलक्षण व्यवदानस्वरूप इष्ट है।

असद्द्वयस्वभावत्वात् तदभावस्वभावतः ।
स्वभावात् कल्पिताज्ज्ञेयो निष्पन्नोऽभिन्नलक्षणः ॥१८॥

स्वभावद्वय (ग्राह्य-ग्राहकद्वय) के असत् होने से तथा उसके अभावस्वभाव होने से परिकल्पितस्वभाव से परिनिष्पन्नलक्षण अभिन्नलक्षण ही है (अर्थात् घट से पट की भाँति भिन्न नहीं है)—ऐसा जानना चाहिये।

अद्वयत्वस्वभावत्वाद् द्वयाभावस्वभावतः ।
निष्पन्नात् कल्पितश्चैव विज्ञेयोऽभिन्नलक्षणः ॥१९॥

अद्वयस्वभाव होने से तथा द्वयाभावस्वभाव होने से परिनिष्पन्न से कल्पितस्वभाव अभिन्नलक्षण है (अर्थात् घट से पट की भाँति भिन्न नहीं है)—ऐसा जानना चाहिये ।

यथाख्यानमसद्भावात् तथाऽसत्त्वस्वभावतः ।
स्वभावात् परतन्त्राख्यान्निष्पन्नोऽभिन्नलक्षणः ॥२०॥

ख्याति के अनुरूप असत् होने से तथा उस प्रकार से अभावस्वभाव होने से परतन्त्रस्वभाव से परिनिष्पन्नस्वभाव अभिन्नलक्षण है ।

असद्द्वयस्वभावत्वाद् यथाख्यानास्वभावतः ।
निष्पन्नात् परतन्त्रोऽपि विज्ञेयोऽभिन्नलक्षणः ॥२१॥

द्वयस्वभाव के असत् होने से तथा प्रतीति के अनुरूप स्वभावरहित होने से परिनिष्पन्नस्वभाव से परतन्त्र भी अभिन्नलक्षण है—ऐसा जानना चाहिये ।

क्रमभेदः स्वभावानां व्यवहाराधिकारतः ।
तत्प्रवेशाधिकाराच्च व्युत्पत्त्यर्थं विधीयते ॥२२॥

(उपर्युक्त तीनों) स्वभावों का व्यवहार के अधिकार की दृष्टि से एवं उनमें प्रवेश के अधिकार की दृष्टि से क्रमभेद जानने के लिये प्रतिपादन किया जा रहा है ।

कल्पितो व्यवहारात्मा व्यवहर्त्रात्मकोऽपरः ।
व्यवहारसमुच्छेदस्वभावश्चान्य इष्यते ॥२३॥

परिकल्पितलक्षण व्यवहारात्मक (व्यवहार्य) है, परतन्त्रलक्षण व्यवहार-कारक स्वभाववाला है तथा परिनिष्पन्नलक्षण (समस्त) व्यवहारों के समुच्छेद स्वभाव का है ।

द्वयाभावात्मकः पूर्वं परतन्त्रः प्रविश्यते ।
ततः प्रविश्यते तत्र कल्पमात्रमसद्द्वयम् ॥२४॥

द्वय (ग्राह्य-ग्राहक)-अभावात्मक परतन्त्र में प्रवेश पहले होता है । तदनन्तर उस (परतन्त्र) में कल्पितमात्र प्रविष्ट होता है, जिसमें द्वैत (सर्वथा) असद्भूत है ।

ततो द्वयाभावभावो निष्पन्नोऽत्र प्रविश्यते ।
तथा ह्यसावेव तदा अस्तिनास्तीति चोच्यते ॥२५॥

तदनन्तर उसमें द्वय (ग्राह्य-ग्राहक)–अभावस्वभाव परिनिष्पन्नलक्षण प्रविष्ट होता है। इस तरह उस समय यह (परिनिष्पन्नलक्षण) ही भावाभाव-स्वभाव कहलाता है।

त्रयोऽप्येते स्वभावा हि अद्वयालम्बलक्षणाः ।
अभावादतथाभावात् तदभावस्वभावतः ॥२६॥

ये तीनों स्वभाव भी (क्रमशः) असद्भूत होने से, अतथाभूत होने से तथा कल्पिताभावस्वभाव होने से अद्वय और अनालम्बनलक्षण हैं।

मायाकृतं मन्त्रवशात् ख्याति हस्त्यात्मना यथा ।
आकारमात्रं तत्रास्ति हस्ती नास्ति तु सर्वथा ॥२७॥

जिस तरह माया द्वारा निर्मित वस्तु मन्त्र (आदि) के वश से हस्ती (आदि) के रूप में प्रतीत होती है, (फिर भी) वहाँ केवल आकारमात्र ही होता है, हस्ती तो वहाँ सर्वथा (ही) नहीं होता।

स्वभावः कल्पितो हस्ती परतन्त्रस्तदाकृतिः ।
यस्तत्र हस्त्यभावोऽसौ परिनिष्पन्न इष्यते ॥२८॥

उपर्युक्त (दृष्टान्त में) हस्ती परिकल्पित स्वभाव है। हस्त्याकृति परतन्त्र-स्वभाव है तथा उस आकृति में हस्ती का जो (वस्तुतः) अभाव है, वह परिनिष्पन्नस्वभाव इष्ट है।

असत्कल्पस्तथा ख्याति मूलचित्ताद् द्वयात्मना ।
द्वयमत्यन्ततो नास्ति तत्रास्त्याकृतिमात्रकम् ॥२९॥

मूलचित्त (आलयविज्ञान) से (समुद्भूत) असत्कल्प (प्रवृत्ति-विज्ञान) ग्राह्यग्राहकद्वय के रूप में ख्यात (प्रतिभासित) होते हैं। वहाँ ग्राह्य-ग्राहकद्वय (तो सर्वथा) अत्यन्त असत् हैं, केवल आकारमात्र (विज्ञप्तिमात्र) ही (विद्यमान) है।

मन्त्रवन्मूलविज्ञानं काष्ठवत्तथता मता ।
हस्त्याकारवदेष्टव्यो विकल्पो हस्तिवद् द्वयम् ॥३०॥

आलयविज्ञान मन्त्र के समान है। काष्ठ (आदि सामग्री) के समान तथता (अर्थात् परिनिष्पन्नलक्षण) है, हस्त्याकार के समान विकल्प (अर्थात् चित्त-चैतसिक परतन्त्रलक्षण) है तथा हस्ती के समान ग्राह्यग्राहकद्वय (अर्थात् परिकल्पितलक्षण) है।

अर्थतत्त्वप्रतिवेधे युगपल्लक्षणत्रयम् ।
परिज्ञा च प्रहाणं च प्राप्तिश्चेष्टा यथाक्रमम् ॥३१॥

वस्तु की यथार्थस्थिति (धर्मता) का साक्षात्कार हो जाने पर तीनों लक्षणों का अवबोध युगपद् होता है। (किन्तु) परिज्ञा, प्रहाण एवं प्राप्ति क्रमशः इष्ट है।

परिज्ञाऽनुपलम्भोऽत्र हानिरख्यानमिष्यते ।
उपलम्भनिमित्ता तु प्राप्तिः साक्षात्क्रियाऽपि सा ॥३२॥

(ग्राह्य ग्राहकभाव के) अनुपलम्भ का ज्ञान (साक्षात्कार) परिज्ञा है। अख्याति (आरोपिताकार का दिखलाई न पड़ना ही) प्रहाण है तथा प्राप्ति वह है, जिसका निमित्त उपलम्भ (निरोध या प्रहाण) होता है और वह (प्राप्ति) साक्षात्कार भी है।

द्वयस्यानुपलम्भेन द्वयाकारो विगच्छति ।
विगमात् तस्य निष्पन्नो द्वयाभावोऽधिगम्यते ॥३३॥

(ग्राह्य-ग्राहक)–द्वय के अनुपलम्भ से द्वैतप्रतिभास (सर्वथा) विलुप्त हो जाता है। द्वैतप्रतिभास का विलोप हो जाने से ग्राह्यग्राहकाभावस्वभाव परिनिष्पन्नलक्षण अधिगत होता है।

हस्तिनोऽनुपलम्भश्च विगमश्च तदाकृतेः ।
उपलम्भश्च काष्ठस्य मायायां युगपद् यथा ॥३४॥

(ठीक उसी प्रकार) जैसे माया के विषय में हस्ती का अनुपलम्भ, हस्त्याकृति का विलोप एवं काष्ठ (आदि) की उपलब्धि एक-साथ होती है।

विरुद्धधीवारणत्वाद् बुद्ध्या वैयर्थ्यदर्शनात् ।
ज्ञानत्रयानुवृत्तेश्च मोक्षापत्तिरयत्नतः ॥३५॥

(प्रतिपक्ष)-बुद्धि द्वारा विपक्षबुद्धि का प्रहाण कर देने और निर्बाह्यार्थता का दर्शन करने से तथा श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी प्रज्ञा का अभ्यास करने से अनायास मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है ।

चित्तमात्रोपलम्भेन ज्ञेयार्थानुपलम्भता ।
ज्ञेयार्थानुपलम्भेन स्याच्चित्तानुपलम्भता ॥३६॥

चित्तमात्र की उपलब्धि से ज्ञेय अर्थ (बाह्य ग्राह्य) की अनुपलब्धि होती है तथा ज्ञेय अर्थ के अनुपलम्भ से (ग्राहक) चित्त का भी अनुपलम्भ होता है ।

द्वयोरनुपलम्भेन धर्मधातूपलम्भता ।
धर्मधातूपलम्भेन स्याद् विभुत्वोपलम्भता ॥३७॥

(ग्राह्य और ग्राहक) दोनों के अनुपलम्भ से धर्मधातु (शून्यता) का उपलम्भ होता है तथा धर्मधातु के उपलम्भ से (अनेकविध) विभुत्वों की उपलब्धि होती है ।

उपलब्धविभुत्वश्च स्वपरार्थप्रसिद्धितः ।
प्राप्नोत्यनुत्तरां बोधिं धीमान् कायत्रयात्मिकाम् ॥३८॥

स्वार्थ और परार्थ सम्पत्ति की सिद्धि से विभुत्वप्राप्त बुद्धिमान् बोधिसत्त्व कायत्रयात्मक (धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय स्वरूप) अनुत्तर सम्यक्-संबोधि को प्राप्त करता है ।

इति त्रिस्वभावनिर्देशः समाप्तः ॥
कृतिराचार्यवसुबन्धुपादानामिति ॥

शब्दानुक्रमणिका

विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

विशिष्टशब्दानुक्रमणिका

विंशतिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

—×—

शब्दानुक्रमणिका

त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

विशिष्टशब्दानुक्रमणिका

त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि

